श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिविरचित

व्याकरण-महाभाष्य

[Mahābhāṣya of Patañjali]

भाग १, खण्ड २ (आह्निक ५-९)

[संस्कृत मूलग्रन्थ तथा टिप्पणी-सहित हिन्दी-भाषानुवाद]

: सम्पादक :

महामहोपाध्याय प्रा. काशीनाथ वासुदेव अभ्यंकर, एम् ए.,
भूतपूर्व संस्कृत प्राध्यापक, गुजराथ कॉलेज, अहमदाबाद;
अध्यक्ष, संस्कृत विद्यामंडल, टिळक महाराष्ट्र
विद्यापीठ पुणें; संमाननीय संस्कृत प्राध्यापक,
भाण्डारकर प्राच्य-विद्या-संशोधन-मंदिर,
पुणें, इत्यादि.

—: हिन्दी-भाषानुवादक :—

श्रीयुत पाण्डुरङ्ग नारायण मुळे,
एम् ए, बी टी (बम्बई), राष्ट्रभाषा विशारद (मद्रास),
संस्कृत प्राध्यापक, धुलिया आर्ट्स कॉलेज, धुलिया

भारतीय शकाब्द १८८१] सन् १९६३ ई [संवत् २०१९

डे क न ए ज्यु के श न सो सा य टी, पु णें ४.

श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिविरचित

व्याकरण - महाभाष्य : आह्निक १ से ४

(मूल ग्रन्थ, हिन्दी-भाषानुवाद, सारांश तथा टिप्पणी सहित)

के ऊपर विद्वानोंकी सम्मतियाँ

पतञ्जलिकृत महाभाष्य व्याकरणशास्त्रका महान् सुविहित आकर-ग्रंथ है। उसका एक प्रामाणिक सम्पादन श्री. डॉ. कीलहार्नने प्रकाशित किया था जो तीन बड़ी जिल्दोंमें लगभग १५०० पृष्ठोंमें पूर्ण हुआ था। उसका एक विशिष्ट टिप्पणी आदिसे समन्वित मराठी अनुवाद स्व. म. म. वासुदेवशास्त्री अभ्यंकरजीने पूर्ण किया था। उनके योग्य सुपुत्र म. म. प्रा. काशीनाथशास्त्री अभ्यंकरजीने अति परिश्रमपूर्वक अपने पिताजीके उस महान् ग्रंथको डेक्कन एज्युकेशन सोसायटी, पूना, से प्रस्तावना खंडसहित सात जिल्दोंमें लगभग ३५०० पृष्ठोंमें प्रकाशित कराया। इस प्रकारका महत्त्वपूर्ण कार्य अभी तक अन्य किसी भारतीय भाषा या योरोपीय भाषामें भी नहीं हुआ है। हर्षकी बात है कि इस महान् ग्रंथके नवाह्निकी विभागका हिंदी अनुवाद प्रा. काशीनाथशास्त्री अभ्यंकरजीके निर्देशनमें श्री. पांडुरंग नारायण मुळेजी, एम्. ए., बी. टी., ने पूर्ण किया है जिसका चार आह्निकोंका प्रथम खण्ड मुद्रित हो चुका है। यह अनुवाद हमारे देखनेमें आया है और हमें यह कहते हुए हर्ष है कि भाषाके प्रवाह और मूल भावोंकी तद्वद्रक्षा की दृष्टिसे हिन्दी अनुवाद अत्यन्त सफल कहा जा सकता है। मूल महाभाष्यका अर्थ-गांभीर्य स्पष्ट करने के लिए मराठी अनुवादकी तरह हिन्दी संस्करणमें भी स्थान स्थान पर टिप्पणियाँ दी गयी हैं। हमारी श्री. अभ्यंकरजीसे प्रार्थना है कि श्री. मुळेजी जैसे उत्साही और सुयोग्य अनुवादकके द्वारा इस संपूर्ण महाभाष्यके छहों खण्डों का हिंदी अनुवाद करा देनेकी कृपा करें। उसके लिए यथासंभव योग्य प्रकाशक भी, आशा है, उपलब्ध हो सकेगा। मराठी अनुवादके सातवें खण्डमें, जिसका नाम प्रस्तावना-खण्ड है, व्याकरणके इतिहास, कात्यायन और पतञ्जलिके संबंधमें विविध ज्ञातव्य, एवं महाभाष्यमें व्याकरणसंबंधी वर्ण्य विषयकी जानकारी तथा भर्तृहरि आदि उत्तरकालीन वैयाकरणोंके पाण्डित्यपूर्ण विवेचन आदि पर आश्रित बहुत ही महत्त्वपूर्ण सामग्री उपनिबद्ध है। इस प्रकारका भी कोई दूसरा इतना प्रामाणिक ग्रन्थ हमारे देखनेमें नहीं आया। अतएव हमारा साग्रह अनुरोध है कि सातवें प्रस्तावना खण्डका हिन्दी संस्करण भी यथासंभव शीघ्र सम्पन्न होना चाहिए। उसके द्वारा समस्त उत्तर भारतमें प्राचीन परम्परासे व्याकरणका अनुशीलन करनेवाले अनेक विद्वान् संस्कृत व्याकरण और विशेषत: महाभाष्यके संबंधमें नया दृष्टिकोण प्राप्त कर सकेंगे। स्व. म. म अभ्यंकरजीका यह महान् प्रयत्न सचमुच राष्ट्रीय अभिनंदनके योग्य है।

११।८।५९

(स्वाक्षरी)
वासुदेवशरण अग्रवाल
प्राचार्य, कॉलेज ऑफ इंडोलोजी,
बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय

द्वितीय खण्ड की प्रस्तावना

हमारी डेक्कन एज्युकेशन सोसायटी, पुणें के द्वारा श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिविरचित व्याकरण-महाभाष्य को राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्रकाशित करने की योजना बनाई गई और उसके अनुसार व्याकरण-महाभाष्य के नवाह्निकी-विभाग को सर्वप्रथम प्रकाशित करने का हमने संकल्प किया। उस संकल्प के अनुसार नवाह्निकी-विभाग के प्रथम चार आह्निकों के प्रथम खण्ड का प्रकाशन संवत् २०१५ (सन् १९५९ ई.) में हो ही चुका है। नवाह्निकी विभाग के बचे हुए पाँच आह्निकों का यह द्वितीय खण्ड प्रकाशित करते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता होती है।

वास्तव में द्वितीय खण्ड के प्रकाशन में बहुत विलंब हो गया है। इस विलंब का प्रमुख कारण है १२ जुलाई १९६१ का पूना का जलप्लावन। पानशेत बांध के टूट जाने से पुणें शहर का आधे से अधिक भाग जलमग्न हो गया। शहर का सारा जीवन ही इस बाढ़ से अस्तव्यस्त हो गया। प्रेस का कार्य पूर्ववत् सुचारु रूप से शुरू होने में जो समय लग गया उसीके परिणाम स्वरूप इस खण्ड के प्रकाशन में विलंब हो गया है। प्रेस का कार्य पूर्ववत् प्रारंभ होते ही उन्होंने तुरन्त हमारा यह महत्त्वपूर्ण काम हाथ में लिया और आज इस द्वितीय खण्ड के प्रकाशन से हमें बड़ी प्रसन्नता होती है।

प्रथम खण्ड के प्रकाशन के बाद अनेक मान्यवर विद्वानों के पत्र हमारे पास आए जिनमें हमारे इस कार्य की सराहना करते हुए अपनी प्रशंसात्मक सम्मतियाँ उन्होंने प्रकट की हैं। द्वितीय खण्ड को शीघ्र ही प्रकाशित करने की प्रार्थना करते हुए कुछ विद्वानों ने अनुवाद की भाषा में संशोधन करने की दृष्टि से भी कुछ उपयुक्त सूचनाएँ हमारे पास भेजीं। जहाँ तक हो सके द्वितीय खण्ड को प्रकाशित करते समय उन सूचनाओं का पालन करने का प्रयास हमने किया है।

द्वितीय खण्ड को प्रकाशित करने में, प्रथम खण्ड के समान ही हमें आर्थिक अड़चनों का सामना करना पड़ा। आर्थिक अड़चनों की पूर्ति करने के उद्देश्य से हमने कई व्यक्तियों तथा संस्थाओं के पास प्रार्थना-पत्र भेजे। हमारी प्रार्थना के परिणाम स्वरूप उत्तर-प्रदेश सरकार के द्वारा डेढ़ हज़ार रुपयों तथा मध्य-प्रदेश सरकार के द्वारा एक हज़ार रुपयों का अनुदान हमें प्राप्त हो गया जिसके लिए हम उक्त सरकारों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

'*नवाह्निकी-विभाग*' *महाभाष्य का एक प्रमुख अंग ही* माना जा सकता है। संपूर्ण महाभाष्य को राष्ट्रभाषा में अनूदित करने के लिए लगभग साठ हज़ार रुपयों

की आवश्यकता है। उक्त निधि के प्राप्त होने पर इस कठिन किन्तु महत्त्वपूर्ण कार्य को पूर्ण करने के उत्तरदायित्व का भार हमारी संस्था उठा सकती है।

प्रथम-खण्ड के समान द्वितीय खण्ड का अनुवादकार्य प्रा. मुळे ने ही किया है। द्वितीय खण्ड के संपादन तथा अनुवाद में मार्गदर्शन करने का काम महामहोपाध्याय प्रा. का. वा. अभ्यंकर जी ने ही किया है। द्वितीय खण्ड के अनुवाद तथा जाँच-कार्य में फर्ग्युसन कॉलेज, पुणें के हिन्दी-विभागाध्यक्ष प्रा. सच्चिदानंद महादेव परळीकर ने बड़ा भारी सहयोग प्रदान किया है। हम उक्त तीनों महानुभावों को हार्दिक धन्यवाद देते हैं। उसी प्रकार आर्यभूषण मुद्रणालय, पुणें के कुशल व्यवस्थापकों ने जो अतीव परिश्रम उठाए और समय समय पर मुद्रण से सम्बन्धित अमूल्य सूचनाएँ देकर हमें जो सहायता पहुँचाई उसके लिए हम उनके आभारी हैं।

फर्ग्युसन कॉलेज, पुणें ४.
दिनांक २८।९।१९६३
विजया दशमी

कार्यवाह,
डेकन एज्युकेशन सोसायटी, पुणें.

संपादकीय

आज से लगभग २१०० वर्ष पहले अपने काल में उपलब्ध संपूर्ण वेदसाहित्य का सूक्ष्म अवलोकन करके तथा प्रातिशाख्य ग्रन्थों, व्याडिमुनि का 'संग्रह' ग्रंथ और भिन्न भिन्न स्थानों पर प्रचलित पाणिनिसूत्रों के अभ्यास की दृष्टि से सारभूत समझे जानेवाले कात्यायन, भरद्वाज आदि वैयाकरणों द्वारा रचित वार्तिकों का सूक्ष्म अनुशीलन करके, पतञ्जलिमुनि ने अपने 'व्याकरण महाभाष्य' ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ व्याकरणशास्त्र में अत्यन्त प्रमाणभूत माना जाता है। व्याकरण से सम्बन्धित केवल रूपसिद्धि ही नहीं अपितु शब्द और अर्थ के अन्य सम्बन्ध उनके स्वरूप, सूत्रों की व्याख्या तथा रूपसिद्धि के सम्बन्ध में विद्वन्मान्य शास्त्रमत आदि व्याकरणविषयक महत्त्वपूर्ण विषयों से परिपूर्ण होनेके कारण पतञ्जलि के इस ग्रन्थ को भारत के वैयाकरण अत्यन्त प्रमाणभूत **आकरग्रन्थ** के रूपमें मानते आए हैं। अन्य शास्त्रों पर उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखनेवाले प्राचीन विद्वानों ने भी इस ग्रन्थ के महत्त्व को जानते हुए इसका समुचित उपयोग किया है। आधुनिक भाषावैज्ञानिक भी इस बात का आग्रह के साथ प्रतिपादन करते हैं कि भाषाविज्ञान के सूक्ष्म एवं गहरे अध्ययन तथा तत्सम्बन्धी ग्रन्थनिर्मिति की दृष्टि से '*व्याकरणमहाभाष्य*' के अभ्यास की नितान्त आवश्यकता है।

पाणिनि के **अष्टक** को शास्त्र का स्वरूप प्राप्त करा देने में यद्यपि वार्तिकवचनों से बहुमूल्य सहायता प्राप्त हुई है फिर भी वार्तिकवचनों का संग्रह तथा व्याख्या करनेवाला व्याकरणमहाभाष्य ही 'व्याकरणशास्त्र' नाम यथार्थ रूप में सार्थ करता है। कारण, महाभाष्य का स्वरूप वार्तिकों के समान सूत्रों का लघुवचनसंग्रह करनेवाला नहीं है। उसके सिद्धान्त शास्त्रोपयुक्त हैं और उसका प्रतिपादन तथा व्याख्या शास्त्रीय पद्धति से की गई है। अन्य शास्त्रों पर लिखे हुए सूत्रों की अपेक्षा पाणिनिसूत्र यद्यपि अधिक स्पष्ट तथा सुव्यवस्थित हैं फिर भी उनकी लाघवयुक्त रचना के कारण विशिष्ट सूत्रों का पाणिनि को अभिप्रेत ठीक अर्थ लगाना तभी तक संभव हुआ जब तक अध्यापकों की परम्परा अक्षुण्ण थी। वार्तिककारों ने अध्यापक परम्परा में प्रचलित तथा पाणिनि को अभिप्रेत अर्थ की विवेचना करनेवाली टिप्पणियों को ग्रथित किया और महाभाष्यकार ने अपने इस ग्रन्थ में इन सब वार्तिकों को एकत्रित करके उनकी अपनी सुंदर प्रसादयुक्त शैली में व्याख्या की है। मैंने 'व्याकरण महाभाष्य' के मराठी अनुवाद के सातवें खण्ड में, जो 'प्रस्तावना-खण्ड' नाम से मराठी में प्रसिद्ध है पतञ्जलि के काल प्राप्त साधनों के आधार पर लिखित उनकी जीवनी उनके सूत्रार्थप्रतिपादन तथा उनके व्याकरणविषयक मौलिक सिद्धान्तों की विस्तृत विवेचना की है। यथासंभव हिन्दी के पाठकों को कम से कम प्रस्तावना खण्ड पढ़ने मिले इस उद्देश्य से उचित अवसर प्राप्त होने पर उसे हिन्दी में अनूदित करने का मेरा विचार है।

'पातञ्जल व्याकरणमहाभाष्य' जैसे महान् एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को गत २१०० वर्षों के कालसमुद्र की असंख्य लहरों के विविध प्रकार के आघात सहने पड़े हों तो इस पर आश्चर्य नहीं किया जा सकता। फिर भी विशेष रूप से उल्लेखनीय बात यह है कि इन आघातों के बावजूद भी यह ग्रन्थ पूर्णरूपेण सुरक्षित रह सका और यद्यपि इसे सुरक्षित रखने का श्रेय

इसकी रक्षा करनेवालों को देना उचित होगा फिर भी प्रमुखतया ग्रन्थ के विषय की गभीरता, इसमें निहित सभी शास्त्रों को स्वीकरणीय सिद्धान्तों तथा क्लिष्ट विषय को अत्यत सरल तथा सुबोध भाषा में स्पष्ट करने की ग्रन्थकार की निपुणता को भी यह श्रेय देना चाहिए।

ईसा की पहली चार या पॉच सदियों में इसे सर्वप्रथम आघात पहुँच गए। वैदिक प्रक्रियाओं तथा स्वरों को अलग हटाकर पाणिनि के ही सूत्रों का सक्षेप में निरूपण करनेवाले कातन्त्र, चान्द्र आदि व्याकरणसूत्रग्रथ लिखे गए जो बहुत ही लोकप्रिय हुए। इन ग्रन्थों की लोकप्रियता का प्रमुख कारण था सस्ते मार्ग से ज्ञान प्राप्त करने की लोगों की सहजात वृत्ति। सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करनेवाले इन ग्रथों का प्रचलन इतना बढ गया कि महोपाध्याय भर्तृहरि के कुछ समय पूर्व महाभाष्य की प्रामाणिक प्रति मिलना भी दुष्कर हो गया। इस बात को ध्यान मे रखते हुए भर्तृहरि ने महाभाष्य के प्रमुख सिद्धान्तों की विवेचना अपने वाक्यपदीय ग्रन्थ मे की है। साथ ही साथ 'दीपिका' नाम की महाभाष्य की एक सुदर तथा उपयुक्त व्याख्या भी भर्तृहरि ने लिखी है। दुर्भाग्य से आज यह सपूर्ण व्याख्या उपलब्ध नहीं है। भर्तृहरि के कारण महाभाष्य जीवित ही नहीं रहा अपितु फिर से पनपने भी लगा किन्तु कुछ समय के बाद 'दीपिका' की भी वही अवस्था हुई जो महाभाष्य की हो गई थी। 'दीपिका' का अल्प अश ही आज उपलब्ध है और उसकी हस्तलिखित प्रतियों में स्थान स्थान पर असख्य प्रमाद लेखकों द्वारा मूल ग्रथ की प्रतिलिपि करते समय किये गये हैं।

भर्तृहरि के कुछ समय बाद ही महाभाष्य की उपर्युक्त विवेचना को ध्यान में रखते हुए, इतना ही नहीं तो कहीं कहीं महाभाष्य के शब्दों एव वाक्यों को ज्यों के त्यों उद्धृत करते हुए पाणिनि के सूत्रों पर ईसा की सातवीं शताब्दी में जयादित्य तथा वामन ने काशिकावृत्ति लिखी। काशिकावृत्ति की 'न्यास' नाम से प्रसिद्ध व्याख्या जिनेन्द्रबुद्धि ने लिखी जिसमें महाभाष्य के मोटे मोटे सिद्धान्तों को बीच बीच में ग्रथित किया गया है। 'न्यास' की भी व्याख्या करने के उद्देश्य से मैत्रेयरक्षित ने 'तन्त्रप्रदीप' नाम का टीकाग्रथ लिखा। काशिका तथा तत्सम्बन्धी व्याख्याओं की ओर लोगों का इतना ध्यान आकृष्ट हुआ कि महाभाष्य के अध्ययन की ओर से वैयाकरणों का ध्यान फिर से हट गया। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ स्थानों मे महाभाष्य की पक्तियों का रहस्य मालूम करना भी असभव हो गया। हम इस घटना को महाभाष्याध्ययन का द्वितीय लोप कह सकते हैं। इस सकट से महाभाष्य की रक्षा करने का कठिन कार्य ईसा की ११ वीं शताब्दी में कैयटभट्ट द्वारा सपन्न हुआ। उन्होंने 'महाभाष्य' की व्याख्या के लिए 'प्रदीप' नाम का टीका ग्रथ लिखा। इस ग्रथ की रचना करते हुए उन्होंने भर्तृहरि की 'दीपिका' से समुचित लाभ उठाया। वैयाकरणकुल में यह प्रवाद आज तक प्रचलित है कि कैयट ने महाभाष्य को जीवनदान दिया और उसकी रक्षा की, इतना ही नहीं तो महाभाष्य के सूत्रों का परम्परागत स्पष्टीकरण यद्यपि लुप्त होने लगा था तो भी उपलब्ध स्पष्टीकरण में अपनी 'प्रदीप' नामक व्याख्या से जान फूँक दी तथा महाभाष्य का पुनरुज्जीवन किया।

काल की महिमा अवर्णनीय है। कैयट जैसे वैयाकरणों के प्रयत्नों के बावजूद भी व्याकरण का अध्ययन करनेवाले अभ्यासियों की कठिन विषयों को जान लेने की प्रवृत्ति धीरे धीरे कम होती गई। इसके परिणाम स्वरूप बाद के चार पॉच सौ वर्षों में भाषावृत्ति, प्रक्रियाकौमुदी, सिद्धान्तकौमुदी आदि शास्त्रप्रवेश को सुलभ बना देनेवाले ग्रथों की भरमार हुई और इन ग्रथों

स्वर्गीय गुरुवर्य म म वासुदेवशास्त्रीकी पवित्र स्मृतिको कृतज्ञतापूर्वक

अर्पण

सिद्धान्तों को इतनी सरलता से आपने स्पष्ट किया है कि आपका प्रबन्ध पढ़कर पूना के कुछ विद्वान् आपको 'विशिष्टाद्वैतवादी' ही मानने लगे। यहाँ हम वासुदेवशास्त्री की तुलना शंकराचार्य की शैली से कर सकते हैं। शंकराचार्य की शैली की सुस्पष्टता, सुन्दरता तथा दूसरे के विचारों को भी तर्कपूर्ण शैली में समझा देने की कुशलता आदि विशेषताएँ आपकी शैली में भी पाई जाती हैं। 'विशिष्टाद्वैतमत' लिखने के बाद आपने उतनी ही सुंदर शैली में 'अद्वैतामोद' ग्रंथ लिखा जिसमें आपने 'अद्वैतवाद' तथा 'विशिष्टाद्वैतवाद' के अन्तर को अत्यन्त सरल एवं सूक्ष्म रीति से स्पष्ट किया है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से विद्वानों का यह भ्रम दूर हुआ कि आप विशिष्टाद्वैतवादी हैं। इस समय संस्कृत के मान्यवर विद्वान् के रूप में आपकी ख्याति तत्कालीन ब्रिटिश सरकार तक पहुँची और सन् १९२१ ई० में इस क्षेत्र की सर्वोच्च उपाधि 'महामहोपाध्याय' से सरकार ने आपको विभूषित किया किन्तु वास्तव में आप जैसे अनेक शास्त्रों का तलस्पर्शी अध्ययन करनेवाले वाग्देवी के वरपुत्र को पाकर वह उपाधि ही स्वयं गौरवान्वित हुई।

सन् १९२२ ई० में आपने 'सर्वदर्शनसंग्रह' को अपनी विवेचक टिप्पणियों सहित प्रकाशित करने का कार्य प्रारंभ किया और सन् १९२४ ई० में यह महान् कार्य पूर्ण किया। आपका यह कार्य इतना महान् तथा इतना मौलिक है कि इस के प्रकाशन से समूचे भारतवर्ष में एक महान् संस्कृत पंडित के रूप में आपकी ख्याति हुई। इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण दो ही वर्षों में समाप्त हुआ और द्वितीय संस्करण की माँग बराबर जारी रही जिसे आपकी मृत्यु के बाद आपके सुपुत्र म. म. प्रा. का. वा. अभ्यंकर जी ने पूर्ण किया। इस ग्रंथ के प्रकाशन से स्वयं वासुदेवशास्त्री जी ने भी यह अनुभव किया कि गुरु रामशास्त्री जी की कृपासे आपको (वासुदेवशास्त्री को) जीवनसाफल्य प्राप्त हुआ।

सन् १९२८ ई में आप फर्ग्युसन कॉलेज की सेवाओं से औपचारिक रूप में निवृत्त हुए। कॉलेज के अध्यापकों एवं विद्यार्थियों में आप परम आदरणीय बन गए थे। गहन पांडित्य, मूर्धन्य विद्वत्ता, शुद्ध, सरल, स्पष्ट, मधुर तथा प्रभावोत्पादक वक्तृता, उज्ज्वल चरित्र और पवित्र आचरण, आपके इन गुणों से ही आप अपने सहयोगी प्राध्यापकों तथा विद्यार्थियों के श्रद्धाभाजन बन गए। आपके निवृत्त होनेपर फर्ग्युसन कॉलेज के अध्यापकों एवं विद्यार्थियों ने एक बडी भारी हानि का अनुभव किया। किन्तु यह हानि औपचारिक ही मानी जा सकती थी क्योंकि अब आपका क्षेत्र बहुत ही व्यापक बन गया। कॉलेज के विद्यार्थी ही नहीं अपितु प्राध्यापक भी आप के पास ज्ञानार्जन के लिए आने लगे और इस प्रकार आप प्राध्यापकों के भी अध्यापक बन गए। केवल महाविद्यालयीन क्षेत्र के ही नहीं तो भिन्न भिन्न क्षेत्रों में संस्कृत का अध्ययन करनेवाले जिज्ञासु आपसे विचारपरामर्श लेने आते थे और आपकी विद्वत्ता, समझाने की पद्धति तथा सच्चरित्रता से प्रभावित एवं संतुष्ट होकर लौट जाते थे। इस प्रकार अब तो आप एक जंगम ज्ञानपीठ ही बन गए। कॉलेज के काम से निवृत्त होने से आपको अनुसन्धान कार्य के लिए भी अधिक समय प्राप्त हुआ। उसमें आपने समुचित लाभ उठाया। अविरत अध्ययन, अविरत अध्यापन तथा अविरत लेखन में ही आपने अपना संपूर्ण जीवन व्यतीत किया। 'कणशः क्षणशः' आपने ज्ञानसंचय किया और 'राशिशः क्षणशः' उस ज्ञान का वितरण भी किया। आपके द्वारा संपादित वा लिखित ग्रंथों की संख्या भी आपके गौरव के योग्य ही है। 'परिभाषेंदुशेखर', 'लघुशब्देंदुशेखर' 'श्रीभाष्य

चतु सूत्री ', ' यतींद्रमतदीपिका ', ' कुण्डार्क ', ' मीमांसान्याय प्रकाश ', ' श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम दो अध्याय ', ' सिद्धान्तबिन्दु ' तथा ' सर्वदर्शनसंग्रह ' आदि ग्रंथों की व्याख्याएँ लिखकर आपने उन्हें सरल शैली में स्पष्ट किया है। ' ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य ' तथा ' पातंजल व्याकरणमहाभाष्य ' इन दो बृहत्काय ग्रंथों का इतना सुंदर मराठी अनुवाद आपने किया है कि कहीं कहीं मूल ग्रंथों का भाषा सौन्दर्य अनुवाद के सामने फीका नजर आता है। ' पातंजल योगसूत्र ', ' काव्य-प्रकाश ', ' संस्कार पद्धति ', तथा ' न्यायकोश ' के संशोधित संस्करण आपने प्रकाशित किये। ' विशिष्टाद्वैतमत ', ' अद्वैतामोद ', ' सूत्रान्तरपरिग्रहविचार ', ' धर्मतत्त्वनिर्णय ' तथा ' काय परिशुद्धि ' आदि स्वतंत्र मौलिक ग्रंथों की रचना करके आपने अपनी स्वतंत्र प्रतिभा का परिचय दिया। व्याकरण, वेदान्त, योग, अलंकार, धर्म, न्याय, मीमांसा आदि सभी शास्त्रों में आपकी पैनी प्रतिभा लीलया विचरण करती हुई दृष्टिगोचर होती है।

आपसे संपादित अनूदित वा लिखित सभी प्रकार की रचनाओं में सब से श्रेष्ठ, मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण रचना है ' पातञ्जल व्याकरणमहाभाष्य ' का मराठी अनुवाद। आज तक इस समग्र ग्रंथ का किसी भी भारतीय वा अन्य भाषा में अनुवाद नहीं हुआ है। आपका यह अनुवाद मूल महाभाष्य से भी कहीं कहीं अधिक सुंदर बन गया है। व्याकरण जैसे जटिल एवं नीरस विषय को आपने सरल एवं सरस शैली में स्पष्ट किया है। आपका मूल व्यक्तित्व ही एक वैयाकरण का व्यक्तित्व था। स्वाभाविक परिणाम यही हुआ कि यह ग्रंथ आदर्श एवं सुबोध शैली में लिखा गया। मूल महाभाष्य एवं उसके मराठी अनुवाद तथा विवेचक टिप्पणियों सहित ३००० पृष्ठों का यह ग्रंथ मराठी भाषा का एक अमूल्य रत्न है।

व्याकरणशास्त्र का अध्यापन तथा उससे सम्बन्धित ग्रंथलेखन दोनों दृष्टियों से जो महान् परम्परा पतञ्जलि से नागेश तक चलती आई है और जिस परम्परा में अनेक शिष्योत्तमों तथा सुन्दर ग्रंथों का निर्माण करने तथा इस परम्परा को अक्षुण्ण रखने का महान् कार्य नागेश के द्वारा सम्पन्न हुआ उसी उज्ज्वल परम्परा को दोनों विशेषताओं ग्रंथलेखन तथा शिष्योत्तम तैयार करने–के साथ सुरक्षित रखने का और नागेश के समान ही महान् वैयाकरण बनने का गौरव म म वासुदेवशास्त्री जी ने प्राप्त किया। आप सही अर्थों में अर्वाचीन युग के पतञ्जलि माने जाने लगे।

सन् १९३८ ई० में आपके विद्यार्थियों तथा प्रेमियों द्वारा आपकी पचहत्तरवीं वर्षगाँठ का समारोह उस समय के बम्बई राज्य के मुख्य मन्त्री बा ग खेर की अध्यक्षता में बड़ी धूमधाम के साथ मनाया गया। इसी अवसर पर आपने ' पातञ्जल व्याकरणमहाभाष्य ' की हस्तलिखित प्रति डे. ए सोसायटी को कृतज्ञतापूर्वक अर्पण की। डे ए सोसायटी ने इस बहुमूल्य ग्रंथ को छ खण्डों में प्रकाशित किया। इतना ही नहीं तो आपके सुपुत्र म म प्रा का वा अभ्यंकर जी का लिखा हुआ प्रस्तावना खण्ड, जो कि संस्कृत की व्याकरणपरम्परा के इतिहास पर प्रकाश डालनेवाला अपने आप में स्वतंत्र एवं मौलिक शोधप्रबन्ध है, सातवें खण्ड के रूप में प्रकाशित किया।

म म वासुदेवशास्त्री का अंतिम प्रकाशन है ' कायपरिशुद्धि। ' इस प्रकार के और दो ग्रंथ ' साधनामोद ' तथा ' मोक्षामोद ' प्रकाशित करने का आपने संकल्प किया था। आपके मतानुसार मोक्षप्राप्ति की तीन अवस्थाओं के प्रतीक रूप ये तीन ग्रन्थ बन जाते।

म म वासुदेवशास्त्री की जीवनी में यह मालूम होगा कि आपमें प्राचीन और नवीन आदर्शों का सुंदर समन्वय हो गया था। प्राचीन परंपरा से प्राप्त ज्ञान का आपने अनुसन्धान कार्य की दृष्टि से समुचित उपयोग किया। आपकी प्रगल्भ प्रतिभा तथा अखण्ड ज्ञानसाधना का सानी महाविद्यालयीन स्नातकों में भी अपवाद से ही मिलेगा। आपके अध्ययन तथा खासकर वेदान्त के अनुशीलन का गहरा प्रभाव आपके जीवन पर पड़ गया था। आप अपनी आवश्यकताओं को सीमाओं में रखते हुए जीवन यापन करनेवाले एक महान् संयमी पुरुष थे। आपके जीवन का आदर्श था सरल जीवन तथा उच्च विचार। आपने अर्जित धन का भी योग्य रूप में विनियोग किया। अर्थात् धार्मिक कर्तव्यों तथा व्रतों में, तीर्थ-यात्राओं में और प्रमुखतया ज्ञानरत गरीब विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता पहुँचाने में ही आपने अपना धन खर्च किया।

सन् १९४२ ई० में १४ अक्तूबर के दिन आप बड़े सन्तोष के साथ पञ्चत्व में विलीन हो गए। इतने सन्तोष तथा तृप्ति के साथ प्राप्त मृत्यु बहुत थोड़े लोगों के भाग्य में बदा होती है। अन्त तक आप विद्यामाता की सेवा में रत रहे। मृत्यु से कुछ घण्टे पहले ही एक शास्त्री के साथ आपने वेदान्त विषयक कुछ महत्त्वपूर्ण बातों पर चर्चा की और उर्वरित बातों के सम्बन्ध में विचारपरामर्श पाने के लिए आपने उसे दूसरे दिन भी आमन्त्रित किया था। इस प्रकार आपने ज्ञानसाधना के दीप को आजीवन अखण्ड रूप से प्रज्वलित रखा। इतना ही नहीं तो आपके ग्रंथों से अनेक जिज्ञासु अनेक वर्षों तक अपनी ज्ञानलालसा तृप्त करते रहेंगे।

म म वासुदेवशास्त्री का जीवन पुरानी पीढ़ी के महान्, ज्ञानरत तथा आदर्श पंडित का जीवन था जो सभी दृष्टियों से अनुकरणीय माना जा सकता है। अर्वाचीन स्वाभाविक, सरल, सुबोध तथा मधुर संस्कृत गद्य की परम्परा के प्रवर्तकों में आप का स्थान बहुत ही उच्च माना जाएगा। ज्ञानार्जन के समान ही दीर्घोद्योग तथा धर्मनिष्ठा आपके जीवन के और दो प्रमुख सूत्र माने जा सकते हैं। आपकी धर्मनिष्ठा जाज्वल्य अभिमान के रूप में ज्वालामुखी की भाँति कहीं भी प्रस्फुटित नहीं हुई तो वह आपके जीवन का ही एक अंग बनकर जीवनप्रवाह के साथ शांत गति से प्रवाहित हुई। भारतीय संस्कृति तथा परम्परागत आदर्शों में आपका पूर्ण विश्वास था। यही कारण है कि आपने आजीवन पूर्वजों के बनाए हुए आदर्शों का ही पालन किया। किन्तु आपका यह धर्माचरण आपकी ज्ञानसाधना में बाधक नहीं हुआ। नवीन परम्परा के भी कुछ आदर्शों को आपने अपनाया। समय की पाबन्दी, नवीन विचारों के ग्रहणीय तथ्य को आत्मसात् करने की तत्परता, औरों के प्रति सहानुभूति आदि नवीन परम्परा के योग्य गुण आपमें प्रकर्ष के साथ दिखाई देते थे जो आपके समय के शास्त्रीपण्डितों में अभाव से ही दिखाई देंगे। आपमें और भी अनेक अनुकरणीय गुण थे। आपका दृढ व्यक्तित्व तथा दिये हुए वचन तथा किये हुए निश्चय का पालन करने की क्षमता असाधारण थी। बड़ोदा रियासत के काम को आपने दिन रात एक करके अवधि के भीतर पूर्ण किया। उसी प्रकार डे ए सोसायटी को अपनी पचहत्तरवीं वर्षगाँठ के अवसर पर ही आप 'पातञ्जल महाभाष्य' अर्पण करना चाहते थे। वह काम भी आपने निश्चय के साथ नियत समय में पूर्ण किया। आपकी गुरुभक्ति भी असाधारण मानी जा सकती है। यह गुरुभक्ति असत्य विनय के आवरण से युक्त नहीं थी तो ज्ञान के असीम दर्शन के स्वाभाविक परिणाम के रूप में वह प्रकट थी। आपने सर्वत्र ही अत्यन्त श्रद्धा तथा आदर के साथ अपने गुरु का उल्लेख किया है जो सदैव आपके जीवन के महान् आदर्श रहे।

आज आपकी जन्मशताब्दी के वर्ष में हमें भी आपके सम्बन्ध में उसी अभिनिवेश के साथ बोलना चाहिए जिस प्रकार आप अपने गुरु के सम्बन्ध में बोलते थे। असंख्य शिष्य निर्माण करनेवाले गुरु मिल सकते हैं किन्तु ज्ञान की स्थाई परम्पराएँ निर्माण करनेवाला ज्ञानपीठ दुर्लभ होता है। ग्रंथलेखन करनेवाले भी बहुत होते हैं, लेकिन ग्रंथों में अपना संपूर्ण व्यक्तित्व उंडेल देनेवाले कम होते हैं। एकाध उत्तम ग्रंथ लिखकर विश्राम लेनेवाले बहुतेरे मिलेंगे लेकिन उत्तमोत्तम ग्रंथों को सतत प्रकाशित करते हुए जिज्ञासुओं को आश्चर्यान्वित करनेवाले विद्वान् बहुत कम मिलेंगे। ऐसे अपवादस्वरूप दुर्लभ व्यक्तियों में म. म. वासुदेवशास्त्री की गणना करनी चाहिए।

स्वर्गीय महामहोपाध्याय वासुदेवशास्त्री अभ्यंकरजी की संक्षिप्त जीवनी

भारतवर्ष के संस्कृत के विद्यमान विद्वानों में शायद ही ऐसा कोई विद्वान् होगा जो स्वर्गीय म. म. वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर जी के नाम से परिचित न हो। आपका संस्कृत भाषा तथा व्याकरण के क्षेत्र में किया हुआ कार्य इतना महान् तथा मौलिक है कि केवल महाराष्ट्र के ही नहीं अपितु संपूर्ण भारत के संस्कृत भाषा प्रेमी तथा विद्वान् उस कार्य से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। खासकर आपके व्याकरण-विषयक कार्य से आप सही अर्थों में अर्वाचीन काल के पतञ्जलि माने जा सकते हैं। यह वर्ष आपकी जन्मशताब्दी का वर्ष है। आपका जन्मशताब्दी समारोह विविध प्रकार से मनाया जा रहा है। हिन्दी में अनूदित एवं संपादित 'पातञ्जल व्याकरणमहाभाष्य' के 'नवाह्निकी विभाग' का प्रकाशन, जो आप ही के मराठी में अनूदित एवं संपादित 'व्याकरणमहाभाष्य' के आधार पर तैयार किया गया है, आपके जन्मशताब्दी-समारोह का ही एक अंग माना जा सकता है। यही कारण है कि यह 'नवाह्निकी विभाग' आपकी पवित्र स्मृति को ही अर्पण किया गया है। इस प्रसंग में आपकी जीवनी तथा कार्य का संक्षेप में परिचय करा देना उचित ही होगा।

स्व० वासुदेवशास्त्री जी का जन्म सन् १८६३ ई० के अगस्त महीने की ४ तारीख को हुआ। महाराष्ट्र की शालिवाहन वर्षगणना के अनुसार आपकी जन्मतिथि श्रावण कृष्ण ६ शालिवाहन संवत् १७८५ है। आपके पिता महादेवभट्ट जी के आप चौथे तथा अंतिम पुत्र थे। दुर्भाग्य से आपके पिता महादेवभट्ट का देहान्त सन् १८६५ ई. में हुआ जब आपकी अवस्था केवल दो वर्ष की थी। आपके पितामह भास्करशास्त्री जी की छत्रछाया में अध्ययन करने का सौभाग्य भी आपको प्राप्त नहीं हुआ क्योंकि आप जब आठ साल के हुए उसी समय भास्कर-शास्त्री का भी देहान्त हुआ। वास्तव में आपका पालनपोषण तथा अध्ययन आपके गुरु और भास्करशास्त्री जी के शिष्योत्तम श्रद्धेय रामशास्त्री गोडबोले जी के निर्देशन में पूर्ण हुआ। रामशास्त्री जी का जीवन पुराने ऋषिमुनियों के समान एक आदर्श जीवन था। उनके महान् व्यक्तित्व की अमिट छाप वासुदेवशास्त्रीजी पर पड़ गई। बचपन से ही आप संस्कृत के प्रति विशेष रुचि प्रकट करने लगे जो वास्तव में आपके कुल की उज्ज्वल परम्परा के योग्य ही थी। जब कि आपको अपनी मातृभाषा मराठी का भी अक्षरज्ञान नहीं हुआ था उस समय याने केवल पाँच वर्ष की अवस्था में आप 'रूपावलि' तथा 'समासचक्र' कण्ठस्थ कर चुके थे। जब आपकी अवस्था १२ वर्ष की थी, आप अमरकोश, अष्टाध्यायी, सिद्धान्तकौमुदी, रघुवंश का तृतीय सर्ग तथा माघ का प्रथम सर्ग पढ़ चुके थे। इसके बाद आपने अध्ययन क्षेत्र में अपने जौहर दिखाना शुरू किया। बीस वर्ष की ही उम्र में आपने व्याकरणशास्त्र का अध्ययन पूर्ण किया और आप इतने सुयोग्य विद्वान् बन गए कि आपके गुरुको यह कहना पड़ा कि अब मेरे पास पढाने योग्य कुछ भी नहीं रहा। इस प्रकार "गुरु तो गुड़ रहे चेला चीनी बन गए" वाली कहावत को आपने चरितार्थ किया। यहाँ से अपने जीवन का प्रत्येक क्षण आपने 'ज्ञानयज्ञ' में अर्पण किया। आप स्वयं तो ज्ञानसाधना करते ही रहे किन्तु गुरु के अध्यापन कार्य में हाथ बँटाते हुए आप गुरु के कार्य का भार कम करने लगे। तेईस वर्ष की अवस्था तक आपने 'पंचदशी', 'वेदान्त परि-

भाषा', 'ब्रह्मसूत्र', 'शाकरभाष्य' आदि का अध्ययन पूर्ण किया। अत्र अध्ययन अध्यापन के साथ आप संस्कृत ग्रन्थों पर व्याख्यात्मक मौलिक लेख भी लिखने लगे। सन् १८९० ई० में आपके गुरु रामशास्त्री जी ने आपको पूना भेजा और न्यायमूर्ति रानडे के प्रयत्नों से, जो राम शास्त्री जी के आप्त थे, आपको पूना की संस्कृत पाठशाला में १० रु माहवार वेतन पर नौकरी मिली। शीघ्र ही आप इस पाठशाला के प्रधान अध्यापक बन गए और अत तक याने लगभग ५० वर्षों तक इस पाठशाला में अध्यापन कार्य करते रहे। पचास वर्षों की इस लंबी अवधि में आपके चरणों में बैठकर संस्कृत का गहन अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त कर संस्कृत के अनेक अभ्यासी धन्य हो गए। आपके अनेक मान्यवर शिष्य शास्त्री बनकर पाठशालाओं तथा महा विद्यालयों में आपकी ज्ञानदान की उज्ज्वल परम्परा को विकसित करते रहे।

सन् १८९२ ई० में प्रा चादोरकर को वासुदेवशास्त्री जी के चरणों में बैठकर 'काव्य प्रकाश' पढनेका सुअवसर मिला। प्रा चादोरकर ने, जो फर्ग्युसन कॉलेज में संस्कृत के प्राध्यापक थे, नामदार गोपाल कृष्ण गोखले के पास वासुदेवशास्त्री जी की विद्वत्ता तथा अध्यापन-कौशल की मुक्त कण्ठ से स्तुति की। अत मान्यवर गोखले जी ने न्यायमूर्ति रानडे से प्रार्थना की कि वासुदेवशास्त्री जी की सेवाओं से फर्ग्युसन कॉलेज भी लाभान्वित हो। न्या० रानडे जी ने मान्यवर गोखले जी की प्रार्थना स्वीकार की और वासुदेवशास्त्री की फर्ग्युसन कॉलेज के संस्कृत विभाग में ४० रु माहवार वेतन पर शास्त्रीपद पर नियुक्ति हुई। इस नियुक्ति से स्वय वासुदेवशास्त्री जी और कॉलेज दोनों लाभान्वित हुए। कॉलेज को एक महान् विद्वान् तथा निपुण पडित का सेवाओं का लाभ मिला और वासुदेवशास्त्री को महाविद्यालयीन क्षेत्र से अनुसन्धान की प्रेरणा मिली और आपकी विद्वत्ता का क्षितिज विस्तृत हुआ। कॉलेज में काम करते हुए बडोदा रियासत के द्वारा एक महत्त्वपूर्ण कार्य प्रा चादोरकर के साथ आपको सौंपा गया। यह समग्र 'ब्रम्हसूत्र शाकरभाष्य' का मराठी में अनुवाद करने का महत्त्वपूर्ण कार्य था। दो वर्षों की अवधि और ५०००) मानधन तय हुआ। प्रथम वर्ष में प्रा चादोरकर और वासुदेवशास्त्री जी ने अतीव परिश्रम उठाए और लगभग आधा काम समाप्त किया। दुर्भाग्य से प्रा चादोरकर की आकस्मिक तथा अकल्पित मृत्यु हुई और बचा हुआ सारा अनुवादकार्य वासुदेवशास्त्री जी को ही पूर्ण करना पडा। यह काम तो आपने पूर्ण किया ही, साथ ही साथ तीन महीनों की अधिक अवधि लेकर बडोदा रियासत की प्रार्थना पर आपने इस ग्रथ के लिए एक परिशिष्ट भी बनाया जिसमें ब्रम्हसूत्र से सम्बन्धित शकराचार्य, रामानुजाचार्य वल्लभाचार्य तथा पूर्णप्रज्ञाचार्य मतों का टिप्पणियों के साथ तुलनात्मक विवरण दिया है। परिशिष्ट सहित १८०० पृष्ठों के इस महान् अनुवादग्रन्थ के प्रकाशन से वासुदेवशास्त्री की कीर्ति में चार चाँद लग गए। आपका अनुवाद इतना सरल, सुबोध तथा शैली इतनी सुदर एव सस्पष्ट है कि मूल संस्कृत ग्रथ का दुरूह से दुरूह अश भी आपका अनुवाद पढने पर स्पष्ट हो जाता है।

इसके बाद बबई संस्कृत सीरीज के द्वारा प्रकाशित रामानुजके 'श्रीभाष्य' की व्याख्या से आपकी लोकप्रियता और भी वृद्धिगत हुई। सपूर्ण श्रीभाष्य की व्याख्या को आपने मूल ग्रथ सहित दो खण्डो में प्रकाशित किया। प्रथम खण्ड में 'श्रीभाष्य' का पाठभेदों सहित सपादन किया गया है और द्वितीय खण्ड में आपका व्याख्या है। मराठी के वाचक भी रामानुज के 'विशिष्टाद्वैतमत' को जान लें इस उद्देश्य से आपने 'विशिष्टाद्वैतमत' नामका एक लघु शोधप्रबन्ध मराठी में प्रकाशित किया। यह प्रबन्ध इतनी मधुर तथा सुदर शैली में लिखा है और रामानुज के

की व्याख्याओं का अध्ययन करके लोग व्याकरणशास्त्री बनने लगे। भट्टोजी दीक्षित ने महाभाष्य के रूप पर 'शब्दकौस्तुभ' नाम का ग्रंथ लिखा लेकिन वह पूर्ण नहीं हुआ होगा, क्योंकि वह आज समग्र रूप में उपलब्ध नहीं है। साधारणतया ईसा की सोलहवीं शताब्दी में महाभाष्य के अध्ययन से वैयाकरणों का ध्यान पूर्ण रूप से हट गया है, इस बात को अनुभव करते हुए नागेशभट्ट ने ईसा की १८ वीं शताब्दी के प्रारंभ में 'महाभाष्यप्रदीप' की सुस्पष्टता के साथ व्याख्या करनेवाली 'विवरण' नाम की टीका लिखी जिसमें 'महाभाष्य' बहुत कुछ आलोक में आ गया। इस प्रकार नागेशभट्ट ने तीसरी आपत्ति से 'महाभाष्य' की रक्षा की। 'प्रदीप' पर प्रकाश डालनेवाली यह व्याख्या (विवरण) वैयाकरणकुल में 'उद्योत' इस सार्थ नाम से ही प्रसिद्ध हुई। 'महाभाष्य' के अध्ययन को नागेशभट्ट की 'उद्योत' व्याख्या से बहुत कुछ गति प्राप्त हो गई। भर्तृहरि, कैयट तथा नागेश ने 'महाभाष्य' को क्रमशः संरक्षण, पुनरुज्जीवन तथा स्थैर्य प्रदान कर सचमुच लोकोत्तर कार्य किया। फिर भी 'सिद्धान्तकौमुदी' और तत्संबन्धी टीकाग्रंथों तथा 'परिभाषेन्दुशेखर' का अध्ययन करके प्रान्त प्रान्त में 'त्वरित वैयाकरण' पैदा होने लगे। ये वैयाकरण पूर्वोक्तरूप से वादनैपुण्य का भी प्रदर्शन करने लगे। परिणामतः प्रदीप तथा उद्योत की सहायता से सुरक्षित होते हुए भी 'महाभाष्य' जैसे बृहत्काय ग्रन्थ का अध्ययन पीछे पड़ने लगा। यह अध्ययन इतना पिछड़ गया कि ईसा की बीसवी शताब्दी के द्वितीय पाद में महाभाष्य का संपूर्ण अध्ययन करनेवाले वैयाकरणों की संख्या हाथ की उंगलियों पर गिनने योग्य भी नहीं रही।

इन सब बातों का ध्यान में लेते हुए और खासकर संस्कृत के मुख्य मुख्य ग्रंथों को मुखोद्गत करके शास्त्रग्रंथों का परम्परागत पद्धति से पाठ्य अध्ययन करनेवाले अभ्यासियों की संख्या दिनब दिन कम होती जा रही है इस बात को देखते हुए 'प्रदीप' तथा 'उद्योत' इन दो टीकाग्रंथों के आधार पर महाभाष्य को मराठी में अनूदित करने का कठिन किन्तु महत्त्वपूर्ण कार्य गुरुवर्य म. म. वासुदेवशास्त्री ने प्रारंभ किया और दीर्घोद्योग तथा सातत्य के साथ आठ वर्षों की अवधि में यह कार्य पूर्ण किया। चार तपों से भी अधिक समय सतत व्याकरण शास्त्राध्यापन करनेवाले परिनिष्ठित पंडित के द्वारा, वासुदेवशास्त्री के द्वारा, किये हुए महाभाष्य के मराठी अनुवाद को एक तरह से उसके नवीन अवतार के रूप में ही देखना उचित होगा।

सन् १८९२ ई. से १९२८ ई. तक पूना के फर्ग्युसन कॉलेज के संस्कृताध्यापक के नाते जो एकनिष्ठ तथा अनन्य सेवा उन्होंने की उसे स्मरण करते हुए डे. ए. सोसायटी ने मराठी अनुवाद के साथ महाभाष्य को प्रकाशित करने की योजना बनाई और उसके अनुसार प्रकाशन-कार्य भी प्रारंभ हुआ। प्रथम खण्ड का प्रकाशन सन् १९३८ ई. में हुआ और द्वितीय खण्ड का १९४१ ई. में हुआ। दुर्भाग्य से उर्वरित चार खण्डों का प्रकाशन म. म. वासुदेवशास्त्री के जीवनकाल में नहीं हो सका। सन् १९४२ के १४ अगस्त को उनका देहान्त हुआ और द्वितीय महायुद्ध के कारण मुद्रणकार्य भी स्थगित करना पड़ा। महायुद्ध समाप्त होनेपर डे. ए. सोसायटी ने फिर से मुद्रणकार्य प्रारंभ किया। गुरुऋण तथा पितृऋण से अंशतः से भी क्यों न हो उऋण होने के विचार से मैंने उर्वरित चार खण्डों का संपादन किया और प्रस्तावना स्वरूप सातवाँ खण्ड भी उसमें जोड़ दिया।

इन सातो खण्डों की विद्वज्जनों के द्वारा मुक्त कण्ठ से स्तुति हुई। कुछ विद्वानों ने अपनी गौरवपूर्ण सम्मतियाँ प्रकट कीं और राष्ट्रभाषा तथा अंग्रेज़ी दोनों भाषाओं में इसे अनूदित करने की सूचनाएँ दीं। इन अनुवादों से इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का अध्ययन सभी लोगों के लिए सुलभ होगा इसी उद्देश्य से अनुवाद की सूचनाएँ दी गईं। उनकी सूचनाओं के अनुसार प्रा पी एन्. मुळे ने प्रथम नौ आह्निकों का हिन्दी में अनुवाद किया और मैंने मूल संस्कृत ग्रन्थ का संपादन करते हुए इस बात पर ध्यान दिया कि सही अर्थ हिन्दी में भी व्यक्त हुआ है। मैं यह एक सौभाग्यपूर्ण बात मानता हूँ कि स्व म म वासुदेवशास्त्री की जन्मशताब्दी के समारोह के विद्यमान वर्ष में ही कम से कम महाभाष्य के 'नवाह्निकी विभाग' का, जो महाभाष्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है, हिन्दी अनुवाद विद्वानों को लाभान्वित करने के उद्देश्य से प्रकाशित किया जा रहा है। विद्वान् तथा व्याकरणाभ्यासी इससे लाभान्वित होंगे यह आशा प्रकट करते हुए मैं यह ग्रन्थ म म वासुदेवशास्त्री की पुण्यस्मृति को अर्पण करता हूँ।

विजया दशमी,
शालिवाहन शक १८८१
दि २८ ९ १९६३

काशीनाथ वासुदेव अभ्यंकर
समाननीय संस्कृत प्राध्यापक,
भांडारकर प्राच्यविद्या संशोधन मंदिर,
पुणे ४

श्रीभगवत्पतञ्जलिविरचितं

व्याकरणमहाभाष्यम्

प्रगृह्यादिसंज्ञानामकं पञ्चममाह्निकम्

प्रगृह्यादिसंज्ञाह्निक (अ. १ पा. १ आह्निक ५)

[प्रगृह्यसंज्ञाका विवेचन—इस आह्निकमें प्रगृह्य-संज्ञा (सू. ११-१९), घु-संज्ञा (सू २०), घ-संज्ञा (सू. २२), संख्या-संज्ञा (सू २३-२५) और निपात-संज्ञा (सू. २६)—इनका विचार किया है। ये सब संज्ञाएँ सूत्रकारोंके पूर्वके वैयाकरणोंने कुछ विशिष्ट शब्दोंको दी होंगी। 'घु' और 'घ' के सिवा ये सब संज्ञाएँ अन्वर्थ भी हैं। इन संज्ञा-सूत्रोंके बीचमें ही 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' (सू. २१) सूत्र थोड़ासा अप्रासंगिक दीख पड़ता है; परन्तु सन्धिकार्यसे होनेवाले गुण और वृद्धि जैसे एकादेश होने के बाद एकादेश पूर्वशब्दका अन्त्य वर्ण समझा जाय अथवा अगले शब्दका आदि वर्ण समझा जाय यह आशंका निर्माण हुई तो उस स्थानमें दोनों प्रकारकी परिपाटियाँ हैं ऐसा कहनेके लिए यह सूत्र किया है। प्रगृह्यसंज्ञा उस स्वरको दी जाती है जो संधिकार्य प्राप्त होते हुए भी कायम रखा जात है। अर्थके बारेमें बाधा न निर्माण हो इसलिए द्विवचनके ईकारान्त, ऊकारान्त और एकारान्त रूप तथा कुछ विशिष्ट शब्दस्वरूप उच्चारित किये जाते हैं, उन्हें यह प्रगृह्यसंज्ञा पूर्वाचार्योंने दी है। 'ईदूदेत्०' (सू. ११) सूत्रमें ई, उ और एकारोंके आगे सूत्रकारोंने तकारका उच्चारण किया है। उनका विचार करते हुए भाष्यकारने प्रस्तुत सूत्रके अर्थके तीन प्रकार दिये हैं—(१) ई, ऊ और ए स्वरोंके रूपका ही द्विवचन (अर्थात् द्विवचनवाचक प्रत्यय) प्रगृह्य होता है, (२) ई, ऊ और ए जिसके अन्तमें हैं ऐसा द्विवचन (अर्थात् द्विवचन-प्रत्यय) प्रगृह्य होता है, (३) ई, ऊ और ए जिसके अन्तमें हैं तथा द्विवचन-प्रत्यय भी जिसके अन्तमें है वह शब्द प्रगृह्य होता है, ये तीन प्रकार देकर उनमेंसे बीचका प्रकार कायम किया है। 'अदसो मात्' (सू. १२) सूत्रमें 'अदस्' शब्दके रूपमें मकारके आगे आनेवाले ई, ऊ, और ए स्वर प्रगृह्य होते हैं ऐसा कहा है। यहाँ 'अदस्' शब्दके 'द'कारको 'म'कार कहनेवाला त्रिपादीका 'अदसोसेः०' (८।२।८०) सूत्र प्रकृतसूत्रको दीख न पड़नेसे प्रगृह्य-संज्ञा करनेमें बाधा आती है; पर प्रगृह्य-संज्ञाको 'म'कार निमित्त ही होनेसे मकार प्राप्त हुआ दिखायी देता है ऐसा प्रतिपादन करके भाष्यकारने वह दूर की है। और यह भी बताया है कि कार्यकालपक्षमें "अदसो मात्" (१।१।१२) और

"अदसोसेर्दादु दो मः" (८।२।८०) सूत्रोंका वाक्यार्थ एकबारगी होनेके कारण वह बाधा निर्माण नहीं होती। "शे" (सू. १३) सूत्रमें विभक्तिप्रत्ययोंके स्थानमें होनेवाला 'शे' (ए) अर्थयुक्त विभक्तिप्रत्यय लिया जानेसे 'काशे', 'वशे' इत्यादि रूपोंके अर्थरहित 'शे' को प्रगृह्यसज्ञा नहीं होती है। अन्तमें, 'निपात एकाजनाङ्', 'ओत्' और 'उञ' (सू. १४, १५, १७) सूत्रोंमें एक ही स्वर है उस निपातको प्रगृह्यसज्ञा कहा है, और "ईदूतौ च०" (सू १८) सूत्रसे सप्तम्यर्थी ईकारान्त और ऊकारान्त शब्दको प्रगृह्य-सज्ञा कही है। वास्तवम इस प्रकारके शब्द वेदमें ही पाये जाते हैं।

'घु' संज्ञाका विवेचन—'दाधा घ्वदाप्' (सू २०) सूत्रसे 'दा' और 'धा' स्वरूपकी धातुओंको 'घु'-सज्ञा कही है। दा धातु, धा धातु और ए अथवा ऐ को आ आदेश होनेपर जिनके दा और धा रूप होते हैं इस प्रकारकी धातुओंको भी 'घु' सज्ञा दी जाय यह भारद्वाजीय वैयाकरणोंका मत भाष्यमें दिया है। उससे दिखायी देता है कि यह 'घु' सज्ञा प्राचीन वैयाकरणोंकी दी हुई हो। अन्वर्थक न होनेवाली 'टि', 'घु', 'भ', 'घ' ये एकाक्षरी सज्ञाएँ विशिष्ट शब्दोंके प्रथम अथवा अन्त्य अक्षर लेकर प्रतिपादन-लाघवके लिए पूर्व वैयाकरणोंने की होंगी। जैसे, धातु शब्दमेंसे 'ध्' वर्ण लेकर 'धुष्' सज्ञा, 'काल' मेंसे 'ल' अक्षर लेकर 'ल' कार, और उसीको इत् वर्ण लगाकर लट्, लिट् इत्यादि संज्ञाएँ, 'लघु' मेंसे अन्त्य अक्षर लेकर 'घु' संज्ञा, तथा 'दीर्घ' मेंसे अन्त्य अक्षर लेकर 'घ' सज्ञा। 'घु' सज्ञा 'दा' और 'धा' जैसे अर्थयुक्त शब्द स्वरूपको दी जाय, तथा 'दॄ' और 'धॄ' को 'णिच्' आगे होनेसे वृद्धि होनेपर 'दार्' और 'धार्' इस प्रकारके जो शब्दस्वरूप होते हैं उनमेंके 'दा' और 'धा' इन अर्थरहित अवयवोंको न दी जाय ऐसा भाष्यकारने कहा है। इस सदर्भमें आगमके अर्थका विवेचन किया है और बताया है कि आगम अर्थात् जोडा हुआ भिन्न भाग यह अर्थ यद्यपि व्युत्पत्तिसिद्ध है तो भी वह नहीं लिया जा सकता क्यों कि शब्द नित्य होनेके कारण उनके बारेमें विकृतिकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः आगमका अर्थ है आदेशके समान एक शब्दके बदले दूसरे शब्दका प्रयोग, यह भाष्यकारने स्पष्टतया बताया है और उसके समर्थनार्थ पूर्ववैयाकरणोंका एक श्लोक उद्धृत किया है—

"सर्वे सर्वपदादेशाः दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते॥"

आद्यन्तवद्भाव और व्यपदेशिवद्भाव—'आद्यन्तवदेकस्मिन्' (सू. २१) सूत्रसे एक (वर्ण) को ही तदादि तथा तदन्त—जैसे 'इ' धातुको ही इकारादि तथा इकारान्त—कहा जा सकता है ऐसा बताया है। वार्तिककारने इस सूत्रकी आवश्यकता बतायी है; इतना ही नहीं तो इससे भी अधिक सामान्य रीतिसे अर्थात् 'मुख्यार्थसे होनेवाले कार्य गौणार्थको लेकर सम्भवनीय हो तो हो जायँ' इस अर्थका व्यपदेशिवद्भाव

ही आद्यन्तवद्भावके बदले कहा जाय ऐसा कहा है, और 'इ' धातुको एकाचूरूपसे द्वित्व हो, सु प्रत्ययको प्रत्ययके अवयवके रूपसे षत्व हो इस प्रकारके उपयोग दिखाये हैं। तदनन्तर लोकमें ये बातें अनुभवमें आनेसे व्यपदेशिवद्भावका सहेतुक विधान करनेकी आवश्यकता नहीं है ऐसा भी वार्तिककारने बताया है; और भाष्यकारने एक ही पुत्र हो सो उसीको ज्येष्ठ पुत्र कहा जाय वैसे ही एक ही वर्ण प्रस्तुत हो सो भी यदि वह सुबन्त हो तो उसीको पद कहते हैं यह उदाहरण स्पष्टीकरणके लिए दिया है। फिर जिसके पूर्व कुछ नहीं वह 'आदि' है, और जिसके आगे कुछ नहीं वह 'अन्त' है इस प्रकारकी 'आदि' और 'अन्त' शब्दोंकी परिभाषा करके इस सूत्रकी आवश्यकता नहीं यह भी वार्तिककारने कहा है। परन्तु भाष्यकारने यहाँ 'गोनर्दीय कहता है' इस प्रकारका उल्लेख करके 'अन्य कोई तत्सदृश होनेपर ही आरंभका और अन्तका ये शब्द उपयोगमें लाये जाते हैं' इस गोनर्दीयके मतके रूपमें स्वमत स्पष्टतया कहकर प्रस्तुत सूत्रकी आवश्यकताका प्रतिपादन किया है। अन्तमें, वार्तिककारने इस सूत्रके प्रयोजन बताये हैं, और भाष्यकारने प्रातिपदिक, प्रत्यय अथवा धातु एकवर्णात्मक होने हुए भी उसीको आदि अथवा अन्त समझकर जहाँ कार्य हो चुके हैं इस प्रकारके उदाहरण भी दिये हैं।

घ-संज्ञा, संख्या-संज्ञा और निष्ठा-संज्ञाओंका विवेचन—"तरप्तमपौ घः" (सू. २२) सूत्रमें तरप् और तमप् प्रत्ययोंको घसंज्ञा कही है। यह संज्ञा भी प्राचीन वैयाकरणोंकी ही होगी। यहा वार्तिककारने प्रतिपादन किया है कि इत् वर्ण प् लगाकर उच्चारण किया जानेके कारण 'तर' शब्दसे यहाँ पाणिनिका कहा हुआ तरप् प्रत्यय लिया जाय, 'नदीतर' आदि रूपका 'तर' शब्द न लिया जाय। तदनन्तर (सू. २३–२६) संख्यासंज्ञा और संख्यासंज्ञाका ही एक प्रकार षट्संज्ञा इनका विवरण चालू किया है। 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्ययः' न्यायसे बहु, गण इत्यादि शब्दोंको ही कही हुई कृत्रिम 'संख्या' संज्ञा ही प्रथमतः ध्यानमें आयेगी और एक, द्वि, त्रि इन स्वाभाविक संख्यावाचक शब्दोंको 'संख्या' संज्ञा न होगी इस लिए सूत्रमें और एक 'संख्या' शब्द रखना आवश्यक है यह वार्तिककारका विधान है। उसको भाष्यकारने उत्तर दिया है और कहा है कि संदर्भ या विशिष्ट उपयोग जहाँ मनमें होता है वहाँ कृत्रिम संज्ञा पहले ध्यानमें आती है और अन्य स्थलोंमें स्वाभाविक अर्थ ही पहले ध्यानमें आता है, अतः यहाँ दोनों प्रकारकी संख्याएँ ध्यानमें आ सकती हैं। और 'संख्या' एक बड़ी संज्ञा दी जानेके कारण वह अन्वर्थक ली जाय यह भी अभिप्राय अपने विधानके समर्थनार्थ भाष्यकारने व्यक्त किया है। इसके बाद 'अध्यर्ध', 'अर्धपूर्व', 'अधिक' शब्दोंको भी संख्या कहा गया तो अन्यत्र सूत्रोंमें ये शब्द रखनेकी आवश्यकता नहीं है, तथा बहु आदि शब्द भी प्रस्तुत सूत्रमें न रखे गये होते तो भी काम चल सकता था, शास्त्रमें ही उनकी 'संख्या' संज्ञा सिद्ध होती है, यह भी यहाँ भाष्यकारने बताया है। 'ष्णान्ता षट्' (सू. २४) सूत्रमें उपदेशमें षकारान्त और नकारान्त संख्या लेना यद्यपि इष्ट हो तो भी 'उपदेशे' शब्द सूत्रमें रखनेकी आवश्यकता नहीं, संनिपात परिभाषासे और 'अष्टनो दीर्घात्'

ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् ॥ १ । १ । ११ ॥

किमर्थमीदादीना तपराणा प्रगृह्यसंज्ञोच्यते। तपरस्तत्कालस्य [१.१.७०] इति तत्कालाना सवर्णाना ग्रहण यथा स्यात्। केषाम्। उदात्तानुदात्तस्वरिता-नाम्। अस्ति प्रयोजनमेतत्। किं तर्हीति। प्लुतानां तु प्रगृह्यसंज्ञा न प्राप्नोति। किं कारणम्। अतत्कालत्वात्। न हि प्लुतास्तत्कालाः। असिद्धः प्लुतस्त-

(६।१।१६८) सूत्रके 'दीर्घ' शब्दसे निकाले हुए ज्ञापकसे ही इष्ट उदाहरण सिद्ध होंग। अन्तमें, 'क्तक्तवतू निष्ठा' (सू २६) सूत्रमें कही गयी 'निष्ठा' संज्ञाका भाष्य-कारने विवरण किया है, और बताया है कि 'क्' अनुबंधका लोप यद्यपि हुआ तो भी वह अनुबंध लगाया गया था इस चिह्नसे अनुबंधसहित 'क्त' और 'क्तवतु' प्रत्ययकी 'निष्ठा' संज्ञा की जा सकती है, लोत, गर्त इत्यादि शब्दोंके उणादि 'त' प्रत्ययकी नहीं की जा सकती है, और अपने विधानके समर्थनार्थ भाष्यकारने दृष्टान्त दिया ह कि कौआ उड गया तो भी 'कौआ जिसपर बैठा है वह घर' इस प्रकार बताया गया घर ध्यानमें रहता ह।

(पा सू १।१।११) जिस द्विवचन प्रत्ययके अन्तमे दीर्घ ईकार, दीर्घ ऊकार और एकार इनमेंसे कोई भी वर्ण हो उस द्विवचनप्रत्ययको प्रगृह्य संज्ञा दी जाती है।

ईकार, ऊकार और एकारको इस सूत्रसे प्रगृह्यसंज्ञा कहा है। अब ईत्, ऊत्, एत् ये तकार आगे जोडकर जो उच्चारण किया ह वह किसलिए?

सूत्रमें उच्चारित दीर्घ ईकार आदि वर्णोंके उच्चारणके लिए जितना समय लगता है उतनेही समयमें जिनका उच्चारण किया जाता है उन दीर्घ ईकार आदि सवर्ण वर्णोंका यहाँ "तपरस्तत्कालस्य" (१।१।७०) सूत्रसे ग्रहण होनेके लिए वैसा उच्चारण किया है।

वे सवर्ण वर्ण कौनसे है?

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन दीर्घ ईकार आदि वर्णोंका यहाँ "तपर-स्तत्कालस्य" (१।१।७०) सूत्रसे ग्रहण करना चाहिये।

ईकार आदि वर्णोंके आगे तकार जोडनेका यह उपयोग है सही, पर—

पर क्या?

यद्यपि सब प्रकारके दीर्घ ईकार आदिका ग्रहण हो तो भी प्लुत ई३कार आदिको प्रगृह्यसंज्ञा नहीं प्राप्त होगी यह दोष आता है।

क्या कारण है?

प्लुत वर्ण तत्काल न होनेसे। प्लुत वर्ण तत्काल नही है। (अर्थात् दीर्घ वर्णोंके उच्चारणके लिए जितना समय लगता है उतना ही समय प्लुत वर्णोंके उच्चारणके लिए

स्यासिद्धत्वात्तत्काला एव भवन्ति। सिद्धः प्लुतः स्वरसंधिषु। कथं ज्ञायते सिद्धः प्लुतः स्वरसंधिष्विति। यदयं प्लुतप्रगृह्या अचि [६.१.१२५] इति प्लुतस्य प्रकृतिभावं शास्ति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्। सतो हि कार्यिणः कार्येण भवितव्यम्। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्। अप्लुतादप्लुत इत्येतन्न वक्तव्यं भवति। किमतो यत्सिद्धः प्लुतः स्वरसंधिषु। संज्ञाविधावसिद्धस्तस्यासिद्धत्वात्तत्काला एव

लगता है यह बात नहीं।)

पर प्लुत असिद्ध है। अतः *वह असिद्ध होनेसे मूलभूत दीर्घ वर्ण तत्काल ही हैं*।

(प्लुत असिद्ध नहीं है।) क्यों कि स्वरसंधि करनेकी आवश्यकता हो तो प्लुत सिद्ध है (ऐसा संकेत है)।

स्वरसंधि करनेकी आवश्यकता होनेपर प्लुत सिद्ध है ऐसा संकेत है यह कैसे ज्ञात होता है?

यह यों ज्ञात होता है कि आचार्य पाणिनि "प्लुतप्रगृह्या अचि०" (६।१।१२५) सूत्रसे प्लुतका प्रकृतिभाव कहते हैं। (इसीसे यह विदित होता है।)

यह ज्ञापक कैसे समझमें आता है?

क्यों कि विद्यमान उद्देश्यका ही कार्य कहा जाता है।[3]

इस ज्ञापकका क्या उपयोग है?

(यह ज्ञापक समझ लेनेसे "अतो रोरप्लुतादप्लुते"—६।१।११३—सूत्रमें) 'अप्लुतात्' और 'अप्लुते' (ये दो पद) उच्चारनेकी आवश्यकता नहीं[4]।

---

१. दीर्घकी दो और प्लुतकी तीन मात्राएँ हैं। अतः प्लुत वर्णके उच्चारणको दीर्घ वर्णके उच्चारणसे डेढ़ गुना अधिक समय लगता है। तब 'हरी ३ इति' में प्लुत ईकारको प्रगृह्य संज्ञा न होगी।

२. 'हरी ३' में "दूराद्धूते च" (८।२।८४) इस त्रिपादीके सूत्रसे प्राप्त हुआ प्लुत "पूर्वत्रासिद्धम्" (८।२।१) सूत्रसे प्रगृह्यसंज्ञाकी दृष्टिमे असिद्ध होता है। अतः उसकी दृष्टिमे यहाँ दीर्घ ही होनेके कारण दीर्घ है इस कल्पनासे ही प्रगृह्यसंज्ञा प्लुतको होगी।

३. "प्लुतप्रगृह्या०" (६।१।१२५) सूत्रमे प्लुतके बारेमें प्रकृतिभाव कार्य कहा है। पर प्लुत उस प्रकृतिभावकी दृष्टिसे असिद्ध होनेके कारण वह विद्यमान है ऐसा नहीं कहा जा सकता है, और उसको प्रकृतिभाव नहीं किया जा सकता है, तब वह सूत्र निरर्थक होगा। वह सूत्र वैसा न हो इसलिए 'स्वरसंधि कर्तव्य हो तो प्लुत सिद्ध है' ऐसा प्रस्ताव करना चाहिये।

४. क्यों कि 'एहि सुस्रोता ३ अत्र' इत्यादि उदाहरणोंमें आया हुआ प्लुत सिद्ध होनेसे वह 'रु' ह्रस्व अकारसे पर है ऐसा नहीं कहा जा सकता है। तब वास्तवमें वहाँ 'रु' को उत्व नहीं प्राप्त होगा। 'तिष्ठतु पय अ ३ग्निदत्त' इत्यादि उदाहरणोंमें 'रु' के आगे प्लुत होनेपर वैसाही समझा जाय।

भवन्ति । संज्ञाविधौ च सिद्धः । कथम् । कार्यकालं हि संज्ञापरिभाषम् । यत्र कार्यं तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम् । प्रगृह्य. प्रकृत्येत्युपस्थितमिदं भवति ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यमिति ॥ किं पुनः प्लुतस्य प्रगृह्यसंज्ञावचने प्रयोजनम् । प्रगृह्याश्रयः प्रकृतिभावो यथा स्यात् । मा भूदेवम् । प्लुतः प्रकृत्येत्येव भविष्यति । नैव शक्यम् । उपस्थिते हि दोषः स्यात् । अप्लुतवदुपस्थिते [६ १.१२९] इत्यत्र पठिष्यति ह्याचार्यः । वद्वचनं प्लुतकार्यप्रतिषेधार्थं प्लुतप्रतिषेधे हि प्रगृह्यप्लुतप्रतिषेध-

---

'स्वरसंधि कर्तव्य होनेपर प्लुत सिद्ध है' यह संकेत मान ले भी यहाँ उसका क्या उपयोग है? (कोई उपयोग नहीं दीखता। क्यों कि 'प्रगृह्यसंज्ञा करना' का अर्थ 'स्वरसंधि करना' नहीं है। तब) प्रगृह्य-संज्ञा कर्तव्य होनेपर प्लुत असिद्ध ही रहेगा, और वह असिद्ध होनेपर (मूलभूत ईकार आदि वर्ण) तत्काल (अर्थात् दीर्घ) ही है।

प्रगृह्य-संज्ञा कर्तव्य होनेपर भी प्लुत (उसी संकेतसे) सिद्ध समझा जायगा।

सो कैसे?

संज्ञाओं और परिभाषाओंके विषयमें कार्यकालपक्ष है। जहाँ कार्य हो वहाँ वे उपस्थित होती हैं। अत. "प्रगृह्यको प्रकृतिभाव होता है" (६।१।१२५) ऐसा (संधिकार्यप्रकरणमें) कहा है। वहाँ (प्रगृह्यका अर्थ समझमें आनेके लिए प्रगृह्य संज्ञा कहनेवाला) 'ईदूदेद्द्विवचन प्रगृह्यम्' यह प्रकृतसूत्र उपस्थित होता है।

पर (इतने परिश्रम उठाके) प्लुतकी प्रगृह्य संज्ञाका प्रतिपादन करनेका क्या उपयोग है?

(इसका यह उपयोग है कि) प्रगृह्यसंज्ञापर अवलंबित प्रकृतिभाव (प्लुतको) होना चाहिये।

(वह प्रकृतिभाव) न हुआ तो भी कुछ आपत्ति नहीं है। प्लुतको कहा हुआ प्रकृतिभाव होगा और इससे इष्टकार्य सिद्ध होगा।

इससे इष्टकार्यसिद्धिसंभव नहीं। कारण कि 'उपस्थित' आगे होनेपर दोष आयेगा। आचार्य वार्तिककार "अप्लुतवदुपस्थिते" (६।१।१२९) सूत्रपर विचार

---

५ तात्पर्य यह है कि प्रगृह्यसंज्ञा कहनेवाला सूत्र जब स्वरसंधि प्रकरणमें उपस्थित होकर काममें आता है तब वह स्वरसंधि प्रकरणमें मानो आ चुका ही है। अतः इस प्रगृह्य संज्ञाकी दृष्टिसे प्लुत सिद्ध है ऐसा कहनेमें प्रत्यवाय नहीं है।

६ मूल वदमें 'इति' शब्द नहीं है। उस वेदवाक्यके पद दिखाते समय कल्पित जो 'इति' शब्द है उसको 'उपस्थित' कहते हैं। 'अग्नी ३ इति' में यद्यपि प्लुत हुआ है तो भी वह 'अप्लुतवदुपस्थिते' (६।१।१२९) सूत्रसे मानो न हुआ है ऐसा समझा जाता है। तब वहाँ प्लुतको कहा हुआ प्रकृतिभाव नहीं किया जा सकता है। और यदि उस प्लुतको प्रगृह्यसंज्ञा न हुई तो प्रगृह्यसंज्ञापर अवलंबित होनेवाला प्रकृतिभाव भी न होगा और संधिकार्य होने लगेगा यह दोष प्राप्त होता है।

प्रसङ्गोऽन्येन विहितत्वादिति । तस्मात्प्लुतस्य प्रगृह्यसंज्ञेषितव्या प्रगृह्याश्रयः प्रकृतिभावो यथा स्यात् ॥

यदि पुनर्दीर्घाणामतपराणां प्रगृह्यसंज्ञोच्येत । एवमप्येकार एवैकः सवर्णान्गृह्णीयादीकारोकारौ न गृह्णीयाताम् । किं कारणम् । अनण्त्वात् ॥ यदि पुनर्ह्रस्वानामतपराणां प्रगृह्यसंज्ञोच्येत । नैव शक्यम् । इहापि प्रसज्येत । अकुर्वहि अत्र अकुर्वह्यत्रेति ॥

तस्माद्दीर्घाणामेव तपराणां प्रगृह्यसंज्ञा वक्तव्या । दीर्घाणां चोच्यमाना प्लुतानां न प्राप्नोति ॥ एवं तर्हि किं न एतेन यत्नेन यत्सिद्ध. प्लुत. स्वरसवि-

---

करते हुए यह कहनेवाले है कि "वैद्वचन प्लुतकार्यप्रतिषेधार्थं प्लुतप्रतिषेधे हि प्रगृह्यप्लुतप्रतिषेधप्रसङ्गोऽन्येन विहितत्वात्" (६।१।१२९ वा १,२)। तब प्लुतको प्रगृह्यसंज्ञा होना इष्ट है, क्योंकि वैसा होनेसे प्रगृह्यपर अवलम्बित प्रकृतिभाव होगा।

अब यदि सूत्रमें तकार न लगाकर केवल ई, ऊ, ए ये दीर्घ ही उच्चारित हुए (तो भी दोष कायम रहता ही है)। (केवल एकार ही प्लुत हुआ तो उसको प्रगृह्यसंज्ञा की जायगी।) क्यों कि अकेला एकार ही सवर्णोंका ग्रहण कर सकेगा, ईकार और ऊकार अपने सवर्णोंका ग्रहण नहीं कर सकेंगे।

क्यों ?

क्यों कि (दीर्घ ईकार और ऊकार) अण् नहीं है।

अब यदि तकार न लगाकर ह्रस्व 'इ' और 'उ' का उच्चारण करके प्रगृह्यसंज्ञा कही जाय तो वह भी सम्भव नहीं। क्यों कि (ह्रस्व इ और उ ये अण् होनेके कारण उनके द्वारा सवर्णोंका ग्रहण होके दीर्घ और प्लुत ईकार इत्यादिको प्रगृह्यसंज्ञा होगी सही, पर ह्रस्वको निरर्थक होने लगेगी और) 'अकुर्वहि अत्र' में (संधि होकर) 'अकुर्वह्यत्र' सिद्ध न होनेका दोष आता है।

अतः दीर्घोंको ही तकार जोड़कर प्रगृह्यसंज्ञा कहना चाहिये और वैसी दीर्घोंको कही हुई प्लुतको प्राप्त नहीं होती (यह पहले दिया हुआ दोष कायम रहता है)।

---

७ 'अप्लुतवदुपस्थिते' सूत्रमें बताया है कि 'उपस्थित इति शब्द आगे होनेपर प्लुत अप्लुतके समान होता है'। अप्लुतके समान समझा जानेके कारण प्लुतपर अवलंबित होनेवाला प्रकृतिभाव नहीं होता है और संधिकार्य होता है, जैसे, 'सुश्लोका ३ इति' में संधि होके 'सुश्लोकेति' होता है। यहाँ 'अप्लुतवत्' में 'वत्' प्रत्यय लगाया जानेसे अप्लुतके समान समझा गया तो भी वहाँ प्लुतका जो तीन मात्रायुक्त स्वरूप है वह नष्ट नहीं होता। यद्यपि 'सुश्लोकेति' उदाहरणमें प्लुतका स्वरूप रहा हो वा नष्ट हुआ हो, संधिकार्य होनेसे उसमें कुछ भी भेद दिखायी नहीं देता तो भी 'अग्ना ३इति' में प्लुत प्रगृह्यसंज्ञक होनेके कारण वहाँ उस प्रगृह्यपर निर्भर होकर प्रकृतिभाव होता है और प्रकृत सूत्रमें अप्लुतवद्भाव हुआ तो भी प्लुतका स्वरूप नष्ट न होनेसे तीन मात्राओंसे युक्त उच्चारण होता है।

प्विति। असिद्धः प्लुतस्तस्यासिद्धत्वात्तत्काला एव भवन्तीति। कथं यत्तज्ज्ञापक-मुक्तं प्लुतप्रगृह्या अचीति। प्लुतभावी प्रकृत्येत्येवमेतद्विज्ञायते। कथं यत्तत्प्रयोजन-मुक्तम्। क्रियते तन्न्यास एवाप्लुतादप्लुत इति॥ एवमपि यत्सिद्धे प्रगृह्यकार्यं तत्प्लुतस्य न प्राप्नोति। अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः [८.४.५७] इति। एवं तर्हि किं न एतेन कार्यकालं संज्ञापरिभाषमिति। यथोद्देशमेव संज्ञापरिभाषम्।

तो फिर (अब हम कहते है कि) 'स्वरसंधिओंकी आवश्यकता होनेपर प्लुत सिद्ध होता है' यह (ज्ञापक करनेका भी) प्रयत्न किस लिये? (उस ज्ञापककी आवश्यकता नही।) अर्थात् (प्रगृह्यसंज्ञाकी दृष्टिसे) प्लुत असिद्ध है। और वह असिद्ध होनेसे (उसके असिद्धत्वसे ये प्लुत ईकार, ऊकार) दीर्घ ही समझे जायेंगे। (अतः कुछ भी दोष नही प्राप्त होता है।)

फिर भी ('स्वरसंधिओंकी आवश्यकता होनेपर प्लुत सिद्ध समझा जाय' इसके संबंधमें) "प्लुतप्रगृह्या आचि नित्यम्" (६।१।१२५) सूत्र ज्ञापक कहा गया था वह कैसे? (अर्थात् प्लुत असिद्ध हो तो उस सूत्रका कैसे उपयोग किया जाय?)

जिसको प्लुत होगा उसको (अर्थात् प्लुतके स्थानिको) प्रकृतिभाव होता है ऐसा उस सूत्रका अर्थ समझा जायगा।

अब उस ज्ञापकका जो फल पहले बताया गया है वह कैसे?

(उसका निर्णय पाणिनिजी कर चुके है। वह यों कि "अतो रोरप्लुतादप्लुते" ६।१।११३ सूत्रमें)—'अप्लुतात्', 'अप्लुते' शब्द ही माने गये है।

इस प्रकार (प्रगृह्यसंज्ञाके कार्योंमेंसे जिन कार्योंकी दृष्टिसे प्लुतः असिद्ध है वे कार्य दीर्घ है ऐसा समझकर किये गये तो) भी जो कार्य प्लुत सिद्ध होते हुए कहा है वह कार्य प्लुतको नही किया जायगा। उदाहरणके लिए, "अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः" (८।४।५७) सूत्रसे कहा गया अनुनासिक। (यहाँ कार्यकालपक्षसे दोष आता है।)

यह दोष यदि आता है तो फिर यहाँ 'कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्' यह संकेत लेनेका प्रयत्न करनेकी क्या आवश्यकता है? संज्ञा और परिभाषाके संबंधमें यथोद्देशपक्ष ही लिया जाता है (वही यहां लिया जायगा)। वह लेनेसे (प्रगृह्यसंज्ञाकी दृष्टिसे प्लुत)

---

८. तब प्लुत यद्यपि असिद्ध हुआ तो भी 'इसको प्लुत होनेवाला है' यह ज्ञान लक्ष्यसंस्कार करनेवालेको होनेके कारण उसके बलपर प्रकृतिभाव किया जा सकता है।

९. कार्यकालपक्षमें प्रगृह्यसंज्ञा कहनेवाला 'ईदूदेत्०' सूत्र 'अणोऽप्रगृह्यस्य०' (८।४।५७) में सम्मिलित हो जानेसे उस प्रगृह्यसंज्ञाकी दृष्टिसे प्लुत सिद्ध होता है। क्योंकि प्लुत कहनेवाले सूत्र पाणिनिने आठवें अध्यायके दूसरे पादमें दिये हैं और 'अणोऽप्रगृह्यस्य०' सूत्र आठवें अध्यायके चौथे पादमें दिया है। तब 'अग्नी३' में प्लुतको प्रगृह्यसंज्ञा न होगी और उसको अनुनासिक होने लगेगा यह दोष आता है।

तत्र चासावसिद्धस्तस्यासिद्धत्वात्तत्काला एव भवन्ति ॥

कथं पुनरिदं विज्ञायते । ईदादयो यद् द्विवचनमिति । आहोस्विदीदाद्यन्तं यद् द्विवचनमिति । कश्चात्र विशेषः ।

ईदादयो द्विवचनं प्रगृह्या इति चेदन्त्यस्य विधिः ॥ १ ॥

ईदादयो द्विवचनं प्रगृह्या इति चेदन्त्यस्य प्रगृह्यसंज्ञा विधेया । पचेते इति । पचेथे इति । वचनाद्भविष्यति । अस्ति वचने प्रयोजनम् । किम् । खट्वे इति । माले इति ॥ अस्तु तर्हीदाद्यन्तं यद् द्विवचनमिति ।

ईदाद्यन्तमिति चेदेकस्य विधिः ॥ २ ॥

असिद्ध ही[10] रहेगा । और वह असिद्ध हुआ तो (ई और ऊ) तत्काल ही है (अर्थात दीर्घ ही है ऐसा समझकर उनको प्रगृह्यसंज्ञा की जायगी)।

ठीक, अब यहाँ क्या अर्थ समझा जाए—(१) ईकार आदि जो द्विवचन-प्रत्यय हैं उनको प्रगृह्यसंज्ञा होती है, अथवा (२) जिन द्विवचनप्रत्ययोंके अन्तमें ईकार आदि हैं उनको प्रगृह्यसंज्ञा होती है ?

इन दो अर्थोमें भेद क्या है ?

(वा. १) ईकार आदि द्विवचनप्रत्ययोंको यदि प्रगृह्यसंज्ञा होती है तो अन्त्यकी प्रगृह्यसंज्ञा कहनी पडेगी ।

ईकार आदि द्विवचन प्रत्ययोंको प्रगृह्य संज्ञा होती है ऐसा कहा जाय तो प्रत्ययके अन्तमें रहनेवालोंको (अर्थात् ईकार आदिको) प्रगृह्यसंज्ञा स्वतंत्ररूपसे कहनी पड़ेगी, जैसे,—पचेते इति, पचेथे इति ।

सूत्रसे (एकाररूप द्विवचनको जो प्रगृह्यसंज्ञा) कही है वही यहाँ हो सकती है। (क्यों कि उसका अन्यत्र उपयोग शक्य नहीं है।)

(एकाररूप द्विवचनको कही हुई प्रगृह्यसंज्ञाका) अन्यत्र उपयोग हो सकता है। कहाँ ?

'खट्वे इति', 'माले इति' आदि उदाहरणोंमें।

तो फिर जिन-द्विवचनप्रत्ययोंके अन्तमें ईकार आदि हैं उनको प्रगृह्यसंज्ञा होती है यही (सूत्रका अर्थ) किया जाय।

(वा. २) जिन द्विवचन-प्रत्ययोंके अन्तमें ईकार आदि हैं उनको यदि

---

१०. यथोद्देशपक्षमें संज्ञा और परिभाषा इस कार्यमें सम्मिलित न होकर अपने मूल स्थानमें स्वतंत्ररूपसे अपना काम करते हैं। तब प्रगृह्यसंज्ञा सपादीमें ही होनेसे उसकी दृष्टिसे प्लुत असिद्ध होना है।

११. तात्पर्य यह है कि एकाररूप द्विवचनका संभव न होनेसे वहाँ द्विवचन प्रत्ययके अन्त्य एकारको होगा।

ईदाद्यन्तमिति चेदेकस्य प्रगृह्यसंज्ञा विधेया। खट्वे इति। माले इति॥

न वाद्यन्तवत्त्वात्॥ ३॥

न वैष दोषः। किं कारणम्। आद्यन्तवत्त्वात्। आद्यन्तवदेकस्मिन्कार्यं भवतीत्येकस्यापि भविष्यति॥ अथवैवं वक्ष्यामि। ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनान्तमिति।

ईदाद्यन्तं द्विवचनान्तमिति चेल्लुकि प्रतिषेधः॥ ४॥

ईदाद्यन्तं द्विवचनान्तमिति चेल्लुकि प्रतिषेधो वक्तव्यः। कुमार्योरगारं कुमार्यगारम्। वध्वोरगारं वध्वगारम्। एतद्धीदाद्यन्तं च श्रूयते द्विवचनान्तं च

प्रगृह्यसंज्ञा होती है तो एकको प्रगृह्यसंज्ञा कहनी पडेगी।

जिन द्विवचन प्रत्ययोंके अन्तमें ईकार आदि है उनको प्रगृह्यसंज्ञा होती है ऐसा कहा गया तो जहाँ (ईकार आदि वर्ण) ये अकलेही द्विवचनप्रत्यय होते है वहाँ (उन ईकार आदिको, प्रगृह्यसंज्ञा कहनी पडेगी, उदा० खट्वे इति, माले इति।

(वा ३) यह दोष नहीं आता है, क्यों कि आदि जैसा और अन्त जैसा समझा जाता है।

यह दोष नहीं आता है।

क्या कारण है?

"आदि-जैसा और अन्त-जैसा समझा जाता है" इसलिए। "अकेला वर्ण हो तो भी वह आदि जैसा अथवा अन्त जैसा समझा जाता है" (१।१।२१) ऐसा कहा गया है इसलिए ('खट्वे इति' उदाहरणमें अकेला एकार ही द्विवचनप्रत्यय हुआ तो भी वह प्रत्ययके अन्तमें है ऐसा समझकर) उस अकेलेको भी प्रगृह्यसंज्ञा की जायगी।

अथवा सूत्रका अर्थ यह समझा जाय कि 'ईकार आदि जिसके अन्तमें है और द्विवचनप्रत्यय जिसके अन्तमें है (उस शब्दस्वरूपको प्रगृह्यसंज्ञा होती है)।'

(वा ४) ईकार आदि जिसके अन्तमें है और द्विवचन प्रत्यय जिसके अन्तमें है ऐसा कहा गया तो लुक् होनेपर वहाँ प्रतिषेध होता है।

ईकार, ऊकार इत्यादि जिसके अन्तमें है और द्विवचनप्रत्यय जिसके अन्तमें है (इस प्रकारके शब्दस्वरूपको प्रगृह्यसंज्ञा होती है) ऐसा कहा गया तो (द्विवचन प्रत्ययका) लुक् होनेपर वहाँ (प्रगृह्यसंज्ञाका) प्रतिषेध होता है यह कहना चाहिये, उदा० कुमार्यो अगार कुमार्यगारम्, वध्वो अगार वध्वगारम्। यहाँ (कुमारी और वधू) इन शब्दोंके अन्तमें ईकार, ऊकार इत्यादि प्रत्यक्ष ही है और उन शब्दोंके अन्तमें

---

१२ यह अर्थ लिया जानसे 'खट्वे' और 'पचेथे' ये दोनों प्रकारके उदाहरण सिद्ध होते हैं। 'खट्व' रूपके अन्तम एकार है और 'ए' द्विवचन ही उनके अन्तमें है। 'पचेथे' रूपके अन्तमें एकार है और 'एथे' द्विवचन उसके अन्तमें है।

भवति प्रत्ययलक्षणेन ॥

सप्तम्यामर्थग्रहणं ज्ञापकं प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधस्य ॥ ५ ॥

यदयमीदूतौ च सप्तम्यर्थे [१-१-१९] इत्यर्थग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो न प्रगृह्यसंज्ञायां प्रत्ययलक्षणं भवतीति ॥ तत्तर्हि ज्ञापकार्थमर्थग्रहणं कर्तव्यम् । न कर्तव्यम् । ईदादिभिर्द्विवचनं विशेषयिष्याम ईदादिविशिष्टेन च द्विवचनेन तदन्तविधिर्भविष्यति । ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनं तदन्तमीदाद्यन्तमिति ॥ एवमप्यशुक्ले वस्त्रे शुक्ले समपद्येतां शुक्ल्यास्तां वस्त्रे इत्यत्र प्राप्नोति । अत्र हीदादि द्विवचनं तदन्तं च भवति प्रत्ययलक्षणेन । अत्राप्यकृते शीभावे लुग्भविष्यति ।

द्विवचनप्रत्यय प्रत्ययलक्षणसे (८।१।६२) माना जा सकता है ।

(वा. ५) "इदूतौ च सप्तम्यर्थे" सूत्रमें 'अर्थ'-शब्द प्रत्ययलक्षणके प्रतिषेधका ज्ञापक है ।

आचार्य पाणिनिजी "ईदूतौ च सप्तम्यर्थे" (१।१।१९) सूत्रमें जो अर्थग्रहण करते हैं उससे वे यह सूचित करते हैं कि "प्रगृह्यसंज्ञामें प्रत्ययलक्षण नहीं होता है ।"

तो फिर इसी ज्ञापकके लिए (उस सूत्रमें) 'अर्थ' शब्द कायम रखना चाहिये ।

वैसा करनेकी आवश्यकता नहीं । (ज्ञापकके बिना ही 'कुमार्यगारम्' इत्यादि उदाहरणोंमें आया हुआ दोष दूर किया जायगा । वह यों कि) ईकार, ऊकार इत्यादिके। द्विवचनका विशेषण बनायेंगे और बादमें उस विशेषणसे युक्त (अर्थात् ईकार, ऊकार इत्यादि जिसके अन्तमें है ऐसा) द्विवचन-(शब्दस्वरूपका विशेषण बनकर) तदन्तका ग्रहण करेगा । (तात्पर्यार्थ यह है कि) 'ईकार, ऊकार इत्यादि जिसके अन्तमें है ऐसा द्विवचन जिसके अन्तमें है (उस शब्दस्वरूपको प्रगृह्यसंज्ञा होती है) ।'

यह अर्थ किया गया तो भी 'वस्त्र शुभ्र प्रतीत होते हैं' इस अर्थके 'शुक्ल्यास्तां वस्त्रे' उदाहरणमें प्रगृह्यसंज्ञा होने लगेगी । यहाँ ईकार द्विवचन है और 'शुक्ली' पद प्रत्ययलक्षणसे द्विवचनान्त है ।

यहाँ भी ('शुक्ल' शब्दके 'औ' इस द्विवचनप्रत्ययको) शी (अर्थात् ई) आदेश करनेके पूर्व ही उसका लुक होगा (अर्थात् दोष न आयेगा) ।

---

१३. 'प्रगृह्यसंज्ञा कर्तव्य होनेपर प्रत्ययलक्षण नहीं होता है' इस प्रकारका ज्ञापक न होनेसे, 'कुमार्यगारम्' उदाहरणमें प्रत्ययलक्षणसे यद्यपि द्विवचन है ऐसा माना गया तो भी वह सकारान्त है, ईकार आदि कुछ भी उसके अन्तमें नहीं है, इससे वहाँ दोष नहीं आता है ।

१४ प्रत्ययलक्षणसे द्विवचन है ऐसा समझा गया तो भी वहाँ औकार है, ईकार नहीं इससे दोष नहीं आता है ।

इदमिह संप्रधार्यं लुक् क्रियतां शीभाव इति किमत्र कर्तव्यम्। परत्वाच्छीभावः। नित्यो लुक्। कृतेऽपि शीभावे प्राप्नोत्यकृतेऽपि प्राप्नोति। अनित्यो लुक्। अन्यस्य कृते शीभावे प्राप्नोत्यन्यस्याकृते शब्दान्तरस्य च प्राप्नुवन्विधिरनित्यो भवति। शीभावोऽप्यनित्यो न हि कृते लुकि प्राप्नोति। उभयोरनित्ययोः परत्वाच्छीभावः शीभावे कृते लुक्। अथापि कथंचिन्नित्यो लुक्स्यादेवमपि

अब यहाँ यह विचार करना चाहिये कि (शुक्ल शब्दको अगले औ इस द्विवचनप्रत्ययका) पहले लुक् किया जाय अथवा पहले शी (अर्थात् ई) आदेश किया जाय[15]?

(फिर इन दोनोंमेंसे) यहाँ क्या (पहले) किया जाय?

परत्वके कारण शी (अर्थात् ई) आदेश पहले किया जाय।

पर लुक् नित्य है। शी (अर्थात् ई) आदेश किया गया तो भी उसका लुक् प्राप्त होता है और शी आदेश करनेके पूर्व ही वह प्राप्त होता है।

लुक् अनित्य है। कारण की शी (अर्थात् ई) आदेश करनेके पहले एकका (अर्थात् 'औ' का) लुक् प्राप्त होता है और शी (अर्थात् ई) आदेश करनेके बाद दूसरेका (अर्थात् 'ई' का) लुक् प्राप्त होता है। और इस प्रकार "भिन्न भिन्न शब्दको प्राप्त होनेवाला जो विधान है वह अनित्य समझा जाता है"। तब लुक् अनित्य होता है और शी (अर्थात् ई) आदेश भी अनित्य है ही। क्यों कि लुक् किया गया तो उसके पश्चात् शी (अर्थात् ई) आदेश प्राप्त होता ही नही। अतः दोनों विधान अनित्य होनेसे शी (अर्थात् ई) आदेश परत्वके कारण पहले होता है और शी (अर्थात् ई) आदेश करनेके बाद उसका लुक् होता है। (तब 'शुक्ली' में प्रत्यक्षलक्षणसे ईकारान्त द्विवचन मानता सम्भवनीय होनेके कारण प्रगृह्यसंज्ञा होगी यह दोष आता है।)

ठीक, अब (शी अर्थात् ई आदेश करनेके पूर्व और उसके पश्चात् लुक् प्राप्त होता है, फिर वह भिन्न भिन्न शब्दको भले न्यो न हो केवल उसकी दोनों समय प्राप्ति होती है इसी बातपर दृष्टि रखकर (किसी तरह लुक् नित्य माना गया (और उससे 'शुक्ली' मेंसे दोष निकल[16] गया) तो और एक दोष आता है। "सुप्तिङन्तं पदम्" (१।४।१४)

१५ शुक्ल शब्द, च्वि-प्रत्यय, उसमेंसे बचे हुए वकारका 'वेरपृक्तस्य' (६।१।६७) सूत्रसे लोप, 'अस्य च्वौ' (७।४।३२) से ईकार, च्वि-प्रत्ययसे 'शुक्ली' को अव्ययसंज्ञा प्राप्त हुई है। उसके आगेके औ प्रत्ययका 'अव्ययादाप्सुपः' (२।४।८२) सूत्रसे लुक् प्राप्त हुआ और 'नपुंसकाच्च' (७।३।१९) से 'शी' आदेश प्राप्त हुआ है।

१६ 'शी' आदेश करनेके पूर्व लुक् हुआ तो वह औकारका होगा। और फिर प्रत्ययलक्षणसे द्विवचन है ऐसा समझा गया तो भी ईकार नहीं, औकार है इसलिए दोष नहीं आता है।

दोषः । वक्ष्यत्येतत् । पदसंज्ञायामन्तवचनमन्यत्र संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिप्रतिषेधार्थमिति । इदं चापि प्रत्ययग्रहणमयं चापि संज्ञाविधिः । अवश्यं खल्वस्मिन्नपि पक्ष आद्यन्तवद्भाव एषितव्यः । तस्मादस्तु स एव मध्यमः पक्षः ॥

अदसो मात् ॥ १ । १ । १२ ॥

मात्प्रगृह्यसंज्ञायां तस्यासिद्धत्वादयावेकादेशप्रतिषेधः ॥ १ ॥

मात्प्रगृह्यसंज्ञायां तस्य ईत्वस्य ऊत्वस्य चासिद्धत्वादयावेकादेशाः प्राप्नुवन्ति तेषां प्रतिषेधो वक्तव्यः । अमी अत्र । अमी आसते । अमू अत्र । अमू

सूत्रमें जो 'अन्त'-ग्रहण किया है वह, "अन्यत्र संज्ञाविधायकशास्त्रमें प्रत्ययग्रहण किया गया तो (उस प्रत्ययसे) तदन्तका ग्रहण न किया जाय" इस प्रकारका (*ज्ञापन) करनेके लिए किया है ऐसा आगे (१।४।१४) वार्तिककार कहनेवाले हैं।* यहाँ तो ("द्विवचन") यह प्रत्ययग्रहण है और (यहाँ प्रगृह्यसंज्ञा कही गयी है इसलिए) यह संज्ञाविधि है। (अतः 'द्विवचनान्त' ऐसा अर्थ होनेके कारण इस प्रकारका तीसरा पक्ष वास्तवमें निर्माण होता ही नहीं यह दोष प्राप्त होता है।)

और ('ईकार, ऊकार इत्यादि जिसके अन्तमें हैं इस प्रकारके द्विवचनप्रत्ययान्त शब्दको प्रगृह्यसंज्ञा होती है') इस (तीसरे) पक्षमें भी ('अमी' आदि उदाहरणोंमें 'ई' इस द्विवचनप्रत्ययको 'ईकारान्त' कहनेके लिए) अन्तवद्भाव मानना ही पड़ेगा। अतः ('ईकार आदि जिसके अन्तमें हैं ऐसे द्विवचनप्रत्ययको प्रगृह्यसंज्ञा होती है') यही मध्यम पक्ष कायम रहने दें।

(सू. १२) अदस् शब्दके मकारके आगे (जो ईकार और ऊकार हैं उनको प्रगृह्यसंज्ञा होती है।)

(वा. १) मकारके अगले वर्णको प्रगृह्यसंज्ञा कही गयी तो उस वर्णके ईत्व और ऊत्वके असिद्धत्वसे अय् आदेश, आव् आदेश और एकादेशका निषेध करना चाहिये।

मकारके अगले वर्णको प्रकृत सूत्रसे प्रगृह्यसंज्ञा कही गयी तो वहाँ उस वर्णको जो 'ई' आदेश और 'ऊ' आदेश होते हैं उनके असिद्धत्वसे अय् आदेश, आव् आदेश और एकादेश प्राप्त होते हैं उनका निषेध करना चाहिये। उदा० 'अमी अत्र,' 'अमू अत्र', 'अमी आसते', 'अमू आसाते'।

---

१. 'अमी' रूपमें आये हुए मकार और ईकार (८।२।८१) असिद्ध होनेसे 'अदे' इस मूल स्थितिके अन्तर्गत एकार वृद्धिमें 'अय्' आदेश होगा। तथैव उसके आगे 'अत्र' पद रखा गया तो पूर्वरूप एकादेश (६।१।१०९) होगा। 'अमू' रूपमें मकार और ऊकार (८।२।८०) असिद्ध होनेसे 'अदौ' इस मूल स्थितिके अन्तर्गत औकार बुद्धिमें 'आव्' आदेश होगा।

आसाते ॥ ननु च प्रगृह्यसंज्ञावचनसामर्थ्यादयादयो न भविष्यन्ति ।

वचनार्थो हि सिद्धे ॥ २ ॥

नेदं वचनाल्लभ्यम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् । किम् । यत्सिद्धे प्रगृह्यसंज्ञाकार्यं तदर्थमेतत्स्यात् । अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः [८. ४. ५७] इति । नैकं प्रयोजनं योगारम्भं प्रयोजयति । यद्येतावत्प्रयोजनं स्यात्तत्रैवायं ब्रूयादणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकोऽदसो नेति ॥

विप्रतिषेधाद्वा ॥ ३ ॥

अथवा प्रगृह्यसंज्ञा क्रियतामयादयो वा प्रगृह्यसंज्ञा भविष्यति विप्रतिषेधेन । नैष युक्तो विप्रतिषेधः । विप्रतिषेधे परमित्युच्यते पूर्वा च प्रगृह्यसंज्ञा परे ऽयादयः।

पर ('अमी अत्र ' आदि उदाहरणोंमें यदि 'अय् ' आदि कार्य होंगे तो प्रकृत सूत्रसे कही हुई) प्रगृह्यसंज्ञा व्यर्थ होगी । अतः उसके बलपर 'अय् ' आदि कार्य न होंगे ।

(वा. २) (जहाँ 'ई ' आदेश और 'ऊ ' आदेश) सिद्ध हैं वहां प्रकृत सूत्रका उपयोग होता है । (तब प्रगृह्यसंज्ञाका विधान व्यर्थ नहीं होता है ।)

(प्रगृह्यसंज्ञाके) विधानके बलपर उपरकी बात सिद्ध नही होगी । कारण कि इस प्रगृह्यसंज्ञाके विधानका उपयोग अन्यत्र होता है ।

वह कौनसा ?

(जिस प्रगृह्यसंज्ञाके कार्यकी दृष्टिसे 'ई ' आदेश और 'ऊ ' आदेश) ये सिद्ध हैं उस कार्यके लिए यह प्रगृह्यसंज्ञा उपयुक्त होगी । उदा०— " अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः । " (८।४।५७)

पर इस एक ही विशेष उपयोगके लिए सामान्य सूत्र करना उचित नहीं । यदि इतना ही उपयोग होता तो (ये आचार्य पाणिनिजी) वहीं " अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकोऽदसो न " ऐसा बोलते ।

(वा. ३) अथवा विप्रतिषेधसे (प्रगृह्यसंज्ञा हो जायगी) ।

अथवा ('अमी अत्र ' आदि उपर्युक्त उदाहरणोंमें) (१) प्रगृह्यसंज्ञा की जाय, अथवा (२) 'अय ' इत्यादि (कार्य) किये जायँ (यह स्पर्धा शुरू होनेपर इनमेंसे) प्रगृह्यसंज्ञा विप्रतिषेधसे ('अय ' इत्यादि कार्योंका बाध करके) होगी ।

पर यह विप्रतिषेध युक्त नहीं । क्यों कि " विप्रतिषेधे परम् " (१।४।२) इस स्वरूपका (सूत्र) है । (अर्थात् दो कार्योंमें विरोध निर्माण हुआ तो वहाँ परकार्य किया

---

१. अनुनासिक करनेवाला यह सूत्र इत्व और ऊत्व करनेवाले सूत्रोंके (८।२।८०,८१) भी। होनेसे उनकी दृष्टिमें ईकार और ऊकार सिद्ध होते हैं। तब उस ईकारको और ऊकारको अनुनासिक न होना यह प्रगृह्यसंज्ञाका उपयोग है।

परा प्रगृह्यसंज्ञा करिष्यते। सूत्रविपर्यासः कृतोः भवति। एवं तर्हि परैव प्रगृह्य-संज्ञा। कथम्। कार्यकालं हि सज्ञापरिभाषम्। यत्र कार्यं तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम्। प्रगृह्यः प्रकृत्येत्युपस्थितमिदं भवति अदसो मादिति ॥ एवमप्ययुक्तो विप्रतिषेधः। कथम्। द्विकार्ययोगो हि विप्रतिषेधो न चात्रैको द्विकार्ययुक्तः। एचामयादयः। ईदूतोः प्रगृह्यसंज्ञा। नावश्यं द्विकार्ययोग एव विप्रतिषेधः। किं तर्हि। असंभवोऽपि। स चास्त्यत्रासंभवः। कोऽसावसंभवः। प्रगृह्यसज्ञाभिनिर्वर्तमानायादी-

जाय ऐसा कहा है। और यह प्रगृह्यसज्ञा तो पूर्व है। उल्टे, 'अय्' इत्यादि कार्य ही (छठे अध्यायमें कहे है इसलिए) पर है।

प्रगृह्यसंज्ञा (उन 'अय्' आदि कार्योके) पश्चात् कही जाय (जिससे वह पर होगी)।

पर, सूत्रपाठमें विपर्यास होता है (उसका उपाय क्या है?)

तो फिर (सूत्रपाठमें विपर्यास न करके) प्रगृह्यसज्ञा पर ही है ऐसा हम कहते है।

सो कैसे?

"संज्ञाओं और परिभाषाओंके संबंधमें कार्यकालपक्ष भी लिया जाता है।" अर्थात् जहाँ उनका कार्य हो वहाँ वे (सज्ञाएँ और परिभाषाएँ) उपस्थित होती है ऐसा समझा जाय। तव प्रगृह्यको प्रकृतिभाव होता है (यह प्रगृह्यसंज्ञाका कार्य छठे अध्यायमें कहा है वहाँ) "अदसो मात्" (१।१।१२) यह (प्रगृह्यसज्ञा कहने वाला) प्रकृतसूत्र उपस्थित होता है।

तो भी यहाँ (वास्तवमें) विप्रतिषेध ही अयुक्त है।

कैसे?

क्यों कि (एकका एक साथ) दो कार्योंसे सबंध हो जाय तो वहाँ विप्रतिषेध निर्माण होता है। और यहाँ ('अमी अत्र' आदि उदाहरणोंमें) तो एकका दो कार्योंसे सबंध नहीं होता है। 'अय् आव्' आदि कार्य एच्को प्राप्त होते है और प्रगृह्यसज्ञा ईकारको और ऊकारको प्राप्त होती है।

एकका दो कार्योंसे सबंध हो तो वहीं केवल विप्रतिषेध होता है यह बात नहीं। तो (दो कार्य एक साथ करना) असभवनीय हो उससे भी विप्रतिषेध निर्माण होता है। और यहाँ (प्रकृत उदाहरणोंमें दो कार्योंका) एक साथ सभव नहीं दीख पड़ता है।

वह असभव यहाँ कैसे समझा जाय?

इस प्रकार समझा जाय कि प्रगृह्यसज्ञा यहा जव होने लगती है तव वह (प्रकृति-

१ तव 'अमी + अत्र' आदि उदाहरणोंमें अय् आदिका बाध करके परत्वके कारण प्रगृह्यसज्ञा की जानेसे दोष नहीं प्राप्त होता है।

न्बाधते। अयादयोऽभिनिर्वर्तमानाः प्रगृह्यसंज्ञानिमित्तं विघ्नन्तीत्येषोऽसंभवः। सत्यसंभवे युक्तो विप्रतिषेधः॥ एवमप्ययुक्तो विप्रतिषेधः। सतोर्हि विप्रतिषेधो भवति न चात्रेत्त्वोत्त्वे स्तो नापि मकारः। उभयमसिद्धम्।

आश्रयात्सिद्धत्वं च यथा रोरुत्वे ॥ ४ ॥

आश्रयात्सिद्धत्वं भविष्यति तद्यथा रुरुत्व आश्रयात्सिद्धो भवति। किं पुनः कारणं रुरुत्व आश्रयात्सिद्धो भवति न पुनर्यत्रैव रुः सिद्धस्तत्रैवोत्वमप्युच्यते। नैवं शक्यम्।

भावके आधारसे) 'अय्' आदि कार्योंको बाधा पहुँचाती है और जब 'अय' आदि कार्य होने लगते हैं तब वे प्रगृह्यसंज्ञाके निमित्तका ही विनाश करते है यह असंभव यहाँ समझा जाय। और असंभव होता है तो वहाँ उन दो कार्योंमें विरोध निर्माण होना युक्त ही है।

तो भी यहाँ विप्रतिषेध युक्त नहीं। क्यों कि दो कार्य प्राप्त हुए तो उनमें विप्रतिषेध निर्माण होता है। और (यहाँ तो प्रगृह्यसंज्ञा ही प्राप्त नहीं होती है। क्यों कि उस प्रगृह्यसंज्ञाका निमित्त जो) ईकार और ऊकार है वेही यहाँ उपस्थित नहीं है और उनके पीछे जो मकार चाहिये वह भी नहीं है। दोनों असिद्ध ही है।

(वा. ४) अवलंबित होनेसे सिद्धत्व होता है; जैसे, उत्त्वके विषयमें 'रु'।

(ईकार, ऊकार और मकार इन्हींपर प्रगृह्यसंज्ञा) अवलंबित होनेसे (वे ईकार आदि) सिद्ध है ऐसा समझा जाय। जैसे ('अतो रोः०'—६।१।११३— सूत्रसे कहा गया उत्त्व अर्थात् 'उ'-कार 'रु'-पर) अवलंबित होनेसे उस उत्वकी दृष्टिसे वह रुत्व सिद्ध समझा जाता है (वैसे ही यह है)।

'रु' उत्वका आश्रय होनेके कारण (निरुपायसे) वह 'रु' उत्वकी दृष्टिसे सिद्ध समझा जायगा सही, पर (पाणिनिसे भी) ऐसा किसलिए किया? 'रु' जहाँ स्वयंसिद्ध समझा जाता है वहाँ ('अतो रोः०' सूत्रसे कहा गया) उत्व क्यों नहीं कहा गया?

ऐसा करना शक्य नहीं।

---

४. 'रोः सुपि' (८।३।१६) सूत्रके आगे रखा जाय तो दूसरे पादमें कहा हुआ रुत्व अपने आप ही सिद्ध समझा जायगा। अब पाणिनिने जहाँ रखा है वहाँ मान्य करके अति (६।१।१०९) और उत् (६।१।१११) पद अनुवृत्त हुआ करते है वे अब इस सूत्रमें रखे जावें तो भी कुछ बाधा नहीं। क्यों कि 'रो.' की अनुवृत्ति होनेसे उस पदको रखनेकी आवश्यकता नहीं है। तथा 'अप्लुतात्' और 'अप्लुते' इन दो पदोंको भी रखनेकी आवश्यकता नहीं है। क्यों कि इसके पहलेके पदोंमें कहा हुआ प्लुत अनायास सिद्ध होनेसे 'अतः' और 'अति' इस तपरकरणसे ही उसकी व्यावृत्ति होगी।

असिद्धे ह्युत्व आद्गुणाप्रसिद्धिः ॥ ५ ॥

असिद्धे ह्युत्व आद्गुणस्याप्रसिद्धिः स्यात् । वृक्षोऽत्र । प्लक्षोऽत्र । तस्मात्तत्राश्रयात्सिद्धत्वमेपितव्यम् । तत्र यथाश्रयात्सिद्धत्व भवत्येवमिहापि भविष्यति ॥

अथवा प्रगृह्यसंज्ञावचनसामर्थ्यादयादयो न भविष्यन्ति ॥ अथवा योगविभागः करिष्यते । अदसः । अदस ईदादय॰ प्रगृह्यसंज्ञा भवन्ति । ततो मात् । माच्च पर ईदादयः प्रगृह्यसंज्ञा भवन्ति । अदस इत्येव । किमर्थो योगविभागः । एको यत्तत्सिद्धे प्रगृह्यकार्यं तदर्थ. । अपरो यदसिद्धे । इहापि तर्हि प्राप्नोति ।

(वा. ५) (रुत्व) असिद्ध हो गया तो उत्व होनेपर 'आद् गुण.' सूत्रसे (होनेवाला गुण) सिद्ध न होगा ।

(वैसा किया गया तो) वह (अर्थात् रुत्व) असिद्ध होगा। और उससे 'वृक्षोत्र', 'प्लक्षोत्र' इत्यादि उदाहरणोंमें उत्व होनेके बाद "आद् गुण" (६।१।८७) सूत्रसे (जो गुण दीख पडता है) वह नहीं होगा। (अत वह उत्व कहनेवाला "अतो रो ०"— ६।१।११३—सूत्र सपादमें रखा गया यही युक्त है।) तत्र वहाँ (उत्वका) आश्रय होनेके कारण ही (रुत्व) सिद्ध समझा जाना चाहिये। और जैसे वहाँ (उत्वका) आश्रय होनेसे (रुत्व) सिद्ध समझा जाता है वैसे यहाँ भी (ऊकार, ईकार और मकार ये प्रगृह्यसंज्ञाका आश्रय होनेसे) सिद्ध समझे जायेंगे।

अथवा, (प्रकृतसूत्रसे यह जो) प्रगृह्यसंज्ञा कही है उसके बलसे (उसके उदाहरणमें) अय् आदि नहीं होंगे ।

अथवा, इस एक सूत्रका विभाजन करके दो सूत्र किये जायँ। (उनमेंसे पहला सूत्र) —"अदस"। इसका अर्थ यों है— अदस् शब्दके (सवर्णमें अगले जो) ईकार आदि (हैं वे) प्रगृह्यसंज्ञक होते है। तदनन्तर दूसरा सूत्र —"मात्"। इसका अर्थ यों है— मकारके आगे जो ईकार आदि हैं वे प्रगृह्यसंज्ञक होते है। (इस दूसरे सूत्रमें पूर्वसूत्रसे) "अदस" पदका सबन्ध है।

फिर ये दो सूत्र करनेका हेतु क्या है ?

(हेतु यह है कि प्रगृह्यसंज्ञाके कार्योंमेंसे) जिस कार्यकी दृष्टिसे (ईकार, ऊकार और मकार) ये सिद्ध है उस कार्यके लिए प्रगृह्यसंज्ञा कहनेवाला सूत्र एक[५], और (जिस कार्यकी दृष्टिसे) वे असिद्ध हैं उस कार्यके लिएँ (प्रगृह्यसंज्ञा कहनेवाला सूत्र)

---

५ 'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक' (८।४।५७) सूत्रमे कहा हुआ अनुनासिक प्रगृह्यका नहीं होता है। तब वहाँ 'अनुनासिकका निषेध होनेके लिए।

६ 'मात्' सूत्र।

७ 'प्लुतप्रगृह्या०' (६।१।१२५) सूत्रसे कहे हुए प्रकृतिभावके लिए।

अमुया अमुयोरिति । किं च स्याद्यदि प्रगृह्यसञ्ज्ञा स्यात् । प्रगृह्याश्रयः प्रकृतिभावः प्रसज्येत । नैष दोषः । पदान्तप्रकरणे प्रकृतिभावो न चैष पदान्तः । एवमप्यमुकेऽत्र अत्रापि प्राप्नोति । द्विवचनमिति वर्तते । यदि द्विवचनमिति वर्तते अमी अत्रेति न प्राप्नोति । एवं तर्हीदन्तामिति निवृत्तम् ॥ अथवाहायमदसो मादिति । न चेत्त्वोत्त्वे स्तो नापि मकारः । त एवं विज्ञास्यामः । मार्थादीदादयर्थानामिति ॥

दूसरा ।

तो फिर 'अमुया', 'अमुयोः' रूपोंमें भी ('अदसः' सूत्रसे प्रत्ययके पिछले 'अदे' पदमेंसे एकारको प्रगृह्यसंज्ञा) होने लगेगी ।

यदि प्रगृह्यसंज्ञा होगी तो क्या होगा ?[8]

(यदि यहाँ प्रगृह्यसंज्ञा होगी तो उस) प्रगृह्यसंज्ञापर अवलंबित प्रकृतिभाव होने लगेगा ।

यह दोष नहीं आता है । क्यों कि पदके अन्तको जो कार्य कहे है उस प्रकरणमें प्रकृतिभाव कहा है । और ('अमुया', 'अमुयोः' रूपोंमें 'अदे' पदका एकार प्रत्ययके पिछला होनेसे) वह पदके अन्तमें नहीं है ।

तो भी फिर 'अमुकेत्र' उदाहरणमें भी ("अदसः" सूत्रसे प्रगृह्यसंज्ञा) प्राप्त होती है ।

("अदसः" सूत्रमें पूर्वसूत्रसे) 'द्विवचनम्' पद अनुवृत्त होता है । (और उससे यह दोष नहीं आता है ।)

यदि द्विवचनपदकी अनुवृत्ति की गयी तो 'अमी+अत्र' उदाहरणमें ("अदसः" सूत्रसे प्रगृह्यसंज्ञा) नहीं[10] होगी ।

तो फिर (द्विवचनपदकी अनुवृत्ति न की जाय और "ईदूदेत्" में से) 'एत्' की अनुवृत्ति न की जाय (और इससे कोई दोष नहीं आयेगा)।

अथवा, ये (आचार्य पाणिनि) "अदसो मात्" तो कहते है, पर (उदाहरण देखा जाय तो उसके) ईकार, ऊकार ये (इस सूत्रकी दृष्टिसे) नहीं दिखायी देते और (उनके पूर्वका) मकार भी नहीं दीख पड़ता है । तब (उस विधानमें उनका कुछ और ही अर्थ होगा । वह) हम यों समझते हैं कि— "मकारके लिए जो वर्ण अर्थात् मकारका स्थानी है इससे पर जो ईकार आदिके स्थानी हैं उनको प्रगृह्यसंज्ञा होती है ।"

---

८. 'अदस' सूत्र ।

९. अभिप्राय यह है कि पूर्वसूत्रसे 'ईदूत्' की अनुवृत्ति होती है, तथा 'एत्' की भी अनुवृत्ति नहीं होती है ।

१०. क्योंकि 'अमी' बहुवचन है ।

उक्तं वा ॥ ६ ॥

किमुक्तम् । अदस ईत्वोत्त्वे स्वरे बहिष्पदलक्षणे प्रगृह्यसंज्ञायां च सिद्धे वक्तव्ये इति ॥

तत्र सकि दोषः ॥ ७ ॥

तत्र सककारे दोषो भवति । अमुकेऽत्र ॥

न वा ग्रहणविशेषणत्वात् ॥ ८ ॥

न वैष दोषः । किं कारणम् । ग्रहणविशेषणत्वात् । न माद्ग्रहणेने-

---

(वा. ६) अथवा यह कहा ही है। (सूत्र ८।२।३ में)

'अदस्' शब्दके (बारेमें कहे हुए) ईकार और ऊकार (८।२, ८०, ८१) अगले पदके निमित्तसे एकादेश अच् (अर्थात् स्वर) करनेकी आवश्यकता होनेपर भी सिद्ध समझे जायँ, तथा प्रगृह्यसंज्ञा करनेके लिए सिद्ध समझे जायँ।

(वा. ७) वहाँ ककारसहित उदाहरणमें दोष आता है।

(प्रकृतसूत्रसे कही हुई प्रगृह्यसंज्ञा की गयी तो) वहाँ ककारसहित उदाहरणमें दोष आता है; जैसे, अमुकेत्र[12]।

(वा. ८) अथवा उच्चारित ('मात्' पद ईकार आदिका) विशेषण होनेसे (यह दोष) नहीं आता है।

अथवा यह दोष नहीं आता है।

क्या कारण है?

क्योंकि 'मात्' यह उच्चारित पद विशेषण है। ईकार आदि जिसके अन्तमें है

---

११. 'उक्तं वा' वार्तिक है अथवा भाष्योक्ति है इस विषयमें सन्देह है। 'उक्तं' पदसे 'अदस ईत्वोत्वे' आदि जो दिखाया है वह आठवें अध्यायमें (८।२।३) वार्तिककारोंने कहा है सही, परन्तु वह मनमें रखके यहाँ उसके पूर्व वार्तिककार भूतकालका 'उक्तं' निर्देश नहीं करेंगे। प्रक्रियाकौमुदीकार रामचंद्राचार्यके शिष्य रघुनाथ पंडितकी लिखी हुई भाष्यटीकामें,— 'वक्ष्यमाणस्यापि बुद्ध्यारूढत्वेनातीतत्वारोपात्' अर्थात् 'अदस ईत्वोत्त्वे' यद्यपि आगे कहना है तो भी वह पहलेसे ही वार्तिककारोंके मनमें है इसलिए उन्होंने भूतकालका 'उक्तं' निर्देश किया है—इस प्रकार उस निर्देशका निपटारा किया गया है। परन्तु 'उक्तं वा' को वार्तिकके बदले भाष्योक्ति माननेमें कुछ भी बाधा नहीं। 'यह पहले वार्तिककारोंने कहा है' इस स्वरूपका भूतकालका निर्देश भाष्यकार सहजमें ही कर सकते हैं।

१२. 'ईदूदेत्' सूत्रमें 'तदन्तविधि' करके उसको 'मात्' विशेषण लगाया गया तो मकारसे पर जो ईकारान्त, ऊकारान्त तथा एकारान्त शब्दस्वरूप है उसको प्रगृह्यसंज्ञा होती है यह सूत्रार्थ होता है। तब 'अमुकेत्र' में मकारसे पर एकारान्त 'उके' शब्दस्वरूप है इसलिए यहाँ प्रगृह्यसंज्ञा होके प्रकृतिभाव होगा और संधिकार्य न होगा यह दोष आता है।

दाद्यन्तं विशेष्यते । किं तर्हि । ईदादयो विशेष्यन्ते । मात्परे य ईदादय इति ॥

शे ॥ १ । १ । १३ ॥

इह कस्मान्न भवति काशे कुशे वंशे इति ।

शेऽर्थवद्ग्रहणात् ॥ १ ॥

अर्थवतः शेशब्दस्य ग्रहणं न चायमर्थवान् । एवमपि हरिशे बभ्रुशे इत्यत्र प्राप्नोति । एवं तर्हि लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवेत्येवं न भविष्यति ।

उस शब्दस्वरूपका 'मात्' पद विशेषण समझा जाय ।

तो फिर वह किसका विशेषण नहीं समझा जाय ?

ईकार आदिका ही वह विशेषण समझा जाय । मकारसे पर जो ईकार आदि हैं (उनको प्रगृह्यसंज्ञा होती है ऐसा सूत्रार्थ समझा जाय)।

(सू. १३) 'शे'[1] (अर्थात् 'ए') को प्रगृह्यसंज्ञा होती है।

'काशे', 'कुशे', 'वंशे'[2] इन उदाहरणोंमें 'शे' इस प्रकृतसूत्रसे प्रगृह्यसंज्ञा क्यों नहीं होती ?

(वा. १) 'शे' (प्रत्यय) के विषयमें अर्थयुक्त ('शे' शब्दका) ग्रहण होनेसे (कोई दोष नहीं आता है)।

अर्थवान् 'शे' शब्दका प्रकृतसूत्रमें ग्रहण किया है। और ('काशे' आदि उपर्युक्त उदाहरणोंमें) यह ('शे' शब्द) अर्थवान् नहीं है।

फिर भी 'हरिशे', 'बभ्रुशे', उदाहरणोंमें (प्रकृतसूत्रसे प्रगृह्यसंज्ञा) प्राप्त होती ही है।[3]

तो फिर "लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्"[4] (प. शे. १०५)

---

१. 'न युष्मे वाजबन्धवः' (ऋ. ८।६८।१९) इस वैदिक वाक्यमें 'युष्मे' पद है। 'युष्मद्' शब्दके आगे 'भ्यस्' प्रत्ययको 'सुपां सुलुक्०' (७।१।३९) सूत्रसे 'शे'—आदेश हुआ है। उसमेंके शकारका इत्संज्ञालोप होके एकार शेष रहता है और 'युष्मद्' शब्दके 'अद्' का 'शेषे लोपः' (७।२।९०) से लोप होके 'युष्मे' रूप होता है। उसके एकारको प्रकृतसूत्रसे प्रगृह्यसंज्ञा हुई है इसलिए उसके आगे 'इति' लगाया गया तो 'युष्मे इति' में संधि नहीं होती है।

२. 'काशे', 'कुशे', 'वंशे' ये 'काश' आदि शब्दोंके सप्तमी एकवचनके रूप हैं।

३. 'हरि', 'बभ्रु' शब्दोंके आगे 'लोमादिपामा०' (५।२।१००) सूत्रसे 'श' प्रत्यय हुआ है। अगले प्रत्ययसे संधि होके 'शे' होनेसे यहाँ 'शे' अर्थयुक्त है ऐसा शंकाकारका अभिप्राय है।

४ जिस शब्दका साक्षात् उच्चारण किया जाता है वह प्रतिपदोक्त है और जिस

अथवा पुनरस्त्वर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्येति । कथं हरिशे बभ्रुशे इति । एकोऽत्र विभक्त्यर्थेनार्थवानपरस्ताद्धितार्थेन समुदायो ऽनर्थकः ॥

निपात एकाजनाङ् ॥ १ । १ । १४ ॥

निपात इति किमर्थम् । चकारात्र । जहारात्र ॥ एकाजिति किमर्थम् ।

परिभाषासे ('काशे', 'कुशे', 'वंशे' और 'हरिशे', 'बभ्रुशे' इन दोनों प्रकारके उदाहरणोंमें प्रगृह्यसंज्ञा) नहीं होती। अथवा फिरसे ('अर्थवद्ग्रहणात्' ऐसा जो वार्तिककारोंने) "अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य" (प. शे. १४) (यह परिभाषा ध्यानमें रखकर) इससे उत्तर दिया है, (उससे ही उपर्युक्त सभी उदाहरणोंमें प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होती है)।

'हरिशे', 'बभ्रुशे' उदाहरणोंमें वह परिभाषा कैसे (लागू होती है)?

(इस प्रकार लागू होती है कि 'हरिशे', 'बभ्रुशे' उदाहरणोंमें 'शे' मेंसे) एक वर्ण (जो एकार है वह) विभक्तिप्रत्ययका होनेके कारण वह अर्थयुक्त है और दूसरा (वर्ण जो शकार है वह) तद्धितप्रत्यय होनेसे (वह भी अर्थयुक्त है)। (परन्तु इन दो वर्णोंका) समुदाय (जो 'शे' शब्द है वह) अर्थयुक्त नहीं है।[6]

(सू. १४) आङ्को छोडकर अन्य (जो) एकअच्रूप (अर्थात् एकस्वररूप) निपात है उसको प्रगृह्यसंज्ञा होती है)।

इस सूत्रमें 'निपात' शब्दका क्या प्रयोजन है?

'चकारात्र', 'जहारात्र' (इन उदाहरणोंमें 'चकार', 'जहार' क्रियापदोंमेंके 'अ' प्रत्ययको प्रगृह्यसंज्ञा होने लगेगी, वह न हो इसलिए रखा है)।

'एकाच्' शब्द किसलिए रखा है?

शब्दका साक्षात् उच्चारण न होके जो लक्षणसे अर्थात् शास्त्रसे बनता है वह लाक्षणिक है। जो शब्द दोनों प्रकारसे निर्माण होता है उसको लाक्षणिक न समझकर प्रतिपदोक्त ही समझा जाय, यह इस परिभाषाका अर्थ है। 'काशे' आदि दिये हुए सभी उदाहरणोंमें 'श' और 'इ' की संधि होके 'शे' होनेसे वहाँ 'शे' शब्दस्वरूप लाक्षणिक है। तब उसको 'लक्षणप्रतिपदोक्त०' परिभाषासे प्रगृह्यसंज्ञा न होगी।

५. जो शब्दस्वरूप अर्थवान् और अनर्थक दोनों प्रकारका निर्माण होता है उस शब्दस्वरूपको अनर्थक न समझके अर्थवाचक समझा जाय, यह इस परिभाषाका अर्थ है।

६. अर्थवान् शब्दोंका समुदाय अर्थयुक्त ही होता है यह नियम नहीं। जहाँ उनमें अन्वय होता है वहाँ अर्थ होता है; उदा 'राजा ग्रामं गच्छति' वाक्यमें तीनों पदोंका अलग अलग अर्थ है। 'राजा' और 'ग्रामं' इन दो पदोंका क्रियापदपर अलग अलग अन्वय है। 'राजा' और 'ग्रामं' इन दो पदोंमें किसीका किसीपर परस्पर अन्वय नहीं। अत. 'राजा ग्रामं' शब्दसमुदाय अर्थरहित है। 'ग्रामं गच्छति' शब्दसमुदाय अर्थयुक्त है।

प्रेदं ब्रह्म। प्रेदं क्षत्रम्। एकाजित्यप्युच्यमानेऽत्रापि प्राप्नोति। एषोऽपि ह्येकाच्। एकाजिति नायं बहुव्रीहिः। एकोऽजस्मिन्सोऽयमेकाजिति। किं तर्हि। तत्पुरुषोऽयं समानाधिकरणः। एकोऽच् एकाजिति। यदि तत्पुरुषः समानाधिकरणो नार्थ एकग्रहणेन। इह कस्मान्न भवति। प्रेदं ब्रह्म। प्रेदं क्षत्रम्। अजेव यो निपात इत्येवं विज्ञास्यते। किं वक्तव्यमेतत्। न हि। कथमनुच्यमानं गंस्यते। अज्ग्रहणसामर्थ्यात्। यदि हि यत्राचान्यच्च तत्र स्यादज्ग्रहणमनर्थकं

'प्रेदं ब्रह्म', 'प्रेदं क्षत्रम्' (इन उदाहरणोंमें 'प्र' को प्रगृह्यसंज्ञा न हो इसलिए रखा है)।

पर 'एकाच्' शब्द रखा गया तो भी यहाँ प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती है। क्योंकि 'प्र' निपात एकाच्' (अर्थात् एकस्वरयुक्त) ही है।

'एक है अच् जिसमें' (इस प्रकारका बहुव्रीहि समास करनेपर 'प्र' इस समुदायको 'एकाच्' कहा जा सकता है। परन्तु) 'एकाच्' यह बहुव्रीहि समास है ऐसा न समझा जाय। तो फिर यह समानाधिकरण तत्पुरुष (अर्थात् कर्मधारय) समास है। तब यहाँ एक जो अच् है वही 'एकाच्' (ऐसा समझा जाय)।

यदि ('एकाच्') यह समानाधिकरण तत्पुरुष अर्थात् कर्मधारय समास है तो उसमेंसे 'एक' शब्द निरर्थक है।

('एक' शब्द न रखा गया तो) यहाँ 'प्रेदं ब्रह्म', 'प्रेदं क्षत्रम्' में ('प्र' निपातको प्रगृह्यसंज्ञा) क्यों नहीं होती ?

अच्रूप जो निपात है (उसको प्रगृह्यसंज्ञा होती है) यह अर्थ किया जाय। (और इससे 'प्र' निपातको प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी।)

यह अर्थ होनेके लिए क्या स्वतंत्र विधान करना चाहिये ?

(वैसा विधान करनेकी आवश्यकता) नहीं।

तो फिर वचनके सिवा वैसा अर्थ कैसे किया जायगा ?

'अच्' शब्दके बलसे ही (वह अर्थ किया जा सकता है)। क्योंकि (जिस निपातको प्रगृह्यसंज्ञा होनेवाली है उस निपातमें) यदि अच्के सिवा और दूसरा कोई वर्ण हो तो 'अच्' शब्द निरर्थक ही होगा।

---

१. सूत्रमें 'एक' शब्द न हो तो 'अच्रूप जो निपात' यह अर्थ नहीं होता है; 'येन विधिस्तदन्तस्य' (१।१।७२) परिभाषासे तदन्तविधि होके 'अजन्त' अर्थात् 'जिसके अन्तमें अच् है वह निपात' ऐसा अर्थ होगा, और 'प्र' निपातको प्रगृह्यसंज्ञा होगी।

२. यदि तदन्तविधि होके अजन्त अर्थात् अच् अन्तमें होनेवाले 'प्र' आदि निपातोंको

स्यात्। अस्त्यन्यदज्ग्रहणस्य प्रयोजनम्। किम्। अजन्तस्य यथा स्याद्धलन्तस्य मा भूत्। नैव दोषो न प्रयोजनम्॥ एवमपि कुत एतद् द्वयोः परिभाषयोः सावकाशयोः समवस्थितयोराद्यन्तवदेकस्मिन् [१. १. २१] इति च येन विधिस्तदन्तस्य [१. १. ७२] इति चेयमिह परिभाषा भविष्यत्याद्यन्तवदेकस्मिन्निति इयं न भविष्यति येन विधिस्तदन्तस्येति। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयतीयमिह

परन्तु सूत्रके अच् शब्दका अन्य उपयोग शक्य है।

वह कौनसा?

जिसके अन्तमें 'अच्' है उसी निपातको प्रगृह्यसंज्ञा होनी चाहिये। जिसके अन्तमें हल् है उस निपातको प्रगृह्यसंज्ञा न हो।

(पर जिसके अन्तमें हल् अर्थात् व्यञ्जन है उस निपातको प्रगृह्यसंज्ञा चाहे हो वा न हो) उसमें कोई दोष भी नहीं और उपयोग भी नहीं।

तो भी "आद्यन्तवदेकस्मिन्" (१।१।२१) और "येन विधिस्तदन्तस्य" (१।१।७२) ये अन्यत्र स्वतंत्रतया उपयोगमें आनेवाली दो परिभाषाएँ यहाँ एक ही समयमें उपस्थित होनेपर उनमेंसे "आद्यन्तवदेकस्मिन्" यही (परिभाषा) यहाँ उपयोगमें लायी जाय और "येन विधिस्तदन्तस्य" यह (परिभाषा) यहाँ उपयोगमें न लायी जाय (इस प्रकारका वैषम्य) क्यों (किया जाय)?[२]

ये आचार्य (पाणिनि प्रकृत सूत्रमें) 'अनाङ्' शब्द रखकर ('आङ्' निपातको प्रगृह्यसंज्ञा होनेका) निषेध करते हैं, उससे वे यह सूचित करते है कि यहाँ "आद्यन्तवदेकस्मिन्" यही (परिभाषा) उपयोगमें लायी जाय और "येन विधिस्तदन्तस्य" यह (परिभाषा) यहाँ उपयोगमें न लायी जाय।

प्रगृह्यसंज्ञा होगी तो 'अच्' शब्द व्यर्थ ही होगा। क्योंकि निपातको 'अजन्त' विशेषण देनेसे हलन्त अर्थात् जिनके अन्तमें व्यंजन है उन 'उत्' आदि निपातोंकी व्यावृत्ति होगी सही, पर हलन्त निपातको संधिकार्य अपने-आप ही प्राप्त न होनेसे प्रगृह्यसंज्ञा हुई तो भी कोई दोष न आयेगा। तब 'अच्' विशेषण व्यर्थ होनेके कारण उसके बलसे तदन्तविधि दूर करके 'अज्-रूप निपात' अर्थ होगा। तब 'अ' आदि निपातोंको प्रगृह्यसंज्ञा होती नहीं यह अज्-ग्रहणका उपयोग है।

२. अज्-ग्रहण-सामर्थ्यसे 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' परिभाषाको दूर करके मुख्य अजन्त जो 'अ' आदि निपात हैं उन्हींको प्रगृह्यसंज्ञा होगी, और 'आद्यन्तवत्०' (१।१।२१) परिभाषासे और उसीसे गौण अजन्त जो अ, इ, उ आदि निपात हैं उनको प्रगृह्यसंज्ञा न होगी। तब ऐसा मान जानेपर भी अज्-ग्रहणका उपयोग संभवनीय है। अतः अज्-ग्रहण-सामर्थ्यसे 'येन विधिः०' (१।१।७२) यही परिभाषा दूर क्यों की जाय, 'आद्यन्तवत्' परिभाषा दूर क्यों न की जाय, यह शंकाकारका अभिप्राय है।

परिभाषा भवत्याद्यन्तवदेकस्मिन्निति। न भवति येन विधिस्तदन्तस्येति यदय-मनाङिति प्रतिषेधं शास्ति ॥ एवं तर्हि सिद्धे सति यदज्ग्रहणे क्रियमाण एक-ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्योऽन्यत्र वर्णग्रहणे जातिग्रहणं भवतीति। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्। दम्भेर्हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात्सिद्धमिति यदुक्तं तदुपपन्नं भवति ॥ अनाङिति किमर्थम्। आ उदकान्तात् ओदकान्तात्। इह कस्मान्न भवति। आ एवं नु मन्यसे। आ एवं किल तत्। सानुबन्धकस्यैतदाकारस्य ग्रहणमननुबन्धकश्चायमाकारः। क्व पुनरयं सानुबन्धकः क्व निरनुबन्धकः।

इस प्रकार इस प्रकृतसूत्रमें ('एक' शब्द न रखकर) केवल 'अच्' शब्द रखनेसे सब इष्ट सिद्ध होता है, फिर भी यहाँ आचार्य पाणिनि 'एक' यह (अधिक) शब्द रखते हैं और इससे वे यों ज्ञापित करते हैं कि अन्यत्र कहीं भी वर्णोंका ग्रहण (अर्थात् उच्चारण) किया गया तो वहाँ उस जातिका ग्रहण[4] (अर्थात् स्वीकार) होता है।

इस ज्ञापनका क्या उपयोग है?

"दम्भेर्हल्ग्रहणस्य जातिवाचकत्वात्सिद्धम्" ऐसा ('हलन्ताच्च'— १।२।१० —सूत्रके विषयमें वार्तिककारोंने) जो कहा है वह (इस ज्ञापनसे) उपपन्न होता है।

(इस सूत्रमें) 'अनाङ्' पद किसलिए रखा गया है?

'आ उदकान्तात्' (उदाहरणमें सन्धिसे) 'ओदकान्तात्' (यह रूप होता है। वहां 'आ' को प्रगृह्यसंज्ञा न हो इसलिए 'अनाङ्' पद कहा गया है।)

'आ एवं नु मन्यसे', 'आ एवं किल तत्', यहां ('अनाङ्' यह प्रगृह्य संज्ञाका निषेध) क्यों नहीं होता है?

(सूत्रमें 'अनाङ्' यह) ङकारेत्संज्ञक 'आ'कारका (अर्थात् 'आ' वर्णका) ग्रहण किया है, और ('आ एवं नु मन्यसे' आदि उदाहरणोंमें) जो 'आ' वर्ण है वह ङकारेत्संज्ञक नहीं है। (केवल 'आ'कार है।)

पर (उपलब्ध उदाहरणोंमें तो ङकार कहीं भी दिखायी नहीं देता। तब) किस

---

४ जहाँ 'एक' यह संख्याबोधक शब्दका उच्चारण न करके केवल वर्णके निमित्तसे कुछ कार्य कहा हो तो वहाँ उस जातिके अनेक वर्ण यद्यपि किसी उदाहरणमें आये हों तो भी वह कार्य किया जाय, यह 'जाति ग्रहण' का अर्थ है।

५. 'आ' निपात दो प्रकारका है—एक 'ङित् आ' अर्थात् 'आङ्', और दूसरा केवल 'आ'। यहाँ 'अङित्' केवल 'आ'कार है।

६ ङकारको 'हलन्त्यम्' (१।३।३) से इत्संज्ञा होके 'तस्य लोपः' (१।३।९) से उसका लोप होता है।

ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः।
एतमातं ङितं विद्याद्वाक्यस्मरणयोरङित् ॥

ओत् ॥ १ । १ । १५ ॥

किमुदाहरणम्। आहो इति। उताहो इति। नैतदस्ति प्रयोजनम्। निपातसमाहारोऽयम्। आह उ आहो इति। उत आह उ उताहो इति। तत्र

प्रयोगमें यह 'आ'कार (मूलभूत) सानुबन्धक[7] (अर्थात् आङ् है) और किस प्रयोगमें (मूलभूत) निरनुबन्धक (अर्थात् केवल 'आ') है (यह कैसे समझा जाय?)

'ईषत्' (अर्थात् 'थोडा') अर्थको बतानेवाला, क्रियायोगी (अर्थात् धातुके पीछे उपसर्गके रूपमें लगाया हुआ), और 'मर्यादा' वा 'अभिविधि' अर्थका द्योतक जो 'आ' कार है वह ङित् (अर्थात् मूलभूत आङ् है) ऐसा समझा जाय। वाक्यद्योतक और स्मरणद्योतक (जो 'आ'कार है वह) अङित् है (अर्थात् मूलभूत 'आ' ही निपात है) ऐसा समझा जाय।

(सू. १५) ओकारान्त (अर्थात् जिसके अन्तमें 'ओ'कार है उस निपातको प्रगृह्यसंज्ञा होती है)।

इस सूत्रका उदाहरण क्या है?

आहो इति, उताहो इति (ये उदाहरण हैं)।

(इस सूत्रका) यह प्रयोजन नहीं है। क्योंकि 'आहो' यह पूरा एक निपात नहीं है, वह निपातोंका समुदाय है। 'आह' और 'उ' (इन दो निपातोंकी सन्धिसे) 'आहो' (रूप बना है), तथा उत, आह और उ (इन तीन निपातों का)

---

७ अनुबन्धक अर्थात् इत्संज्ञक। उससे सहित वह सानुबन्धक अर्थात् आङ्; और निरनुबन्धक अर्थात् इत्संज्ञकसे रहित केवल आ।

८. 'आ उष्णम् ओष्णमुदकम्' में 'आ' का अर्थ है 'थोड़ा'। 'आ इहि एहि' में 'आ' क्रियायोगी उपसर्ग है। 'आ उदधे ओदधे' में 'आ' का अर्थ है 'मर्यादा' वा 'अभिविधि'। 'ओदधे' का अर्थ है 'समुद्र तक'। 'मर्यादा' अर्थ लिया गया तो समुद्रसे पहलेका प्रदेश आता है, और 'अभिविधि' अर्थ लिया गया तो समुद्रसहित प्रदेश आता है। इन चारों स्थानोंमें 'आ' ङित् है अर्थात् 'आङ्' है। अतः उसको प्रगृह्यसंज्ञा न होनेसे संधि हुई है। 'आ एवं नु मन्यसे' का अर्थ है 'ऐसा क्यों अब तुम मानते हो!' यहाँ पूर्वके वाक्यका उलटाव 'आ' से दिखाया है, इसीको वाक्यद्योतक कहते हैं। 'आ एवं किल तत्' का अर्थ है 'अरे, वह ऐसा है।' किसी वस्तुके विशेष स्वरूपका स्मरण होनेपर यह वाक्य मुँहसे बाहर निकलनेके कारण यहाँ स्मरणद्योतक 'आ'कार है। इन दोनों स्थानोंमें 'अङित् आ है, 'आङ्' नहीं। इसलिए प्रगृह्यसंज्ञाका निषेध नहीं होता।

निपात एकाजनाङ् [१ १ १४] इत्येव सिद्धम्। एव तर्ह्येकनिपाता इमे ॥ अथवा प्रतिषिद्धार्थोऽयमारम्भ । ओ षु यात मरुतः। ओ षु यात बृहती शक्करी च। ओ चित्सखाय सख्या ववृत्याम् ॥

ओतश्च्विप्रतिषेधः ॥ १ ॥

ओदन्तो निपात इत्यत्र च्व्यन्तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। अनदः अभवत् अदोऽभवत्। तिरोऽभवत् ॥ न वक्तव्य॰। लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवे-

---

'उताहो' (रूप बना है)। तब (उनमें से आन्तिम निपातको) "निपात एकाजनाङ्" (१।१।१४) सूत्रसे ही (प्रगृह्यसज्ञा) सिद्ध होती है। तो फिर (आहो उताहो) ये प्रत्येक असड निपात है (ऐसा मान लेके यह सूत्र किया है)।

अथवा, "ओ षु यात मरुत", "ओ षु यात बृहती शक्री च", "ओ चित्सखाय सख्या ववृत्याम्" (ऋ १०।१०।१) इत्यादि उदाहरणोंमें 'अनाङ्'[1] इस निषेधके कारण (पूर्वसूत्रसे प्रगृह्यसज्ञा) सिद्ध नहीं होगी इसलिए यह सूत्र किया है।

(वा. १) ओकारान्त निपातको (प्रगृह्यसंज्ञा होती है इस विधानमें) च्विप्रत्ययान्त (निपात) का निषेध कहा जाय।

(प्रकृतसूत्रसे) ओकारान्त निपातको (जो प्रगृह्यसज्ञा कही है) वह च्विप्रत्ययान्त निपातको होती नहीं ऐसा कहा जाय। उदा॰ 'अनद अद. समभवत्, अदोऽभवत्' तथा 'तिरोऽभवत्'।

वह न कहा जाय। (क्योंकि) "लक्षणप्रतिपदोक्तयो प्रतिपदोक्तस्यैव

---

१ 'आ' और 'उ' दो निपातोंकी सधि होकर 'ओ' हुआ है। यहाँ आ 'ङित्' अर्थात् 'आङ्' होनेके कारण पूर्वसूत्रसे उसको प्रगृह्यसज्ञा नही हुई। सधि होकर जो 'ओ'कार हुआ है वह 'अन्तादिवच्च' (६।१।८५) सूत्रसे 'आङ्' समझा जानेसे उस 'ओ' को भी पूर्वसूत्रसे प्रगृह्यसज्ञा न होगी। यह उ मकारेत्संज्ञक न लिया जानेसे अगले 'उञ' (१।१।१७) सूत्रसे भी प्रगृह्यसज्ञा होनेका संभव नहीं। वह यहाँ प्रकृतसूत्र 'ओत्' से होती है। पदपाठमें 'इति' शब्द आगे लगाया गया तो 'ओ इति' में सधि नही होती है। यह प्रगृह्यसज्ञाका उपयोग है।

२ सामने आये हुए पदार्थका 'अदस्' शब्दसे निर्देश होता है। जो पदार्थ वस्तुत सामने न होकर सामने हुआ-सा समझा जाता है उसका निर्देश अदस् शब्दको 'च्वि' प्रत्यय लगाकर किया जाता है। अदस् शब्दके आगे 'अभूततद्भावे॰' (५।४।५०) सूत्रसे 'च्वि' प्रत्यय होकर 'ऊर्यादिच्वि॰' (१।४।६१) से निपातसंज्ञा हुई है। 'अदस् अभवत्' में दत्व लोप और गुण होकर जो 'अदो' होता है उसको यदि प्रकृतसूत्रसे प्रगृह्यसज्ञा हुई तो पूर्वरूप न होगा।

त्यैवं न भविष्यति ॥ एवमप्यगौर्गौः समपद्यत गोऽभवत् अत्र प्राप्नोति। एवं तर्हि गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्यय इति। तद्यथा गौरनुबन्ध्योऽजोऽग्नीषोमीय इति न बाहीकोऽनुबध्यते। कथं तर्हि बाहीके वृद्ध्यात्त्वे भवतः। गौस्तिष्ठति।

ग्रहणम् " (प. शे. १०५) इस (परिभाषा) से वहाँ (प्रगृह्यसंज्ञा) न[3] होगी।

तथापि 'अगौः गौः समपद्यत, गोऽभवत्' उदाहरणमें प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती[4] है।

तो फिर "गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः[5]" (प. शे. १५) इस (परिभाषा) से (इष्ट कार्य सिद्ध होगा)। जैसे, (लोगोंमें) "बैलका अनुबन्धन किया जाय", "अग्नि और सोम नामक देवताओंको बकरा दिया जाय" ऐसा कहा गया तो वहाँ बैलके बदले कभी बैलके समान किसी अनाड़ीका अनुबन्धन नहीं किया जाता है (और बकरेके समान कोई जंगली मनुष्य उन देवताओंको बकरेके बदले कभी नहीं दिया[6] जाता है।)

तो फिर '(बैल जैसा) कोई अनाड़ी आदमी' इस अर्थमें ('गो' शब्दका प्रयोग किया गया तो) 'गौस्तिष्ठति', 'गामानय' इन उदाहरणोंमें वृद्धि और आत्त्व ये (कार्य) कैसे किये[7] हैं?

---

३. 'अद्गो' वस्तुतः 'ओ'कारान्त नहीं, वह गुण होकर बना है; अतः वह लाक्षणिक है। 'लक्षणप्रतिपदोक्त०' परिभाषाका अर्थ पहले (१।१।१२ टिप्पणी ४) दिया है।

४. 'गो' शब्द स्वाभाविक ही है। उसमेंका 'ओ'कार गुणसे नहीं हुआ है इसलिए वह लाक्षणिक नहीं कहा जा सकता है।

५. गौण अर्थमें प्रयुक्त शब्द गौण है, और मुख्य अर्थमें प्रयुक्त शब्द मुख्य है। एक ही कार्य गौण और मुख्य दोनों प्रकारके शब्दको प्राप्त होता है तो भी वह कार्य मुख्य शब्दके बारेमें किया जाय, गौणके बारेमें न किया जाय यह इस परिभाषाका अर्थ है। जिस शब्दके आगे 'च्वि' प्रत्यय लगाया है वह गौण अर्थमें ही प्रयुक्त होनेसे गौण है।

६. तब जैसे लोगोंमें 'बैल' और 'बकरा' ये जो मुख्य अर्थ हैं वे ही लिये जाते हैं वैसे ही शास्त्रमें भी मुख्य शब्द ही लिया जाता है।

७. जो कार्य किसी विशिष्ट शब्दको कहा हो वहाँ उस विशिष्ट शब्दसे अर्थ उपस्थित होनेके कारण मुख्य अर्थमें प्रयुक्त शब्दको वह किया जाय ऐसा कहा जा सकता है। परन्तु जो कार्य केवल वर्णका निर्देश करके कहा हो वहाँ उस वर्णसे कुछ भी अर्थ उपस्थित नहीं होता है। तब वहाँ गौणार्थक शब्द लिया जाय अथवा मुख्यार्थक लिया जाय इस विवादको अवकाश ही नहीं मिलता है। वहाँ अनर्थक वर्ण भी चलता है। फिर गौणार्थक चल सकेगा इसमें आश्चर्य नहीं। 'ओतो णित्' (७।१।९०) और 'औतोम्शसोः' (६।१।९३) में 'ओतः' यह केवल वर्णका निर्देश किया है। प्रकृतसूत्र 'ओत्' में 'ओत्' यदि वर्णका ही निर्देश है तो भी यहाँ निपात पदसे विशिष्ट शब्द ध्यानमें आते हैं। तब उन विशिष्ट शब्दोंसे अर्थ उपस्थित होनेसे 'गौणमुख्य०' परिभाषाकी प्रवृत्ति होती है।

गामानयेति। अर्थाश्रय एतदेवं भवति। यद्धि शब्दाश्रयं शब्दमात्रे तद्भवति। शब्दाश्रये च वृद्ध्यात्त्वे ॥

[संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे (१६)]

उञः ऊँ ॥ १ । १ । १७-१८ ॥

इह कस्मान्न भवति। आहो इति। उताहो इति। उञ इत्युच्यते न चात्रोञं पश्यामः। उञो ऽयमन्येन सहैकादेश उञ्ग्रहणेन गृह्यते। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नोञेकादेश उञ्ग्रहणेन गृह्यत इति यदयमोत् [१. १. १५] इत्योदन्तस्य

जहाँ कार्य अर्थपर आश्रित है वहाँ ('गौणमुख्य०' परिभाषाके अनुसार) यह (व्यवस्था) होती है। और जो कार्य केवल शब्दपर अवलंबित है (वह अर्थकी ओर दृष्टि न रखकर) केवल वह शब्द दीख पडनेसे किया जाता है। और वृद्धि और आत्त्व ये कार्य केवल शब्दपर ही अवलंबित है।

[(सू. १६) ओकारान्त संबोधन एकवचनको (आचार्य) शाकल्यके मतसे अनार्ष (वेदमें अनुचारित) 'इति' शब्द आगे होनेपर (प्रगृह्यसंज्ञा होती है)।]

(सू. १७-१८) ञकारेत्संज्ञक 'उ' (निपात) की ('इति' शब्द आगे होनेपर प्रगृह्यसंज्ञा आचार्य शाकल्यके मतसे होती है। (१७)

(ञकारेत्संज्ञक 'उ' निपातको 'इति' शब्द आगे होनेपर) 'ऊँ' (आदेश आचार्य शाकल्यके मतसे होता है)। (१८)

'आहो इति', 'उताहो इति' उदाहरणोंमें ('उञ ऊँ' इस प्रकृतसूत्रसे 'ऊँ' आदेश) क्यों नहीं होता?

सूत्रमें 'उञः' ऐसा कहा है न? और यहाँ ('आहो', 'उताहो' में) तो 'उञ्' दीख नहीं पड़ता है।

पर यहाँ 'उञ्' का दूसरे के साथ (अर्थात् 'आह' में से अन्तिम अकारके साथ) जो ओकाररूप एकादेश हुआ है वह ("अन्तादिवच्च" — ६।१।८५ — सूत्रसे) उञ् ही समझा जाता है।

(तो फिर हम यों कहते है कि) आचार्य (पाणिनि) 'ओत्' (१।१।१५) सूत्रसे ओकारान्त निपातको प्रगृह्यसंज्ञा कहते है उससे वे यह ज्ञापित करते है कि उञ्को जो

निपातस्य प्रगृह्यसंज्ञां शास्ति । नैतदस्ति ज्ञापकम् । उक्तमेतत् । प्रतिषिद्धार्थो ऽयमारम्भ इति । दोषः खल्वपि स्याद्यद्युञेकादेश उञ्ग्रहणे न गृह्येत । जानु उ अस्य रुजति जानू अस्य रुजति जान्वस्य रुजति । मय उञो वो वा [८.३.३३] इति वत्वं न स्यात् । एवं तर्ह्येकनिपाता इमे ॥ अथवा द्वावुकाराविमौ । एको ऽननुबन्धकः । अपरः सानुबन्धकः । तयो ऽननुबन्धकस्तस्यैष एकादेशः ॥

उञ इति योगविभागः ॥ १ ॥

एकादेश हुआ है वह ('अन्तादिवच्च'—६।१।८५—सूत्रसे) उञ् नहीं[१] समझा जाता है।

यह ज्ञापक उचित नहीं है। क्यों कि ('ओ पु यातं...' आदि उदाहरणोंमें अनाङ् यह) निषेध दूर करके (प्रगृह्यसंज्ञा) होनेके लिए यह ('ओत्' सूत्र) किया है यह (इस सूत्रका उपयोग) पहले कहा है। और (उस ज्ञापनसे) यदि 'उञ्' को जो एकादेश हुआ है वह 'उञ्' नहीं समझा गया तो (कहीं कहीं) दोष भी आता है। जैसे, "जानु उ अस्य रुजति" (इस उदाहरणमें उञ्को सवर्णदीर्घ एकादेश होनेपर वह दीर्घ ऊ एकादेश 'अन्तादिवच्च' सूत्रसे उञ् ही है ऐसा मान लेके उसको) 'मय उञो वो वा' (८।३।३३) सूत्रसे वकार आदेश (विकल्पसे होता है) और 'जानू अस्य रुजति' और 'जान्वस्य रुजति' (इस प्रकारके जो दो रूप होते हैं) वे नहीं होंगे (कारण कि 'उञ्' न समझनेसे वकार आदेश नहीं होगा[२]।)

तो फिर 'आहो' और 'उताहो' ये अखंड निपात यहाँ लिये जायँ (जिससे प्रकृतसूत्रसे ऊँ आदेश वहाँ नहीं होगा)। अथवा ('आहो' उदाहरणमें ऊँ आदेश न होनेका और भी एक मार्ग है। वह यों कि—) 'उ' निपात दो प्रकारका है: एक निरनुबन्धक (अर्थात् जो ञकारेत्संज्ञक नहीं है ऐसा केवल उ), और दूसरा सानुबन्धक (अर्थात् ञकारेत्संज्ञक उञ्)। (उन दोनोंमेंसे) जो निरनुबन्धक है उसीका एकादेश गुण होता है (और वह गुण होके 'आहो' रूप हुआ है। अतः उञ् न होनेके कारण प्रकृत सूत्र लागू नहीं होता।)

(वा. १) 'उञ ऊँ' सूत्रका विभाजन किया जाय।

---

१. 'ओत्' सूत्रके 'आहो' आदि उदाहरणोंमें 'ओ'कार यदि उञ् समझा जायगा तो 'उञः' सूत्रसे ही वे उदाहरण सिद्ध होनेसे 'ओत्' सूत्र व्यर्थ होगा। तब उसके बलसे 'अन्तादिवच्च' सूत्र वहाँ प्रवृत्त नहीं होता है।

२. तात्पर्य यह है कि, ज्ञापक संभवनीय न होनेसे 'आहो' आदि उदाहरणोंमें 'अन्तादिवच्च' सूत्रकी प्रवृत्ति होकर 'ओ'कार उञ् समझा जायगा और 'उञ ऊँ' की प्रवृत्ति होगी यह दोष आता है।

उञ इति योगविभागः कर्तव्यः। उञः शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन प्रगृह्यसंज्ञा भवति। उ इति विति॥ तत ऊँ। उञ ऊँ इत्ययमादेशो भवति शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन दीर्घो ऽनुनासिकः प्रगृह्यसंज्ञकश्च ऊँ इति॥ किमर्थो योगविभागः।

ऊँ वा शाकल्यस्य॥ २॥

शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन ऊँ विभाषा यथा स्यात्। ऊँ इति उ इति। अन्येषामाचार्याणां मतेन विति॥

ईदूतौ च सप्तम्यर्थे॥ १। १। १९॥

'उञ ऊँ' इस प्रकृतसूत्रका विभाग किया जाय (अर्थात् इसके दो सूत्र बनाये जायँ)। उनमेंसे पहला सूत्र 'उञः' है। उसका अर्थ यों है—उञ्को ('इति' शब्द आगे होनेपर) शाकल्याचार्यके मतके अनुसार प्रगृह्यसंज्ञा होती है; जैसे, उ + इति = विति। तदनन्तर (दूसरा सूत्र) 'ऊँ' है। उसका अर्थ यों है—('इति' शब्द आगे होनेपर) उञ्को शाकल्याचार्यके मतसे दीर्घ, अनुनासिक और प्रगृह्यसंज्ञक ऊँ (आदेश) होता है, जैसे ऊँ इति।

यह सूत्रका विभाजन किसलिए किया जाता है?

(वा. २) शाकल्यके मतसे 'ऊँ' आदेश विकल्पसे होना चाहिये।

शाकल्याचार्यके मतसे 'ऊँ' आदेश विकल्पसे होना चाहिये। अतः (शाकल्याचार्यके मतसे) 'ऊँ इति' और 'उ इति' (ये दो रूप होते हैं); और अन्य[४] आचार्योंके मतसे 'विति' (यह रूप होता है)।

(सू. १९) सप्तम्यर्थ अर्थात् सप्तमी विभक्तिका अर्थ (आधारशक्ति) है। उस अर्थको मुख्यतया बतानेवाला जो ईकारान्त और ऊकारान्त शब्दस्वरूप है उसको (प्रगृह्यसंज्ञा होती है)।

---

३ शाकल्याचार्यके मतसे प्रगृह्यसंज्ञा होनेके कारण 'उ इति' रूप होता है। और अन्योंके मतसे प्रगृह्यसंज्ञा होनेके कारण 'विति' रूप होता है।

४. 'ऊँ' सूत्रमें जो 'शाकल्यस्य' पद अनुवृत्त हुआ है उसका अर्थ है केवल विकल्प। तब शाकल्यमतसे 'ऊँ इति' एक ही रूप होता है यह न समझा जाय। शाकल्यमतसे 'उ इति' रूप भी होता है।

५ यदि सूत्रका विभाग न किया होता तो शाकल्यमतसे 'ऊँ इति' और अन्यमतसे 'विति' दो ही रूप हो जाते।

ईदूतौ सप्तमीत्येव

ईदूतौ सप्तमीत्येव सिद्धं नार्थोऽर्थग्रहणेन ।

लुप्ते ऽर्थग्रहणाद्भवेत् ।

लुप्तायां सप्तम्यां प्रगृह्यसंज्ञा न प्राप्नोति । क्व । सोमो गौरी अधि श्रितः । इष्यते चात्रापि स्यादिति तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीत्येवमर्थमर्थग्रहणम् ॥ नात्र सप्तमी लुप्यते । किं तर्हि । पूर्वसवर्णोऽत्र भवति ।

पूर्वस्य चेत्सवर्णोऽसावाडाम्भावः प्रसज्यते ॥ १ ॥

यदि पूर्वसवर्ण आट् आम्भावश्च प्राप्नोति ॥ एवं तर्ह्याहायमीदूतौ सप्तमीति

(श्लो. वा.) 'ईदूतौ सप्तमी' इतना ही सूत्र (किया जाय)।

'ईदूतौ सप्तमी' इतना ही सूत्र करनेसे (उदाहरण) सिद्ध होते हैं। 'अर्थ' शब्द निरर्थक है।

(श्लो. वा.) (सप्तमीका) लोप होनेपर अर्थग्रहणसे प्रगृह्यसंज्ञा होगी।

(अर्थग्रहण न किया गया तो) सप्तमीका लोप होनेपर प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी।

कहाँ?

'सोमो गौरी अधि श्रितः' (ऋ. ९।१२।३) इस उदाहरणमें। और यहाँ भी (अर्थात् सप्तमीका लोप हुआ तो भी प्रगृह्यसंज्ञा) आवश्यक है, यत्न किये बिना वह सिद्ध नहीं होगी। इसलिए 'अर्थ' शब्द रखा[2] गया है।

यहाँ 'गौरी' शब्दके आगे सप्तमीका लोप नहीं हुआ है।

तो फिर 'गौरी' रूप कैसे सिद्ध हुआ?

यहाँ ('सुपां सुलुक्' — ७।१।३९ — सूत्रसे) पूर्वसवर्ण हुआ[3] है।

(श्लो. वा.) यदि पूर्वसवर्ण हुआ हो तो यहाँ 'आट्' आगम और आम्' आदेश प्राप्त होते हैं।

यदि ('गौरी' रूपमें) पूर्वसवर्ण हुआ हो तो यहाँ ('आण्नद्याः' — ७।३।

---

१. गौरी शब्दके आगे जो सप्तमीप्रत्यय है उसका 'सुपां सुलुक्' (७।१।३९) सूत्रसे लुक् हुआ है। लुक्को भी 'लोप' संज्ञा है।

२. अर्थ शब्द रखनेसे सप्तमीप्रत्ययका अर्थ हुआ तो प्रगृह्यसंज्ञा की जाती है। उसको सप्तमीप्रत्ययकी आवश्यकता नहीं होती है। लोप हुआ तो भी उसका अर्थ कायम ही रहता है। अर्थका लोप कभी नहीं होता।

३. गौरी शब्दका ईकार पूर्व है; उसका सवर्ण अर्थात् ईकार सप्तमी प्रत्ययको आदेश हुआ है। तदनन्तर सवर्ण दीर्घ होकर 'गौरी' रूप सिद्ध होता है, ऐसा अभिप्राय है।

न चास्ति सप्तमीदूतौ तत्र वचनाद्भविष्यति ।

वचनाद्यत्र दीर्घत्वम्

नेदं वचनाल्लभ्यम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् । किम् । यत्र सप्तम्या दीर्घत्वमुच्यते । दृतिं न शुष्कं सरसी शयानमिति । सति प्रयोजन इह न प्राप्नोति । सोमो गौरी अधि श्रित इति ॥

तत्रापि सरसी यदि ।

---

११२ — सूत्रसे) 'आट्' आगम और ('ङेराम्०' — ७।३।११६ — सूत्रसे) 'आम्' आदेश प्राप्त होते है (वे क्यों नहीं किये ?)

तो फिर यहाँ ये (आचार्य पाणिनि) 'ईदूतौ सप्तमी' कहते है और दीर्घ ईकार और ऊकार ये सप्तमीके प्रत्यय तो कहीं दीख नहीं पडते । अतः ('ईदूतौ सप्तमी' वचन व्यर्थ होगा इसलिए उस) वचनके बलसे ('गौरी' आदि रूपोंमें दीर्घ ईकारान्त अथवा दीर्घ ऊकारान्त शब्दस्वरूप हो तो सप्तमीका लोप होनेपर भी प्रगृह्यसंज्ञा प्रकृत-सूत्रसे वहाँ होगी (ऐसा समझा जायगा) ।

(श्लो. वा.) वचनसे (यह शक्य नहीं) । जहाँ दीर्घत्व कहा है (वहाँ उसका उपयोग होता है) ।

वचन (के बल) से यह समझना शक्य नहीं । क्योंकि 'ईदूतौ सप्तमी' वचनका अन्यत्र उपयोग किया जाता है । (अतः यह वचन निरर्थक नहीं ।)

वह उपयोग कौनसा ?

जहाँ सप्तमी-(विभक्ति प्रत्यय) का दीर्घ कहा है (वहाँ उसका उपयोग होता है) । उदा० 'दृतिं न शुष्कं सरसी[६] शयानम्' (ऋ. ७।१०३।२) और इस प्रकार वचनका अन्यत्र उपयोग होनेके कारण यह कल्पना निराधार है । अतः) 'सोमो गौरी अधि श्रितः' (ऋ. ९।१२।३) यहाँ (सप्तमीका लोप होनेपर प्रकृतसूत्रसे प्रगृह्यसंज्ञा) प्राप्त नहीं होती ।

(श्लो. वा.) वहाँ भी (इष्टसिद्धि होती है) यदि 'सरसी' (स्वतंत्र शब्द है) ।

---

४. आट् आगम और आम् आदेश सवर्ण दीर्घका बाध करके 'नद्याम्' उदाहरणमें जैसे होते है वैसे यहाँ होंगे ।

५. तात्पर्य यह है कि, सूत्रमें 'अर्थ' शब्द न होते हुए भी यहाँ प्रगृह्यसंज्ञा की जाती है ।

६. सुपां सुलुक्० ' (७।१।३९) सूत्रपरके 'इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्' वार्तिकसे 'सरस्' शब्दके आगे जो 'इ' सप्तमीप्रत्यय है उसको दीर्घ ईकार आदेश हुआ है ।

तत्रापि सिद्धम्। कथम्। यदि सरसीशब्दस्य प्रवृत्तिरस्ति। अस्ति च लोके सरसीशब्दस्य प्रवृत्तिः। कथम्। दक्षिणापथे हि महान्ति सरांसि सरस्य इत्युच्यन्ते ॥

ज्ञापकं स्याचदन्तत्वे

एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यो न प्रगृह्यसंज्ञायां प्रत्ययलक्षणं भवतीति। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्। कुमार्योरगारं कुमार्यगारम् वध्वोरगारं वध्वगारम् प्रत्ययलक्षणेन प्रगृह्यसंज्ञा न भवति ॥

मा वा पूर्वपदस्य भूत् ॥ २ ॥

अथवा पूर्वपदस्य मा भूदित्येवमर्थमर्थग्रहणम्। वाप्यामश्वो वाप्यश्वः

वहाँ भी (इष्ट-) सिद्धि होती है।

सो कैसे?

यदि 'सरसी' यह ईकारान्त स्वतंत्र शब्द है तो ('गौरी' के समान ही) यह रूप होनेवाला है। और लोगोंमें 'सरसी' शब्दका प्रचार दीख पड़ता है।

वह कहाँ?

दक्षिणापथमें बड़े सरोवरको 'सरसी' कहाँ जाता है।

(श्लो. वा.) आचार्य ज्ञापित करते हैं कि प्रगृह्यसंज्ञा करते समय प्रत्ययलक्षण नहीं होता।

तो फिर थोड़ेमें ('ईदूतौ सप्तमी' वचनसे ही इष्ट कार्य सिद्ध होनेके कारण सूत्रका 'अर्थ' शब्द निरर्थक होता है; उससे) आचार्य (पाणिनि) यह ज्ञापित करते हैं कि 'प्रगृह्यसंज्ञा करते समय प्रत्ययलक्षण नहीं होता है'।

इस ज्ञापनका क्या उपयोग है?

उपयोग यों है कि कुमार्योरगारं 'कुमार्यगारम्', वध्वोरगारं 'वध्वगारम्' इन उदाहरणोंमें प्रत्ययलक्षण करके ('ईदूदेत्०' — १।१।११ — सूत्रसे जो प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त हुई वह) प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होती है।

(श्लो. वा) अथवा पूर्वपदको न हो (इसलिए सूत्रमें 'अर्थ' शब्द रखा गया है)।

अथवा (सप्तमीतत्पुरुष समासमें ईकारान्त अथवा ऊकारान्त) पूर्वपदको (प्रकृत-

---

७. थोड़ेमें, जैसे 'गौरी' वैसेही 'सरसी' उदाहरण भी सूत्रमें 'अर्थ' शब्द रखे बिना सिद्ध किया जाता है।

८. 'ईदूदेत्०' (१।१।११) सूत्रपरका भाष्य देखिये।

९. 'कुमार्यगारम्' आदि उदाहरणोंमें ज्ञापनका जो उपयोग दिखाया है वह उपयोग 'ईदूदेत्०' सूत्रका जो अर्थ लेके संभवनीय है वह अर्थ ही ठीक नहीं है यह पहले ('ईदूदेत्०'

नद्यामातिर्नद्यातिः। अथ क्रियमाणे ऽप्यर्थग्रहणे कस्मादेवात्र न भवति। जहत्स्वार्था वृत्तिरिति। अथाजहत्स्वार्थायां वृत्तौ दोष एव। अजहत्स्वार्थायां च न दोषः। समुदायार्थो ऽभिधीयते॥

ईदूतौ सप्तमीत्येव लुप्तेऽर्थग्रहणाद्भवेत्।
पूर्वस्य चेत्सवर्णो ऽसावाडाम्भावः प्रसज्यते॥ १॥
वचनाद्यत्र दीर्घत्वं तत्रापि सरसी यदि।
ज्ञापकं स्यात्तदन्तत्वे मा वा पूर्वपदस्य भूत्॥ २॥

सूत्रसे प्रगृह्यसंज्ञा) न हो इसलिए सूत्रमें 'अर्थ' शब्द रखा गया है; जैसे, वाप्यामश्वो वाप्यश्वः, नद्यामातिर्नद्यातिः।

पर 'अर्थ' शब्द रखा गया तो भी यहाँ (प्रगृह्यसंज्ञा प्राप्त होती[10] ही है। फिर वह) क्यों नहीं होती ?

वृत्तिके बारेमें 'जहत्स्वार्था' पक्ष लिया गया (तो यहाँ प्रगृह्यसंज्ञा न होगी)।

पर वृत्तिके विषयमें —'अजहत्स्वार्था' पक्षका ग्रहण किया गया तो यहाँ दोष आयेगा ही।

'अजहत्स्वार्था' पक्षमें भी यहाँ दोष नहीं आता है। क्योंकि वृत्तिमें समुदायका ही अर्थ दिखाया जाता है। (सार यह है कि, अन्तर्गत पदोंको अपना अपना अर्थ व्यक्त करनेका पूर्ण स्वातन्त्र्य नहीं।)

सूत्रपरके भाष्यमें) बताया है वह ध्यानमें लेकर यहाँ सूत्रकार 'अर्थ' शब्दका दूसरा उपयोग दिखाते हैं।

१० क्योंकि वाप्यश्वः आदि समासोंमें पूर्वपदके अगले सप्तमी प्रत्ययका लोप हुआ तो भी उसका अर्थ कायम ही है।

११. समास आदि वृत्तियोंमें अन्तर्गत शब्द निरर्थक होते हैं। वृत्तिके बलपर उनका मूल अर्थ छोड़ा जाता है। उदा० 'वाप्यश्व'। समासवृत्तिमें 'वापी' और 'अश्व' ये दोनों शब्द अर्थरहित हैं। 'वाप्यश्व' सामासिक शब्दका अर्थ है 'वापीके पासका अश्व'। इसको 'जहत्स्वार्थापक्ष' कहते हैं। वृत्ति की जानेके बाद भी अन्तर्गत शब्दोंका अर्थ कायम ही रहता है यह दूसरा पक्ष है। इसको 'अजहत्स्वार्थापक्ष' कहते हैं।

१२. वापी शब्दका मूल अर्थ है 'वापीके स्थानमें'। वह अर्थ 'वाप्यश्व' समास होनेके बाद भी कायम रहा तो भी वह अर्थ, उत्तरपद 'अश्व' से संबद्ध ही वापी शब्दसे दिखाया जाता है। वाक्यमें 'वापी के स्थानमें' अर्थ दिखानेका जो पूर्ण स्वातंत्र्य 'वापी' शब्दको है यह उसको समास करनेके बाद नहीं रहता है। उससे 'वापी' शब्द आधारशक्ति अर्थात् 'वापीके स्थानमें' इस अर्थको मुख्यतासे नहीं दिखाता है।

दाधा घ्वदाप् ॥ १ । १ । २० ॥

घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिदर्थम् ॥ १ ॥

घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यम्। दाधाप्रकृतयो घुसंज्ञा भवन्तीति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्। आत्वभूतानामियं संज्ञा क्रियते। सात्वभूतानामेव स्यादनात्वभूतानां न स्यात्। ननु च भूयिष्ठानि घुसंज्ञाकार्याण्यार्धधातुके तत्र चत आत्वभूता दृश्यन्ते। शिदर्थम्। शिदर्थं प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यम्। शित्यात्वं प्रतिषिध्यते तदर्थम्। प्रणिदयते प्रणिधयतीति ॥

(सू. २०) 'दा' और 'धा' (धातुओंको) घु (संज्ञा होती है)। (पर उनमेंसे 'दा' शब्दस्वरूप) 'दाप्' और 'दैप्' (धातुओंका) नहीं।

(वा. १) 'घु' संज्ञाके बारेमें 'शित्' प्रत्ययोंके लिए 'प्रकृति' शब्द रखा जाय।

'घु' संज्ञा (कहनेवाले इस सूत्र) में 'प्रकृति' शब्द अधिक रखा जाय, अर्थात् दा, धा और उनकी प्रकृतियोंको 'घु' संज्ञा होती है ऐसा कहा जाय।

यह कहनेका उपयोग क्या है?

(उपयोग यह है कि) आत्व किये हुए ('दा' और 'धा' शब्दस्वरूपों-) को यह (घु) संज्ञा (पाणिनिने) कही है, अतः वह आत्व किये हुए शब्दस्वरूपोंको ही होगी; जिनको आत्व नहीं किया गया उन- (की मूलभूत प्रकृतियों-) को न होगी।

पर 'घु' संज्ञाके बहुतसे कार्य आर्धधातुक प्रत्यय किया जानेपर होनेवाले हैं। और वहाँ (वह आर्धधातुक प्रत्यय किया जानेपर तो 'दा' और 'धा') ये आत्व किये हुए शब्दस्वरूप दिखायी[1] देते है। तब ('प्रकृति' शब्दके ग्रहणका उपयोग कहाँ होनेवाला है, यह आक्षेप ध्यानमें लेकर वार्तिककारोंने) 'शिदर्थम्' (ऐसा कहा है)। 'शित्' प्रत्ययके लिए 'प्रकृति' शब्द रखना चाहिये, अर्थात् शकारेत्संज्ञक प्रत्यय किया जानेपर वहाँ आत्व नहीं होता है इसलिए ('प्रकृति' शब्द रखना चाहिये), जैसे, प्रणिदयते[2], प्रणिधयति।

---

१. 'खण्डन करना' अर्थमें 'दो' धातु, 'रक्षा करना' अर्थमें 'देङ्' धातु, और 'पीना' अर्थमें 'धेट्' धातु, ये मूलमें यद्यपि आकारान्त नहीं तो भी उनको आर्धधातुक प्रत्यय लगाया जानेपर 'आदेच उपदेशेऽशिति' (६।१।४५) सूत्रसे आत्व होगा ही। तब उनके 'दा', 'धा' रूप ही होनेके कारण 'प्रकृति' शब्द रखे बिना ही सूत्रसे घुसंज्ञा सिद्ध होती है।

२. 'दे', 'दो' और 'धे' को आत्व होकर 'दा', 'धा' होते हैं। अतः 'दे', 'दो' और 'धे' को 'दा' और 'धा' की प्रकृति कहते हैं और 'दा', 'धा' को 'दे', 'दो' और 'धे' की विकृति कहते हैं। यहाँ 'दा' की प्रकृति 'दे' को घुसंज्ञा हुई है। इसलिए 'नेर्गदनद०' (८।४।१७) से 'नि' उपसर्गके नकारको णत्व होता है।

भारद्वाजीयाः पठन्ति । घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिद्विकृतार्थम् । घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं क्रियते । किं प्रयोजनम् । शिदर्थं विकृतार्थं च । शित्युदाहृतम् । विकृतार्थं खल्वपि । प्रणिदाता प्रणिधाता । किं पुनः कारणं न सिध्यति । लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवेति प्रतिपदं य आत्त्वभूतास्तेषामेव स्याल्लक्षणेन य आत्त्वभूतास्तेषां न स्यात् ॥

अथ क्रियमाणे ऽपि प्रकृतिग्रहणे कथमिदं विज्ञायते । दाधाः प्रकृतय इति । आहोस्विद्दाधां प्रकृतय इति । किं चातः । यदि विज्ञायते दाधाः प्रकृतय इति स एव दोषः । आत्त्वभूतानामेव स्यादनात्त्वभूतानां न स्यात् । अथ विज्ञायते

(यह वार्तिक) भारद्वाजीय इस रूपमें पढ़ते हैं— "घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिद्विकृतार्थम् ।" घुसंज्ञा कहनेवाले इस सूत्रमें 'प्रकृति' शब्द अधिक रखा जाय। यह किस लिए? शित् प्रत्यय के लिए और विकृत स्वरूपके लिए। उनमेंसे शित् प्रत्ययके संबंधमें ('प्रकृति' शब्दका जो उपयोग होता है उसके) उदाहरण ('प्रणिदयते' आदि) दिखाये गये ही हैं। विकृत स्वरूपके लिए भी (उस 'प्रकृति' शब्दकी आवश्यकता है ही); जैसे, प्रणिदाता, प्रणिधाता।

('प्रकृति' शब्द न रखा गया तो यहाँ घुसंज्ञा) क्यों नहीं होगी?

"लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्"— प. शे. १०५ (इस स्वरूपकी परिभाषा है।) अतः प्रतिपदोक्त ('दा', 'धा' ये) जो मूलभूत ही आकारान्त धातु उच्चारित हैं उन्हींको (घुसंज्ञा) होगी, और (वास्तवमें आकारान्त न होनेसे) शास्त्रसे सिद्ध जो ('दा', 'धा' ये) आकारान्त हैं उनको नहीं होगी।

अब 'प्रकृति' शब्द रखा गया तो भी (यहाँ यह विचार निर्माण होता है कि) यहाँ क्या अर्थ समझा जाय?— (१) 'दा' और 'धा' ये जो प्रकृतियाँ हैं (उनको घुसंज्ञा होती है) अथवा (२) 'दा' और 'धा' की जो प्रकृतियाँ है (उनको घुसंज्ञा होती है)।

फिर आपका कहना क्या है?

हमारा कहना यह है कि 'दा' और 'धा' ये जो प्रकृतियाँ है (उनको घुसंज्ञा होती है) यह अर्थ यदि किया गया तो वही (उपर्युक्त) दोष आता है। अर्थात् जो आकारान्त 'दा', 'धा' धातु हैं उन्हींको घुसंज्ञा होगी। जिनको आत्त्व नहीं हुआ है उनको (घुसंज्ञा नहीं होगी)। अब यदि 'दा' और 'धा' की प्रकृतियोंको (घुसंज्ञा होती है) यह अर्थ लिया गया तो जिनको आत्त्व नहीं हुआ है उन्हींको (अर्थात् 'दो', 'दे', 'धे' इन्हींको) घुसंज्ञा होगी, और 'दा', 'धा' ये जो आकारान्त धातुएं हैं उनको नहीं होगी।

---

१. सू. १।१।१२ टि ४ देखिये।

दार्धा प्रकृतय इत्यनात्त्वभूतानामेव स्यादात्त्वभूतानां न स्यात्। एवं तर्हि नैवं विज्ञायते दाधा प्रकृतय इति नापि दार्धा प्रकृतय इति। कथं तर्हि। दाधा घुसंज्ञा भवन्ति प्रकृतयश्चैषामिति ॥

तत्तर्हि प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यम्। न कर्तव्यम्। इदं प्रकृतमर्थग्रहणमनुवर्तते। क्व प्रकृतम्। ईदूतौ च सप्तम्यर्थे [१.१.१९] इति। ततो वक्ष्यामि। दाधा घ्वदाप् अर्थ इति। नैवं शक्यम्। ददातिना समानार्थान् रातिरासतिदाशतिमंहति-प्रीणातिप्रभृतीनाहुः। एतेषामपि घुसंज्ञा प्राप्नोति। तस्मान्नैवं शक्यम्। न चेदेवं प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यमेव ॥ शिदर्थेन तावन्नार्थः प्रकृतिग्रहणेन। अवश्यं तत्र मार्थं

तो फिर हम यहाँ 'दा, धा इन प्रकृतियोंको (घुसंज्ञा होती है)' यह अर्थ नहीं लेते और 'दा, धा की प्रकृतियोंको (घुसंज्ञा होती है)' यह भी अर्थ नहीं लेते।

तो फिर यहाँ क्या अर्थ लिया जाय?

'दा' और 'धा' को घुसंज्ञा होती है और उनकी प्रकृतियोंको भी घुसंज्ञा होती है यह अर्थ यहाँ लेना चाहिये।

तो फिर 'प्रकृति' शब्द सूत्रमें रखा जाना चाहिये न?

वह रखनेकी आवश्यकता नहीं। इसी प्रकरणमें कहे हुए 'अर्थ' शब्दकी अनुवृत्ति की जाय।

इसी प्रकरणमें पिछले किस सूत्रमें ('अर्थ' शब्द है)?

"ईदूतौ च सप्तम्यर्थे"—१।१।१९ (इस पिछले) सूत्रमें ही ('अर्थ' शब्द) है। अतः यहाँ यह कहा जा सकता है कि दा और धा को घुसंज्ञा होती है और उनके अर्थके (जो धातु हैं) उनको भी (घुसंज्ञा) होती है[४], पर 'दाप्' और 'दैप्' को नहीं होती।

यह कहना शक्य नहीं। 'दा' धातुका अर्थ है 'देना' और रा, रास्, दाश्, मंह्, प्री इत्यादि धातु भी उसी अर्थमें पठित हैं। अतः उनको भी घुसंज्ञा होने लगेगी। इसलिए वैसा कहना संभव नहीं। और इस रीतिसे ('अर्थ' शब्दकी अनुवृत्तिसे) यदि इष्ट कार्य सिद्ध नहीं होता है तो (सूत्रमें) 'प्रकृति' शब्द रखना ही चाहिये ऐसा दीख पड़ता है।

('प्रकृति' शब्द रखनेकी आवश्यकता नहीं।) 'शित्' प्रत्ययके लिए तो यहाँ 'प्रकृति' शब्द रखना निरर्थक है। क्योंकि ('शित्' प्रत्ययके उदाहरणमें 'घु' संज्ञाका णत्वरूप कार्य "नेर्गदनद०" (८।४।१७) सूत्रसे कहा है।) उस सूत्रमें 'मा' धातुके 'प्रणिमयते', 'प्रण्यमयत' उदाहरणोंके लिए 'प्रकृति' शब्द

---

४. 'दे', 'दो' और 'धे' यद्यपि आकारान्त नहीं तो भी आकारान्तका जो अर्थ है वह उनको प्राप्त होता है इसलिए उनको घुसंज्ञा होगी।

प्रकृतिग्रहणं कर्तव्यं प्रणिमयते प्रण्यमयतेत्येवमर्थम्। तत्पुरस्तादपकक्ष्यते। घुप्रकृतौ माप्रकृतौ चेति। यदि प्रकृतिग्रहणं क्रियते प्रनिमिनोति प्रनिमीनाति अत्रापि प्राप्नोति। अथाक्रियमाणे ऽपि प्रकृतिग्रहण इह कस्मान्न भवति प्रनिमाता प्रनिमातुम् प्रनिमातव्यमिति। आकारान्तस्य ङितो ग्रहणं विज्ञास्यते। यथैव तर्ह्यक्रियमाणे प्रकृतिग्रहण आकारान्तस्य ङितो ग्रहणं विज्ञायत एवं क्रियमाणे ऽपि प्रकृतिग्रहण आकारान्तस्य ङितो ग्रहणं विज्ञास्यते॥ विकृतार्थेन चापि नार्थः। दोष एवैतस्याः परिभाषाया लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवेति

अवश्य रखना ही चाहिये। वही ('प्रकृति' शब्द उस सूत्रमें 'मा' शब्दके) पहले आये हुए 'घु' शब्दको भी लगाया जा सकता है। और उसका अर्थ यह होगा कि 'घु' संज्ञा की प्रकृति (आगे होने पर) और 'मा' शब्दकी प्रकृति आगे होने पर।

यदि ('नेर्गदनद०' सूत्रमें) 'प्रकृति' शब्द रखा गया तो 'प्रनिमिनोति[६]', 'प्रनिमीनाति' उदाहरणोंमें (उस सूत्रसे णत्व) प्राप्त होगा (यह दोष आता है)।

पर (पहले हम यह पूछते हैं कि) 'प्रकृति' शब्द न रखा गया तो भी 'प्रनिमाता' 'प्रनिमातुम्', 'प्रनिमातव्यम्' उदाहरणोंमें (उस सूत्रसे णत्व) क्यों नहीं होगा?

इस सूत्रमें ङकारेत्संज्ञक आकारान्त (अर्थात् 'माङ्' धातु) का ही ग्रहण किया जाय, (अर्थात् वहाँ 'माङ्' कहनेसे यह दोष नहीं आता है)।

तो फिर जैसे 'प्रकृति' शब्द न रखनेसे (आया हुआ दोष दूर होनेके लिए) सूत्रमें ङकारेत्संज्ञक आकारान्त (अर्थात् 'माङ्' धातु) का ही ग्रहण किया जाता है, वैसेही 'प्रकृति' शब्द रखनेके बाद भी ङकारेत्संज्ञक आकारान्त (अर्थात् 'माङ्' धातु) का ही ग्रहण किया है ऐसा हम समझेंगे (और इससे कोई दोष न आयेगा।)

विकृत स्वरूपके लिए भी (सूत्रमें 'प्रकृति' शब्द रखना) निरर्थक है। क्योंकि "लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्" (प. शे. १०५) परिभाषाके बारेमें यह दोष ही आता है। अतः (इस परिभाषाके बारेमें जो दोष आते हैं उनमें इस प्रकृत दोषकी गणना की जाती है; और इसीलिए "लक्षणप्रतिपदोक्त०" परिभाषाका

---

५. तब जैसे 'प्रणिमयते' इसमें आकारान्त 'मा' धातु नहीं है तो भी उसकी प्रकृति 'मे' आगे होनेसे णत्व होता है, वैसे ही 'प्रणिदयते' इसमें 'दे' धातुको आत्व न होनेके कारण घुसंज्ञा नहीं हुई तो भी घुसंज्ञककी प्रकृति 'दे' आगे होनेसे णत्व होगा।

६. 'मि' और 'मी' धातुओंको 'मीनातिमिनोतिदीङां०' (६।१।५०) से आत्व कहा जानेके कारण 'मि' और 'मी' 'मा' की प्रकृतियाँ होती हैं।

७. 'मि' और 'मी' इन्हीं धातुओंके ये रूप हैं। यहाँ 'मीनातिमिनोति०' से आत्व हुआ है इसलिए आकारान्त 'मा' स्वरूप प्रत्यक्ष ही सामने है।

८. कारण कि अब प्रकृति ली गयी तो भी वह 'माङ्' की ही ली जायगी।

गामादाग्रहणेष्वविशेष इति ॥

समानशब्दप्रतिषेधः ॥ २ ॥

समानशब्दानां प्रतिषेधो वक्तव्यः। प्रनिदारयति प्रनिधारयति। दाधा घुसंज्ञा भवन्तीति घुसंज्ञा प्राप्नोति।

समानशब्दाप्रतिषेधो ऽर्थवद्ग्रहणात् ॥ ३ ॥

समानशब्दानामप्रतिषेधः। अनर्थकः प्रतिषेधो ऽप्रतिषेधः। घुसंज्ञा कस्मान्न भवति। अर्थवद्ग्रहणात्। अर्थवतोर्दाधोर्ग्रहणं न चैतावर्थवन्तौ ॥

अनुपसर्गाद्वा ॥ ४ ॥

अपवाद) "गामादाग्रहणेष्वविशेषः" – प. शे. १०६ – (यह दूसरी परिभाषा मानी गयी है)।

(वा. २) समान शब्दोंका प्रतिषेध (करना चाहिये)।

('दा' और 'धा' शब्दोंको ही घुसंज्ञा कही है। उनके) सदृश (जो अन्यत्र शब्द दीख पड़ते हैं उन) शब्दोंके बारेमें (घुसंज्ञाका) निषेध कहा जाय। उदा० प्रनिदारयति, प्रनिधारयति। 'दा' और 'धा' को घुसंज्ञा होती है (इतना ही यहाँ कहा है)। इससे ('प्रनिदारयति' आदि उदाहरणोंमें) घुसंज्ञा प्राप्त होती है।

(वा. ३) अर्थयुक्त ('दा', 'धा' शब्दस्वरूपों–) का ग्रहण होनेसे समान शब्दोंका प्रतिषेध कहनेकी आवश्यकता नहीं।

समान शब्दोंके बारेमें घुसंज्ञाका अप्रतिषेध है। अनर्थक जो प्रतिषेध वह अप्रतिषेध, (अर्थात् घुसंज्ञाका निषेध कहनेकी आवश्यकता नहीं)।

फिर ('प्रनिदारयति' आदि उदाहरणोंमें) घुसंज्ञा क्यों नहीं होती? अर्थवान् जो 'दा' और 'धा' शब्दस्वरूप हैं उन्हींका यहाँ ग्रहण किया है और ('प्रनिदारयति', 'प्रनिधारयति' उदाहरणोंमें जो 'दार' और 'धार' हैं उनमेंके 'दा' और 'धा') ये निरर्थक हैं।

(वा. ४) अथवा ('प्र', 'नि' ये 'दा' और 'धा' धातुओंके) उपसर्ग न होनेके कारण।

---

९. 'गा', 'मा' और 'दा' स्वरूपोंका उच्चारण करके जो कार्य कहे हों वहाँ वे 'गा' आदि स्वरूप प्रतिपदोक्त ही लिये जायँ, लाक्षणिक न लिये जायँ, ऐसा किसी प्रकारका विवाद न करना चाहिये। उदाहरणमें आकारान्त स्वरूप दीख पड़ते ही कार्य किये जायँ यह इस परिभाषाका अर्थ है।

१०. 'दृ' और 'धृ' धातुओंको 'णिच्' प्रत्यय किया जाने पर 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से वृद्धि होकर 'दार्' और 'धार्' हुए है। उनमेंके रेफके पिछले 'दा' और 'धा' विभागोंको घुसंज्ञा प्राप्त होती है।

अथवा यत्क्रियायुक्ताः प्रादयस्तं प्रति गत्युपसर्गसंज्ञे भवतः। न चैतौ दाधौ प्रति क्रियायोगः॥ यद्येवमिहापि तर्हि न प्राप्नोति। प्रणिदापयति प्रणिधापयति। अत्रापि नैतौ दाधावर्थवन्तौ नाप्येतौ दाधौ प्रति क्रियायोगः॥

न वार्थवतो ह्यागमस्तद्गुणीभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते यथान्यत्र॥ ५॥

न वैष दोषः। किं कारणम्। अर्थवत आगमस्तद्गुणीभूतोऽर्थवद्ग्रहणेन गृह्यते यथान्यत्र। तद्यथा। अन्यत्राप्यर्थवत आगमो ऽर्थवद्ग्रहणेन गृह्यते। क्वान्यत्र। लविता चिकीर्षितेति॥ युक्तं पुनर्यन्नित्येषु नाम शब्देष्वागमशासनं

अथवा 'प्रनिदारयति' आदि उदाहरणोंमें घुसंज्ञा हुई तो भी णत्व न होगा। क्योंकि 'प्र' और 'दा' ये 'दा' और 'धा' धातुओंके उपसर्ग नहीं हैं।) 'प्र' आदिका जिसकी क्रियासे योग होता है, उसीके वे गति अथवा उपसर्ग होते हैं। और (प्रनिदारयति', 'प्रनिधारयति' रूपोंमें) ये जो 'दा' और 'धा' हैं (वे निरर्थक होनेसे) 'उनकी क्रियासे 'प्र' और 'नि' का योग है' ऐसा नहीं कहा जा सकता है।

तो फिर 'प्रणिदापयति', 'प्रणिधापयति' रूपोंमें भी (घुसंज्ञा और उससे णत्व) न होगा। क्योंकि ('दाप्' और 'धाप्' में के) जो ये 'दा' और 'धा' पद हैं वे अर्थयुक्त नहीं इसीलिए इन 'दा' और 'धा' की क्रियासे ('प्र' और 'नि' का) योग नहीं।

(वा. ५) अथवा (यह दोष नहीं आता है) क्योंकि अर्थयुक्त शब्दका आगम उसका अवयव होता है। इससे जैसे अन्य उदाहरणोंमें वैसे ही अर्थयुक्त शब्दके ग्रहणसे उसका ग्रहण होता है।

यह दोष नहीं आता है।

कारण क्या है?

('पुक्' आगम 'दा' इस) अर्थवान् को हुआ है, इससे उसका अवयव जैसा समझा जानेवाला है; और 'दा' इस अर्थयुक्त शब्दसे ही उसका ग्रहण किया जाता है। वह यों कि अन्यत्र भी जिस अर्थवान् को आगम होता है वह आगम उस अर्थयुक्त शब्दसे ही लिया जाता है।

अन्यत्र कहाँ?

'लविता', 'चिकीर्षिता' उदाहरणोंमें ('तास्' प्रत्ययको जो इट् अर्थात् 'इ' आगम हुआ है वह तास् प्रत्ययमेंका ही समझा जाता है)।

पर यदि शब्द नित्य हैं तो उनको आगम कहना क्या युक्त होगा? कदापि

११. तब 'दाप्' को 'दा' ही समझकर अर्थवान् 'दाप्' को ही घुसंज्ञा की जाती है। 'प्रतिदारयति' रूपमें 'र्', 'दा' का आगम न होनेसे वहाँ 'दार्' को 'दा' नहीं समझा जाता है।

स्यान्न नित्येषु नाम शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः। आगमश्च नामापूर्वः शब्दोपजनः। अथ युक्तं यन्नित्येषु शब्देष्वादेशाः स्युः। बाढं युक्तम्। शब्दान्तरैरिह भवितव्यम्। तत्र शब्दान्तराच्छब्दान्तरस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता। आदेशास्तर्हीमे भविष्यन्त्यनागमकानां सागमकाः। तत्कथम्।

सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते ॥

नहीं। यदि शब्द नित्य हैं तो उनके वर्ण एकही स्वरूपमें कायम रहनेवाले, विचलित न होनेवाले, और उत्पत्ति, विनाश इत्यादि विकारोंसे रहित ही होने चाहिये। और आगम तो एक नया ही अवयव जैसा निर्माण होनेवाला है, (अतः वह नित्य शब्दमें कैसे निर्माण होगा) ?

पहले हम यह पूछते हैं कि यदि शब्द नित्य हैं तो उनको जो आदेश होते हैं क्या वे योग्य हैं ?

आदेशकथन उचित ही होगा। क्योंकि वहाँ वे भिन्न शब्द ही होते हैं। अतः एक शब्दके स्थानमें अन्य शब्दका ज्ञान होना उचित ही है। (उससे शब्दके नित्यत्वको कुछ भी हानि नहीं [१२] पहुँचती।)

तो फिर ये आगम भी आदेश ही होंगे; अर्थात् आगमरहित शब्दोंके आगमसहित शब्द (आदेश होते हैं ऐसा समझा जा सकता है।)

सो कैसे ?

सब (अर्थवान्) शब्दोंके सब (अर्थवान्) शब्द आदेश होते हैं यही दाक्षीका पुत्र जो (आचार्य) पाणिनि है उनका मत है। क्योंकि (शब्दके) किसी भागको यदि (आगम, आदेश इत्यादि) विकार हों तो (शब्दका) नित्यत्व कदापि न रहेगा।

---

१२. 'जराया जरसन्यतरस्याम्' (७।२।१०१) सूत्रसे 'जरा' शब्दको 'जरस्' आदेश कहा है। वहाँ 'जरा' शब्द अलग है और 'जरस्' शब्द भी अलग है। इस सूत्रसे इतना ही कहा है कि 'जरा' शब्दका उच्चारण करते समय वहाँ 'जरस्' शब्दका उच्चारण किया जा सकता है तब वहाँ 'जरा' शब्दका विनाश भी होता नहीं और 'जरस्' शब्दकी उत्पत्ति भी नहीं होती है। शंका—कुछ विशिष्ट अर्थ व्यक्त करनेके लिए शब्दका उच्चारण करना पड़ता है। तब जहाँ अनर्थकको आदेश होता है वहाँ शब्दका अनित्यत्व मानना पड़ेगा। उदा० 'आदेशप्रत्यययोः' (८।३।५९) सूत्रसे सकारको षकार आदेश कहा है। तब 'हरिषु' उदाहरणमें 'हरि' शब्दके आगे 'सु' प्रत्यय लगाया गया तो उसमेंके सकारका नाश होकर षकार उत्पन्न होता है ऐसा मानना पड़ेगा। उत्तर—वहाँ सकार निरर्थक होनेसे उसका उच्चारण नहीं करना पड़ता है। तथापि 'सु' अर्थयुक्त होनेके कारण सप्तम्यर्थ दिखानेके लिए 'सु' का उच्चारण करते समय वहाँ 'षु' का उच्चारण किया जाय। अथवा 'हरिमें' अर्थ व्यक्त करनेके लिए 'हरिसु' उच्चारण न करके 'हरिषु' उच्चारण किया जाय यह सूत्रका तात्पर्य माननेसे शब्दके अनित्यत्वको हानि नहीं पहुँचती।

दीङः प्रतिषेधः स्थाघ्वोरित्त्वे ॥ ६ ॥

दीङः प्रतिषेधः स्थाघ्वोरित्त्वे वक्तव्यः। उपादास्तास्य स्वरः शिक्षकस्येति। मीनातिमिनोति [६. १. ५०] इत्यात्त्वे कृते स्थाघ्वोरिच्च [१. २. १७.] इतीत्त्वं प्राप्नोति। कुतः पुनरयं दोषो जायते किं प्रकृतिग्रहणादाहोस्विद्रूपग्रहणात्। रूपग्रहणादित्याह। इह खलु प्रकृतिग्रहणाद्दोषो जायते। उपदिदीषते। सनि मीमाघुरभलभ [७. ४. ५४] इति। नैष दोषः। दाप्रकृतिरित्युच्यते न चेयं दाप्रकृतिः। आकारान्तानामेजन्ताः प्रकृतय एजन्तानामपीकारान्ता न च

(वा. ६) "स्थाघ्वोरिच्च" सूत्रसे कहा हुआ इत्त्व कार्य करते समय 'दीङ्' धातुको (घुसंज्ञाका) प्रतिषेध कहा जाय।

(इस घुसंज्ञाके कार्योंमेंसे) "स्थाघ्वोरिच्च" (१।२।१७) सूत्रसे कहा हुआ इत्त्व कार्य करते समय 'दीङ्' धातुको (घुसंज्ञाका) प्रतिषेध कहा जाय; जैसे, 'उपादास्तास्य स्वरः शिक्षकस्य।' ('उपादास्त' रूपमें 'दीङ्' धातुको) "मीनातिमिनोति०" (६।१।५०) सूत्रसे आत्त्व किया जानेपर (प्रकृतसूत्रसे घुसंज्ञा हो तो) "स्थाघ्वोरिच्च" (१।२।१७) सूत्रसे इत्त्व होगा (यह दोष आता है)।

पर यह दोष यहाँ कैसे निर्माण हुआ है? (१) सूत्रमें 'प्रकृति' शब्द अधिक रखनेसे निर्माण हुआ है? अथवा (२) ('दा' और 'धा') स्वरूपोंको (घुसंज्ञा) कहनेसे निर्माण हुआ है?

'दा' और 'धा' स्वरूपोंको (घुसंज्ञा) कहनेसे निर्माण हुआ है ऐसा कहता है। 'प्रकृति' शब्द अधिक रखनेसे जो दोष आता है वह 'उपदिदीषते' उदाहरणमें आता है। यहाँ "सनि मीमाघुरभलभ०"—७।४।५४—(सूत्रसे 'इस्' आदेश होने लगेगा)।

पर यह दोष नहीं आता है। क्योंकि ('प्रकृति' शब्द रखा गया तो भी) वह प्रकृति 'दा' इस आकारान्त शब्द की ही ली है। और ('उपदिदीषते' रूपमें जो 'दी' प्रकृति है) वह 'दा' इस आकारान्तकी नहीं। आकारान्तकी प्रकृतियाँ एजन्त

१३. इस वाक्यका अर्थ है 'इस शिक्षकका स्वर क्षीण हुआ है।' 'उपादास्त' रूप 'दीङ्' धातुका है यह बात ध्यानमें आनेके लिए यहाँ संपूर्ण वाक्य रखा गया है। क्योंकि 'क्षीण होना' अर्थ 'दीङ्' धातुका है।

१४. 'उपदिदीषते' रूप 'दीङ्' धातुका है। 'दीङ्' धातुको 'मीनातिमिनोति०' (६।१।५०) सूत्रसे आत्त्व कहा जानेसे 'दी' 'दा' की प्रकृति है ऐसा कहा जा सकता है। तब उस 'दी' को घुसंज्ञा हुई तो 'सनि मीमा०' (७।४।५४) से 'इस्' आदेश होने लगेगा।

१५ 'मी' आदि धातुओंके 'एच्' को आत्त्व होता है यह 'मीनातिमिनोति०' (६।१।५०) का अर्थ है। तब 'मी', 'मि' और 'दी' को पहले गुण या वृद्धि करके बादमें उस 'एच्' को उस सूत्रसे आत्त्व होता है।

प्रकृतिप्रकृतिः प्रकृतिग्रहणेन गृह्यते ॥ स तर्हि प्रतिषेधो वक्तव्यः। न वक्तव्यः। घुसंज्ञा कस्मान्न भवति। संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येत्येवं भविष्यति ॥

दाप्प्रतिषेधे न दैप्यनेजन्तत्वात् ॥ ७ ॥

दाप्प्रतिषेधे दैपि प्रतिषेधो न प्राप्नोति। अवदातं मुखम्। ननु चात्वे

होती हैं और एजन्तोंकी प्रकृतियाँ ईकारान्त होती हैं। अतः ('दा' की) प्रकृतिकी जो ('दी') प्रकृति है वह (सूत्रके) 'प्रकृति' शब्दसे नहीं ली जायगी।

तो फिर ('उपादास्त' रूपमें आया हुआ दोष दूर होनेके लिए 'दीङ्' धातुको 'घु'संज्ञाका) प्रतिषेध कहना चाहिये।

वह कहनेकी आवश्यकता नहीं।

तो फिर ('उपादास्त' रूपमें) घुसंज्ञा क्यों नहीं होती?

"संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य" (प. शे. ८५) परिभाषासे वहाँ घुसंज्ञा नहीं होती।

(वा. ७) 'दाप्' धातुके बारेमें जो प्रतिषेध (कहा है) वह 'दैप्' धातुके विषयमें नहीं होता है, क्योंकि (वह धातु) एजन्त न होनेसे (इसको आत्त्व नहीं हो सकता)।

(सूत्रमें 'अदाप्' यह जो) 'दाप्' धातुको (घुसंज्ञाका) निषेध किया है वह निषेध 'दैप्' धातुको न होगा; जैसे, अवदातं मुखम्।

पर ('दैप्' धातुको) आत्त्व किया जानेपर ('दाप्' रूप होनेसे निषेध) होगा।

---

१६. दो के संबंधसे जो कार्य हुआ है वह उन दोके संबंधके नाशका कारण नहीं होता। अर्थात् उस संबंधका नाश करनेवाले कार्यकी सहायता नहीं करता यह इस सन्निपातपरिभाषाका अर्थ है। 'उपादास्त' में 'दीङ्' धातु और 'सिच्' प्रत्यय इन दोका संबंध हुआ है। 'सिच्' प्रत्यय वस्तुतः अकित् है अर्थात् गुणवृद्धियोंका निषेध करनेवाला नहीं है। और वह इस प्रकारका होनेसे ही 'मीनातिमिनोति०' (६।१।५०) से 'आ'-कार हुआ है। वह 'आ'-कार 'घु' संज्ञाकी सहायता नहीं करता है अर्थात् अपना स्वरूप नहीं दिखाता है। अतः 'घु' संज्ञा नहीं होती है। कारण 'घु' संज्ञाको 'दा' स्वरूपकी आवश्यकता होती है। घुसंज्ञा उस संबंधका विनाशक है। कारण 'घु' संज्ञा 'स्थाघ्वोरिच' (१।२।१७) सूत्रके आधारसे 'सिच्' प्रत्ययके फल अकित्वको नष्ट करेगी। और 'स्थाघ्वोरिच्च' से ह्रस्व होनेपर 'ह्रस्वादङ्गात्' (८।२।२७) से 'सिच्' प्रत्यय ही वास्तवमें नष्ट होनेवाला है। इसलिए घुसंज्ञाको 'आत्त्व' नहीं होता और उससे घुसंज्ञा नहीं होती।

१७. 'मुख स्वच्छ है' यह इसका अर्थ है। 'दैप्' धातुका अर्थ है 'स्वच्छ करना'।

कृते भविष्यति। तदाच्त्वं न प्राप्नोति। किं कारणम्। अनेजन्तत्वात्॥

सिद्धमनुबन्धस्यानेकान्तत्वात्॥ ८॥

सिद्धमेतत्। कथम्। अनुबन्धस्यानेकान्तत्वात्। अनेकान्ता अनुबन्धाः॥

पित्प्रतिषेधाद्वा॥ ९॥

अथवा दाधा घ्वपिदिति वक्ष्यामि। तच्चावश्यं वक्तव्यम्। अदाबिति ह्युच्यमान इहापि प्रसज्येत। प्रणिदापयतीति। शक्यं तावदनेनादाबिति ब्रुवता बान्तस्य प्रतिषेधो विज्ञातुम्। सूत्रं तर्हि भिद्यते। यथान्यासमेवास्तु। ननु चोक्तं

(होगा सही,) पर वह आत्त्व ही नहीं किया जा सकता है न?

क्या कारण है?

('दैप्' धातु पकारान्त है,) एजन्त नहीं। (अतः आत्वकी प्राप्ति नहीं होती[18])।

(वा. ८) (इष्ट कार्य) सिद्ध (होता है)। क्योंकि इत्संज्ञक वर्ण अवयव नहीं होते हैं।

यह सिद्ध होता है। (अर्थात् यहाँ 'दैप्' इस ऐकारको आत्त्व किया जाता है।)

सो कैसे?

इत्संज्ञक ('प'कार, धातुका) अवयव नहीं इसलिए। "अनेकान्ता अनुबन्धाः" (प. शे. ४) अर्थात् इत्संज्ञक (जो वर्ण आदि हैं वे धातु प्रत्यय आदिके) अवयव नहीं समझे जाते हैं।

(वा. ९) अथवा पित् के प्रतिषेधसे।

अथवा 'दाधा घ्वपित्' यह सूत्र करता हूँ। (अर्थात् पाणिनिने जो 'अदाप्' कहा है उसके स्थानमें 'अपित्' कहता हूँ।) और यह कहना आवश्यक ही है। कारण कि 'अदाप्' रूप ही कायम रखा गया तो 'प्रणिदापयति' रूपमें भी (घुसंज्ञाका निषेध) होने लगेगा। अब 'अदाप्' कहनेवाले (सूत्रकार) ने ('दाब्' इस) बकारान्तको ही (वह घुसंज्ञाका) निषेध किया है ऐसा कहना संभव है। (और वैसा लिया गया तो 'प्रणिदापयति' रूपमें आया हुआ दोष दूर हो जायगा। पर 'दैप्' धातुको घुसंज्ञाका निषेध होनेके लिए 'अपित्' कहना ही चाहिये ऐसा दिखायी देता है।)

---

१८. 'आदेच उपदेशेऽशिति' (६।१।४५) सूत्रसे एजन्त धातुको आत्त्व कहा है।

१९. क्योंकि यहाँ 'पुक्' आगम (७।३।३६) होनेके कारण 'दाप्' हुआ है। अपित् कहनेसे यह दोष नहीं आता है। क्योंकि 'पुक्' आगमका पकार इत्संज्ञक नहीं है।

२०. 'अदाप्' यह पकार 'वावसाने' (८।४।५६) से हुआ है। वास्तवमें यहाँ बकारका ही उच्चारण हुआ है। तब 'दाप्' इस पकारका निषेध ही नहीं कहा है। 'दाप्', 'दैप्' परन्तु 'दाब्', 'दैब्' बकारान्त ही हैं ऐसा समझा जाय।

दाप्प्रतिषेधे न दैपीति । परिहृतमेतत्सिद्धमनुबन्धस्यानेकान्तत्वादिति । अथैकान्तेषु दोष एव । एकान्तेषु च न दोषः । आत्त्वे कृते भविष्यति । ननु चोक्तं तद्व्यात्त्वं प्राप्नोति । किं कारणम् । अनेजन्तत्वादिति । पकारलोपे कृते भविष्यति । न ह्ययं तदा दाप्भवति । भूतपूर्वगत्या भविष्यति । एतच्चात्र युक्तं यत्सर्वेष्वेव सानुबन्धकग्रहणेषु भूतपूर्वगतिर्विज्ञायते । अनैमित्तिको ह्यनुबन्धलोपस्तावत्येव

(वैसा कहनेसे दोष दूर हो जायगा सही,) पर सूत्रमें परिवर्तन पड़ता है न ? तो फिर सूत्र जैसा है वैसा ही रखा जाय।

पर '(मूलभूत अदाप् कायम रखा गया तो) दाप् धातुको कहा हुआ (घुसंज्ञाका) निषेध दैप् धातुको होता नहीं ' ऐसा अभी तो पूछा गया है न ?

(पूछा गया है। और) उसका उत्तर भी दिया गया है कि 'इत्संज्ञक अवयव न होनेसे (पकार रहनेपर ही इष्ट रूप) सिद्ध होता है' (अर्थात् आत्त्व किया जाता है)।

अब इत्संज्ञक (धातु आदिके) अवयव समझे गये[21] तो भी यहाँ दोष आयेगा (ऐसा दीख पड़ता है)।

अवयव समझे जायँ तो भी यहाँ दोष नहीं आता है। क्योंकि ('दैप्' धातुको) आत्त्व किया जानेपर (घुसंज्ञाका निषेध) होगा।

पर 'दैप्' धातु एजन्त न होनेसे आत्त्व नहीं किया जाता है ऐसा अभी कहा है न ?

'प' कारका लोप होनेपर आत्त्व किया जाता है।

(तब आत्त्व होगा सही,) पर (आत्त्व हुआ तो भी) 'दाप्' स्वरूप तब न दीख पड़ेगा।

(यद्यपि 'दाप्' स्वरूप न दीख पड़ा तो भी वहाँ) भूतपूर्व (प्रकार) का स्मरण करके (वहाँ 'दाप्'–स्वरूप कल्पनासे) ज्ञात होगा। और यह (कल्पना) करना यहाँ योग्य है। क्योंकि सर्वत्र (सूत्रोंमें) इत्संज्ञकसे युक्त स्वरूपका ग्रहण किया जानेपर (उसके उदाहरणमें) 'भूतपूर्व इत्संज्ञकका स्मरण करना' यह कल्पना की जाय। क्योंकि इत्संज्ञकका लोप (१।३।९) किसी कारण पर न कहा जानेसे (धातु आदिका) उच्चारण किया जाते ही (अर्थात् अन्य कार्योंके पहले ही) होगा।

---

२१. 'एकान्ता अनुबन्धाः' अर्थात् जो इत्संज्ञक हैं वे अवयव हैं इस स्वरूपकी परिभाषा है। यही सिद्धान्तपक्ष है।

२२. तब 'दाप्' धातुको भी, मूल पकारका स्मरण करके ही, घुसंज्ञाका निषेध 'अदाप्' करना पड़ेगा।

भवति ॥ अथवाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वमिति यदयमुदीचां माङो व्यतीहारे [३. ४. १९] इति मेङः सानुबन्धकस्यात्त्वभूतस्य ग्रहणं करोति ॥ अथवा दाबेवाय न दैबस्ति ॥ कथमवदायतीति । श्यन्विकरणो भविष्यति ॥

आद्यन्तवदेकस्मिन् ॥ १ । १ । २१ ॥

किमर्थमिदमुच्यते ।

सत्यन्यस्मिन्नान्तवद्भावादेकस्मिन्नाद्यन्तवद्वचनम् ॥ १ ॥

सत्यन्यस्मिन्यस्मात्पूर्वं नास्ति परमस्ति स आदिरित्युच्यते । सत्यन्यस्मिन्यस्मात्परं नास्ति पूर्वमस्ति सो ऽन्त इत्युच्यते । सत्यन्यस्मिन्नाद्यन्तवद्भावा-

---

अथवा ये आचार्य (पाणिनि) मेङ्' धातुके एकारको ङकार इत्संज्ञक कायम होनेपर ही आत्त्व करके उसका "उदीचां माङो व्यतीहारे" (३।४।१९) सूत्रसे ('माङ्' यह) आत्वसहित जो उच्चारण करते हैं उससे वे यह ज्ञापित करते हैं कि "इत्संज्ञकके कारण धातु एजन्त नहीं ऐसा न समझा जाय"—प. शे. ७। (तब उस ज्ञापनसे 'दैप्' धातुके ऐकारको पकार होनेपर ही आत्त्व किया जाता है।)

अथवा ('दैप्' धातु मूल धातुपाठमें) 'दैप्' रूपमें न रखकर 'दाप्' ऐसा ही रखा जाय।

(पर वैसा रखा गया तो उसका) 'अवदायति' यह (क्रियापद) कैसे होगा ?

('दाप्' रूपमें ही रखा जाय ऐसा जो कहा गया वह 'दाप्' प्रथम गणमें 'दैप्' के स्थानमें न रखकर चतुर्थ गणमें रखा जाय। इससे 'दिवादिभ्यः श्यन्' (३।१।६९) सूत्रसे 'श्यन्' प्रत्यय विकरण होगा (और 'अवदायति' क्रियापद सिद्ध होगा)।

(सू. २१) आदिको अथवा अन्तको कहा हुआ कार्य एक ही (वर्ण अथवा वर्णसमूह) हो तो (भी वह) उसको (किया जाय)।

यह (सूत्र) किस लिए किया है ?

(वा. १) अन्य (वर्ण) होनेपर *आदि अथवा अन्त समझा जानेसे* एक ही वर्ण होने पर (कार्य होनेके लिए) यह 'आद्यन्तवद्' सूत्र करना चाहिये।

अन्य (वर्ण अथवा वर्णसमूह) समीप होनेपर अर्थात् जिस वर्णके आगे कुछ वर्ण हैं और पहले एक भी वर्ण नहीं (उस वर्णको अथवा वर्णसमूह को) 'आदि' कहते हैं। तथा अन्य (वर्ण अथवा वर्णसमूह) समीप होनेपर अर्थात् जिस वर्णके पहले कुछ वर्ण हैं पर आगे एक भी वर्ण नहीं उस वर्णको 'अन्त' कहते हैं। इस प्रकार

देतस्मात्कारणादेकस्मिन्नाद्यन्तापदिष्टानि कार्याणि न सिध्यन्ति। इष्यन्ते च स्युरिति। तान्यन्तरेण यत्नं न सिध्यन्तीत्येकस्मिन्नाद्यन्तवद्वचनम्। एवमर्थमिदमुच्यते॥ अस्ति प्रयोजनमेतत्। किं तर्हीति।

तत्र व्यपदेशिवद्वचनम् ॥ २ ॥

तत्र व्यपदेशिवद्भावो वक्तव्यः। व्यपदेशिवदेकस्मिन्कार्यं भवतीति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्।

एकाचो द्वे प्रथमार्थम् ॥ ३ ॥

वक्ष्यत्येकाचो द्वे प्रथमस्येति बहुव्रीहिनिर्देश इति। तस्मिन्क्रियमाण इहैव स्यात् पपाच पपाठ। इयाय आरेत्यत्र न स्यात्। व्यपदेशिवदेकस्मिन्कार्यं

'आदि' और 'अन्त' शब्द (वर्ण और वर्णसमूह) समीप होनेपर उपयोगमें आते हैं इसलिए *आदि अथवा अन्त शब्दका उच्चारण करके कहे हुए कार्य एक ही वर्ण* (अथवा वर्णसमूह) हो तो वहाँ न होंगे। और वे तो होने चाहिये। तब उसके लिए कुछ यत्न किये बिना वे सिद्ध नहीं होंगे इसलिए यह सूत्र किया है। अर्थात् (एक ही होनेपर भी वह) आदि-जैसा अथवा अन्त-जैसा समझा जाय।

यह उपयोग है सही।

तो फिर तुम्हारा क्या कहना है?

(वा. २) वहाँ व्यपदेशिवद्भाव कहा जाय।

(सूत्रकारोंने जो 'आद्यन्तवद्भाव' कहा है) वहाँ 'व्यपदेशिवद्भाव' कहा जाय। अर्थात् केवल आदि-(को होनेवाले) जैसे और अन्त-(को होनेवाले) जैसे कार्य ही एक होनेपर भी किये जायँ ऐसा विशेष रीतिसे न कहकर सामान्यतया कहा जाय। वह यों कि "*मुख्यार्थ रहनेपर होनेवाले जो जो कार्य एक होनेके कारण न हों* वे सभी कार्य एक होनेपर भी किये जायँ।" (प. शे. ३०)

यह करनेका उपयोग क्या है?

(वा. ३) "एकाचो द्वे प्रथमस्य" (सूत्रसे द्वित्व) होनेके लिए।

'एकाचो द्वे प्रथमस्येति बहुव्रीहिनिर्देशः' ऐसा आगे (६।१।१) वार्तिककार कहनेवाले हैं। तब यहाँ 'एकाच्' यह बहुव्रीहि समास लिया गया तो 'पपाच', 'पपाठ' में ही द्वित्व होगा, 'इयाय', 'आर' में न होगा। 'एक हो तो भी मुख्यके

भवतीत्यत्रापि सिद्धं भवति ॥

षत्वे चादेशसंप्रत्ययार्थम् ॥ ४ ॥

वक्ष्यत्यादेशप्रत्यययोरित्यवयवषष्ठ्येवेति । एतस्मिन्क्रियमाण इहैव स्यात् करिष्यति । इह न स्यात् । इन्द्रो मा वक्षत् । स देवान्यक्षत् । व्यपदेशिवदेकस्मिन्कार्यं भवतीत्यत्रापि सिद्धं भवति ॥ स तर्हि व्यपदेशिवद्भावो वक्तव्यः । न वक्तव्यः ।

अवचनाल्लोकविज्ञानात्सिद्धम् ॥ ५ ॥

अन्तरेणैव वचनं लोकविज्ञानात्सिद्धमेतत् । तद्यथा । लोके शालासमुदायो ग्राम इत्युच्यते । भवति चैतदेकस्मिन्नप्येकशालो ग्राम इति । विषम उपन्यासः ।

अनुसार कार्य किया जाय' ऐसा कहा जानेपर 'इयाय', 'आर' में (इ और ऋ ये अकेले वर्ण हों तो भी वे पच् आदि जैसे एकाच् हैं ऐसा समझकर द्वित्व) सिद्ध होता है।

(वा. ४) षत्वके विषयमें (केवल सकाररूप प्रत्ययको षत्वरूप) सिद्ध होनेके लिए ("आद्यन्तवत्०" वचनकी आवश्यकता है।)

"आदेशप्रत्यययोः" (८।३।५९) यह अवयवषष्ठी ही है ऐसा (वार्तिककार) आगे कहनेवाले हैं। वह अवयवार्थी षष्ठी ली जानेपर 'करिष्यति', 'हरिष्यति' रूपोंमें ही षत्व होगा और 'इन्द्रो मा वक्षत्' (ऋ. १।१२५।४) 'स देवान्यक्षत्' (ऋ. ३।४।२) में न होगा[२] "एक हो तो भी मुख्यके अनुसार कार्य किया जाय" (प. शे. ३०) ऐसा कहनेपर यहाँ भी षत्व सिद्ध होता है।

तो फिर (प्रकृतसूत्रमें 'आद्यन्तवत्' ऐसा न कहकर उसके स्थानमें) 'व्यपदेशिवत्' कहना चाहिये (ऐसा दिखायी देता है)।

वह न कहा जाय।

(वा. ५) वह न कहनेपर ही लोकव्यवहारसे यह सिद्ध होता है।

वह न कहनेपर ही लोकव्यवहारसे यह सिद्ध होता है। उदा०, लोगोंमें हम देखते हैं कि अनेक घरोंके समुदायको ग्राम (अर्थात् गांव) कहते हैं; परन्तु एक ही घर हो तो भी वहा 'एकशालो ग्रामः[३]' (अर्थात् एक घरका गांव) ऐसा कहा

---

२. 'करिष्यति' में 'स्य' प्रत्ययका अवयव सकार है इसलिए षत्व होगा। 'वक्षत्' 'यक्षत्' में 'वच्', 'यज्' धातुओंको लेट् प्रत्यय लगाकर उसको तिप्, उस तिप्को अडागम (३।४।९४), बीचमें सिप् विकरण-प्रत्यय (३।१।३४) हुआ है। वहाँ 'स्' स्वयं ही प्रत्यय होनेके कारण उसको प्रत्ययका अवयव नहीं कहा जा सकता है। अतः षत्व न होगा।

३. 'एकशाल' पद का अर्थ है 'एक है शाला अर्थात् घर जिसमें इस प्रकारका गांव'. परन्तु यहाँ गांव कौनसा और उसमें घर कौनसा वह अलग नहीं दिखाया जा सकता है। तथापि उस एक घरको ही 'एकशालो ग्रामः' यह गौणतासे कहनेकी परिपाटी है। उसी प्रकार 'इ' इस एक वर्णको ही 'एकाच्' कहा जा सकता है।

ग्रामशब्दो ऽयं बह्वर्थः। अस्त्येव शालासमुदाये वर्तते। तद्यथा। ग्रामो दग्ध इति। अस्ति वाटपरिक्षेपे वर्तते। तद्यथा। ग्रामं प्रविष्ट इति। अस्ति मनुष्येषु वर्तते। तद्यथा। ग्रामो गतो ग्राम आगत इति। अस्ति सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते। तद्यथा। ग्रामो लब्ध इति। तद्यः सारण्यके ससीमके सस्थण्डिलके वर्तते तमभिसमीक्ष्यैतत्प्रयुज्यत एकशालो ग्राम इति॥ यथा तर्हि वर्णसमुदायः पदं पदसमुदाय ऋगृक्समुदायः सूक्तमित्युच्यते। भवति चैतदेकस्मिन्नप्येकवर्णं

जाता है।

पर यह दृष्टान्त उचित नहीं। क्योंकि 'ग्राम' शब्द अनेक अर्थोंसे युक्त है। उदा० 'अनेक घर' अर्थमें 'ग्राम' शब्द दीख पड़ता है; जैसे, 'ग्रामो दग्धः' (गांव जल गया)। 'वाटपरिक्षेप' (अर्थात् गांवका तट, प्राकार) भी 'ग्राम' शब्दका अर्थ है; जैसे, 'ग्रामं प्रविष्टः[४]' (गांवमें प्रविष्ट हुआ)। 'गांवके लोग' भी 'ग्राम', शब्दका अर्थ है; जैसे, 'ग्रामो गतः', 'ग्राम आगतः'। (गांवसे बाहर निकला, गांव वापस आया।) तथा गांवके पासका अरण्य, सीमापरकी नदी अथवा और चारों ओर मेढ़से युक्त खेत आदि, इस प्रकारके सब प्रदेशको मिलाकर 'ग्राम' शब्द नियुक्त किया हुआ दिखायी देता है; जैसे, 'ग्रामो लब्धः' (गांव प्राप्त हुआ)। अतः अरण्यसहित, सीमासहित और स्थण्डिलसहित प्रदेश इस अन्तिम अर्थका जो 'ग्राम' शब्द है वह ध्यानमें रखकर 'एकशालो ग्रामः' यह प्रयोग उचित ही होता[५] है।

तो फिर हम दूसरा दृष्टान्त देते हैं। वह यों है कि वर्णोंके समुदायको पद कहते हैं, पदोंके समुदायको ऋक् कहते हैं, और ऋक्-समुदायको सूक्त कहते हैं। तथापि 'एकवर्णं पदम्', 'एकपदा ऋक्', 'एकर्चं सूक्तम्' ऐसा भी पढ़ा जाता है। (अर्थात् एक ही वर्णका भी पद होता है, एक ही पदकी भी ऋक् होती है और एकही ऋकका भी सूक्त होता है।)

(यह भी दृष्टान्त ठीक नहीं।) क्योंकि इतर पदार्थोंमें (पदका) 'अर्थ' लिया जानेसे ('एकवर्णं पदम्' आदि) विधान उचित होते हैं। पद अर्थात् केवल

---

४. यद्यपि किसी घरमें नहीं प्रविष्ट हुआ तो भी वाटपरिक्षेप (गांवका प्राकार या तट) को पार करनेपर 'ग्रामं प्रविष्ट' ऐसा कहते हैं।

५. यद्यपि एक ही घर का गांव है तो भी उस घरसे अलग जो ऐसूर्ण प्रदेश है वह उस गांवके रूपमें ध्यान लिया जा सकता है। अत 'एकशाल' बहुव्रीहिका अर्थ अच्छी तरह मेल

पदमेकपदर्गेकर्चं सूक्तमिति। अत्राप्यर्थेन युक्तो व्यपदेशः। पद नामार्थं ऋङ् नामार्थः सूक्त नामार्थः ॥ यथा तर्हि बहुषु पुत्रेष्वेतदुपपन्न भवत्यय मे ज्येष्ठो ऽयं मे मध्यमो ऽय मे कनीयानिति। भवति चैतदेकस्मिन्नप्ययमेव मे ज्येष्ठो ऽयमेव मे मध्यमो ऽयमेव मे कनीयानिति। तथाऽसूतायामसोष्यमाणाया च भवति प्रथमगर्भेण हतेति। तथा नेत्यानाजिगमिषुराहेद मे प्रथममागमनमिति ॥

आयन्तवद्भावश्च शक्यो ऽवक्तुम्। कथम्।

अपूर्वानुत्तरलक्षणत्वादाद्यन्तयोः सिद्धमेकस्मिन् ॥ ६ ॥

पद नहीं, तो अर्थके साथ, ऋक् भी अर्थ के साथ, और सूक्त भी अर्थके साथ ही। (तात्पर्य यह है कि पद, ऋक् और सूक्त ये जितने शब्दोंके भागको कहते हैं उतना शब्दोंका भाग ही केवल पद आदि नहीं, तो अर्थसहित उस भागको पद आदि कहते हैं।)

तो फिर (हम और एक दृष्टान्त देते हे।) जैसे, किसीके बहुत पुत्र हों तो वहाँ यह मेरा ज्येष्ठ पुत्र है, यह मेरा मध्यम पुत्र है, यह मेरा कनिष्ठ पुत्र है यह कहना उचित है। परन्तु एक ही पुत्र हो तो भी यही मेरा ज्येष्ठ पुत्र है, यही मेरा मध्यम पुत्र है, यही मेरा कनिष्ठ पुत्र है ऐसा कहा जाता है। तथा (दूसरा दृष्टान्त यों है कि पहली बार ही गर्भिणी प्रसूतिके पूर्व मृत स्त्री अर्थात्) जो (उसके) पहले कभी प्रसूत नहीं हुई और आगे भी होनेवाली नहीं, उसके बारेमें 'पहले गर्भसे मृत' ऐसा कहा जाता है। और भी (एक दृष्टान्त यों है कि कोई व्यक्ति दूर देशमें जानेके पहले ही अर्थात्) वह वहाँ पहले कभी नहीं गया था और आगे भी न जानेवाला है ऐसी अवस्थामें 'यह मेरा पहला ही आगमन है' (यह उद्गार उसके मुँहसे निकलता है)। (उसी प्रकार 'इयाय', 'आर' इत्यादि उदाहरणोंमें 'इ', 'ऋ' इस एक ही वर्णको 'एकाच्' कहा जा सकता है। अत 'व्यपदेशिवत्' यह यहाँ कहनेकी आवश्यकता नहीं।)

तथा सूत्रकारोंने यह जो 'आयन्तवत्' पद कहा है वह भी कहनेकी आवश्यकता नहीं।

सो कैसे?

(वा. ६) जिसके पहले कोई नहीं उसको 'आदि' कहा जाय, और जिसके आगे कोई नहीं उसको 'अन्त' कहा जाय। इस प्रकार 'आदि' अथवा 'अन्त' शब्द एक ही वर्णको लगाया जा सकता है।

---

७ पहले दृष्टान्तमें एक ही पुत्रको 'ज्येष्ठ', 'मध्यम', 'कनिष्ठ' शब्द गौणत्वसे लगाये जाते हैं, तथा दूसरे और तीसरे दृष्टान्तमें गर्भको और आगमनको 'पहला' शब्द गौणत्वसे लगाया है, उसी तरह।

८ उसके आगे कोई होना ही चाहिये यह आग्रह नहीं।

९ उससे पीछे कोई होना ही चाहिये यह आग्रह नहीं।

अपूर्वलक्षण आदिरनुत्तरलक्षणो ऽन्तः। एतच्चैकस्मिन्नपि भवति। अपूर्वानुत्तरलक्षणत्वादेतस्मात्कारणादेकस्मिन्नप्याद्यन्तापदिष्टानि कार्याणि भविष्यन्ति नार्थ आद्यन्तवद्भावेन॥ गोनर्दीयस्त्वाह। सत्यमेतत्सति त्वन्यस्मिन्निति॥

कानि पुनरस्य योगस्य प्रयोजनानि।

आदिवत्त्वे प्रयोजनं प्रत्ययञ्नित्यादायुदात्तत्वे॥ ७॥

प्रत्ययस्यादिरुदात्तो भवतीतीहैव स्यात् कर्तव्यम् तैत्तिरीयः। औपगवः कापटव इत्यत्र न स्यात्॥ ञ्नित्यादिर्नित्यम् [६ १ १९७] इतीहैव स्यात् अहिचुम्बकायनिः आग्निवेश्यः। गार्ग्यः कृतिरित्यत्र न स्यात्॥

(किसी वर्णके आगे कोई हो वा न हो,) केवल उसके पूर्व कोई नहीं इसीसे उसको 'आदि' कहा जाता है, तथा (किसी वर्णके पूर्व कोई हो वा न हो,) आगे कोई नहीं इसीसे उसको 'अन्त' कहा जाता है। यह (आदित्व अथवा अन्तत्व) एकको भी हो सकता है। अतः एक ही वर्ण हो तो भी आदिको और अन्तको कहे हुए कार्य सहजमें होंगे। तब प्रकृत सूत्र 'आद्यन्तवत्' का कोई उपयोग नहीं।

परन्तु यहाँ गोनर्दीयका यह कहना है कि जिसके पूर्व कोई नहीं उसके आगे कोई हो तभी उसको 'आदि' कहा जाय, तथा जिसके आगे कोई नहीं उसके पूर्व कोई हो तभी उसको 'अन्त' कहा जाय। ये ही ('आदि' और 'अन्त' शब्दोंके) सही अर्थ है। (अतः सूत्रकारोंने जो 'आद्यन्तवत्' सूत्र किया है वही युक्त है।)

ठीक, पर इस सूत्रके उदाहरण क्या है?

(वा. ७) आदि होनेका प्रयोजन यह है कि प्रत्ययको होनेवाला तथा ञित् अथवा नित्को होनेवाला स्वर आद्युदात्त होता है।

प्रत्ययका आदि उदात्त होता है (३।१।३)। वह (उदात्त) 'कर्तव्यम्', 'तैत्तिरीयः' इत्यादि रूपोंमें ही होगा, 'औपगव', 'कापटव' इत्यादि रूपोंमें न होगा[10]। तथा "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" (६।१।१९७) सूत्रसे कहा हुआ आद्युदात्त 'अहिचुम्बकायनि.[11]' आदि रूपोंमें ही होगा, 'आग्निवेश्य[12]'; 'गार्ग्यः', 'कृति.' इत्यादि रूपोंमें न होगा।

---

१० 'कर्तव्य' रूपमें 'तव्य' प्रत्ययमें दो 'अच्' होनेके कारण उसका आदि अर्थात् पहला जो तकारके आगेका अकार है उसको उदात्त किया जा सकता है। परन्तु 'औपगव' में 'अ' ही प्रत्यय होनेके कारण उस 'अ'-कारको प्रत्ययका आदि नहीं कहा जा सकता है। अतः उसको उदात्त न होगा। यह इस प्रकृतसूत्रसे किया जाता है। अनेक वर्ण यद्यपि न होगा तो भी एक ही वर्णको 'आप हा अथवा आदि' कहा जा सकता है।

११ 'अहिचुम्बक' शब्दके आगे 'प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलम्' (४।१।१६०) सूत्रसे 'फिन्' प्रत्यय हुआ है। फकारको 'आयन्' आदेश (७।१।२) होकर 'आयनि' प्रत्यय होता है, इससे उसके पहले 'आ'कारको 'आदि' अनायास कहा जा सकता है।

१२. 'आग्निवेश्य', 'गार्ग्य' में 'यञ्' प्रत्यय (४।१।१०५) है और 'कृति' में 'क्तिन्' प्रत्यय (३।३।९४) है। उनमें एक ही 'अच्' होनेके कारण उससे 'आदि' नहीं

वलादेरार्धधातुकस्येट् ॥ ८ ॥

वलादेरार्धधातुकस्येट् प्रयोजनम्। आर्धधातुकस्येड्वलादेः [७ २. ३५] इहैव स्यात् करिष्यति हरिष्यति। जोषिषत् मन्दिषदित्यत्र न स्यात् ॥

यस्मिन्विधिस्तदादित्वे ॥ ९ ॥

यस्मिन्विधिस्तदादित्वे प्रयोजनम्। वक्ष्यति यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहण इति। तस्मिन्क्रियमाणेऽचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ [६. ४. ७७.] इहैव स्यात् श्रियः भ्रुवः। श्रियौ भ्रुवौ इत्यत्र न स्यात् ॥

अजाद्याद्त्वे ॥ १० ॥

अजाद्याड्त्वे प्रयोजनम्। आडजादीनाम् [६. ४. ७२.] इहैव

(वा. ८) 'वलादि' आर्धधातुकको होनेवाला 'इट्' (आगम भी प्रयोजन है)।

अथवा 'वलादि' (जिसका आदि 'वल्' व्यञ्जन है उस) आर्धधातुकको होनेवाला 'इट्' आगम भी प्रयोजन है। 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' (७।२।३५) कहा हुआ 'इट्' आगम 'करिष्यति', 'हरिष्यति' इत्यादि रूपोंमें ही होगा; 'जोषिषत्,[13]' 'मन्दिषत्' इत्यादि रूपोंमें न होगा।

(वा. ९) 'यस्मिन् विधिः ०" (वार्तिकसे कहा हुआ) 'तदादि-विधि' (भी प्रयोजन है)।

'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' (१।१।७२ वा. २९) यह आगे वार्तिककार कहनेवाले है। अतः उस वार्तिकसे 'तदादिविधि' किया गया तो 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' (६।४।७७) सूत्रसे कहा हुआ 'इयङ्' अथवा 'उवङ्' आदेश 'श्रियः[14]', 'भ्रुवः' इत्यादि रूपोंमें ही होगा; 'श्रियौ,' 'भ्रुवौ' इत्यादि रूपोंमें न होगा।

(वा. १०) स्वरादि धातुको होनेवाला 'आट्' आदेश (भी प्रयोजन है)।

"आडजादीनाम्" (६।४।७२) सूत्रसे स्वरादि धातुको होनेवाला 'आट्'

कहा जा सकता है। अतः प्रकृतसूत्रकी वहाँ आवश्यकता है।

१३. 'जोषिषत्' में 'सिब् बहुलं० (३।१।३४) सूत्रसे बीचमें विकरण सिप् प्रत्यय हुआ है। उसमेंसे सकार मात्र शेष रहा है।

१४ 'श्रियः' में 'अस्' दो वर्णोका प्रत्यय होनेके कारण उसको 'अजादि' अनायास कहा जा सकता है। 'श्रियौ' में 'औ' एक ही वर्णका प्रत्यय होनेसे उसको 'अजादि' नहीं कहा जाता है। अतः वहाँ प्रकृत सूत्र लिये विना अन्य उपाय नहीं।

ऐहिट ऐक्षिट। ऐत् अध्यैटेत्यत्र न स्यात् ॥

अथान्तवत्त्वे कानि प्रयोजनानि।

अन्तवद्द्विवचनान्तप्रगृह्यत्वे ॥ ११ ॥

अन्तवद्द्विवचनान्तप्रगृह्यत्वे प्रयोजनम्। ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् [१ १.११] इहैव स्यात् पचेते इति पचेथे इति। खट्वे इति माले इतीत्यत्र न स्यात् ॥

मिदचो ऽन्त्यात्परः ॥ १२ ॥

मिदचो ऽन्त्यात्परः [१. १. ४७] प्रयोजनम्। इहैव स्यात् कुण्डानि वनानि। तानि यानीत्यत्र न स्यात् ॥

अचो ऽन्त्यादि टि ॥ १३ ॥

अचो ऽन्त्यादि टि [१. १. ६४] प्रयोजनम्। टित आत्मनेपदानां टेरे

आदेश भी प्रयोजन है। 'आडजादीनाम्' सूत्रसे कहा हुआ 'आट्' आगम 'ऐहिष्ट', 'ऐक्षिष्ट' इत्यादि रूपोंमें ही होगा; 'ऐत्[15]', 'अध्यैष्ट' इत्यादि रूपोंमें न होगा।

अब इस सूत्रमें जो 'अन्तवत्' पद कहा है उसके उदाहरण कौनसे हैं?

(वा. ११) द्विवचनान्त शब्दको (होनेवाली) प्रगृह्यसंज्ञा 'अन्तवद्भाव' का प्रयोजन है।

'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' (१।१।११) सूत्रसे द्विवचनान्त शब्दको होनेवाली प्रगृह्यसंज्ञा 'अन्तवद्भाव' का प्रयोजन है। 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' सूत्रसे कही हुई प्रगृह्यसंज्ञा 'पचेते इति', 'पचेथे इति' इत्यादि उदाहरणोंमें ही होगी, 'खट्वे इति', 'माले इति' इत्यादि उदाहरणोंमें न होगी।

(वा. १२) 'मित्' प्रत्यय अन्त्य 'अच्' के आगे कहा है (यह भी प्रयोजन है)।

"मिदचोऽन्त्यात्परः"—१।१।४७ (इस परिभाषासूत्रसे 'मित्' प्रत्यय अन्त्य 'अच्' के आगे कहा है) यह भी प्रयोजन है। (तथा "नपुंसकस्य झलचः"—७।१।७२ सूत्रसे कहा हुआ 'नुम्' आगम) 'कुण्डानि', 'वनानि' इत्यादि रूपोंमें ही होगा; 'तानि', 'यानि' इत्यादि रूपोंमें न होगा।

(वा. १३) "अचोऽन्त्यादि टि" (सूत्रसे 'टि' संज्ञा होनेपर 'टि' भागको होनेवाला 'ए' आदेश प्रयोजन है।)

"अचोऽन्त्यादि टि"—१।१।६४—(सूत्रसे 'टि' संज्ञा होनेपर 'टि' भागको होनेवाला 'ए' आदेश) प्रयोजन है। 'टित आत्मनेपदानां टेरे' (३।४।७९) सूत्रसे कहा हुआ 'टि' भागको होनेवाला 'ए' आदेश 'कुर्वाते' 'कुर्वाथे' इत्यादि

---

१५. यहाँ 'इङ् अध्ययने' यह 'इ' एक वर्णकी धातु है।

[३. ४. ७९] इतीहैव स्यात् कुर्वाते कुर्वाथे । कुरुते कुर्वे इत्यत्र न स्यात् ॥

अलो ऽन्त्यस्य ॥ १४ ॥

अलो ऽन्त्यस्य [१. १. ५२] प्रयोजनम् । अतो दीर्घो यञि [७ ३. १०१] सुपि च [१०२] इहैव स्यात् घटाभ्याम् पटाभ्याम् । आभ्यामित्यत्र न स्यात् ॥

येन विधिस्तदन्तत्वे ॥ १५ ॥

येन विधिस्तदन्तत्वे प्रयोजनम् । अचो यत् [३. १. ९७] इहैव स्यात् चेयम् जेयम् । एयम् अध्येयमित्यत्र न स्यात् ॥

आद्यन्तवदेकस्मिन्कार्यं भवतीत्यत्रापि सिद्धं भवति ॥

रूपोंमेंही होगा; 'कुरुते'[16] 'कुर्वे' इत्यादि रूपोंमें न होगा।

(वा. १४) "अलोन्त्यस्य" (परिभाषासे अकारको होनेवाला दीर्घ भी प्रयोजन है।)

"अलोऽन्त्यस्य"—१।१।५२ (परिभाषा लगाकर 'घट' आदि शब्दोंमें अकारको होनेवाला दीर्घ भी) प्रयोजन है। 'अतो दीर्घो यञि'—७।३।१०१—सूत्रके आगे (जो) 'सुपि च' (७।३।१०२) सूत्र है, (उस सूत्रसे अकारान्त अंगको कहा हुआ दीर्घ) 'घटाभ्याम्', 'पटाभ्याम्' इत्यादि रूपोंमें ही होगा, 'आभ्याम्' रूपमें न होगा।

(वा. १५) "येन विधिः०" सूत्रसे 'तदन्तविधि' होनेपर।

"येन विधिः०" सूत्रसे 'तदन्तविधि' होनेपर ('अचो यत्' सूत्रसे 'इ' धातुको 'यत्' प्रत्यय होना) यह प्रयोजन है। 'अचो यत्'—३।१।९७—(सूत्रसे कहा हुआ 'यत्' प्रत्यय) 'चेयम्', 'जेयम्' इत्यादि रूपोंमें ही होगा; 'एयम्', 'अध्येयम्' इत्यादि रूपोंमें न होगा॥

(प्रकृत सूत्रसे) "एक ही वर्ण हो तो भी उसको आदि-जैसा और अन्त जैसा समझकर उसके बारेमें कार्य किया जाय" ऐसा कहनेसे (पूर्वोक्त सभी उदाहरण) सिद्ध होंगे।

---

१६. 'कुरुते' रूपमें अकारको 'एत्व' हुआ है। 'कुर्वे' में इकारको 'एत्व' हुआ है। उस आकारको तथा इकारको 'अचोऽन्त्यादि टि' (१।१।६४) सूत्रसे 'टि' संज्ञा करनेमें प्रकृतसूत्रकी सहायता लेनी पड़ती है।

१७ 'अतो दीर्घो०' सूत्रके 'अतः' पदकी अनुवृत्ति उत्तरसूत्रमें होकर 'अकारान्त अंग' अर्थ होता है। यह अनुवृत्ति बतानेके लिए ही 'अतो दीर्घो०' सूत्रका यहाँ उल्लेख किया है।

तरप्तमपौ घः ॥ १ । १ । २२ ॥

घसंज्ञायां नदीतरे प्रतिषेधः ॥ १ ॥

घसंज्ञायां नदीतरे प्रतिषेधो वक्तव्यः । नद्यास्तरो नदीतर इति ॥

घसंज्ञानां नदीतरे ऽप्रतिषेधः ॥ २ ॥

अनर्थकः प्रतिषेधो ऽप्रतिषेधः । घसंज्ञा कस्मान्न भवति ।

तरब्ग्रहणं ह्यौपदेशिकम् ॥ ३ ॥

औपदेशिकस्य तरपो ग्रहणं न चैष उपदेशे तरप्शब्दः । किं वक्तव्यमेतत् । न हि । कथमनुच्यमानं गंस्यते । इह हि व्याकरणे सर्वेष्वेव सानुबन्धकग्रहणेषु

(सू. २२) तरप् और तमप् (इन दो प्रत्ययोंको) 'घ' (संज्ञा होती है)।

(वा. १) 'घ'-संज्ञा 'नदीतर' शब्दके 'तर' को नहीं होती।

प्रकृत सूत्रसे कही हुई 'घ' संज्ञा 'नदीतर' शब्दके 'तर' को नहीं होती ऐसा कहा जाय; जैसे, नद्याः तरः नदीतरः।

(वा. २) 'नदीतर' शब्दके ('तर' का) 'घ' संज्ञाके बारेमें अप्रतिषेध है।

अप्रतिषेधका अर्थ है अनर्थक प्रतिषेध।

तो फिर 'नदीतर' शब्दके 'तर'-को 'घ' संज्ञा क्यों नहीं होती?

(वा. ३) क्योंकि कि औपदेशिक तरप् का ग्रहण किया है।

औपदेशिक अर्थात् मूलभूत जो तरप् (प्रत्यय) है उसका इस प्रकृत सूत्रमें ग्रहण किया है, और ('नदीतर' शब्दमें जो 'तर' है) वह शास्त्रमें मूलभूत कहा हुआ तरप् शब्द नहीं।

पर मूलभूत तरप् चाहिये ऐसा यहाँ स्पष्टतया कहना चाहिये क्या?

वह कहनेकी आवश्यकता नहीं।

तो फिर स्पष्टतासे कहे बिना वह कैसे समझा जायगा?

(यों समझा जायगा कि) इस व्याकरणशास्त्रमें सर्वत्र अर्थात् जहाँ इत्संज्ञकके सहित पाणिनिने उच्चारण किया हो वहाँ विशिष्ट स्वरूपका निर्देश किया जाता है

---

१. नदीके संबंधमें तर अर्थात् तैरना या तैरनेका साधन। 'तॄ' धातुको 'ऋदोरप्' (३।३।५७) सूत्रसे 'अप्' प्रत्यय किया गया है। 'तॄ' धातुको गुण (७।३।८४) होकर 'तर' शब्द सिद्ध हुआ है। बादमें 'नदी' शब्दका 'तर' शब्दसे षष्ठीतत्पुरुष हुआ है। 'अप्' प्रत्ययके 'प'-कारका स्मरण करके 'तरप्' को 'तर' समझके इसको प्रकृतसूत्रसे 'घ' संज्ञा होगी। 'घ' संज्ञा हुई तो 'घरूप॰' (६।३।४३) से ह्रस्व होगा।

२. 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' (५।३।५७) सूत्रमें 'तरप्' मूलमें ही उच्चारित है।

रूपमाश्रीयते यत्रास्यैतद्रूपमिति ।[१] रूपनिर्ग्रहश्च शब्दस्य नान्तरेण लौकिक प्रयोगम् । तस्मिंश्च लौकिके प्रयोगे सानुबन्धकानां प्रयोगो नास्तीति कृत्वा द्वितीयः प्रयोग उपास्यते । को ऽसौ । उपदेशो नाम । न चैष उपदेशे तरप्शब्दः॥ अथवास्त्वस्य घसंज्ञा को दोषः । घादिषु नद्या ह्रस्वो भवतीति ह्रस्वत्वं प्रसज्येत । समानाधिकरणेषु घादिष्वित्येवं तत् । यदा तर्हि सैव नदी स एव तरस्तदा प्राप्नोति । स्त्रीलिङ्गेषु घादिष्वित्येवं तत् । अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम् ।[४] समाना-

---

जिससे उद्देश्यका वह निर्दिष्ट स्वरूप जहाँ हो वहीं उसको वह कार्य हो। अब [१] (धातु, प्रत्यय इत्यादिका) जो स्वरूप है वह उनका लौकिक प्रयोग देखे बिना निश्चित नहीं किया जा सकता है। और उस लौकिक प्रयोगमें तो इत्संज्ञकके सहित प्रयोग कहीं भी नहीं दिखायी देता। अतः (वह स्वरूप निश्चित करनेके लिए लौकिक प्रयोगके बिना ही) अन्य किसी प्रयोगका आधार लेना पड़ता है। वह अन्य प्रयोग कौनसा? उपदेश अर्थात् आद्यमुनिकृत उच्चारण। और वह आद्योच्चारण ('नदीतर' शब्दमें) तरप् शब्द स्वरूपमें नहीं दीख पडता।

अथवा ('नदीतर' में) उस ('तर') को 'घ' संज्ञा होने दे। इससे क्या दोष आनेवाला है?

'घ' आदि आगे होनेपर नदीसंज्ञकको ह्रस्व होता है (६।३।४३)। वह ह्रस्व ('नदी' शब्दके ईकारको) होगा (ऐसा दोष आता है)।

(नदीसंज्ञक शब्दके साथ) समानाधिकरण (अर्थात् नदीसंज्ञक शब्द जिस अर्थका निर्दर्शक है उसी अर्थको बतानेवाले) 'घ' आदि आगे हों तभी वह (ह्रस्व) होता है। (अतः 'नदीतर' में दोष न आयेगा।)

तथापि 'नदी' शब्द जिस अर्थका निदर्शक है उसी अर्थको जब 'तर' शब्द बताता है तब तो दोष आयेगा ही न?

(तो भी दोष नहीं आयेगा। क्योंकि) आगे होनेवाले जो 'तर' आदि है वे स्त्रीलिंगी हों तभी वह ह्रस्व होता है। और यह बात अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये। अन्यथा केवल '(नदीसंज्ञक शब्दके साथ) समानाधिकरण घ-आदि आगे होनेपर'

---

३ धातुका आद्योच्चारण धातुपाठमें पाणिनिने किया है। प्रत्ययोंका उच्चारण जिस सूत्रमें वह प्रत्यय कहा हो उसमें देखा जाय। आदेश तथा आगमके बारेमें भी यही समझा जाय।

४. 'तर' अर्थात् तैरनेकी क्रिया अथवा तैरनेका साधन। वह नदीसे अलग है। अतः यहाँ 'नदी' और 'तर' दो शब्द समानाधिकरण अर्थात् एकही अर्थको दिखानेवाले हैं।

५ 'तृ' धातुको 'अप्' प्रत्यय कर्मणि किया तो 'जिसको तैर जाना है वह' अर्थात् 'नदी' यही यहाँ 'तर' का अर्थ होता है। तत्पश्चात् नदी और तर दो शब्दोंका कर्मधारय समास किया जाय।

विकरणेषु यादिष्वित्युच्यमान इह प्रसज्येत । महिषी रूपमिव ब्राह्मणी रूपमिवेति ॥

बहुगणवतुडति संख्या ॥ १ । १ । २३ ॥

संख्यासंज्ञायां संख्याग्रहणम् ॥ १ ॥

संख्यासंज्ञायां संख्याग्रहणं कर्तव्यम् । बहुगणवतुडतयः संख्यासंज्ञा भवन्ति । संख्या च संख्यासंज्ञा भवतीति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् ।

संख्यासंप्रत्ययार्थम् ॥ २ ॥

एकादिकायाः संख्यायाः संख्याप्रदेशेषु संख्येत्येष संप्रत्ययो यथा स्यात् ॥ ननु चैकादिका संख्या लोके संख्येति प्रतीता तेनास्याः संख्याप्रदेशेषु

ऐसा कहा गया तो भी 'महिषी रूपमिव', 'ब्राह्मणी रूपमिव' इत्यादि उदाहरणोंमें (ह्रस्व) होगा (यह दोष आयेगा ही)।

(सू. २३) 'बहु' और 'गण' (इन दो शब्दोंको) तथा 'वतु'-(प्रत्ययान्त) और 'डति'-(प्रत्ययान्त) शब्दोंको 'संख्या' (संज्ञा होती है)।

(वा. १) 'संख्या' संज्ञा (जिनको कही है उनमें) 'संख्या' शब्द अधिक रखा जाय।

यह 'संख्या' संज्ञा (जिनको कही है उनमें) 'संख्या' शब्द अधिक रखा जाय। अर्थात् 'बहु' और 'गण' इन दो शब्दोंमें तथा 'वतु'-प्रत्ययान्त और 'डति'-प्रत्ययान्त शब्दोंको 'संख्या'-संज्ञा होती है, और 'संख्या'-को भी 'संख्या'-संज्ञा होती है ऐसा कहा जाय।

(यह करनेका) क्या प्रयोजन है?

(वा. २) (एक, दो इत्यादि 'संख्या' शब्दोंका) 'संख्या'-(संज्ञा) से बोध होनेके लिए।

'संख्या'-प्रदेशोंमें (अर्थात् 'संख्या'-शब्दोंको जो कार्य कहे हैं उनमें) 'संख्या' शब्दसे एक, दो इत्यादि लौकिक 'संख्या'-शब्दोंका बोध हो इसलिए।

पर एक, दो इत्यादि 'संख्या'-शब्द लोगोंमें संख्यारूपमें ही प्रसिद्ध हैं। अतः

६. 'महिषीरूपम्' समासका यह विग्रहवाक्य दिखाया है। 'रूप' अर्थात् 'आकृति'। 'इव' शब्द 'महिषी' के साथ जोड़ा जाय। तब 'महिषीके समान आकृति' यह इसका अर्थ होता है। इसी अपेक्षा जो 'महिषीरूपम्' सामासिक पद है उसमें 'महिषी' को ह्रस्व होगा यह दोष आता है। यहाँ 'सह सुपा' (२।१।४) सूत्रसे समास हुआ है। समासमें 'महिषी' शब्दका अर्थ है 'महिषीके समान'। 'जो महिषीके समान है वही रूप अर्थात् आकृति।' इस तरह यहीं सामानाधिकरण्य है।

७. जिस सूत्रमें 'संख्या' शब्दका उच्चारण करके कुछ कार्य कहा है उस सूत्रको 'संख्याप्रदेश' कहते हैं।

संख्यासप्रत्ययो भविष्यति । एवमपि कर्तव्यम् ।

इतरथा ह्यसंप्रत्ययोऽकृत्रिमत्वाद्यथा लोके ॥ ३ ॥

अक्रियमाणे हि संख्याग्रहण एकादिकायाः संख्याया संख्येत्येष संप्रत्ययो न स्यात् । किं कारणम् । अकृत्रिमत्वात् । बह्वादीना कृत्रिमा संज्ञा । कृत्रिमाकृत्रिमयो. कृत्रिमे कार्यसंप्रत्ययो भवति यथा लोके । तद्यथा । लोके गोपालकमानय कटजकमानयेति यस्यैषा सज्ञा भवति स आनीयते न यो गाः पालयति यो वा कटे जात । यदि तर्हि कृतिमाकृत्रिमयो. कृत्रिमे संप्रत्ययो भवति नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्य [५ ४ ११०] अत्रापि प्रसज्येत । पौर्णमास्याग्रहायणीग्रहणसामर्थ्यान्न भविष्यति । तद्विशेषेभ्यस्तर्हि प्राप्नोति गङ्गा

'संख्या'– प्रदेशोंमें अपने–आप उनका संख्यारूपमे ग्रहण होगा । (इसकेलिए प्रयत्न क्यों किया जाय ?)

तथापि यहॉ 'संख्या' शब्द अधिक रखना ही चाहिये।

(किसलिए ?)

(वा ३) नहीं तो जैसे लोगोंमें वैसे अकृत्रिम होनेसे बोध नहीं होता है।

यदि इस प्रकृतसूत्रमें 'संख्या' शब्द अधिक न रखा गया तो ('संख्या' प्रदेशोंके 'संख्या) शब्दसे एक, दो इत्यादि लौकिक संख्याका बोध न होगा ।

कारण क्या है ?

एक, दो इत्यादि लौकिकसंख्या अकृत्रिम (अर्थात् पुरानी मूलभूत ही) है इसलिए।'बहु,' 'गण' इत्यादिको (पाणिनिने यह जो) 'संख्या' संज्ञा (की है वह) कृत्रिम (अर्थात् नयी, विशेष हेतुसे की है)। और "**कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्यय**" यह न्याय है । (अर्थात् कृत्रिम और अकृत्रिम इन दोनोंको कोई कार्य करना हो तो वह कार्य कृत्रिमको ही किया जाय, अकृत्रिमको न किया जाय।) लोगोंमें भी यह दिखायी देता है, जैसे, लोगोंमें 'गोपालको लाओ' 'कटजको लाओ' ऐसा कहा गया तो ('गोपाल' अथवा 'कटज') यह संज्ञा जिस बालककी हो वही बालक लाया जाता है। जो वास्तवमें 'गोपाल' अर्थात् गायें पालनेवाला है अथवा 'कटज' अर्थात् कटपर जन्मा है वह (गोपाल अथवा कटज) नहीं (लाया जाता है)।

अब यदि कृत्रिम और अकृत्रिम इन दोनोंमेंसे कृत्रिमको ही कार्य किया जाय इस रूपका न्याय है तो "नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्य" (५।४।११०) सूत्रमें भी वह (न्याय) लागू होगा। (अत वहॉ 'नदी' शब्द न लेके कृत्रिम संज्ञारूप नदीका अर्थात् "यू स्त्र्याख्यौ नदी" —१।४।३—सूत्रसे जिन शब्दोंको 'नदी'– संज्ञा दी गयी है उनका 'नदी' शब्दसे ग्रहण होगा।)

पर वहॉ (पाणिनिने) जो पौर्णमासी और आग्रहायणी ये नदीसंज्ञक शब्द

यमुनेति । एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति । न तद्विशेषेभ्यो भवतीति यदयं विपाट्शब्दं शरत्प्रभृतिषु पठति ॥ इह तर्हि प्राप्नोति नदीभिश्च [२ १ २०] इति । बहुवचननिर्देशान्न भविष्यति । स्वरूपविधिस्तर्हि प्राप्नोति । बहुवचननिर्देशादेव न भविष्यति ॥ एवं न चेदमकृतं भवति कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्यय इति न च कश्चिद्दोषो भवति ॥

उच्चारित है उनके बलसे (उस सूत्रके 'नदी' शब्दसे नदीसंज्ञक शब्दोंका ग्रहण) न होगा।

तत्र (उसी कारणसे वहाँके नदी शब्दसे) गंगा, यमुना इत्यादि नदियोंके विशेषनाम ही लिये जायँ' (ऐसा क्यों न समझा जाय ?)

तो फिर आचार्य (पाणिनि) 'शरदादि' गणमें (५।४।१०७) 'विपाश' एक नदीकी विशिष्ट संज्ञाका पाठ करते है, और उससे वे यह ज्ञापित करते है, कि ("नदीपौर्णमासी०" सूत्रके 'नदी' शब्दसे) नदियोंके विशिष्ट नाम नहीं लिये जाते हैं। (तात्पर्य यह है कि, इस सूत्रमें कृत्रिमाकृत्रिमन्याय लागू नहीं होता है।)

तो फिर (अन्यत्र दोष आता है। वह यों कि) "नदीभिश्च"— २।१।२० (सूत्रमें 'नदी' शब्दके बारेमें वह न्याय लागू होगा।)

पर वहाँ (पाणिनिने 'नदीभिः' इस) बहुवचनका प्रयोग किया है न? उसके बलसे (नदीसंज्ञक शब्द वहाँ 'नदी' शब्दसे) न लिये जायेंगे[3]।

(नदीसंज्ञक शब्द अलग रहने दें।) पर (" नदीपौर्णमासी०"—५।४।११०—सूत्रमें जिस प्रकार 'नदी' यही शब्दस्वरूप लिया है उसी प्रकार) शब्दस्वरूप यहाँ लिया जाय।

बहुवचनके निर्देशसे ही उस शब्दस्वरूपका ग्रहण यहाँ न होगा।

(तात्पर्य यह है कि, "नदीपौर्णमासी०" और "नदीभिश्च" इन दो सूत्रोंमें पूर्वोक्त विशेष कारणसे ही) 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्ययः' न्याय छोड देनेके कारण 'शास्त्रोंमें वह न्याय लिया ही न जाय' यह बात नहीं। यदि किसी स्थानमें लिया गया तो वहाँ दोष आता है यह भी बात नहीं। (अतः प्रकृतसूत्रमें उस न्यायसे आया हुआ दोष दूर करनेकेलिए 'संज्ञा शब्द अधिक रखना चाहिये।')

---

२ 'नदीपौर्ण०' सूत्रके 'नदी' शब्दसे 'गंगा', 'यमुना' इत्यादि विशेष संज्ञाएँ ली गयीं तो 'विपाश्' संज्ञाका भी 'नदी' शब्दसे ग्रहण होगा। और उसी सूत्रसे अव्ययीभावके उदाहरण 'उपविपाशम्' में 'टच्' प्रत्यय सिद्ध होगा। तब वहाँ 'टच्' प्रत्यय होनेके लिए शरदादिगणमें जो 'विपाश्' शब्दका पाठ किया है वह व्यर्थ होगा।

३. जहाँ 'नदी'-संज्ञक शब्दोंकी आवश्यकता है वहाँ 'नदी' शब्द एकवचनमें रखा है, जैसे, 'आपनद्या'। तत्र 'नद्याः' के स्थानमें 'नदीभिः' कहा है, उससे वहाँ 'नदी'-संज्ञक शब्द पाणिनिको नहीं चाहिये ऐसा समझा जाता है।

४. 'एक', 'दो', 'तीन' इत्यादि जो अकृत्रिम अर्थात् स्वाभाविक मूल लौकिक

सख्यासप्रत्ययो भविष्यति । एवमपि कर्तव्यम् ।

इतरथा ह्यसंप्रत्ययो ऽकृत्रिमत्वाद्यथा लोके ॥ ३ ॥

अक्रियमाणे हि सख्याग्रहण एकादिकाया सख्याया सख्येत्येष सप्रत्ययो न स्यात् । कि कारणम् । अकृत्रिमत्वात् । बह्वादीना कृत्रिमा सज्ञा । कृत्रिमाकृत्रिमयो कृत्रिमे कार्यसप्रत्ययो भवति यथा लोके । तद्यथा । लोके गोपालकमानय कटजकमानयेति यस्यैषा सज्ञा भवति स आनीयते न यो गा पालयति यो वा कटे जात । यदि तर्हि कृतिमाकृत्रिमयो कृत्रिमे सप्रत्ययो भवति नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्य [५ ४ ११०] अत्रापि प्रसज्येत । पौर्णमास्याग्रहायणीग्रहणसामर्थ्यान्न भविष्यति । तद्विशेषेभ्यस्तर्हि प्राप्नोति गङ्गा

'सख्या'–प्रदेशोंमें अपने–आप उनका सख्यारूपमे ग्रहण होगा । (इसकेलिए प्रयत्न क्यों किया जाय ?)

तथापि यहॉ 'सख्या' शब्द अधिक रखना ही चाहिये।

(किसलिए ?)

(वा ३) नहीं तो जैसे लोगोंमें वैसे अकृत्रिम होनेसे बोध नहीं होता है।

यदि इस प्रकृतसूत्रमें 'सख्या' शब्द अधिक न रखा गया तो ('सख्या' प्रदेशोंके 'सख्या) शब्दसे एक, दो इत्यादि लौकिक सख्याका बोध न होगा ।

कारण क्या है ?

एक, दो इत्यादि लौकिकसख्या अकृत्रिम (अर्थात् पुरानी मूलभूत ही) है इसलिए।' बहु,' 'गण' इत्यादिको (पाणिनिने यह जो) 'सख्या' सज्ञा (की है वह) कृत्रिम (अर्थात् नयी, विशेष हेतसे की है) । और ' **कृत्रिमाकृत्रिमयो कृत्रिमे कार्यसप्रत्यय** " यह न्याय है । (अर्थात् कृत्रिम और अकृत्रिम इन दोनोंको कोई कार्य करना हो तो वह कार्य कृत्रिमको ही किया जाय, अकृत्रिमको न किया जाय।) लोगोंमें भी यह दिखायी देता है, जसे, लोगोंमें 'गोपालको लाओ' 'कटजको लाओ' ऐसा कहा गया तो ('गोपाल' अथवा 'कटज') यह सज्ञा जिस बालककी हो वही बालक लाया जाता है। जो वास्तवमें 'गोपाल' अर्थात् गायें पालनेवाला है अथवा 'कटज' अर्थात् कटपर जन्मा है वह (गोपाल अथवा कटज) नहीं (लाया जाता है) ।

अब यदि कृत्रिम और अकृत्रिम इन दोनोंमेंसे कृत्रिमको ही कार्य किया जाय इस रूपका न्याय है तो "नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्य" (५।४।११०) सूत्रमें भी वह (न्याय) लागू होगा । (अत वहा 'नदी' शब्द न लेके कृत्रिम सज्ञारूप नदीका अर्थात् "यू स्त्र्याख्यौ नदी" —१।४।३—सूत्रसे जिन शब्दोंको 'नदी'– सज्ञा दी गयी है उनका 'नदी' शब्दसे ग्रहण होगा ।)

पर वहॉ (पाणिनिने) जो पौर्णमासी आर आग्रहायणी ये नदीसज्ञक शब्द

यमुनेति। एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति। न तद्विशेषेभ्यो भवतीति यदयं विपाट्शब्दं शरत्प्रभृतिषु पठति॥ इह तर्हि प्राप्नोति नदीभिश्च [२. १. २०] इति। बहुवचननिर्देशान्न भविष्यति। स्वरूपविधिस्तर्हि प्राप्नोति। बहुवचननिर्देशादेव न भविष्यति॥ एवं न चेदमकृतं भवति कृतिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्यय इति न च कश्चिद्दोषो भवति॥

उच्चारित हैं उनके बलसे (उस सूत्रके 'नदी' शब्दसे नदीसंज्ञक शब्दोंका ग्रहण) न होगा।

तब (उसी कारणसे वहाँके नदी शब्दसे) गंगा, यमुना इत्यादि नदियोंके विशेषनाम ही लिये जायँ' (ऐसा क्यों न समझा जाय?)

तो फिर आचार्य (पाणिनि) 'शरदादि' गणमें (५।४।१०७) 'विपाश्' एक नदीकी विशिष्ट संज्ञाका पाठ करते हैं, और उससे वे यह ज्ञापित करते हैं, कि ("नदीपौर्णमासी०" सूत्रके 'नदी' शब्दसे) नदियोंके विशिष्ट नाम नहीं लिये जाते हैं। (तात्पर्य यह है कि, इस सूत्रमें कृत्रिमाकृत्रिमन्याय लागू नहीं होता है।)

तो फिर (अन्यत्र दोष आता है। वह यों कि) "नदीभिश्च"—२।१।२० (सूत्रमें 'नदी' शब्दके बारेमें वह न्याय लागू होगा।)

पर वहाँ (पाणिनिने 'नदीभिः' इस) बहुवचनका प्रयोग किया है न? उसके बलसे (नदीसंज्ञक शब्द वहाँ 'नदी' शब्दसे) न लिये जायेंगे[3]।

(नदीसंज्ञक शब्द अलग रहने दें।) पर ("नदीपौर्णमासी०"—५।४।११०— सूत्रमें जिस प्रकार 'नदी' यही शब्दस्वरूप लिया है उसी प्रकार) शब्दस्वरूप यहाँ लिया जाय।

बहुवचनके निर्देशसे ही उस शब्दस्वरूपका ग्रहण यहाँ न होगा।

(तात्पर्य यह है कि, "नदीपौर्णमासी०" और "नदीभिश्च" इन दो सूत्रोंमें पूर्वोक्त विशेष कारणसे ही) 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्ययः' न्याय छोड देनेके कारण 'शास्त्रोंमें वह न्याय लिया ही न जाय' यह बात नहीं। यदि किसी स्थानमें लिया गया तो वहाँ दोष आता है यह भी बात नहीं। (अतः प्रकृतसूत्रमें उस न्यायसे आया हुआ दोष दूर करनेकेलिए 'संख्या शब्द अधिक रखना चाहिये।)

---

२. 'नदीपौर्ण०' सूत्रके 'नदी' शब्दसे 'गंगा', 'यमुना' इत्यादि विशेष संज्ञाएँ ली गयीं तो 'विपाश्' संज्ञाका भी 'नदी' शब्दसे ग्रहण होगा। और उसी सूत्रसे अव्ययीभावके उदाहरण 'उपविपाशम्' में 'टच्' प्रत्यय सिद्ध होगा। तब वहाँ 'टच्' प्रत्यय होनेके लिए शरदादिगणमें जो 'विपाश्' शब्दका पाठ किया है वह व्यर्थ होगा।

३. जहाँ 'नदी'-संज्ञक शब्दोंकी आवश्यकता है वहाँ 'नदी' शब्द एकवचनमें रखा है; जैसे, 'आण्नद्याः'। तत्र 'नद्याः' के स्थानमें 'नदीभिः' कहा है, उससे यहाँ 'नदी'-संज्ञक शब्द पाणिनिको नहीं चाहिये ऐसा समझा जाता है।

४. 'एक', 'दो', 'तीन' इत्यादि जो अकृत्रिम अर्थात् स्वाभाविक मूल लौकिक

सख्यासप्रत्ययो भविष्यति । एवमपि कर्तव्यम् ।

इतरथा ह्यसंप्रत्ययो ऽकृत्रिमत्वाद्यथा लोके ॥ ३ ॥

अक्रियमाणे हि सख्याग्रहण एकादिकाया सख्याया सख्येत्येप सप्रत्ययो न स्यात् । कि कारणम् । अकृत्रिमत्वात् । बह्वादीना कृत्रिमा सज्ञा । कृत्रिमाकृत्रिमयो कृत्रिमे कार्यसप्रत्ययो भवति यथा लोके । तद्यथा । लोके गोपालकमानय कटजकमानयेति यस्यैषा सज्ञा भवति स आनीयते न यो गा पालयति यो वा कटे जात । यदि तर्हि कृतिमाकृत्रिमयो कृत्रिमे सप्रत्ययो भवति नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्य [५ ४ ११०] अत्रापि प्रसज्येत । पौर्णमास्याग्रहायणीग्रहणसामर्थ्यान्न भविष्यति । तद्विशेषेभ्यस्तर्हि प्राप्नोति गङ्गा

' सख्या '– प्रदेशोंमें अपने–आप उनका सरयारूपमे ग्रहण होगा । (इसकेलिए प्रयत्न क्यों किया जाय ?)

तथापि यहाँ ' सरया ' शब्द अधिक रखना ही चाहिये।

(किसलिए ?)

(वा ३) नही तो जेसे लोगोंमें वेसे अकृत्रिम होनेसे बोध नहीं होता है ।

यदि इस प्रकृतसूत्रमें ' सरया ' शब्द अधिक न रखा गया तो (' सख्या ' प्रदेशोंके ' सख्या) शब्दसे एक, दो इत्यादि लौकिक संख्याका बोध न होगा ।

कारण क्या है ?

एक, दो इत्यादि लौकिकसख्या अकृत्रिम (अर्थात् पुरानी मूलभूत ही) है इसलिए।' बहु,' ' गण ' इत्यादिको (पाणिनिने यह जो) ' सख्या ' सज्ञा (की है वह) कृत्रिम (अर्थात् नयी, विशेष हेतसे की है) । और " **कृत्रिमाकृत्रिमयो कृत्रिमे कार्यसप्रत्यय** " यह न्याय है । (अर्थात् कृत्रिम और अकृत्रिम इन दोनोंको कोई कार्य करना हो तो वह कार्य कृत्रिमको ही किया जाय, अकृत्रिमको न किया जाय।) लोगोंमें भी यह दिखायी देता है, जसे, लोगोंमें ' गोपालको लाओ ' ' कटजको लाओ ' ऐसा कहा गया तो (' गोपाल ' अथवा ' कटज ') यह सज्ञा जिस बालककी हो वही बालक लाया जाता है। जो वास्तवमें ' गोपाल ' अर्थात् गायें पालनेवाला है अथवा ' कटज ' अर्थात् कटपर जन्मा है वह (गोपाल अथवा कटज) नही (लाया जाता है) ।

अब यदि कृत्रिम और अकृत्रिम इन दोनोंमेंसे कृत्रिमको ही कार्य किया जाय इस रूपका न्याय है तो " नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्य " (५।४।११०) सूत्रमें भी वह (न्याय) लागू होगा । (अत वहाँ ' नदी ' शब्द न लेके कृत्रिम सज्ञारूप नदीका अर्थात् " यू स्त्र्याख्यौ नदी " —१।४।३—सूत्रसे जिन शब्दोंको ' नदी '– सज्ञा दी गयी है उनका ' नदी ' शब्दसे ग्रहण होगा ।)

पर वहाँ (पाणिनिने) जो पौर्णमासी और आग्रहायणी ये नदीसज्ञक शब्द

यमुनेति। एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति। न तद्विशेषेभ्यो भवतीति यदयं विपाट्शब्दं शरत्प्रभृतिषु पठति॥ इह तर्हि प्राप्नोति नदीभिश्च [२ १ २०] इति। बहुवचननिर्देशान्न भविष्यति। स्वरूपविधिस्तर्हि प्राप्नोति। बहुवचननिर्देशादेव न भविष्यति॥ एवं न नेदमकृतं भवति कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्यय इति न च कश्चिद्दोषो भवति॥

उच्चारित हैं उनके बलसे (उस सूत्रके 'नदी' शब्दसे नदीसंज्ञक शब्दोंका ग्रहण) न होगा।

तब (उसी कारणसे वहाँके नदी शब्दसे) गंगा, यमुना इत्यादि नदियोंके विशेषनाम ही लिये जायँ' (ऐसा क्यों न समझा जाय?)

तो फिर आचार्य (पाणिनि) 'शरदादि' गणमें (५।४।१०७) 'विपाश' एक नदीकी विशिष्ट संज्ञाका पाठ करते हैं, और उससे वे यह ज्ञापित करते हैं, कि ("नदीपौर्णमासी०" सूत्रके 'नदी' शब्दसे) नदियोंके विशिष्ट नाम नहीं लिये जाते हैं। (तात्पर्य यह है कि, इस सूत्रमें कृत्रिमाकृत्रिमन्याय लागू नहीं होता है।)

तो फिर (अन्यत्र दोष आता है। वह यों कि) "नदीभिश्च"—२।१।२० (सूत्रमें 'नदी' शब्दके बारेमें वह न्याय लागू होगा।)

पर वहाँ (पाणिनिने 'नदीभिः' इस) बहुवचनका प्रयोग किया है न? उसके बलसे (नदीसंज्ञक शब्द वहाँ 'नदी' शब्दसे) न लिये जायेंगे[3]।

(नदीसंज्ञक शब्द अलग रहने दें।) पर ("नदीपौर्णमासी०"—५।४।११०—सूत्रमें जिस प्रकार 'नदी' यही शब्दस्वरूप लिया है उसी प्रकार) शब्दस्वरूप यहां लिया जाय।

बहुवचनके निर्देशसे ही उस शब्दस्वरूपका ग्रहण यहां न होगा।

(तात्पर्य यह है कि, "नदीपौर्णमासी०" और "नदीभिश्च" इन दो सूत्रोंमें पूर्वोक्त विशेष कारणसे ही) 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसंप्रत्ययः' न्याय छोड देनेके कारण 'शास्त्रमें वह न्याय लिया ही न जाय' यह बात नहीं। यदि किसी स्थानमें लिया गया तो वहाँ दोष आता है यह भी बात नहीं। (अतः प्रकृतसूत्रमें उस न्यायसे आया हुआ दोष दूर करनेकेलिए 'संख्या शब्द अधिक रखना चाहिये।)

---

२ 'नदीपौर्ण०' सूत्रके 'नदी' शब्दसे 'गंगा', 'यमुना' इत्यादि विशेष संज्ञाएँ ली गयीं तो 'विपाश्' संज्ञाका भी 'नदी' शब्दसे ग्रहण होगा। और उसी सूत्रसे अव्ययीभावके उदाहरण 'उपविपाशम्' में 'टच्' प्रत्यय सिद्ध होगा। तब वहाँ 'टच्' प्रत्यय होनेके लिए शरदादिगणमें जो 'विपाश्' शब्दका पाठ किया है वह व्यर्थ होगा।

३ यहाँ 'नदी'-संज्ञक शब्दोंकी आवश्यकता है तो 'नदी' शब्द एकवचनमें रखा है जैसे, 'आपनद्या'। तब 'नद्या' के स्थानमें 'नदीभिः' कहा है उससे यहाँ 'नदी'-संज्ञक शब्द पाणिनिको नहीं चाहिये ऐसा समझा जाता है।

उत्तरार्थं च ॥ ४ ॥

उत्तरार्थं च सख्याग्रहण कर्तव्यम्। ष्णान्ता षट् [१ १ २४] षकारनकारान्तायाः सख्यायाः षट्सज्ञा यथा स्यात्। इह मा भूत्। पामानः विप्रुष इति ॥

इहार्थेन तावन्नार्थः सख्याग्रहणेन। ननु चोक्तमितरथा ह्यसप्रत्ययो ऽकृत्रिमत्वाद्यथा लोक इति। नैष दोष। अर्थात्प्रकरणाद्वा लोके कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे सप्रत्ययो भवति। अर्थो वास्यैवसज्ञकेन भवति प्रकृत वा तत्र भवतीदमेवसज्ञकेन कर्तव्यमिति। आतश्चार्थात्प्रकरणाद्वा। अङ्ग हि भवान्ग्राम्य

(वा ४) तथा अगले सूत्रके लिए यहॉ 'सख्या' शब्दकी आवश्यकता है।)

अगले सूत्रके लिए (अर्थात् अगले सूत्रमें अनुवृत्ति होनेके लिए भी) इस सूत्रमें 'सख्या' शब्द अधिक रखना चाहिये। 'ष्णान्ता षट्'—१।१।२४— (सूत्रसे कही हुई) षट्सज्ञा षकारान्त और नकारान्त (षष्, पञ्चन् इत्यादि) 'सख्या' शब्दोंको ही होनी चाहिये। 'पामान,' 'विप्रुष' इत्यादि रूपोंमें (पामन्, विप्रुष् इत्यादि अन्य शब्दोंको) न होनी चाहिये।

अब हम यह कहते है कि, 'सख्या' शब्द प्रकृतसूत्रमें भी रखना निरर्थक है।

पर अभी कहा है न कि 'सख्या' शब्द अधिक न रखा गया तो (सख्याप्रदेशोंके सख्या शब्दसे, एक, दो इत्यादि लौकिक सख्याएँ) अकृत्रिम होनेसे पर सख्याओंका बोध न होगा, जैसे लोगोमें बोध नहीं होता है (इस बातका निपटारा क्या है?)

यह दोष नही आता है। क्योंकि लोगोंमें कृत्रिम और अकृत्रिम इन दोनोंमें से कृत्रिमको ही कार्य होता है सही। (पर यह सर्वसाधारण नियम है इसलिए कृत्रिमको कार्य होता है ऐसा न समझा जाय।) सामर्थ्य अथवा प्रकरण हो तभी कृत्रिमको कार्य किया जाता है। वह कार्य उस सज्ञायुक्त मनुष्यके हाथसे ही होनेवाला है (ऐसा ज्ञान हो) अथवा—अमुक सज्ञायुक्त मनुष्य ही वह कार्य करे ऐसा स्पष्ट प्रकरण चालू रहे (वहॉ कृत्रिमका अर्थात् उस सज्ञायुक्त मनुष्यका बोध होता ह।) और सामर्थ्य अथवा प्रकरण हो तभी (कृत्रिमका बोध होता है। यह समझनेका) दूसरा एक कारण (यह दीख पडता है कि) कोई गॅवार मनुष्य (अर्थात् अमुक कार्य करनेका बल है अथवा नहीं इस बातका विचार भी जिसके मनमें निर्माण नहीं होता ह इस प्रकारका अनाडी

सख्या है वह 'सख्याया विधार्थे धा' (५।३।४२) इत्यादि सख्याशब्दघटित सूत्रमें न ली जायगी, और 'एकधा', 'द्विधा' इत्यादि प्रयोग सिद्ध न होंगे यह दोष आता है।

पांसुरपादमप्रकरणज्ञमागतं ब्रवीतु गोपालकमानय कटजकमानयेति। उभयगतिस्तस्य भवति साधीयो वा यष्टिहस्तं गमिष्यति॥ यथैव तर्ह्यर्थात्प्रकरणाद्वा लोके कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे संप्रत्ययो भवत्येवमिहापि प्राप्नोति। जानाति ह्यसौ बह्वादीनामियं संज्ञा कृतेति॥ न यथा लोके तथा व्याकरणे। उभयगतिः पुनरिह भवति। अन्यत्रापि नावश्यमिहैव। तद्यथा। कर्तुरीप्सिततमं कर्म [१.४.४९] इति कृत्रिमा कर्मसंज्ञा। कर्मप्रदेशेषु चोभयगतिर्भवति। कर्मणि द्वितीया [२.३.२] इति कृत्रिमस्य ग्रहणं कर्तरि कर्मव्यतिहारे [१.३.१४] इत्यकृत्रिमस्य। तथा साधकतमं करणम् [१.४.४२] इति कृत्रिमा करणसंज्ञा।

मनुष्य) और जिसके पैरोंकी धूल भी नहीं निकली (अर्थात् जो अभी दूसरे गांवसे आया है), और ('अमुक व्यक्तिका नाम गोपाल है और उसके बारेमें बातचीत चल रही है, यह) पूर्वप्रकरण जिसको ज्ञात नहीं, उस (मनुष्य) को 'गोपालको लाओ,' 'कटजको लाओ' ऐसा (तुम ही) कहो (और देखो उसके मनमें क्या विचार निर्माण होता है?) इस विषयमें उनके मनमें दोनों प्रकारकी कल्पना निर्माण होगी (कि 'इनके घरमें गोपाल नामका कोई लडका है उसको लाना' अथवा 'बाहरका कोई गोपाल अर्थात् जिसके हाथमें लाठी है ऐसा गोपाल उसको लाना?) मैं तो समझता हूँ कि लाठी लिये गोपालकी ओर ही उसकी बुद्धि झुकेगी।

तो फिर अब (तुम्हारे विधानके अनुसार क्यों न हो), जैसे सामर्थ्य अथवा प्रकरण हो तो लोगोंमें कृत्रिम और अकृत्रिम दोनोंमेंसे कृत्रिमको ही कार्य होता है, वैसे ही शास्त्रमें कृत्रिमको ही कार्य प्राप्त होता है। (क्योंकि यहाँ प्रकरण स्पष्ट ही है।) वैयाकरण तो जानता ही है '(पाणिनिने) बहु, गुण इत्यादिको यह (सख्या) संज्ञा की है।' (अतः अकृत्रिम अर्थात् स्वाभाविक जो 'एक,' 'दो' इत्यादि संख्याएँ हैं उनके लिए प्रकृत सूत्रमें 'संख्या' शब्द अधिक रखना चाहिये।)

पर जो रीति लोगोंमें है वही व्याकरणशास्त्रमें होनी चाहिये ऐसा नियम नहीं। (इस संख्याके विषयमें तो कृत्रिम और अकृत्रिम इन नये और पुराने) दोनों प्रकार (की संख्याओं) का ज्ञान होता है। अन्यत्र भी (दोनों) प्रकार मनमें आते हैं, इस (संख्याके) विषयमें ही आते है यह बात नहीं। उदा०—"कर्तुरीप्सिततमं कर्म" (१।४।४९) सूत्रके कृत्रिम (अर्थात् नयी) ही कर्मसंज्ञा कही है। परन्तु कर्मप्रदेशोंमें (देखा जाय तो) दोनों प्रकारका कर्म लिया गया है:—"कर्मणि द्वितीया"— २।३।२—(सूत्रमें) कृत्रिम कर्म ही लिया है, और "कर्तरि कर्मव्यतिहारे"— १।३।१४—सूत्रमें ('कर्म' शब्दसे) अकृत्रिम (अर्थात् क्रिया) ली है। तथा "साधकतमं करणम्"—१।४।४२—सूत्रमें कृत्रिम (अर्थात् नयी) ही करणसंज्ञा

---

८ तात्पर्य यह है कि, 'कृत्रिमाकृत्रिमन्याय' सर्वत्र लागू न होनेके कारण शास्त्रमें इस न्यायके आधारपर जो दोष बताया गया वह ठीक नहीं।

करणप्रदेशेषु चोभयगतिर्भवति। कर्तृकरणयोस्तृतीया [२ ३ १८] इति कृत्रिमस्य ग्रहणं शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे [३ १ १७] इत्यत्राकृत्रिमस्य। तथाधारो ऽधिकरणम् [१ ४ ४५] इति कृत्रिमाधिकरणसञ्ज्ञा। अधिकरणप्रदेशेषु चोभयगतिर्भवति। सप्तम्यधिकरणे च [२ ३ ३६] इति कृत्रिमस्य ग्रहणं विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि [२ ४ १३] इत्यकृत्रिमस्य॥ अथवा नेदं सञ्ज्ञाकरणं तद्वदतिदेशो ऽयम्। बहुगणवतुडतयः सङ्ख्यावद्भवन्तीति। स तर्हि वतिनिर्देशः कर्तव्यो न ह्यन्तरेण वतिमतिदेशो गम्यते। अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते। तद्यथा। एष ब्रह्मदत्तः। अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह ते मन्यामहे ब्रह्म-

---

कही है। परन्तु करण प्रदेशोंमें (देखा जाय तो) दोनों प्रकारका करण लिया है।:— "कर्तृकरणयोस्तृतीया"—२।३।१८—सूत्रमें कृत्रिम करण ही लिया है, और "शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे"—३।१।१७—सूत्रमें ('करण' शब्दसे) अकृत्रिम (अर्थात् क्रिया) ही ली है। तथा "आधारोऽधिकरणम्" (१।४।४५) सूत्रसे कृत्रिम (अर्थात् नर्थी) ही अधिकरणसञ्ज्ञा कही है। परन्तु अधिकरण प्रदेशोंमें (देखा जाय तो) दोनों प्रकारका अधिकरण लिया है। —"सप्तम्यधिकरणे च" (२।३।३६) सूत्रमें कृत्रिम ही अधिकरण लिया है, और "विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि" (२।४।१३) में ('अधिकरण' शब्दसे) अकृत्रिम (अर्थात् द्रव्य) लिया है। (उसी प्रकार 'एक', 'दो' इत्यादि अकृत्रिम अर्थात् मूलभूत पुरानी सख्याएँ ह, इससे वे सख्या प्रदेशोंमें 'सख्या' शब्दसे ली जा सकती हैं, उसके लिए प्रकृतसूत्रमें 'सख्या' शब्द अधिक रखनेकी आवश्यक्ता नहीं।)

अथवा यह सज्ञा सूत्र ही नहीं, तो 'उसके समान' यह अतिदेश यहाँ किया है। अर्थात् 'बहु', 'गण', 'वतु'–प्रत्ययान्त और 'डति'–प्रत्ययान्त शब्द सख्या शब्दके समान समझे जायँ।

तो फिर (सूत्रमें 'सख्यावत्' रूपमें सख्याको) 'वति' (प्रत्यय) लगाना चाहिये। क्योंकि 'वति' प्रत्यय न लगाया गया तो यह अतिदेश है ऐसा नहीं समझा जायगा।

'वति' प्रत्यय न लगाया गया ता यह अतिदेश है ऐसा समझा जाता है। जैसे 'यह ब्रह्मदत्त है' (यह किसीने कहा तो) यहाँ जो ब्रह्मदत्त उपस्थित नहीं उसीको वह यदि ब्रह्मदत्त कहता है तो यह ब्रह्मदत्तके समान है यही उसका अभिप्राय हम समझते ह, वैसे ही यहाँ भी (आचार्य पाणिनि) जो सख्या नहीं उन (बहु, गण इत्यादि) को यदि 'सख्या' कहता है तो (बहु, गण इत्यादि शब्द) सख्याके समान

१ तब कृत्रिम सख्या ही न होनेसे यहाँ 'कृत्रिमाकृत्रिमन्याय' लागू नहीं होता है। अत सख्याप्रदेशमें 'सख्या' शब्दसे एक, दो इत्यादि लौकिक शब्द ही ध्यानमें आयेंगे, और इस अतिदेशसे 'बहु', 'गण' इत्यादि शब्द भी आयेंगे।

दत्तवदयं भवतीति। एवमिहाप्यसंख्यां संख्येत्याह संख्यावदिति गम्यते॥ अथवाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत्येकादिकायाः संख्यायाः संख्याप्रदेशेषु संख्यासंप्रत्यय इति यदयं संख्याया अतिशदन्तायाः कन् [५.१.२२] इति तिशदन्तायाः प्रतिषेधं शास्ति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्। न हि कृत्रिमा त्यन्ता शदन्ता वा संख्यास्ति। ननु चेयमस्ति डतिः। यत्तर्हि शदन्तायाः प्रतिषेधं शास्ति। यच्चापि त्यन्तायाः प्रतिषेधं शास्ति। ननु चोक्तं डत्यर्थमेतत्स्यादिति। अर्थवद्ग्रहणे

हैं यही उसका अभिप्राय समझना चाहिये।

अथवा ये आचार्य पाणिनि "संख्याया अतिशदन्तायाः कन्"—५।१।२२—सूत्रसे (संख्यासंज्ञक शब्दके आगे 'कन्' प्रत्यय लगाया जाता है ऐसा कहकर) त्यन्त और शदन्त (अर्थात् 'ति' अथवा 'शत्' जिनके अन्तमें है ऐसे शब्द) उन *संख्या शब्दोंसे अलग करते हैं, उनकी इस कृतिसे वे यों ज्ञापित करते हैं कि इस* शास्त्रके संख्या प्रदेशोंमें एक, दो इत्यादि लौकिक 'संख्या' शब्दोंसे 'संख्या' का बोध होता है।

यह ज्ञापक कैसे समझा जाता है?

यों समझा जाता है कि जो कृत्रिम संख्याएँ हैं (अर्थात् बहु, गण इत्यादि पाणिनिके जो नये बनाये संख्या शब्द हैं) उनमें 'त्यन्त' वा 'शदन्त' नहीं। (अतः 'वे अलग किये जायें' यह कहनेका कारण ही नहीं दिखायी देता है।)

पर (बहु, गण इत्यादि कृत्रिम संख्या-शब्दोंमें) 'डति' यह त्यन्त शब्द है न?

चाहे वह हो तो भी 'शदन्त' तो उसमें नहीं है। (अतः उतना ही ज्ञापक लिया जायगा।)

और 'त्यन्त शब्द अलग किये जायँ' यह जो आचार्यने कहा है (वह भी ज्ञापक लिया जायगा)।

पर अभी कहा गया है कि 'डति' यह 'त्यन्त' शब्द बहु, गण इत्यादिमें है। (अतः उसका क्या निपटारा किया जाय?)

(उसका निपटारा यों किया जाय कि) यद्यपि 'डति' में 'ति' शब्द है तो भी वह निरर्थक है। और परिभाषा तो यों है कि "अर्थवान्के ग्रहणका संभव होनेपर

---

५. 'विंशति' त्यन्त शब्द है और 'त्रिंशत्' शदन्त है। इनके आगे 'कन्' प्रत्यय न लगाया जाय इस हेतुसे सूत्रमें 'अतिशदन्तायाः' पद रखके 'त्यन्त' और 'शदन्त' शब्द अलग रखे गये हैं। यदि यहाँ 'कृत्रिमाकृत्रिम'-न्याय लागू किया गया तो 'एक', 'द्वि' इत्यादि सभी लौकिक शब्द छोड़ दिये जायेंगे। अतः 'अतिशदन्तायाः' पद व्यर्थ होता है। तब उससे यह ज्ञात होगा कि लौकिक संख्या भी यहाँ ली जाय, 'कृत्रिमाकृत्रिम'-न्याय यहाँ लागू न किया जाय।

नानर्थकस्येत्यर्थवतास्तिशब्दस्य ग्रहणं न च ऽतेस्तिशब्दो ऽर्थवान्॥ अथवा महतीयं संज्ञा क्रियते संज्ञा च नाम यतो न लघीयः। कुत एतत्। लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्। तत्र महत्याः संज्ञायाः करण एतत्प्रयोजनमन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत। संख्यायते ऽनया संख्येति। एकादिकया चापि संख्यायते॥

उत्तरार्थेन चापि नार्थः संख्याग्रहणेन। इदं प्रकृतमुत्तरत्रानुवर्तिष्यते॥ इदं वै संज्ञार्थमुत्तरत्र च संज्ञिविशेषणेनार्थः। न चान्यार्थं प्रकृतमन्यार्थं भवति। न खल्वप्यन्यत्प्रकृतमनुवर्तनादन्यद्भवति न हि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवति॥ यत्तावदुच्यते न चान्यार्थं प्रकृतमन्यार्थं भवतीत्यन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति।

अर्थरहितका ग्रहण न किया जाय" (प. शे. १४)। अतः 'ति' शब्द यहाँ अर्थवान् ही लिया जाता है। 'इति' का 'ति' शब्द तो निरर्थक ही है।

अथवा यहाँ 'संख्या' बड़ी संज्ञा (पाणिनिने) की है (ऐसा दीख पड़ता है)। और संज्ञाका अर्थ यों है कि जिससे लघुभूत अन्य नहीं।

सो कैसे?

क्योंकि संज्ञा लाघवके लिए ही की जाती है। (फिर भी 'संख्या' बड़ी संज्ञा की है।) अतः वह बड़ी संज्ञा करनेमें (पाणिनिके मनमें) यह उद्देश्य दिखायी देती है कि 'संख्या' संज्ञा अन्वर्थ समझी जाय।:—जिससे संख्यान अर्थात् गणन होता है वह संख्या है। और एक, दो इत्यादि लौकिक संख्यासे भी (पदार्थ) गिने जाते ही हैं। (अतः अन्वर्थ संज्ञाके बलसे ही यहाँ एक, दो इत्यादि लौकिक संख्याका ग्रहण होगा। उसके लिए सूत्रमें 'संख्या' शब्द अधिक रखनेकी आवश्यकता नहीं।)

अगले सूत्रमें अनुवृत्ति होनेके लिए इस सूत्रमें 'संख्या' शब्द अधिक रखना चाहिये (ऐसा जो कहा है) वह भी व्यर्थ है। (क्योंकि यहाँ 'संख्या' शब्द यद्यपि अधिक न रखा गया तो भी) एक 'संख्या' शब्द पाणिनिने पहले ही रखा है। उसीकी अनुवृत्ति आगे की जायगी।

पर इस सूत्रमें (पाणिनिने जो) 'संख्या' शब्द (पहले रखा है वह विधेयार्थ दिखानेवाला अर्थात्) संज्ञाका निदर्शक है। और अगले सूत्रमें (जो 'संख्या' शब्द आवश्यक है वह उद्देश्यार्थ दिखानेवाला अर्थात्) संज्ञा जिसकी की जाय उस संज्ञीका निदर्शक होना चाहिये। अतः एकके लिए रखा गया 'संख्या' शब्द दूसरेके लिए नहीं प्रयुक्त किया जाता है। जिस स्वरूपमें जहाँ जो (शब्द) रखा गया है उस (शब्द) की आगे अनुवृत्ति की है तो केवल इसीसे उसका रूपान्तर नहीं होता है। गोह आगे सरकती है तो केवल उस सरकनेसे उसका साँपमें रूपान्तर नहीं होता है।

(उसका उत्तर यों है—) 'एकके लिए रखा गया संख्या (शब्द) दूसरेके लिए प्रयुक्त नहीं होता है' ऐसा जो कहा है वह उचित नहीं। एक के लिए कोई (पदार्थ) किया गया तो भी वह दूसरेके लिए उपयुक्त होता है। उदा. साल—(के खेतको पानी

तद्यथा। शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते ताभ्यश्च पानीयं पीयत उपस्पृश्यते च शालयश्च भाव्यन्ते। यदप्युच्यते न खल्वप्यन्यत्प्रकृतमनुवर्तनादन्यद्भवति न हि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवतीति भवेद् द्रव्येष्वेतदेवं स्यात्। शब्दस्तु खलु येन येन विशेषेणाभिसंबध्यते तस्य तस्य विशेषको भवति॥ अथवा सापेक्षोऽयं निर्देशः क्रियते न चान्यत्किंचिदपेक्ष्यमस्ति ते संख्यामेवापेक्षिष्यामहे॥

अध्यर्धग्रहणं च समासकन्विध्यर्थम्॥ ५॥

अध्यर्धग्रहणं च कर्तव्यम्। किं प्रयोजनम्। समासकन्विध्यर्थम्। समासविध्यर्थं कन्विध्यर्थं च। समासविध्यर्थं तावत्। अध्यर्धशूर्पम्। कन्विध्यर्थम्।

देने) के लिए नहर खोदा जानेपर उसमेंसे लोग पानी पीते ही हैं, आचमन भी करते हैं और खेतको भी पानी दिया जाता है। वैसे ही, "जिस स्वरूपमें जहाँ जो (शब्द) रखा गया है उस (शब्द) की आगे केवल अनुवृत्ति की जानेसे उसका रूपान्तर नहीं होता है; गोह आगे सरक गयी तो केवल उसके सरकनेसे वह साँप नहीं होती है" यह जो विधान किया जाता है वह द्रव्यके विषयमें उचित होगा। (सर्वसाधारणतया वह उचित न होगा।) शब्द तो (वास्तवमें) इस स्वरूपका होता है कि उसका जिस विशेष वस्तुसे संबंध होता है उस वस्तुका कोई विशेष वह शब्द बताता है। (अतः प्रकृतसूत्रमें यद्यपि वह 'संख्या'शब्द विधेयवस्तुका निदर्शक हो तो भी वह अगले सूत्रमें उद्देश्यसे संबद्ध होकर उद्देश्यका कोई विशेष बतायेगा।)

अथवा अगले सूत्रमें ('ष्णान्ता' यह जो स्त्रीलिंगमें) निर्देश किया हुआ दिखायी देता है वह अन्य कोई (स्त्रीलिंगी पदार्थ) ध्यानमें लेके किया गया है। और वह दूसरा स्त्रीलिंगी पदार्थ 'संख्या' शब्दसे अलग कोई दीख नहीं पड़ता। अतः ('ष्णान्ता' इस स्त्रीलिंगी निर्देशके बलसे प्रकृतसूत्रमेंके) 'संख्या' शब्दका संबंध वहाँ होगा।

(वा. ५) (प्रकृत सूत्रमें) समासके लिए और 'कन्' प्रत्यय होनेके लिए 'अध्यर्ध' (शब्द) (अधिक) रखा जाय।

इस सूत्रमें 'अध्यर्ध' शब्द अधिक रखा जाय, (जिससे उसको 'संख्या' संज्ञा होगी)।

उसका क्या उपयोग है?

समासकन्विध्यर्थम् अर्थात् समास होनेके लिए और 'कन्' प्रत्यय होनेके लिए। उनसे समासका उदाहरण है—अध्यर्धशूर्पम्, और 'कन्' प्रत्ययके विधानका

---

८. 'अध्यर्ध' अर्थात् 'अर्धसे अधिक'। अर्धसे अधिक सूपसे अथात् डेढ़ सूपसे खरीद की वस्तुको 'अध्यर्धशूर्प' कहते हैं। यहाँ 'अध्यर्ध' शब्दको 'संख्या' संज्ञा हुई है इसलिए 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' (२।१।५१) से उस 'अध्यर्ध' शब्दका 'शूर्प' शब्दके साथ समास हुआ है। उस 'अध्यर्धशूर्प' सामासिक शब्दके आगे 'शूर्पादञन्यतरस्याम्' (५।१।२६) से 'उसका खरीदा हुआ' अर्थमें 'अञ्' प्रत्यय होता है। उसका 'अध्यर्धपूर्व०' (५।१।२८) से लुक् होता है।

अध्यर्धकम् ॥

लुकि चाग्रहणम् ॥ ६ ॥

लुकि चाध्यर्धग्रहणं न कर्तव्यं भवति। अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम् [५.१.२८] इति। द्विगोरित्येव सिद्धम् ॥

अर्धपूर्वपदश्च पूरणप्रत्ययान्तः ॥ ७ ॥

अर्धपूर्वपदश्च पूरणप्रत्ययान्तः संख्यासंज्ञो भवतीति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्। समासकन्विध्यर्थमेव। समासविध्यर्थं कन्विध्यर्थं च। समासविध्यर्थं तावत्। अर्धपञ्चमशूर्पम्। कन्विध्यर्थम्। अर्धपञ्चमकम् ॥

अधिकग्रहणं चालुकि समासोत्तरपदवृद्ध्यर्थम् ॥ ८ ॥

उदाहरण है—अध्यर्धकम्।

(वा. ६) तथा लुक् कहनेवाले ("अध्यर्धपूर्व०" सूत्रमें अध्यर्ध-) शब्दकी आवश्यकता नहीं रहती।

('सख्या' संज्ञा कहनेवाले इस प्रकृतसूत्रमें 'अध्यर्ध' शब्द अधिक रखा जानेपर) "अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्" (५।१।२८) इस लुक् कहनेवाले सूत्रमें अध्यर्ध शब्द रखनेकी आवश्यकता नहीं रहती। वहाँ 'द्विगोः' कहा ही है। (अतः उसीसे वहाँ लुक् होगा।)[१०]

(वा. ७) 'अर्ध' शब्द पूर्वपद है और 'पूरणप्रत्ययान्त' शब्द उत्तरपद है।

'अर्ध' शब्द पूर्वपद है और 'पूरणप्रत्ययान्त'[११] शब्द उत्तरपद है। (इन दोनोंका समास होके) जो (सामासिक) शब्द बनेगा उसको 'सख्या' संज्ञा होती है ऐसा कहा जाय।

इसका क्या उपयोग है?

समासकन्विध्यर्थम् अर्थात् समास होनेके लिए और 'कन्' प्रत्यय होनेके लिए (यह पहले जैसा ही यहाँ उपयोग है)। उनमेंसे समासका उदाहरण है—अर्धपञ्चमशूर्पम्, और 'कन्' प्रत्ययका उदाहरण है—अर्धपञ्चमकम्।

(वा. ८) (प्रस्तुत सूत्रमें) समास और उत्तरपदवृद्धि होनेके लिए लुक्के सिवा 'अधिक' शब्द अधिक रखना चाहिये।

---

९. 'अध्यर्ध' शब्द को 'संख्या' संज्ञा हुई है इसलिए उस 'अध्यर्ध' शब्दके आगे 'संख्याया अतिशदन्ताया कन्' (५।१।२२) सूत्रसे 'कन्' प्रत्यय यहाँ हुआ है।

१०. क्योंकि 'अध्यर्ध' शब्दको 'संख्या' संज्ञा होनेके कारण 'संख्यापूर्वो द्विगुः' (२।१।५२) से 'अध्यर्ध' शब्द इस पूर्व समासको द्विगुसंज्ञा होनेवाली ही है।

११. 'तस्य पूरणे डट्' (५।२।४८) इत्यादि सूत्रोंसे कहे हुए प्रत्यय करके जो शब्द सिद्ध किये जाते हैं उनको 'पूरणप्रत्ययान्त' शब्द कहते हैं, जैसे, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम इत्यादि।

अधिकग्रहणं चालुकि कर्तव्यम्। किं प्रयोजनम्। समासोत्तरपदवृद्ध्यर्थम्। समासविध्यर्थमुत्तरपदवृद्ध्यर्थं च। समासविध्यर्थं तावत्। अधिकषाष्टिकः। अधिकसाप्ततिकः। उत्तरपदवृद्ध्यर्थम्। अधिकषाष्टिकः अधिकसाप्ततिकः। अलुकीति किमर्थम्। अधिकषाष्टिकः अधिकसाप्ततिकः॥

बहुव्रीहौ चाग्रहणम् ॥ ९॥

बहुव्रीहौ चाधिकशब्दस्य ग्रहणं न कर्तव्यं भवति। सङ्ख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसङ्ख्याः सङ्ख्येये [२ २ २५] इति। सङ्ख्येत्येव सिद्धम्॥

वह्वादीनामग्रहणम् ॥ १०॥

लुक् के सिवा (अन्य कार्य करते समय) 'अधिक' शब्दको 'सङ्ख्या'-सज्ञा होती है ऐसा कहा जाय।

उसका प्रयोजन क्या है?

समासोत्तरपदवृद्ध्यर्थम्—अर्थात् समास होनेके लिए और उत्तरपदवृद्धि होनेके लिए। उनमेंसे समासका उदाहरण है—अधिकषाष्टिक, अधिकसाप्ततिकः, और उत्तरपदवृद्धिका उदाहरण है—अधिकषाष्टिक., अधिकसाप्ततिक॰।

यहाँ 'लुक् के सिवा' ऐसा क्यों कहा गया है?

'अधिकषाष्टिक.', 'अधिकसाप्ततिक.' (में लुक् न हो इसलिए)।

(वा ९) बहुव्रीहि-(समास कहनेवाले "संख्यया॰") सूत्रमें 'अधिक' शब्द न रखा जाय।

'सङ्ख्या'सज्ञा कहनेवाले इस प्रकृतसूत्रमें 'अधिक' शब्द अधिक रखा जानेपर "सङ्ख्ययाव्ययासन्नादूराधिकसङ्ख्याः सङ्ख्येये" (२।२।२५) इस बहुव्रीहिसमास कहनेवाले सूत्रमें 'अधिक' शब्द न रखा जाय। ('सङ्ख्या' शब्द उस सूत्रमें रखा गया ही है।) अतः उसी 'सङ्ख्या' शब्दसे इष्ट कार्य सिद्ध होगा।

(वा. १०) बहु, गण इत्यादि शब्दोंकी भी आवश्यकता नहीं।)

१२ पूर्वकी सङ्ख्यासे साठ रुपये अधिक देकर खरीदा हुआ पदार्थ यह 'अधिकषाष्टिक' शब्दका अर्थ है। 'अधिक' शब्दको 'सङ्ख्या' सज्ञा की इसलिए 'तद्धितार्थो॰' (२।१।५१) से उस 'अधिक' शब्दका 'षष्टि' शब्दके साथ समास हुआ है। और इस सङ्ख्यासंज्ञाका यही दूसरा उपयोग यह है कि, इस 'अधिक' शब्दके आगे आये हुए 'षष्टि' शब्दके अर्थात् उत्तरपदके पहले 'अ'—कारको 'सङ्ख्यायाः संवत्सरसङ्ख्यस्य च' (७।३।१५) से वृद्धि हुई है। अब इस 'अधिक' शब्दको 'सङ्ख्या'-सज्ञा है इसलिए 'संख्यापूर्वो द्विगु' (२।१।५२) से 'अधिकषष्टि' को द्विगुसंज्ञा हुई तो 'अध्यर्धपूर्वद्विगो॰' (५।१।२८) से आगेके प्रत्ययका लोप होगा। परन्तु वार्तिकमें 'अलुकि' अर्थात् 'लुक्के सिवा' ऐसा कहा जानेसे इस सङ्ख्यासंज्ञाका लुक्के संबन्धमें उपयोग नहीं किया जा सकता है इसलिए 'लुक्' नहीं होता।

बह्वादीना ग्रहण शक्यमकर्तुम्। केनेदानी सख्याप्रदेशेपु सख्यासंप्रत्ययो भविष्यति। ज्ञापकात्सिद्धम्। किं ज्ञापकम्। यदय वतोरिट् वा [५.१.२३] इति सख्य‌ाया विहितस्य कनो वत्वन्तादिट शास्ति। वतोरेव तज्ज्ञापक स्यात्। नेत्याह। योगापेक्ष ज्ञापकम्॥

इस प्रकृतसूत्रसें बहु, गण इत्यादि शब्दोंको जो 'सख्या' सज्ञा कही है वह यदि न कही गयी तो भी इष्ट कार्य सिद्ध होगा।

तो फिर सख्या प्रदेशोंमें 'सख्या' शब्दसे बहु, गण इत्यादि शब्दोंका बोध कैसे होगा?

ज्ञापकसे होगा।

यह ज्ञापक कौनसा?

ये (आचार्य पाणिनि) कहते है कि सख्यासज्ञक शब्दके आगे कहा हुआ 'कन्' प्रत्यय 'वतु'-प्रत्ययान्त के आगे किया जानेपर वहाँ (उस 'कन्' प्रत्ययको) 'वतोरिड् वा' (५।१।२३) सूत्रसे इट् आगम किया जाय। (उससे वे यह ज्ञापित करते है कि 'वतु'-प्रत्ययान्त शब्दोको 'सख्या'—सज्ञा होती[13] है।)

यह ज्ञापक 'वतु'-प्रत्ययान्त शब्दोंके विषयमें ही लागू होगा। (पर बहु, गण इत्यादि अन्य शब्दोंके बारेमें यह ज्ञापक कसे लागू होगा?)

सो बात नहीं। (बहु, गण इत्यादि अन्य शब्दोंको भी 'सख्या' सज्ञा होती है ऐसा अन्य सूत्रोंसे ज्ञापित होता ही है।) उन अन्य[14] सूत्रोंको ध्यानमें रखके ('वतोरिड् वा') यह एक ज्ञापक केवल मार्ग बतानेके के लिए आगे रखा है ऐसा समझा जाय।

---

१३ यदि 'वतु'-प्रत्ययान्त शब्दोंको 'सख्या'-सज्ञा न हो तो 'तावतिक' उदाहरणमें 'सख्याया०' (५।१।२२) सूत्रसे 'वतु'-प्रत्ययान्त 'तावत्' शब्दके आगे 'कन्' प्रत्यय न होगा और इससे 'वतोरिड् वा' सूत्र व्यर्थ होगा।

१४ 'षट्कतिकतिपयचतुरां थुक्' (५।२।५१), 'बहुपूगगणसघस्य तिथुक्' (५।२।५२) ये अन्य सूत्र हैं। यदि 'डति'—प्रत्ययान्त शब्दोको सख्यासज्ञा न हो तो 'कति' इस डति प्रत्ययान्त शब्दके आगे 'तस्य पूरणे डट्' (५।२।४८) सूत्रसे डट् प्रत्यय न होगा। तब वह डट् प्रत्यय आगे होनेपर 'षट्कति०' से कहा हुआ 'थुक्' आगम व्यर्थ होगा। तथा 'बहु', 'गण' को यदि 'सख्या' सज्ञा न हो तो उनके आगे डट प्रत्यय होगा। तब वह 'डट्' प्रत्यय आगे होनेपर 'बहुपूगगण०' सूत्रसे कहा हुआ तिथुक् आगम व्यर्थ होगा। अत वे व्यर्थ न हों इसलिए 'बहु', 'गण' और 'डति'—प्रत्ययान्त शब्दोंको 'सख्या' सज्ञा होती है ऐसा समझना पड़ेगा। यही ज्ञापक है।

ष्णान्ता षट् ॥ १ । १ । २४ ॥

षट्संज्ञायामुपदेशवचनम् ॥ १ ॥

षट्संज्ञायामुपदेशग्रहणं कर्तव्यम् । उपदेशे षकारनकारान्ता संख्या षट्संज्ञा भवतीति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् ।

शताद्यष्टनोर्नुम्नुडर्थम् ॥ २ ॥

शतानि सहस्राणि । नुमि कृते ष्णान्ता षडिति षट्संज्ञा प्राप्नोति । उपदेशग्रहणान्न भवति ॥ अष्टानामित्यत्रात्वे कृते षट्संज्ञा न प्राप्नोति । उपदेशग्रहणाद्भवति ॥

उक्तं वा ॥ ३ ॥

(सू. २४) षकारान्त वा नकारान्त (अर्थात् षकार वा नकार जिनके अन्तमें है उन संख्या शब्दोंको) षट् (संज्ञा होती है)।

(वा. १) 'षट्' संज्ञा में 'उपदेश' शब्द रखा जाय।

षट्संज्ञा (कहनेवाले इस प्रकृतसूत्र –) में 'उपदेश' शब्द रखना चाहिये। (अर्थात् उपदेशे पद कहा जाय)। उपदेशमें (अर्थात् आद्योच्चारणमें) जो षकारान्त वा नकारान्त संख्या–(शब्द) है उनको षट्संज्ञा होती है ऐसा समझा जाय।

उसका क्या प्रयोजन है?

(वा. २) शत आदि शब्दों तथा अष्टन् शब्दको 'नुम्' तथा 'नुट्' आगम होनेके बाद ('षट्' संज्ञाके लिये सूत्रमें 'उपदेशे' शब्दकी आवश्यकता है।)

(उपयोग यों है कि) 'शतानि,' सहस्राणि' (उदाहरणों–) में 'नुम्' (आगम) करनेके बाद "ष्णान्ता षट्" इस प्रकृतसूत्रसे षट्संज्ञा प्राप्त होती है, वह 'उपदेशे' पद कहनेसे नहीं होती[1]। तथा 'अष्टानाम्' (उदाहरण) में (नकारको) 'आत्व' (७।२।८४) करनेके बाद षट्संज्ञा नहीं प्राप्त होती है, वह 'उपदेशे' पद कहनेसे होती है[2]।

(वा. ३) अथवा (वार्तिककारोंने) यह कहा ही है।

वह क्या कहा है?

---

[1] क्योंकि 'शत' शब्द 'उपदेशे' अर्थात् मूलमें अकारान्त है, नकारान्त नहीं। यदि यहाँ 'नुम्' आगम होनेके बाद 'शतन्' की षट्संज्ञा हुई तो उसके आगे प्रत्ययका 'षड्भ्यो लुक्' (७।१।२२) से लुक् होने लगेगा।

[2] क्योंकि अब यद्यपि 'अष्टा' शब्द आकारान्त है, तो भी वह मूलमें नकारान्त 'अष्टन्' ही है। अतः 'अष्टा' को षट्संज्ञा की जाती है और वह षट् संज्ञा होनेके कारण आगे 'आम्' प्रत्ययको 'षट्चतुर्भ्यश्च' (७।१।५५) सूत्रसे नुट् आगम होता है।

किमुक्तम् । इह तावच्छतानि सहस्राणीति सनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति । अष्टनोऽप्युक्तम् । किमुक्तम् । अष्टनो दीर्घग्रहणं षट्संज्ञाज्ञापकमाकारान्तस्य नुडर्थमिति ॥

अथवाकारो ऽप्यत्र निर्दिश्यते । षकारान्ता नकारान्ताकारान्ता च संख्या षट्संज्ञा भवतीति । इहापि तर्हि प्राप्नोति । सधमादो द्युम्न एकास्ता एका इति । नैष दोषः एकशब्दो ऽयं बह्वर्थः अस्त्येव संख्यापदम् । तद्यथा । एको द्वौ बहव इति । अस्त्यसहायवाची । तद्यथा । एकाग्नयः एकहलानि एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितमिति । असहायैरित्यर्थः । अस्त्यन्यार्थे वर्तते । तद्यथा । प्रजामेका

'शतानि,' 'सहस्राणि' उदाहरणोंमें "संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य" (प. शे. ८५) परिभाषासे दोष नहीं आता ऐसा कहा है। 'अष्टन्' शब्दके संबंधमें भी कहा ही है।

क्या कहा है?

'अष्टनो दीर्घग्रहणं षट्संज्ञाज्ञापकमाकारान्तस्य नुडर्थम्' ऐसा ("अष्टनो दीर्घात्"—६।१।१७२—सूत्रके बारेमें वार्तिककारोंने कहा ही है)। ("अष्टनो दीर्घात्" सूत्रमें 'दीर्घात्' ऐसा जा कहा है उससे आकारान्तको षट्संज्ञा होती है यह ज्ञापित होता है। अतः 'अष्टानाम्' में 'नुट्' आगम—७।१।५५—होनेमें कोई भी बाधा नहीं।)

अथवा, (इस प्रकृतसूत्रमें षकार और नकारके आगे) आकारका भी (सूत्रकारोंने) उच्चारण किया है (ऐसा समझा जाय)। अर्थात् षकारान्त, नकारान्त और आकारान्त ये जो संख्या शब्द हैं उनको षट्संज्ञा होती है। (अतः 'अष्टानाम्' में 'आत्व' होनेके बाद 'अष्टा' इस आकारान्तको षट्संज्ञा होती है।)

तो फिर "सधमादो द्युम्न एकास्ताः" — (वाक्यके 'एकाः' शब्दमें) 'एका' (इस आकारान्त) को (षट्संज्ञा होने लगेगी)।

यह दोष नहीं आता है। क्योंकि 'एक' शब्दके अनेक अर्थ होते हैं। संख्याबोधक 'एक' शब्द है ही; उदा० एकः, द्वौ, बहवः। 'असहाय' भी 'एक' शब्दका अर्थ है; जैसे, एकाग्नयः, एकहलानि, एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम्। यहाँ 'असहाय' ऐसा अर्थ है। 'अन्य' भी 'एक' शब्दका अर्थ है, उदा० 'प्रजामेका

३ परिभाषाका अर्थ पहले दिया है। (सू. १।१।२०, टि. १६)

४. 'शतानि' में सर्वनामसंज्ञक प्रत्ययको मानकर प्राप्त हुआ 'नुम्' आगम षट्संज्ञाकी सहायता नहीं करता है। क्योंकि षट्संज्ञा 'षड्भ्यो लुक्' शास्त्रके द्वारा उस सर्वनामसंज्ञक प्रत्ययका नाश करनेवाली है। 'नुम्' आगम सहायता नहीं करता अर्थात् वह अपना स्वरूप नहीं दिखाता। अतः संख्या नकारान्त न होनेके कारण षट्संज्ञा नहीं होती।

रक्षत्यूर्जमेकेति । अन्येत्यर्थः । सधमादो द्युम्न एकास्ताः । अन्या इत्यर्थः । तयो ऽन्यार्थे वर्तते तस्यैष प्रयोगः ॥ इह तर्हि प्राप्नोति । द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या चेति ॥ एवं तर्हि सप्तमे योगविभागः करिष्यते । अष्टाभ्य औश् । ततः षड्भ्यः । षड्भ्यश्च यदुक्तमष्टाभ्योऽपि तद्भवति । ततो लुक् । लुक् च भवति षड्भ्य इति ॥ अथवोपरिष्टाद्योगविभागः करिष्यते । अष्टन आ विभक्तौ । ततो रायः । रायश्च विभक्तावाकारादेशो भवति । हलीत्युभयोः शेषः ॥ यद्येवं प्रियाष्टौ प्रियाष्टा इति न सिध्यति प्रियाष्टानौ प्रियाष्टान इति च प्राप्नोति । यथालक्षणमप्रयुक्ते ॥

रक्षत्यूर्जमेका । ' 'एका ' अर्थात् 'अन्या ' यहाँ अर्थ है । "सधमादो द्युम्न एकास्ताः" उदाहरणमें 'अन्या ' अर्थात् 'भिन्ना ' यह अर्थ है । अतः 'अन्या ' अर्थमें जो 'एका ' शब्द है उसका यहाँ प्रयोग है । (इस 'एक' शब्दसे 'सख्या ' नहीं दिखायी जाती इसलिए यहाँ षट्संज्ञा नहीं होती है ।)

तो भी 'द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या च ' मे ('द्वा ' को षट्संज्ञा होगी यह दोष) प्राप्त होता है ।

तो फिर सातवें अध्यायमें एक सूत्रका विभाग करेंगे । (वह यों कि) "अष्टाभ्य औश" (७।१।२१) सूत्रके आगे "षड्भ्यः" (इतनाही एक विभक्त सूत्र समझा जाय) । (उसका अर्थ यह है—) षट्संज्ञकके आगे (प्रत्ययको) जो कार्य कहा है वह 'अष्टा ' के अगले प्रत्ययको भी किया जाय । तत्पश्चात् (दूसरा सूत्र है)—"लुक्" । (उसका अर्थ यह है—) षट्संज्ञक शब्द के आगे (आये हुए जस् और शस् प्रत्ययोंका) लुक् होता है ।

अथवा उसके भी आगे एक सूत्रका विभाग किया जायगा । (वह यों कि—) "अष्टन आ विभक्तौ" (७।२।८४) सूत्रके आगे "रायः" (इतनाही एक विभक्त सूत्र समझा जाय) । (उसका अर्थ यह है—) विभक्ति आगे होनेपर 'रै ' शब्दको 'आ ' आदेश होता है । (तत्पश्चात् दूसरा सूत्र है—) "हलि" । (यह सूत्र) पिछले दो सूत्रोंका शेष है । (अर्थात् 'अष्टन आ विभक्तौ' और 'रायः ' इन दो सूत्रोंसे विभक्ति आगे होनेपर जो 'आ ' आदेश कहा है वह विभक्ति हलादि हो तोही किया [6]जाय ।

तो फिर 'प्रियाष्टौ,' 'प्रियाष्टाः ' उदाहरण सिद्ध न होंगे । (क्योंकि इन उदाहरणोंमें हलादि विभक्ति न होनेसे आत्व न होगा ।) 'प्रियाष्टानौ,' 'प्रियाष्टानः ' रूप क्यों होंगे ।

---

५. 'षट्चतुर्भ्यश्च ' (७।१।५५) से कहा हुआ 'नुट् ' आगम ।

६. तब 'अष्टानाम् ' में 'नुट् ' आगम करनेके पूर्व 'आत्व ' किया ही नहीं जा सकता है ।

इति च ॥ १ । १ । २५ ॥

इद इतिग्रहण द्वि: क्रियते सख्यासज्ञाया षट्सज्ञाया च । एक शक्यमकर्तुम् । कथम् । यदि तावत्सख्यासज्ञाया क्रियते षट्सज्ञाया न करिष्यते । कथम् । ष्णान्ता षडित्यत्र डतीत्यनुवर्तिष्यते । अथ षट्सज्ञाया क्रियते सख्यासज्ञाया न करिष्यते डति चेत्यत्र सख्यासज्ञाप्यनुवर्तिष्यते ॥

क्तक्तवतू निष्ठा ॥ १ । १ । २६ ॥

निष्ठासंज्ञाया समानशब्दप्रतिषेधः ॥ १ ॥

(होंगे तो होने दें।) जिन रूपोंका कहीं भी प्रयोग नही पाया जाता है वे रूप शास्त्रसे जैसे सिद्ध होंगे वैसे ही होते है (ऐसा समझना चाहिये)।[७]

(सू २५) और 'डति'-प्रत्ययान्त (शब्दोंको षट्संज्ञा होती है)।

इस 'डति'-शब्दका दो बार उच्चारण किया गया है। (एक 'बहुगणवतुडति सख्या' इस) सख्यासज्ञा (कहनेवाले सूत्र) में और (दूसरा) षट्सज्ञा (कहनेवाले 'डति च' इस प्रकृतसूत्र) में। (उन दोनोंमेंसे) एक (स्थानका 'डति' शब्द) निकला जा सकता है।

कसे?

(यह 'डति' शब्द) यदि सख्यासज्ञा (कहनेवाले सूत्र) में रखा गया तो षट्सज्ञा (कहनेवाले इस प्रकृतसूत्र) में न रखा जाय।

यह कैसे सभव होगा? (अर्थात् वह न रखा गया तो 'डति'-प्रत्ययान्त शब्दोंको षट्सज्ञा कैसे होगी?)

षट्सज्ञा कहनेवाले "ष्णान्ता षट्" सूत्रमें (उसके पिछले सूत्रसे) 'डति' शब्दकी अनुवृत्ति की जाय। अब षट्सज्ञा (कहनेवाले इस प्रकृतसूत्र) में ('डति' शब्द) रखा गया तो सख्या शब्द (कहनेवाले 'बहुगण०' सूत्र) में न रखा जाय। (क्योंकि षट्सज्ञा कहनेवाले) "डति च" सूत्रमें सख्यासज्ञाकी अनुवृत्ति की जाय (और इससे इष्ट कार्य सिद्ध होगा)।

(सू २६) 'क्त' और 'क्तवतु' (इन दो प्रत्ययोंको) 'निष्ठा' संज्ञा होती है)।

(वा १) इस 'निष्ठा' सज्ञाके सबंधमें समान शब्दोंका प्रतिषेध (करना चाहिये)।

---

७ यहाँ मूल भाष्यमें 'यथा लक्षणमप्रयुक्ते' यह जो वाक्य है उसका और भी एक अर्थ हो सकता है। वह यों है कि—'जिन रूपोंका प्रयोग कहीं नही पाया जाता उन रूपोंकी सिद्धिके लिए शास्त्र प्रवृत्त होता ही नहीं।'

निष्ठासंज्ञायां समानशब्दानां प्रतिषेधो वक्तव्यः । लोतः गर्त इति ॥

निष्ठासंज्ञायां समानशब्दाप्रतिषेधः ॥ २ ॥

निष्ठासंज्ञायां समानशब्दानामप्रतिषेधः । अनर्थकः प्रतिषेधो ऽप्रतिषेधः । निष्ठासंज्ञा कस्मान्न भवति । अनुबन्धो ऽन्यत्वकरः । अनुबन्धः क्रियते सो ऽन्यत्वं करिष्यति ॥

अनुबन्धो ऽन्यत्वकर इति चेन्न लोपात् ॥ ३ ॥

अनुबन्धो ऽन्यत्वकर इति चेत्तन्न । किं कारणम् । लोपात् । लुप्यते-

---

('त' और 'तवत्' को) जो 'निष्ठा'-संज्ञा की जाती है वह अन्य स्थानोंमें उनके समान जो अन्य शब्द दीख पड़ते हैं उनको नहीं होती है ऐसा कहा जाय; जैसे, 'लोत,' 'गर्त'।

(वा. २) *निष्ठासंज्ञामें समान शब्दोंका अप्रतिषेध है।*

समान शब्दोंको 'निष्ठा'-संज्ञाको अप्रतिषेध है। अनर्थक जो प्रतिषेध है वह अप्रतिषेध। (अर्थात् उनको 'निष्ठा'संज्ञाका निषेध न कहा जाय।)

फिर ('लोतः', 'गर्तः' उदाहरणोंमें) 'निष्ठा'-संज्ञा क्यों नहीं होती ?

अनुबन्ध अन्यत्व बताता है। ('क्त' और 'क्तवतु' यह इत्संज्ञक ककाररूप जो) अनुबन्ध लगाया है वह दोनोंमें अन्यत्व बतायेगा।

(वा. ३) 'अनुबन्ध अन्यत्व बताता है' ऐसा कहा गया तो वह (संभव) नहीं, क्योंकि उसका लोप होता है।

'इत्संज्ञक ककार जो लगाया गया है वह अन्यत्व बतायेगा' यह विधान ठीक नहीं।

क्यों ?

लोप हुआ है इसलिए।

('लून', 'गीर्ण' रूपोंमें) इत्संज्ञक ककारका लोप हुआ है। और (उस

---

१. 'लू' और 'गॄ' धातुओंको 'हसिमृग्रिण्०' (उणादि सू० ३६६) से 'तन्' प्रत्यय लगाया है। धातुको गुण (७।३।८४) होके 'लोत', 'गर्त' शब्द बनते हैं। 'तन्' प्रत्ययके नकारको इत्संज्ञा और लोप होके 'त' जितनाही भाग शेष रहता है। इन्हीं 'लू' और 'गॄ' धातुओंको 'निष्ठा' (३।२।१०२) से 'क्त' प्रत्यय किया जानेसे उनको प्रकृत सूत्रसे निष्ठा-संज्ञा होके प्रत्ययके तकारको नत्व (८।२।४२, ४४) होनेसे 'लून', 'गीर्ण' शब्द बनते हैं। 'क्त' प्रत्ययके ककारको भी इत्संज्ञा (१।३।८) और लोप होके 'त' जितनाही भाग शेष रहता है। तब दोनोंमें 'त' भाग समानही दिखायी देनेसे 'लून', 'गीर्ण' में निष्ठा-संज्ञा होती है और 'लोत', 'गर्त' में नहीं होती इसका क्या कारण है यह यहाँ अभिप्राय है। यदि 'लोत', 'गर्त' में निष्ठा-संज्ञा हुई तो प्रत्ययके तकारको नत्व होगा यह दोष आता है।

ऽत्रानुबन्धः। लुप्ते ऽत्रानुबन्धे नान्यत्वं भविष्यति। तद्यथा। कतरद्देवदत्तस्य गृहम्। अदो यत्रासौ काक इति। उत्पतिते काके नष्टं तद् गृहं भवति। एवमिहापि लुप्ते ऽनुबन्धे नष्टः प्रत्ययो भवति॥ यद्यपि लुप्यते जानाति त्वसौ सानुबन्धकस्येयं सञ्ज्ञा कृतेति। तद्यथा। इतरत्रापि कतरद्देवदत्तस्य गृहम्। अदो यत्रासौ काक इति। उत्पतिते काके यद्यपि नष्टं तद् गृहं भवत्यन्ततस्तमुद्देशं जानाति॥

सिद्धविपर्यासश्च॥ ४॥

सिद्धश्च विपर्यासः। यद्यपि जानाति सदेहस्तस्य भवत्ययं स तशब्दो लोतः गर्त इत्यय स तशब्दो लूनः गीर्ण इति। तद्यथा। इतरत्रापि कतरद्देवदत्तस्य गृहम्। अदो यत्रासौ काक इति। उत्पतिते काके यद्यपि तमुद्देशं जानाति

लोप होके वह ककाररूप) अनुबन्ध अदृश्य होनेपर (लून, गीर्ण इन रूपोंमें वह ककार जाकर शेष रहा हुआ 'त' शब्द लोत, गर्त इनके 'त' शब्दसे) भिन्न है ऐसा नहीं समझा जायगा। (अर्थात् उसमें भिन्नत्व नहीं दिखायी देता है।) जैसे, (लोगोंमें) 'देवदत्तका घर कौनसा ?' (इस प्रश्नका उत्तर यह दिया जाता है कि) 'जिस पर कौआ बैठा है वह घर'। परन्तु वह कौआ वहाँसे उठ जानेपर 'कौआ बैठा है' इस स्वरूपका घर नष्ट होता है। वैसे ही यहाँ इत्सञ्ज्ञक ककारका लोप होनेपर ('क्त' स्वरूपका) प्रत्यय नष्ट ही होता है।

पर, यद्यपि (ककारका) लोप हुआ तो भी इत्संज्ञक (ककार) जिस ('त' प्रत्यय) का है उसको यह (निष्ठा-) सञ्ज्ञा की है ऐसा ज्ञात हुआ ही है। जैसे, (लोगोंमें भी) 'देवदत्तका घर कौनसा ?' (इस प्रश्नका उत्तर यह दिया जाता है कि) 'वह घर जिस पर कौआ बैठा है।' फिर वह कौआ वहाँसे उठ जानेपर 'कौआ बैठा है' इस स्वरूपका घर यद्यपि नष्ट हुआ तो भी आखिर (मनमें) उस ऊर्ध्वदेश (वाले घर) का ज्ञान होता है।

(वा ४) और सन्देह निर्माण होगा।

और (उस अवस्थामें उसके मनमें) सन्देह निर्माण होगा। (इत्सञ्ज्ञक ककार जिसको लगाया था उसको 'निष्ठा'—सञ्ज्ञा की है ऐसा) यद्यपि वह जानता है तो भी सन्देह निर्माण होता ही है। वह यों कि:—(१) 'लोत', 'गर्तः' (रूपों-) का 'त' शब्द (इत्सञ्ज्ञक ककारयुक्त मूलभूत) 'क्त' शब्द है अथवा (२) 'लूनः', 'गीर्णः' (रूपों-) का 'त' शब्द (इत्सञ्ज्ञक ककारयुक्त मूलभूत) 'क्त' शब्द है ऐसा समझा जाय ? जैसे, (लोगोंमें भी) 'देवदत्तका घर कौनसा ?' (इस प्रश्नका उत्तर यह दिया जाता है कि) 'वह घर कि जिस पर कौआ बैठा है।' अब फिर कौआ उठ जानेपर यद्यपि उसको (देवदत्तके) ऊर्ध्वदेश (वाले घर) का ज्ञान होता

संदेहस्तु तस्य भवतीदं तद् गृहमिदं तद् गृहमिति ॥ एवं तर्हि

कारककालविशेषात्सिद्धम् ॥ ५ ॥

कारककालविशेषावुपादेयौ । भूते यस्तशब्दः कर्तरि कर्मणि भावे चेति । तद्यथा । इतरत्रापि य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति सोऽध्रुवेण निमित्तेन ध्रुवं निमित्तमुपादत्ते वेदिकां पुण्डरीकं वा ॥ एवमपि प्राक्रीर्ष्टेत्यत्र प्राप्नोति ।

लुङि सिजादिदर्शनात् ॥ ६ ॥

लुङि सिजादिदर्शनान्न भविष्यति । यत्र तर्हि सिजादयो न दृश्यन्ते

है तो भी 'यही वह घर है' अथवा उसके पासका दूसरा 'यही वह घर' इस प्रकारका सन्देह उसके मनमें निर्माण होता है।

तो फिर—

(वा. ५) विशिष्ट कारक और विशिष्ट काल (ध्यानमें आने-) से इष्ट-सिद्धि होती है।

(मूल इत्संज्ञक ककार, 'लूनः,' 'गीर्णः' रूपोंमेंके 'त-' शब्दको लगाया था यह जाननेके लिए) एक विशेष प्रकारके कारकका और विशेष प्रकारके कालका चिह्न मनमें रखा जाय। (वह यों कि—) यह 'त-' शब्द भूतकालका निदर्शक है। (इसीको पहले इत्संज्ञक ककार लगाया था।) तथा यह 'त' शब्द 'कर्ता' अथवा 'कर्म' वा '*भाव*'–(*क्रिया*–) *का निदर्शक है।* (*इसीको पहले इत्संज्ञक ककार लगाया था इसका* सूचक कुछ चिह्न मान लेनेसे इष्ट कार्य सिद्ध होगा।) जैसे, (लोगोंमें भी) जो प्रेक्षापूर्वक काम करनेवाला (अर्थात् चतुर) मनुष्य है वह ('कौआ' चिह्न कायम रहनेवाला नहीं यह समझकर उसी समय) उस क्षणिक चिह्नसे उस घरका कोई कायम चिह्न उदा. ड्योढ़ी, पुण्डरीक (चित्र) इत्यादि मनमें रखता है; (और कौआ उड़ जानेपर भी उस चिह्नसे 'यह देवदत्तका घर है' ऐसा निश्चित कर लेता है। वैसे ही यह है।)

तो भी 'प्राक्रीर्ष्ट' क्रियापदमें ('त' प्रत्ययको भी) 'निष्ठा' संज्ञा प्राप्त होती है।

(वा. ६) लुङ् प्रत्ययके क्रियापदमें 'सिच्' आदि दीख पड़नेसे ('निष्ठा' संज्ञा न होगी।)

('प्राक्रीर्ष्ट') इस लुङ् प्रत्ययके क्रियापदमें 'सिच्' आदि अन्य कोई दीख

---

२. 'प्रकृतः कटं सः' में कर्तरि (३।४।७१) 'क्त' प्रत्यय किया है अर्थात् वह 'कर्ता' अर्थ दिखानेवाला है। 'हसितं', 'शयितं' इत्यादि रूपोंमें 'त' शब्द 'हँसना', 'शयन करना'- इत्यादि केवल क्रियाएँ दिखाता है।

३. 'प्रकृतः कटं सः' और 'प्राक्रीर्ष्ट कटं सः' दोनों वाक्योंमें 'प्रकृतः' और 'प्राक्रीर्ष्ट' दोनों रूपोंका 'त' प्रत्यय 'भूतकाल' तथा 'कर्ता' अर्थका निदर्शक है।

प्राभित्तेति। दृश्यन्ते ऽत्रापि सिजादयः। किं वक्तव्यमेतत्। न हि। कथमनुच्यमानं गंस्यते। यथैवायमनुपदिष्टान्कारककालविशेषानवगच्छत्येवमेतदप्यवगन्तुमर्हति यत्र सिजादयो नेति ॥

इति श्रीभगवत्पतञ्जलिविरचिते व्याकरणमहाभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमे पादे पञ्चममाह्निकम् ॥

पड़ते हैं, उससे वहाँ ('निष्ठा' संज्ञा) न होगी[४]।

तो फिर (लुङ् प्रत्ययके जिस क्रियापदमें) 'सिच्' आदि अन्य कोई दीख नहीं पड़ते इस स्वरूपके 'प्राभित्त'–(आदि उदाहरणोंमें 'त' को 'निष्ठा'–संज्ञा होगी यह दोष आता ही है)।

पर यहाँ भी (उदाहरण सिद्ध करनेमें) 'सिच्' आदि दिखायी देते ही हैं।

तो फिर क्या यहाँ ('सिच्' आदि थे) यह कहना चाहिये?

(वह कहनेकी आवश्यकता) नहीं।

फिर कहे बिना कैसे समझा जाय?

जैसे कहे बिना कर्ता, कर्म और भूतकाल इत्यादि अर्थ समझे जाते हैं वैसे ही 'सिच्' आदि कोई नहीं (यह समझमें आयेगा)।

इस प्रकार श्रीभगवान् पतञ्जलिके रचे हुए व्याकरणमहाभाष्यके पहले अध्यायके पहले पादका पाँचवाँ आह्निक समाप्त हुआ।

---

४. जब कोई चतुर मनुष्य देवदत्तके घरके कायम रहनेवाले चिह्न उदा॰ ड्योढ़ी, पुण्डरीक (चित्र) इत्यादि ध्यानमें रखता है तब 'उसको अटारी नहीं' यह चिह्न वह ध्यानमें रखता ही है सो बात नहीं। परन्तु उसी स्वरूपका ड्योढ़ी, पुण्डरीक इत्यादि चिह्नयुक्त दूसरा कोई अटारीवाला घर दिखायी दे तो 'यह देवदत्तका घर नहीं' ऐसा वह निश्चयसे कहता है। वही यहाँ समझा जाय।

५. 'प्राभित्त' क्रियापदमें 'सिच्' प्रत्यय हुआ है। पर 'झलो झलि' (८।२।२६) से उसका लोप हुआ है, उसमें वह नहीं दीखता।

६. क्योंकि 'प्राभित्त' इस सिद्ध रूपमें 'सिच्' नहीं दीखता।

७. बीचमें सिच् आदि प्रत्यय लगाये गये या नहीं यह बात वैयाकरण अनायास समझ सकता है।

सर्वनामाव्ययादिसंज्ञानामकं षष्ठमाह्निकम्।

सर्वनामाव्ययादिसंज्ञाह्निक (अ १ पा. १ आह्निक ६)

[**सर्वनामसंज्ञाका विवेचन**—इस आह्निकमें सर्वनाम, अव्यय, सर्वनामस्थान और विभाषा इन संज्ञाओंका विचार किया है। 'सर्वादीनि०' (सू २७) सूत्रका 'सर्वादि'–शब्द तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि समाससे सिद्ध होनेसे सर्वनामसंज्ञा सर्वादि गणके 'सर्व' शब्दको और तदनन्तर उच्चारित अन्य सभी शब्दोंको देनी है ऐसा भाष्यकारने कहा है। सर्वनाम 'निपातन'–शब्द होनेसे उसके 'न'–कारको 'ण'–कार न होते हुए 'सर्वनाम' यही शुद्ध शब्द समझना है। सूत्रकार जब कोई निपातन कहते हैं तब निपातनमें प्राप्त हुई अन्य विधियोंका प्रतिषेध होनेके कारण वे विधियाँ की ही नहीं जा सकतीं और उन विधियोंको करके सिद्ध हुआ शब्द अशुद्ध ही होता है। वार्तिककारोंने कहा है कि यह वचन किया जाय— 'सर्व आदि सर्वनाम शब्द कुछ पदार्थोंकी वा व्यक्तियोंकी संज्ञा हों तो अथवा अन्य शब्दोंके विशेषणके रूपमें प्रयुक्त किये जाएँ तो सर्वनामोंके प्रति कहे हुए कार्य उनको नहीं होते हैं'। पर भाष्यकारने कहा है कि इस प्रकारका वचन करनेकी आवश्यकता नहीं है, और 'पूर्वपरावर०' (१।१।३४) सूत्रके 'असंज्ञायाम्' पदके कारण सर्व, विश्व इत्यादि शब्द संज्ञावाचक हुए तो उसको सर्वनामसंज्ञा नहीं होती है, तथा 'अनुपसर्जनात्' (४।१।१४) सूत्रका संबंध प्रस्तुत सूत्रसे किया जायगा उससे भी संज्ञारूप और समासमें होते हुए भी विशेषण बने सर्व, विश्व इत्यादि शब्दोंको सर्वनामसंज्ञाका प्रतिषेध होगा ही ये कारण दिये हैं। उन्होंने यह भी कहा है कि, 'सर्वनाम' संज्ञाका योगार्थ 'सर्वोंका नाम' किया गया तो संज्ञा और उपसर्जनको सर्वनाम कहा ही नहीं जा सकता है, और 'सर्वनाम' इस बडी संज्ञाको अन्वर्थक समझा जानेसे भी संज्ञा शब्दोंको 'सर्वनाम' संज्ञा लागू होनेकी अतिव्याप्ति टल जायगी। उसके बाद भाष्यकारने 'विभाषा दिक्समासे०' (सू २८) सूत्रके 'समासे' और 'बहुव्रीहौ' पदोंके प्रयोजनके बारेमें विवेचन किया है और बताया है कि 'दक्षिणदक्षिणस्यै' जैसा द्विवचनरूप लाक्षणिक बहुव्रीहि यहाँ नहीं होता है, तथा समासोंमें आये हुए बहुव्रीहिके 'अन्तर' आदि शब्दोंको सर्वनामकार्य नहीं होते। तदनन्तर 'न बहुव्रीहौ' (सू २९) सूत्रके विवेचनका प्रारंभ करके भाष्यकारने निर्णय दिया है कि, वास्तवमें देखा जाय तो इस सूत्रकी आवश्यकता नहीं है। प्रथमतः बहुव्रीहि समासमें सर्वनाम और संख्याको पूर्वनिपात होता है इस प्रकारका विधान वार्तिककारोंने किया है इसलिए सर्वनाम शब्दका समासके अन्तमें आना असंभवनीय ही नहीं और यदपि कुछ स्थलोंमें सभर दिखायी दिया तो भी समासोंका सर्वनाम

शब्द उपसर्जन होनेसे उसको सर्वनामकार्य न होंगे। अब, समास किया जानेपर होनेवाली बहुव्रीहि सज्ञाकी अपेक्षा सर्वनामसज्ञा अन्तरग होनेके कारण, तथा प्रक्रियावाक्य समासके समान ही वाक्य समझे जानेके कारण बहुव्रीहि समासके सर्वनाम शब्दोंको जो सर्वनामकार्य होने लगेंगे वे न होनेके लिए 'न बहुव्रीहौ' निषेध आवश्यक है ऐसा होते हुए भी सर्वनाम, स्वर और अकच् प्रत्यय बहुव्रीहि समासके सर्वनामोंको करना इष्ट है यह गोनर्दीयका मत है और स्वर तथा अकच् होनेको 'न बहुव्रीहौ' सूत्र प्रतिबध करता है। तात्पर्य यह है कि, 'न बहुव्रीहौ' सूत्रकी आवश्यकता नहीं है। 'तृतीयासमासे' (सू ३०) सूत्रसे लेकर 'अन्तर बहिर्योगोपसव्यानयो' (सू २६) सूत्रतक कुछ अन्य शब्द दिये हैं जिनके विवक्षित अर्थमें और विवक्षित सबधमें सर्वनामसज्ञा होती है। समासके प्रक्रियावाक्यमें यह सर्वनामसज्ञा होती है इस स्वरूपका निष्कर्ष 'असमास निष्कादिभ्य' (५।१।२०) सूत्रके 'असमासे' पदसे निकलता है। यहाँ पाणिनिने सूत्रपाठ पहले रचा वा गणपाठ पहले बनाया इसके बारेमें प्रासगिक विवेचन करके गणपाठ पहले रचा हो, तथा सर्वादिगणमें यद्, तद्, इत्यादि आठ सर्वनामोंके पहले पूर्व, पर इत्यादि शब्द रखे गये हों यह भी वार्तिककारोंके वचनोंसे दीख पडता है ऐसा भाष्यकारने कहा है।

अव्ययसज्ञाका विवेचन—'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (सू २७) सूत्रसे लेकर 'अव्ययीभावश्च' (सू ४१) सूत्रतक वे शब्द दिये हैं जिनको अव्ययसज्ञा होती है। यहाँ निपात और अव्यय ये दो भिन्न भिन्न सज्ञाएँ कहनेका कारण क्या है तथा इन दोनोंमें भेद क्या है इस विषयका विचार किया गया है। इसके बाद लिंग और सज्ञासे युक्त घट आदि अर्थको द्रव्य कहते हैं, तथा, च, वा इत्यादि शब्दोंसे समझे जानेवाले लोगोंमें लिंगसख्यारहित सबध, विकल्प, समुच्चय इत्यादि अर्थोंको भी द्रव्य कहते हैं, अत द्रव्यवाचक शब्दसे यद्यपि लिंगसख्यासहित अथवा लिंगसख्यारहित दोनों प्रकारके अर्थोंका बोध हुआ तो भी अव्यय शब्दोंसे केवल स्वभावत ही लिंगसख्यारहित पदार्थोंका बोध होता है और उससे उनको लिंगवाचक तथा सख्यावाचक प्रत्यय नहीं लगते हैं ऐसा 'अलिङ्गम सख्यमिति वा' वार्तिकमें वार्तिककारोंने कहा है। साथ ही साथ किसी विशिष्ट विभक्तिका अर्थ 'अव्यय' शब्दमें न होनेके कारण अव्ययोंको विभक्ति-प्रत्यय भी न लगना सभवनीय है ऐसा भाष्यकारने कहा है, और यही बात 'अव्ययादाप्सुप' (२।४।८२) सूत्रसे दीख पडती है इस प्रकारका विधान करना सभव है। वस्तुत 'अव्ययादाप्सुप' (२।४।८२) सूत्रसे लिंगवाचक, वचनवाचक और विभक्तिवाचक प्रत्ययोंका लुक् होता है ऐसा कहा जानेके कारण अव्ययोंको लिंगवाचक और विभक्तिवाचक प्रत्यय लगते हैं इस

प्रकारका मत सूत्रकारका हो यह दिखायी देता है। 'स्वर', 'वा' जैसे अव्ययोंके स्वर्ग, विकल्प इत्यादि जो पर्याय शब्द हैं उनमें लिंगार्थ होनेसे, तथा 'तत्र', 'तत' जैसे अव्ययोंके 'तस्मिन्', 'तस्मात्' इत्यादि जो पर्यायशब्द हैं उनमें विभक्तिका अर्थ होनेसे अव्ययमें भी लिंगार्थ और विभक्त्यर्थ अन्तर्भूत रहते हैं यह सूत्रकारोंका 'अव्ययादाप्सुप' (२।४।८२) सूत्र करनेमें अभिप्राय हो। जिन अव्ययोंके अर्थमें लिंग समझमें नहीं आ सकता है उनके बारेमें 'सामान्ये नपुंसकम्' से नपुंसकलिंगी प्रत्ययका विधान और 'प्रातिपदिकार्थ०' (२।३।४६) से प्रातिपदिक अर्थमें प्रथमा विभक्तिका तथा द्वित्व और बहुत्व कल्पनाओंके अभावमें प्रथमा विभक्तिके भी एकत्ववाचक 'सु'-प्रत्ययका विधान पाणिनिको अभिप्रेत हो। "सदृश त्रिषु लिङ्गेषु०" कारिकाके 'सदृशम्' और 'न व्येति' पदोंसे भी यही सूचित होता है कि "लिंगसे, विभक्तिसे अथवा वचनसे अव्ययोंके रूपमें कोई भी भेद नहीं होता है, अव्ययोंको लिंगवाचक, विभक्तिवाचक और वचनवाचक प्रत्यय लगानेमें कुछ भी बाधा नहीं, उनका लोप होता है यह अलग बात है।" इसी प्रकरणमें 'कुम्भकारेभ्य', 'नगरकारेभ्य' इत्यादि रूपोंमें एकारान्त प्रकृतिको 'कृन्मेजन्त' (१।१।३९) सूत्रसे अव्ययसंज्ञा नहीं होती है इसका कारण "सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य" परिभाषा करना अत्यन्त आवश्यक है यह कहकर उसके उदाहरण वार्तिककारोंने दिये हैं, और यह परिभाषा लेनेमें कहीं कहीं जो दोष आते हैं उनका निराकरण करनेके लिए कुछ उपाययोजना की जाय ऐसा भी कहा है। तदनन्तर 'सर्वनामस्थान'-संज्ञाका लक्षण दिया और सन्दर्भसे 'अनपुंसकस्य' समास 'असूर्यंपश्य', 'अश्राद्धभोजी', 'अपुनर्गेय' इत्यादिके सदृश है और उसका अर्थ यों दिया है कि "नपुंसकलिंगमें 'सुट्' अर्थात् सु, औ इत्यादि जो पहले पांच प्रत्यय हैं उनको सर्वनामस्थानसंज्ञा नहीं होती है।" यह सर्वनामस्थानसंज्ञा भी अन्वर्थ हो। आह्निकके अन्तमें पाणिनिसूत्रोंमें अनेक बार पाये जानेवाले 'विभाषा' शब्दके अर्थका विवेचन करके भाष्यकारने कहा है कि 'न वेति विभाषा' (१।१।४४) सूत्रके 'इति' शब्दसे 'न' और 'वा' पदोंका लोगोंमें जो निषेधविकल्परूप अर्थ है वही विभाषा शब्दका अर्थ समझा जाय, और शब्दानित्यपक्षमें तथा शब्दनित्यपक्षमें विभाषा शब्दके अर्थका विवेचन करके 'अप्राप्ते विभाषा,' 'प्राप्ते विभाषा' और 'उभयत्र विभाषा' के उदाहरण दिये हैं।]

सर्वादीनि सर्वनामानि ॥ १ । १ । २७ ॥ ४३

सर्वादीनीति कोऽयं समासः । बहुव्रीहिरित्याह । कोऽस्य विग्रहः । सर्वशब्द आदिर्येषां तानीमानीति । यद्येवं सर्वशब्दस्य सर्वनामसंज्ञा न प्राप्नोति । किं कारणम् । अन्यपदार्थत्वाद् बहुव्रीहेः । बहुव्रीहिरयमन्यपदार्थे वर्तते । तेन यदन्यत्सर्वशब्दात्तस्य सर्वनामसंज्ञा प्राप्नोति । तद्यथा । चित्रगुरानीयतामित्युक्ते यस्य ता गावो भवन्ति स आनीयते न गावः । नैष दोषः । भवति बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि । तद्यथा । चित्रवाससमानय । लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति । तद्गुण आनीयते तद्गुणाश्च प्रचरन्तीति ॥

(सू. २७) (सर्वादिगणके जो) 'सर्व' आदि शब्द हैं (उनको) सर्वनामसंज्ञा होती है।

'सर्वादीनि' यह समास कौनसा है?

यह बहुव्रीहि समास है ऐसा (मैं) कहता हूँ।

इसका विग्रह किस तरह करें?

'सर्वशब्दः आदिः येषां तानि इमानि' (अर्थात् 'सर्व' शब्द जिनका आदि है ऐसे)। यदि ऐसा (विग्रह किया) तो 'सर्व' शब्दको सर्वनामसंज्ञा प्राप्त नहीं होती।

क्या कारण है?

'अन्यपदार्थत्वाद् बहुव्रीहेः' अर्थात् बहुव्रीहि समास (उसके पदार्थसे भिन्न) अन्य पदार्थको सूचित करता है। इससे 'सर्व' शब्दसे जो अन्य शब्द हैं उन्हें सर्वनामसंज्ञा प्राप्त होती है; जैसे,—'चित्रगुः आनीयताम्' (जिसकी गौएँ अनेक प्रकारकी हैं उसे ले आइये) ऐसा कहनेपर जिसकी वे गौएँ हैं वही केवल लाया जाता है, गौएँ नहीं लायी जातीं।

यह दोष नहीं आता है। क्योंकि बहुव्रीहिसे 'तद्गुणविज्ञान' भी होता है (अर्थात् बहुव्रीहिके पदोंके दिखाये विशेषणोंका अन्य पदार्थके साथ कार्योंमें अन्वय भी होता है); जैसे, 'चित्रवाससं आनय', 'लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति' ऐसा कहनेपर चित्र वस्त्र ओढ़ा हुआ लाया जाता है, और लाल पगड़ी पहने हुए ऋत्विज संचार करते हैं।[1]

---

१. जिसका वस्त्र रंगबिरंगा है उस मनुष्यको ले आइये, और जिनकी पगड़ी लाल है वे ऋत्विज संचार करते हैं, ये इन वाक्योंके अर्थ हैं।

२. तब यहाँ 'सर्वादि' जो आदिशब्द है वह अवयववाचक होनेके कारण सर्वशब्दसहित अन्य पदार्थ लेना चाहिये। अतः उसके अन्य शब्दके समान सर्व शब्दको भी सर्वनामसंज्ञा होती है।

इह सर्वनामानीति पूर्वपदात्संज्ञायामगः [८. ४. ३.] इति णत्वं प्राप्नोति तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः।

सर्वनामसंज्ञायां निपातनाण्णत्वाभावः॥ १ ॥

सर्वनामसंज्ञायां निपातनाण्णत्वं न भविष्यति । किमेतन्निपातनं नाम। अथ कः प्रतिषेधो नाम। अविशेषेण किंचिदुक्त्वा विशेषेण नेत्युच्यते । तत्र व्यक्तमाचार्यस्याभिप्रायो गम्यत इदं न भवतीति । निपातनमप्येवंजातीयकमेव । अविशेषेण णत्वमुक्त्वा विशेषेण निपातनं क्रियते । तत्र व्यक्तमाचार्यस्याभिप्रायो गम्यत इदं न भवतीति ॥ ननु च निपातनाच्चागत्वं स्याद्यथाप्राप्तं च णत्वम् । किमन्येऽप्येवं विषयो भवन्ति। इहेको यणचि [६. १. ७७] इति वचनाच्च यण् स्याद्यथाप्राप्तश्चेक् श्रूयेत। नैष दोषः। अस्त्यत्र विशेषः। षष्ठ्यात्र निर्देशः क्रियते षष्ठी च पुनः स्थानिनं निवर्तयति ॥ इह तर्हि कर्तरि शप्

अत्र 'सर्वनामानि' शब्दमें 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' (८।४।३) से नकारको णत्व प्राप्त होता है, उसका प्रतिषेध कहना चाहिये।

(वा. १) सर्वनामसंज्ञामें निपातन होनेके कारण णत्व नहीं होगा।

'सर्वनाम' इस संज्ञाशब्दमें (सर्वनाम शब्द) निपातन होनेके कारण 'णत्व' (अर्थात् 'ण' आदेश) नहीं होगा।

निपातन क्या है ? तथा प्रतिषेधका भी क्या अर्थ है ?

सामान्यतः कोई एक बात बताकर विशेष स्थानपर वह बात न की जाय ऐसा कहा जाता है (इसको प्रतिषेध कहते हैं)। वहाँ 'अमुक नहीं होता' यह आचार्यजीका अभिप्राय स्पष्टतया जाना जाता है। निपातन भी इसी जातिका है। सामान्यतः णत्वका विधान करके विशेषतः ('सर्वनाम' इस तरह उसके विपरीत) उच्चारण करना निपातन है। इससे आचार्यजीका स्पष्ट अभिप्राय यह समझा जाता है कि, यह (णत्व) यहाँ (सर्वनाम शब्दमें) नहीं होता है।

इस निपातनसे णत्व न होगा (और 'सर्वनाम' शब्दको साधुत्व मानिये); परन्तु "पूर्वपदात्०" (८।४।४३) सूत्रसे णत्व भी एक बार होगा।

अन्य विधान क्या इस तरह किये जा सकते हैं ? यदि किये जाते हैं तो "इको यणचि" (६।१।७७) वचनसे 'दृष्टि + अत्र' में यण् होगा और मूल इकार भी एक बार सुना जायगा।

यह दोष नहीं आता है। क्योंकि यहाँ थोड़ा विशेष है। षष्ठी विभक्ति लगाकर यहाँ (इक्‌का) उल्लेख किया है। और षष्ठी विभक्ति तो स्थानीकी निवृत्ति करती है।

तो "कर्तरि शप्" (३।१।६८) के आगेके "दिवादिभ्यः श्यन्" (३।१।६९)

[३. १. ६८] दिवादिभ्यः श्यन् [६९] इति वचनाच्च श्यन्स्याद्यथाप्राप्तश्च शप् श्रूयेत । नैष दोषः । शबादेशाः श्यन्नादयः करिष्यन्ते । तत्तर्हि शपो ग्रहणं कर्तव्यम् । न कर्तव्यम् । प्रकृतमनुवर्तते । क्व प्रकृतम् । कर्तरि शबिति । तद्वै प्रथमानिर्दिष्टं षष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थः । दिवादिभ्य इत्येषा पञ्चमी शबिति प्रथमायाः षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति तस्मादित्युत्तरस्य [१ १. ६७] इति । प्रत्ययविधिरयं न च प्रत्ययविधौ पञ्चम्यः प्रकल्पिका भवन्ति । नायं प्रत्ययविधिः । विहितः प्रत्ययः प्रकृतश्चानुवर्तते ॥ इह तर्ह्यव्ययसर्वनाम्नामकच्प्राक्टेः [५. ३. ७१] इति वचनाच्चाकच्स्याद्यथाप्राप्तश्च कः श्रूयेत । नैष दोषः । नाप्राप्ते हि के ऽकजारभ्यते

सूत्रसे ('दिव्' आदि चतुर्थगणकी धातुओंके आगे) 'श्यन्' प्रत्यय होगा। और ("कर्तरि शप्" से बताया हुआ) 'शप्' प्रत्यय भी एक बार सुना जायगा।

यह दोष नहीं आता। क्योंकि 'श्यन्' आदि (प्रत्यय) 'शप्' प्रत्ययके स्थानमें आदेश किये जायेंगे।

तो फिर ('श्यन्' आदि प्रत्यय कहनेवाले सूत्रोंमें) 'शपः' (यह षष्ठचन्त) शब्द रखा जाना चाहिये।

(उसमें षष्ठचन्त शप्) रखना आवश्यक नहीं, पिछले सूत्रमें उच्चारित यहाँ अनुवृत्त होगा।

पिछले किस सूत्रमें (शप् शब्द) उच्चारित है ?

"कर्तरि शप्" में।

परन्तु वह (शप् शब्द) प्रथमा विभक्ति लगाकर उच्चारित है। और यहां षष्ठी विभक्ति लगाकर उच्चारित होना आवश्यक है।

"दिवादिभ्यः श्यन्" (यहाँकी) 'दिवादिभ्यः' यह पञ्चमी विभक्ति "तस्मादित्युत्तरस्य" (१।१।६७) इस परिभाषासूत्रकी सहायतासे 'शप्' शब्दके आगेकी प्रथमाको षष्ठी बनायेगी।

परन्तु "दिवादिभ्यः श्यन्" यह प्रत्ययविधि है और प्रत्ययविधिमें की पञ्चमी विभक्तियाँ तो (षष्ठी) नहीं बना सकती हैं।

यह प्रत्ययविधि नहीं है। प्रत्यय तो "कर्तरि शप्" सूत्रसे पहले ही बताया गया है। वह प्रत्यय केवल यहाँ अनुवृत्त होता है।

तो फिर "अव्ययसर्वनाम्नामकच्प्राक्टेः" (५।३।७१) वचनसे (सर्व, विश्व इत्यादि शब्दोंको) अकच् (प्रत्यय) होगा; और प्राप्त 'क' प्रत्यय भी एक बार होगा।

यह दोष नहीं आता। क्यों कि 'क' प्रत्यय नाप्राप्त (अर्थात् 'अकच्' प्रत्ययके सब उदाहरणोंमें प्राप्त) होनेपर 'अकच्' प्रत्ययका विधान किया जाता है।

स बाधको भविष्यति। निपातनमप्येवंजातीयकमेव। नाप्राप्ते णत्वे निपातनमारभ्यते तद्बाधकं भविष्यति ॥ यदि तर्हि निपातनान्यप्येवंजातीयकानि भवन्ति समस्तते दोषो भवति। इहान्ये वैयाकरणाः समस्तते विभाषा लोपमारभन्ते समो हिततततयोर्वेति। सततम् संततम् सहितम् संहितमिति। इह पुनर्भवान्निपातनाच्च मलोपमिच्छत्यपरस्पराः क्रियासातत्ये [६. १. १४४] इति यथाप्राप्तं चालोपं संततमित्येतन्न सिध्यति। कर्तव्यो ऽत्र यत्नः। बाधकान्येव हि निपातनानि भवन्ति ॥

संज्ञोपसर्जनप्रतिषेधः ॥ २ ॥

संज्ञोपसर्जनीभूतानां सर्वादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः। सर्वो नाम कश्चित्तस्मै

अतः वह अकच् 'क' प्रत्ययका बाध करेगा।

निपातन भी इसी जातिका है। अतः णत्व नाप्राप्त होनेपर (णत्वाभावका) निपातन किया जाता है वह णत्वका बाधक होगा।

यदि निपातन भी इस जातिके (अर्थात् बाधक) होंगे तो 'सम्' शब्दके आगे 'तत' शब्द होनेपर दोष आता है। इस स्थानपर कोई अन्य वैयाकरण "हिततततयोः" ऐसा वचन करके 'सम्' शब्दके आगे तत और हित आनेपर वहाँ (मकारका) लोप विकल्पसे बताया जाता है; उदा० सततम्, संततम्, सहितम्, संहितम्। और आप तो (इस व्याकरणमें) "अपरस्पराः क्रियासातत्ये" (६।१।१४४) इस निपातनसे लोप, और मूलतः प्राप्त अलोप (अर्थात् लोपका अभाव) चाहते हैं, वह अब सिद्ध नहीं होगा।

यहाँ (अर्थात् 'संततम्' और 'सततम्' ऐसे दो रूप होनेके लिए) कोई अलग प्रयत्न[४] किया जाय, क्योंकि निपातन बाधक ही होते हैं।

(वा. २) संज्ञाभूत वा उपसर्जनीभूत सर्वादि शब्दोंको (सर्वनामसंज्ञाका) निषेध किया जाय।

संज्ञाभूत अथवा उपसर्जनीभूत सर्वादि शब्दोंको (सर्वनामसंज्ञाका) निषेध किया जाय; जैसे, —'सर्वो नाम कश्चित्, तस्मै सर्वाय देहि।' (यहाँ सर्व शब्द एक

---

३. सततस्य भावः सातत्यम्। 'तन्' धातुके आगे 'क्त' प्रत्यय करके धातुके नकारका लोप (६।४।३७) करनेसे 'तत' शब्द सिद्ध होता है। पीछे 'सम्' उपसर्ग है, उसके मकारका लोप करनेसे 'सतत' शब्द बनता है। यह मकारलोप पाणिनिने आगे नहीं कहा है। पर यहाँ मकारका लोप करके 'सातत्य' उच्चारण किया है वही निपातन है। इस निपातनसेही इस शब्दमें मकारका लोप हुआ है।

४. पृषोदरादि गणमें (६।३।१०९) 'सतत' और 'संतत' दोनों शब्दोंकी कल्पना की जाय, जिससे मकारका लोप विकल्पसे होगा।

सर्वाय देहि। अतिसर्वाय देहि॥ स कथं कर्तव्यः।

पाठात्पर्युदासः पठितानां संज्ञाकरणम् ॥ ३ ॥

पाठादेव पर्युदासः कर्तव्यः। शुद्धाना पठितानां सज्ञा कर्तव्या। सर्वादीनि सर्वनामसज्ञानि भवन्ति। सज्ञोपसर्जनीभूतानि न सर्वादीनि। किमविशेषेण। नेत्याह। विशेषेण च। किं प्रयोजनम्।

सर्वाद्यानन्तर्यकार्यार्थम् ॥ ४ ॥

सर्वादीनामानन्तर्येण यदुच्यते कार्यं तदपि सज्ञोपसर्जनीभूताना मा भूदिति। किं प्रयोजनम्।

व्यक्तिका नाम होनेके कारण उसको सर्वनामसज्ञा नहीं, अतः 'ङे' प्रत्ययको ७।१।१४ सूत्रसे प्राप्त 'स्मै' आदेश नहीं किया है।) तथा '(सर्वमतिक्रान्तोऽतिसर्व, तस्मै) अतिसर्वाय देहि' (यहा 'सर्व' शब्द 'अतिक्रान्त' इस अर्थका विशेषण होनेके कारण सर्वनामसज्ञाका निषेध होता है, अत 'स्मै' आदेश नही किया।)

(सर्वनामसज्ञाका) वह निषेध किस प्रकारसे किया जाय?

(वा ३) गणपाठसे ही हटा देना और संज्ञा करना।

(सज्ञाभूत अथवा उपसर्जनीभूत 'सर्व' आदि शब्द) गणपाठसे ही हटा दिये जायँ। और शुद्ध 'सर्व' आदि शब्दोंको (सर्वनाम) सज्ञा की जाय। (अर्थात् 'सर्व' आदि शब्दोंको सर्वनामसज्ञा होती है, पर वे 'सर्व' आदि शब्द सज्ञाभूत अथवा उपसर्जनीभूत हों तो नहीं होती।)

(सज्ञा वा उपसर्जन शब्दोंको) क्या सामान्यत (सर्वनामसज्ञा न हो इसीलिए उन्हें गणपाठसे) हटा दिया जाय?

केवल उसीलिए नहीं ऐसा मै कहता हूँ। तो विशेष कार्य (अर्थात् अन्तर्गणको लक्ष्य करके जो कार्य बताया गया है वह भी सज्ञा और उपसर्जनको) न हो इसलिए भी (उन्हें गणपाठसे हटाना है।)

(सज्ञा अथवा उपसर्जनीभूत 'सर्व' आदि शब्दोंको ऐसे कार्यके लिए गणपाठसे हटानेसे) लाभ क्या है?

(वा ४) सर्वादि गणके अन्तर्गणके नाते गृहीतको बताये गये कार्यके लिए।

सर्वादि गणके अन्तर्गण (उपगण) के नाते गृहीत (माने हुए त्यदादि शब्दोंको अथवा डतरादि शब्दों) को जो कार्य बताया जाता है वह भी सज्ञा अथवा उपसर्जनको न हो।

उसका उदाहरण क्या है?

प्रयोजनं डतरादीनामद्ड्भावे ॥ ५ ॥

डतरादीनामद्ड्भावे प्रयोजनम्। अतिक्रान्तमिदं ब्राह्मणकुलं कतरत् अतिकतरं ब्राह्मणकुलमिति ॥

त्यदादिविधौ च ॥ ६ ॥

त्यदादिविधौ च प्रयोजनम्। अतिक्रान्तोऽयं ब्राह्मणस्तम् अतितद्ब्राह्मण इति ॥

संज्ञाप्रतिषेधस्तावन्न वक्तव्यः। उपरिष्टाद्योगविभागः करिष्यते। पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायाम्। ततोऽसंज्ञायामिति। सर्वादीनीत्येव यान्यनुक्रान्तान्यसंज्ञायां तानि द्रष्टव्यानि ॥ उपसर्जनप्रतिषेधश्च न कर्तव्यः।

(वा. ५) डतरादि शब्दोंके विषयमें बताये हुए 'अद्ड्' आदेश (७।१।२५) के विषयमें लाभ होता है।

डतरादि शब्दोंके विषयमें बताये हुए 'अद्ड्' आदेश (७।१।२५) के विषयमें (वैसे शब्दोंको गणसे हटानेका) लाभ होता है; जैसे कतरत् अतिक्रान्तं ब्राह्मणकुलम्। अतिकतरम् (यहाँ 'कतर' शब्दका अर्थ 'अतिक्रान्त' अर्थका उपसर्जन होनेके कारण उसका डतरादि गणोंमें प्रवेश नहीं होता। अतः अद्ड् आदेश नहीं होता।

(वा. ६) त्यदादिके अत्व विधानके विषयमें भी (सर्वनामसंज्ञाके निषेधका प्रयोजन है।)

त्यदादि (शब्दों) को कहे हुए 'अ' आदेशके विधानके (७।२।१०२) बारेमें भी (वैसे शब्दोंको सर्वादि गणसे हटानेका) लाभ होता है; जैसे,— तम् अतिक्रान्तो ब्राह्मणः 'अतितद्' ब्राह्मणः। (यहाँ 'तद्' शब्दका अर्थ 'अतिक्रान्त' अर्थका उपसर्जन होनेके कारण उसका त्यदादि गणमें अन्तर्भाव नहीं होता। अतः अकार आदेश नहीं होता।)

संज्ञाभूत (सर्वादि शब्दों-) को (गणपाठसे हटानेसे उन्हें सर्वनामसंज्ञाका यह) जो निषेध किया गया है वह करनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि आगे आनेवाले सूत्रमें योगविभाग किया जायेगा। वह यों है— "पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायाम्" (यह एक सूत्र है) और उसके आगे "असंज्ञायाम्" ऐसा (दूसरा सूत्र है)। (सर्वनामसंज्ञाके उद्देश्य ये जो) सर्व-आदि पैंतीस शब्द क्रमसे निर्दिष्ट किये गये हैं वे संज्ञाशब्दसे भिन्न है ऐसा माना जाय।

वैसेही उपसर्जनीभूत (सर्वादि शब्दोंको जो सर्वनामसंज्ञा) का प्रतिषेध (किया गया है वह भी) करनेकी आवश्यकता नहीं है। क्यों कि 'अनुपसर्जनात्'

---

५ 'पूर्वपरा॰' गणसूत्रमें (उद्योत)।

अनुपसर्जनात् [४. १ १४] इत्येष योगः प्रत्याख्यायते तमेवमभिसंभन्त्स्यामः। अनुपसर्जन अ अदिति। किमिदम् अदिति। अकारात्कारौ शिष्यमाणावनुपसर्जनस्य द्रष्टव्यौ। यद्येवमतियुष्मत् अत्यस्मदिति न सिध्यति। प्रश्लिष्टनिर्देशो ऽयम्। अनुपसर्जन अ अ अदिति। अकारान्तादकारात्कारौ शिष्यमाणावनुपसर्जनस्य द्रष्टव्यौ॥ अथवाङ्गाधिकारे यदुच्यते गृह्यमाणविभक्तेस्तद्भवति। यद्येवं परमपञ्च परमसप्त षड्भ्यो लुक् [७ १. २२] इति लुग् प्राप्नोति। नैष दोषः। षट्प्रधान एष समासः॥ इह तर्हि प्रियसक्थ्ना ब्राह्मणेनानङ् न प्राप्नोति।

(४।१।१४) सूत्रका प्रत्याख्यान किया जाता है। अतः उस सूत्रमें 'अनुपसर्जन अ अत्' (ये पद लेकर 'उपसर्जनको ऊपरके कार्य न होंगे') ऐसी व्याख्या करें।

अ अत् का अर्थ क्या है ?

'अ' और 'अत्' ये कहे हुए आदेश अनुपसर्जनको होते है।

यदि ऐसा है तो अतियुष्मत् तथा अत्यस्मत् (यहाँ 'पञ्चम्या अत्'—७।१।३१ —से अत् आदेश होकर) रूपसिद्धि न होगी।

'अनुपसर्जनात्' यह प्रश्लिष्ट निर्देश है (अर्थात् और एक अकारकी संधि करके निर्देश किया गया है।) अतः अनुपसर्जन, अ, अ, अत् ऐसा (पदच्छेद) किया जाय। (उसमें 'अनुपसर्जन' यह लुप्तषष्ठ्यन्त पद है।) और उसके आगेका 'अ' (लुप्तपञ्चम्यन्त पद है।) अकारसे आगे किये जानेवाले 'अ' आदेश तथा 'अत्' अनुपसर्जनको किये[१] जायें।

अथवा अंगाधिकारमें जो कार्य बताया गया है वह गृह्यमाण (अर्थात् सूत्रमें उच्चारित) शब्दको ही जिस स्थानपर विभक्ति-प्रत्यय लगाया गया हो वहीं होता है। (उदा० 'अतितत् ब्राह्मणः' यहाँकी विभक्ति 'अतितत्' शब्दको लगी हुई है; सूत्रमें उच्चारित अर्थात् तद् शब्दको नहीं लगी। इससे वहाँ अकार आदेश नहीं होता है।)

यदि यह बात है तो 'परमपञ्च', 'परमसप्त' यहाँ 'षड्भ्यो लुक्' (७।१।२२) इससे लुक् प्राप्त नहीं होता है।

यह दोष नहीं आता। क्योंकि ('परमपञ्च' वा 'परमसप्त') समासमें षट्संज्ञक शब्द ही प्रधान है। (अतः उस मुख्य अर्थको लेकर बनी विभक्ति पञ्चन्, सप्तन् इत्यादि षट्संज्ञक शब्दोंको लगी है ऐसा कहा जा सकता है, इसीलिए वहाँ विभक्तिका लुक् होता है।)

---

[१] 'पञ्चम्या अत्' से जो 'अत्' आदेश कहा है वह अकारके आगे पञ्चमीको होता है ऐसा कहा न जानेसे 'अतियुष्मत्', 'अत्यस्मत्' में दोष नहीं आता।

सप्तमीनिर्दिष्टे यदुच्यते प्रकृतविभक्तौ तद्भवति । यद्येवमतितत् अतितदौ अतितद इत्यत्वं प्राप्नोति । तत्रापि वक्तव्यम् । इह तावदद्ड् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः [७. १. २५] इति पञ्चम्यङ्गस्येति षष्ठी तत्राशक्यं विविभक्तित्वाड्डतरादिभ्य इति पञ्चम्याङ्गं विशेषयितुम् । तत्र किमन्यच्छक्यं विशेषयितुमन्यदतो विहिता-त्प्रत्ययात् । डतरादिभ्यो यो विहित इति । इहेदानीमस्थिदधिसक्थ्यक्षणामनङु-दात्त इति त्यदादीनामो भवतीत्यस्थ्यादीनामित्येषा षष्ठ्यङ्गस्येत्यपि त्यदादीना-मित्यपि षष्ठ्यङ्गस्येत्यपि । तत्र कामचारो गृह्यमाणेन वा विभक्तिं विशेषयितुमङ्गेन

तो फिर 'प्रियसख्या ब्राह्मणेन' यहाँ ('अस्थिदधि०'—७।१।७५—इससे) अनङादेश प्राप्त नहीं हो सकता।

सूत्रमें सप्तम्यन्तका निर्देश करके जो कार्य बताया जाता है वह अंगसे की हुई विभक्ति आगे होनेपर होता है। ('प्रियसख्या' यहाँकी तृतीया विभक्ति 'प्रियसखि' अंगसे की जानेके कारण वहाँ अनङादेश होता है।)

यदि यह बात है तो 'अतितत् अतितदौ अतितदः' यहाँ (अंगको लगी हुई विभक्ति आगे होनेके कारण 'त्यदादीनामः—७।२।१०२—इससे) अकार आदेश प्राप्त होता है।)

तो फिर अब (सूत्रमें उच्चारित शब्दकोही जहाँ विभक्ति प्रत्यय लगाया गया हो वहीं उस सूत्रसे बताया हुआ कार्य होता है) यह भी बताना चाहिये।

वह बतानेकी आवश्यकता नहीं है। देखिये कि "अद्ड् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः" (७।१।२५) सूत्रसे ('डतरादिभ्यः') पञ्चमी है, और 'अङ्गस्य' षष्ठी है। अतः विभक्ति भिन्न होनेके कारण 'डतरादिभ्यः' इस पञ्चमीका 'अङ्ग' विशेष्य हो सकता है। अतः 'डतरादिद्वारा विहित' ऐसा उस पञ्चमीका विहित प्रत्यय विशेष्य करनेके सिवा दूसरा क्या विशेष्य हो सकता है? (कुछ भी दिखाई नहीं देता। अतः डतरादि-द्वारा किया हुआ जो 'सु' प्रत्यय अथवा 'अम्' प्रत्यय है उसके स्थानपर 'अद्ड्' आदेश होता है यह 'अद्ड् डतरादिभ्यः०' सूत्रका अर्थ निश्चित होनेके कारण 'अतिकतरं ब्राह्मणकुलम्' यहाँ 'अतिकतर' शब्दसे किये हुए 'सु' प्रत्ययको अद्ड् आदेश नहीं होता है। अतः 'सूत्रमें उच्चारित शब्दको ही विभक्ति प्रत्यय लगाना चाहिये' इत्यादि अलग बतानेकी आवश्यकता नहीं है।) अब "अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णा-मनङुदात्तः" (७।१।७५) यहाँ 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम्' भी षष्ठी है और 'अङ्गस्य' भी षष्ठी है। वैसे ही "त्यदादीनामः" (७।२।१०२) यहाँ 'त्यदादीनाम्' भी षष्ठी है और 'अङ्गस्य' भी षष्ठी है। वहाँ '(सूत्रमें) उच्चारित शब्दका विभक्तिके साथ संबंध जोड़ना' अथवा 'अङ्गका विभक्तिके साथ संबंध जोड़ना' व्याख्याताकी इच्छापर निर्भर है। और व्याख्याताकी इच्छापर यदि यह बात निर्भर है तो हम

वा। यावता कामचार इह तावदस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्त इत्यङ्गेन विभक्तिं विशेषयिष्यामोऽस्थ्यादिभिरनङम्। अङ्गस्य विभक्तावनङ् भवत्यस्थ्यादीनामिति। इहेदानीं त्यदादीनामो भवतीति गृह्यमाणेन विभक्तिं विशेषयिष्यामोऽङ्गेनाकारम्। त्यदादीनां विभक्तावो भवत्यङ्गस्येति॥ यद्येवमतिसः अत्वं न प्राप्नोति। नैष दोषः। त्यदादिप्रधान एव समासः॥ अथवा नेदं संज्ञाकरणं पाठविशेषणमिदम्। सर्वेषां यानि नामानि तानि सर्वादीनि। संज्ञोपसर्जने च विशेषे ऽवतिष्ठेते।

"अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः" यहाँ विभक्तिके साथ अङ्गका संबंध प्रस्थापित करते हैं और अस्थिआदि शब्दोंका अनङ्के साथ संबंध जोडते हैं। अतः अंगके आगे की गयी विभक्ति आगे होनेपर अस्थि-आदि शब्दोंको अनङ् होता है (ऐसा 'अस्थिदधि०' सूत्रका अर्थ सिद्ध होता है)। वैसेही 'त्यदादीनामः' (७।२।१०२) यहाँ सूत्रमें उच्चारित शब्दोंका विभक्तिके साथ संबंध जोडते हैं और अङ्गका अकार आदेशके साथ संबंध जोडते हैं। अतः त्यद्-आदि शब्दोंकी विभक्ति आगे होनेपर अङ्गको 'अ' आदेश होता है (ऐसा 'त्यदादीनामः' सूत्रका अर्थ सिद्ध होता है, इसलिए कोई दोष नहीं है।)

(त्यदादि शब्दोंके अर्थ पर की संख्याको दिखानेवाली विभक्ति आगे होनेपर अत्व होता है) ऐसा कहा जाय तो 'अतिसः' में (वैसी विभक्ति न होनेके कारण) 'अ' आदेश न होगा।

यह दोष नहीं आता। क्यों कि 'अतिसः' समासमें त्यदादि शब्द ही प्रधान है। (अर्थात् 'शोभनः सः' यह इस समासका विग्रह करना चाहिये। अतः तद् शब्दके अर्थको यद्यपि दूसरा विशेषण लगा हो तो भी उसी अर्थकी संख्याको दिखानेवाली विभक्ति आगे होनेके कारण 'अ' आदेश होनेमें बाधा नहीं है।)

अथवा "सर्वादीनि०" सूत्र संज्ञा कहनेवाला है ही नहीं, तो केवल गणपाठका संशोधन करनेवाला है। सर्व पदार्थोंको (लगानेवाले) जो नाम (अर्थात् शब्दस्वरूप) हैं, वे इन सर्वादिगणोंमें पठित हैं (ऐसा इसका अर्थ है)। संज्ञा शब्द और उपसर्जन शब्द (अर्थात् वृत्तिमें विशेषण बने हुए जो सर्व-आदि शब्द स्वरूप हैं) वे (सर्व

---

५ तब 'शिरनकभा भावलेन' यहाँ अंगका अर्थ जो प्रधान है उसकी संख्याको दिखानेवाली विभक्ति आगे है इसलिए यहाँ अनङ् होता है। और 'अतिसन्' में 'तद्' शब्दके अर्थकी संख्याको बतानेवाली विभक्ति न होनेसे अकार आदेश नहीं होता।

६. 'राज पुरुष' वाक्य और 'राजपुरुष' इति इन दोनों स्थलोंपर 'राजा' पुरुषका विशेषण है। भेद यही है कि जैसे वाक्यमें 'राजन्' शब्दको अपना अर्थ व्यक्त करनेके लिए पूर्ण स्वातंत्र्य है वैसे वृत्तिमें नहीं है। इसलिये 'राजन्' शब्द 'पुरुष' विशेष्यके अधीन अर्थको व्यक्त करता है। तथा 'निष्क्रान्त गर्वम्भाद्' वाक्य और 'निगर्व', इति

यद्येवं संज्ञाश्रयं यत्कार्यं तन्न सिध्यति। सर्वनाम्नः स्मै [७ १ १४] आमि सर्वनाम्नः सुट् [५२] इति। अन्वर्थग्रहणं तत्र विज्ञास्यते। सर्वेषां यन्नाम तत्सर्वनाम उत्तरस्य ङेः स्मै भवति सर्वनाम्न उत्तरस्य ङेः स्मै भवति सर्वनाम्न उत्तरस्यामः सुड् भवति। यद्येवं सकलं कृत्स्नं जगदित्यत्रापि प्राप्नोति। एतेषां चापि शब्दानामेकैकस्य स स विषयस्तस्मिंस्तस्मिन्विषये यो यः शब्दो

अर्थके दर्शानेवाले न होकर) विशेष अर्थको दिखानेवाले होते हैं। (इसीलिए वैसे सर्वादिशब्द सर्वादिगणमें प्रविष्ट नहीं हो सकते।)

यदि ('सर्वादीनि' सूत्र संज्ञा और उपसर्जन जैसे सर्व आदि शब्दोंको सर्वादिगणसे हटानेका ही काम करता है) ऐसा हो, तो (सर्वनाम) संज्ञापर निर्भर जो कार्य हैं, उदा० "सर्वनाम्नः स्मै" (७।१।१४) "आमि सर्वनाम्नः सुट्" (७।१।५२) इत्यादि, वह (सर्वादिशब्दोंको) नहीं हो सकता।

("सर्वनाम्न. स्मै", "आमि सर्वनाम्नः सुट्") इन सूत्रोंमें सर्वनाम शब्द अन्वर्थ समझा जायगा। सर्व अर्थोंका जो नाम (अर्थात् वाचकशब्दस्वरूप है) वह सर्वनाम है (इस व्युत्पत्तिसे सर्वादि शब्दोंको सर्वनाम शब्द लागू करना चाहिये)। वैसे 'सर्वनाम' नामके शब्दके आगेके 'ङे' प्रत्ययके स्थानपर 'स्मै' आदेश होता है। और वैसे 'सर्वनाम' नामके शब्दके आगेके 'आम्' प्रत्ययको सुडागम होता है।

यदि (सर्वनाम शब्द अन्वर्थ समझा जाता है) ऐसा हो, तो सकल, कृत्स्न जगत् इत्यादि शब्दोंको भी सर्वनाम शब्द लागू करनेकी नौबत आ जायगी। इसके अतिरिक्त इन ('सर्व', 'विश्व' इत्यादि) शब्दोंमेंसे प्रत्येक शब्द वाक्यमें तत् तत् विषयको अर्थात् तत् तत् विशेष पदार्थको दर्शाया करता है। अतः (वाक्यमें 'सर्व' आदि शब्दोंके साथ तत् तत् विशेष पदार्थको दर्शानेवाला घट, पट आदि) जो जो

वर्तते तस्य तस्य तस्मिंस्तस्मिन्वर्तमानस्य सर्वनामकार्यं प्राप्नोति ॥ एव तर्ह्युभयमनेन क्रियते पाठश्चैव विशेष्यते सज्ञा च। कथ पुनरेकेन यत्नेनोभय लभ्यम्। लभ्यमित्याह। कथम्। एकशेषनिर्देशात्। एकशेषनिर्देशोऽयम्। सर्वादीनि च सर्वादीनि च सर्वादीनि। सर्वनामानि च सर्वनामानि सर्वनामानि। सर्वादीनि सर्वनामसज्ञानि भवन्ति सर्वेषा यानि च नामानि तानि सर्वादीनि। सज्ञोपसर्जने च विशेषे ऽवतिष्ठेते ॥ अथवा महतीय सज्ञा क्रियते सज्ञा च नाम यतो न लघीय। कुत एतत्। लघ्वर्थं हि सज्ञाकरणम्। तत्र महत्या सज्ञाया करण एतत्प्रयोजनमन्वर्थसज्ञा यथा विज्ञायेत। सर्वादीनि सर्वनाम-

---

शब्द उच्चारा गया हो सो सो शब्द उस उस स्थानपर (अपने पास होनेवाले सर्व-आदि शब्दोंकी ही तरह) उस उस अर्थको दिखानेवाला होनके कारण उन (घट, पट आदि शब्दों—) को सर्वनामका कहा हुआ कार्य होने लगेगा।

यदि यह बात ह तो ('सर्वादीनि' इस) प्रकृतसूत्रके (सज्ञा और उपसर्जन जैसे सर्व 'सर्व' इत्यादि शब्दोंको) गणपाठसे हटाना और (उन सर्वादि शब्दोंको) सर्वनामसज्ञा करना दोनों बातें की जाती है।

परन्तु एक सूत्रसे ये दो बातें कैसे सिद्ध होंगी ?

मेरा कहना है कि सिद्ध होंगी।

कैसे सिद्ध होंगी ?

एकशेषनिर्देशात् अर्थात् ('सर्वादीनि सर्वनामानि' इस सूत्रका) एकशेष करके उल्लेख किया गया है। सो यों है—सर्वादीनि च सर्वादीनि च सर्वादीनि, सर्वनामानि च सर्वनामानि च सर्वनामानि। (अर्थात् मूलत दो सूत्र होकर एकका उच्चारण किया है ऐसा माना जाय।) अत सर्वादि शब्दस्वरूप सर्वनामसज्ञक होते हैं। और सर्व अर्थके दर्शक जो शब्दस्वरूप है वे सर्वादिगणमें प्रविष्ट होते है। (ये दोनों बातें सिद्ध होती है।) अब सज्ञा और वृत्तिमें (विशेषण बने हुए सर्व इत्यादि शब्द सर्व अर्थोंके दर्शक न होकर) विशेष अर्थके ही दर्शक होते है। (अर्थात् वे इस गणसे अलग हो जाते है।)

अथवा, यहाँ (सर्वनाम) यह बडी सज्ञा की गयी है, और जो की जाती है वह तो छोटीसे छोटी होनी चाहिये।

सो कैसे ?

(वस्तुतसे अर्थ) एक अत्यन्त छोटेसे शब्दमें पाये जायें इस हेतुसे सज्ञा करनी होती है। अत यहाँ बडी सज्ञा करनेका कुछ तो उद्देश्य होगा। वह यह है कि वह अन्वर्थ (अपने अर्थके अनुरूप) सज्ञा माना जाय। अर्थात् सर्वादि शब्दस्वरूप सर्वनामसज्ञक होते है। परन्तु जब कि वे सर्वादि शब्दस्वरूप सबके वाचक हैं तब उन्हें

संज्ञानि भवन्ति सर्वेषां नामानीति चातः सर्वनामानि। संज्ञोपसर्जने च विशेषे ऽवतिष्ठेते ॥

अथोभस्य सर्वनामत्वे को ऽर्थः।

उभस्य सर्वनामत्वे ऽकजर्थः ॥ ७ ॥

उभस्य सर्वनामत्वे ऽकजर्थः पाठः क्रियते। उभकौ। किमुच्यते ऽकजर्थ इति न पुनरन्यान्यपि सर्वनामकार्याणि।

अन्याभावो द्विवचनटाब्विषयत्वात् ॥ ८ ॥

अन्येषां सर्वनामकार्याणामभावः। किं कारणम्। द्विवचनटाब्विषयत्वात्। उभशब्दो ऽयं द्विवचनटाब्विषयो ऽन्यानि च सर्वनामकार्याण्येकवचनबहुवचनेषूच्यन्ते॥ यदा पुनरयमुभशब्दो द्विवचनटाब्विषयः क इदानीमस्यान्यत्र भवति।

सर्वनामसंज्ञा प्राप्त होती है। और संज्ञा और वृत्तिमें विशेषण बने हुए सर्व-आदि शब्द तो विशेष अर्थके ही दर्शक होते हैं।

अब 'उभ' शब्दको सर्वनामसंज्ञा करनेमें क्या लाभ है?

(वा. ७) 'उभ' को अकच् होनेके लिए सर्वनामसंज्ञाके गणमें (उसका पाठ किया है)।

'उभकौ' यहाँ 'उभ' शब्दको अकच् प्रत्यय (५।३।७१) हो इसलिए सर्वनामसंज्ञाके गणमें उसका पाठ किया गया है।

अकच् प्रत्यय हो ऐसा क्यों कहा गया है? ('स्मै' आदि) अन्य सर्वनाम-कार्योंका उल्लेख क्यों नहीं किया गया है?

(वा. ८) अन्य (सर्वनामकार्यों-) का अभाव है, क्योंकि ('उभ' शब्दके आगे) केवल द्विवचनप्रत्यय तथा (स्त्रीलिंगमें) टाप् प्रत्यय होता है।

(अकच् के सिवा) अन्य सर्वनामकार्योंका ('उभ' शब्दके विषयमें) अभाव है। क्या कारण है?

कारण यह है कि ('उभ' शब्दका प्रयोग) केवल द्विवचन तथा स्त्रीलिंग-दर्शक 'टाप्' प्रत्ययके विषयमें दीख पड़ता है। 'उभ' शब्दके आगे केवल द्विवचन-प्रत्यय तथा (स्त्रीलिंगमें) 'टाप्' होता है, और ('अकच्'से) अन्य ('स्मै' आदि) सर्वनामकार्य एकवचन वा बहुवचन आगे होनेपर ही कहे गये हैं।

यदि इस 'उभ' शब्दके आगे केवल द्विवचन अथवा 'टाप्' प्रत्यय ही होते हैं तो (वे प्रत्यय 'उभ' शब्दके आगे किये हुए जिस स्थानपर नहीं दीख पड़ते हैं ऐसे) अन्य स्थानपर इस 'उभ' शब्दका क्या होना है?

✓उभयो ऽन्यत्र ॥ ९ ॥ २८।

उभयशब्दो ऽस्यान्यत्र भवति। उभये देवमनुष्या। उभयो मणिरिति॥ किं च स्यादयदनाकज्न स्यात्। क प्रसज्येत। कश्चेदानीं काकचोर्विशेष। उभशब्दो ऽय द्विवचनटाब्विषय इत्युक्तम्। तत्राकचि सत्यकचस्तन्मध्यपतितत्वाच्छक्यत एतद्वक्तु द्विवचनपरो ऽयमिति। के पुन सति नाय द्विवचनपर स्यात्। तत्र द्विवचनपरता वक्तव्या। यथैव तर्हि के सति नाय द्विवचनपर एवमाप्यपि सति नाय द्विवचनपर स्यात्। तत्रापि द्विवचनपरता वक्तव्या। अवचनादापि तत्पर विज्ञानम्। अन्तरेणापि वचनमापि द्विवचनपरो ऽय भविष्यति। किं वक्तव्यमेतत्।

(वा ९) अन्यत्र ('उभ' शब्दसे) 'उभय' शब्द (बनता है)।

उस स्थानपर 'उभ' शब्दसे 'उभय' शब्द बनता है, जैसे, 'उभये देवमनुष्या', 'उभयो मणि।'

अब यदि इस 'उभ' शब्दको 'अकच्' प्रत्यय (५।३।७१) न होगा तो क्या बाधा होगी?

'क' प्रत्यय होगा।

परन्तु क प्रत्ययके होने अथवा अकच् प्रत्यय होनेमें अन्तर क्या है?

'उभ' शब्दके आगे केवल द्विवचन अथवा टाप ये ही प्रत्यय होते है। (ये न हों वहाँ उभ शब्दके बदले उभय शब्द आता है) ऐसा कहा गया है। अत 'अकच्' होनेपर 'तन्मध्यपतित'-न्यायसे उभयशब्दके आगे द्विवचन है ऐसा कहा जा सकता है। और 'क' प्रत्यय हुआ तो 'उभ' शब्दके आगे द्विवचन प्रत्यय है ऐसा नहीं कहा जा सकता। अत वहाँ द्विवचन प्रत्यय आगे है ऐसा समझनेके लिए स्वतत्र वचन करना होगा (नहीं तो वहाँ 'क' प्रत्ययके पीछे 'उभय' शब्द रखना होगा।)

तो फिर 'क' प्रत्यय लगानेपर जैसे इस उभ शब्दके आगे द्विवचन प्रत्यय है ऐसा नहीं कहा जा सकता, वैसे 'टाप्' प्रत्यय आगे होनेपर भी द्विवचन प्रत्यय आगे है ऐसा नहीं कहा जा सकता। अत वहाँ भी द्विवचन प्रत्यय आगे है ऐसा समझनेके लिए स्वतत्र वचन करना पड़ेगा। (नहीं तो वहाँ भी 'उभय' शब्द रखना पड़ेगा।)

स्वतत्र वचनके सिवा भी आप् (टाप्) प्रत्यय लगानेपर वह (द्विवचन प्रत्यय) है ऐसा समझा जा सकता है। अर्थात् 'टाप्' लगानेपर स्वतत्र वचनके सिवा भी उभ शब्दके आगे वह (द्विवचन प्रत्यय) है ऐसा कहा जा सकता है।

---

११ 'उभके' में यद्यपि आगे द्विवचनप्रत्यय है तो भी वह प्रत्यय 'उभ' शब्दके आगे है ऐसा नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि बीचमें 'क' प्रत्ययसे व्यवधान आता है।

न हि। कथमनुच्यमानं गंस्यते। एकादेशे कृते द्विवचनपरो ऽयमन्तादिवद्भावेन।

अवचनादपि तत्परविज्ञानमिति चेत्के ऽपि तुल्यम् ॥ १० ॥

अवचनादपि तत्परविज्ञानमिति चेत्के ऽप्यन्तरेण वचनं द्विवचनपरो भविष्यति। कथम्। स्वार्थिकाः प्रत्ययाः प्रकृतितो ऽविशिष्टा भवन्तीति प्रकृतिग्रहणेन स्वार्थिकानामपि ग्रहणं भवति ॥

अथ भवतः सर्वनामत्वे कानि प्रयोजनानि।

भवतो ऽकच्छेषात्वानि ॥ ११ ॥

यह आप क्या कह रहे हैं? ऐसा न कहिये।

तो फिर बिना कहे यह कैसे समझा जाय?

(टाप् प्रत्यय करके) एकादेश (६।१।१०१) करनेपर पूर्वान्तवद्भावसे (उभा यह उभ शब्द ही है ऐसा माना जानेके कारण उभ) इस शब्दके आगे द्विवचन-प्रत्यय है ऐसा कहा जाता है।

(वा. १०) (टाप् प्रत्यय करनेपर) स्वतंत्र वचन करनेके सिवा भी (उभ शब्दके) आगे द्विवचन-प्रत्यय है ऐसा माना जाता है तो क प्रत्यय करनेपर भी वैसा ही होगा।

'टाप्' प्रत्यय करनेपर स्वतंत्र वचनके सिवा भी उभ शब्दके आगे द्विवचन-प्रत्यय है ऐसा माना जाता है तो 'क' प्रत्यय करनेपर भी वचनके अतिरिक्त ही उभ शब्दके आगे द्विवचन-प्रत्यय है ऐसा माना जायगा।

सो कैसे?

स्वार्थी बने हुए प्रत्यय अपनी प्रकृतिके अर्थकी अपेक्षा अन्य अर्थको सूचित नहीं करते (अर्थात् प्रकृतिके अर्थको ही सूचित करते हैं), अतः प्रकृतिबोधक शब्दसे स्वार्थी 'क' प्रत्ययका भी ग्रहण होता है।

अब भवत् शब्दको सर्वनामसंज्ञा करनेके फल कौनसे हैं?

(वा. ११) भवत् शब्दको अकच्, एकशेष और आत्व होना (ये फल हैं)।

---

१२. 'द्विवचन' शब्दसे 'दो' संख्याको दिखानेवाला प्रत्यय ही लिया जाय सो बात नहीं, तो उस संख्याको दिखानेवाला शब्द भी लिया जाय। तब 'क' प्रत्ययकी प्रकृति जो 'उभ' शब्द है उसे 'द्विवचन' कहा जा सकता है; अतः उसीके अर्थमें हुए 'क' प्रत्ययको भी 'द्विवचन' कहा जा सकता है। इसलिए 'वहाँ उभयशब्द रखना पड़ेगा' यह दोष नहीं आता। तब 'क' प्रत्यय हुआ तो भी दोष नहीं आता इसलिए उभयशब्दका इस सर्वनामगणमें पाठ न किया तो भी प्रत्यवाय नहीं यह सिद्ध हुआ।

भवतो ऽकच्छेषात्वानि प्रयोजनानि। अकच्। भवकान्। शेषः। स च भवांश्च भवन्तौ। आत्वम्। भवादृगिति॥ किं पुनरिदं परिगणनमाहोस्विदुदाहरणमात्रम्। उदाहरणमात्रमित्याह। तृतीयादयो ऽपि हीष्यन्ते। सर्वनाम्नस्तृतीया च [२. ३. २७]। भवता हेतुना। भवतो हेतोरिति॥

विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ॥ १। १। २८॥

दिग्ग्रहणं किमर्थम्। न बहुव्रीहौ [१. १. २९] इति प्रतिषेधं वक्ष्यति। तत्र न ज्ञायते क्व विभाषा क्व प्रतिषेध इति। दिग्ग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति। दिगुपदिष्टे विभाषान्यत्र प्रतिषेधः॥ अथ समासग्रहणं किमर्थम्। समास एव यो

भवत् शब्दको अकच्, एकशेष, और आत्व होना, ये सर्वनामसंज्ञा कहनेके फल हैं। जैसे,—भवकान्। यहाँ अकच् (५।३।७१) होनेके कारण यह रूप सिद्ध होता है। एकशेषका उदाहरण—'स च भवांश्च भवन्तौ।' (यहाँ "त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्"—१।२।७२—इससे 'भवत्' शब्द एकशेष हुआ है।) आत्वका उदाहरण—भवादृक्। (यहाँ 'आ सर्वनाम्नः'—६।३।९१—इससे आत्व हुआ है।)

परन्तु क्या यह परिगणन है? (अर्थात् निश्चित तीन ही कार्य होते हैं,) अथवा उदाहरणकी दिशा दिखायी गयी है?

उदाहरणकी दिशा दिखायी है ऐसा हम कहते हैं। क्योंकि "सर्वनाम्नस्तृतीया च" (२।३।२७) इससे तृतीया आदि विभक्ति होनेकी बात भी दिखायी देती है, जैसे,—'भवता हेतुना', 'भवतो हेतोः' इत्यादि।

(सू.२८)—('दिङ्नामान्यन्तराले'—२।२।२६—सूत्रसे) दिशावाचक शब्दोंका बहुव्रीहिसमास किया गया तो (वहाँ सर्वनामसंज्ञा) विकल्प-(से होती है)।

यहाँ जो दिक् शब्द रखा गया है सो किसलिए?

'न बहुव्रीहौ' (१।१।२९) इस अगले सूत्रसे सर्वनामसंज्ञाका निषेध कहनेवाला है। अतः यह विकल्प कहाँ और वह निषेध कहाँ इस विषयका विभाजन ध्यानमें नहीं आता। और दिक् शब्द रखा गया तो यह दोष नहीं आता। दिक् शब्दका उच्चारण करके (बनाये हुए बहुव्रीहिके स्थानपर) विकल्प होता है और अन्य बहुव्रीहियोंमें निषेध (यह स्पष्टतया ज्ञात होता है)।

अब 'समासे' शब्द उच्चारित है सो किसलिए?

सच्चे बहुव्रीहिसमासमें (सर्वनामसंज्ञाका विकल्प) हो और अतिदेशसे बहुव्रीहि

बहुव्रीहिस्तत्र यथा स्याद्बहुव्रीहिवद्भावेन यो बहुव्रीहिस्तत्र मा भूदिति। दक्षिण-दक्षिणस्यै देहीति॥ अथ बहुव्रीहिग्रहणं किमर्थम्। द्वन्द्वे मा भूत्। दक्षिणोत्तर-पूर्वाणामिति। नैतदस्ति प्रयोजनम्। द्वन्द्वे च [१. १. ३१] इति प्रतिषेधो भविष्यति। नाप्राप्ते प्रतिषेध इयं विभाषारभ्यते सा यथैव न बहुव्रीहावित्येतं प्रतिषेधं बाधत एवं द्वन्द्वे चेत्येतमपि बाधेत। न बाधते। किं कारणम्। येन नाप्राप्ते तस्य बाधनं भवति न चाप्राप्ते न बहुव्रीहावित्येतस्मिन्प्रतिषेध इयं विभाषारभ्यते द्वन्द्वे चेत्येतस्मिन्पुनः प्राप्ते चाप्राप्ते च॥ अथवा पुरस्तादपवादा अनन्तरान्विधीन्बाधन्त

जैसा माना जानेवाला जो (गौण) बहुव्रीहि है वह वहाँ न हो। जैसे,–'दक्षिणदक्षिणस्यै देहि'। यहाँ ('आबाधे च'—८।१।१०—इससे द्वित्व किया है, और वहाँ द्विरुक्त शब्द बहुव्रीहि जैसा माना जाता है।)

अब 'बहुव्रीहौ' यह जो शब्द उच्चारित है सो किसलिए?

'दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम्' इस द्वंद्वसमासमें (यह सर्वनामसंज्ञाका विकल्प) न हो (इसलिए उच्चारित है)।

('बहुव्रीहौ' शब्दके उच्चारणका) यह उपयोग नहीं होता है। क्योंकि यहाँ "द्वन्द्वे च" (१।१।३१) सूत्रसे (सर्वनामसंज्ञाका) निषेध होगा।

सर्वनामसंज्ञाका निषेध अवश्य प्राप्त हुआ है इसलिए वहाँ (जान-बूझकर) यह विकल्प आरंभ किया गया है। अतः वह जैसे 'न बहुव्रीहौ' (१।१।२९) इस निषेधका बाध करता है, वैसे ही 'द्वन्द्वे च' (१।१।३१) निषेधका बाध करेगा।

परन्तु 'द्वन्द्वे च' इस निषेधका बाध नहीं करेगा।

क्या कारण है?

जिस शास्त्रकी सर्वत्र प्राप्ति होती है उसीका बाध होता है। (बहुव्रीहिमें) 'न बहुव्रीहौ' इस निषेधकी प्राप्ति न होनेपर यहाँ यह विकल्प प्राप्त होता है, ऐसा उदाहरण एक भी नहीं है। और द्वंद्वमें यह विकल्प जिन उदाहरणोंमें होगा उनमेंसे कुछ स्थानोंपर 'द्वन्द्वे च' इसकी प्राप्ति होती है और कुछ स्थानोंपर नहीं होती। (इसलिए यह विकल्प 'द्वन्द्वे च' इसका बाधक नहीं होता। उल्टे 'द्वन्द्वे च' इससे ही परत्वके कारण इस विकल्पका बाध किया जाता है।)

अथवा, "पहले पठित अपवाद (किसीका बाध करना हो तो) अपने पहलेमें होनेवाली विधियोंका ही बाध करते हैं (और उनके आगेकी विधियोंका बाध नहीं करते)"—(प. शे. ५९)। (इस परिभाषासे यह विकल्प—१।१।२८) 'न

इत्येवमियं विभाषा न बहुव्रीहावित्येतं प्रतिषेधं बाधिष्यते द्वन्द्वे चेत्येतं प्रतिषेधं न बाधिष्यते ॥ अथवेदं तावदयं प्रष्टव्यः । इह कस्मान्न भवति । या पूर्वा सोत्तरास्योन्मुग्धस्य सोऽयं पूर्वोत्तर उन्मुग्धः । तस्मै पूर्वोत्तराय देहीति । लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवेति । यथैवं नार्थो बहुव्रीहिग्रहणेन । द्वन्द्वे कस्मान्न भवति । लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवेति ॥ उत्तरार्थं तर्हि बहुव्रीहिग्रहणं कर्तव्यम् । न कर्तव्यम् । क्रियते तत्रैव न बहुव्रीहाविति । द्वितीयं कर्तव्यम् । बहुव्रीहिरेव यो बहुव्रीहिस्तत्र यथा स्याद्बहुव्रीहिवद्भावेन यो बहुव्रीहिस्तत्र मा भूत् । एकैकस्मै

बहुव्रीहौ ' (१।१।२९) इस निषेधका ही बाध करेगा, और 'द्वन्द्वे च' (१।१।३१) इस निषेधका बाध नहीं[2] करेगा।

अथवा, इसको यह प्रश्न पूछा जाय कि 'जो पूर्व दिशा है वही है उत्तर दिशा जिस मूर्खकी' इस अर्थके 'पूर्वोत्तर' शब्दके आगे (चतुर्थीका एकवचन करनेपर) 'तस्मै पूर्वोत्तराय देहि' यहाँ यह विकल्प क्यों नहीं होता ?

"लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त (अर्थात् प्रत्यक्ष उच्चारित) इन दोनोंका ग्रहण हो सके तो वहाँ प्रतिपदोक्तका ही ग्रहण किया जाय "–(प. शे. १०५)। (इस परिभाषासे दिक् शब्दका उच्चारण करके बतलाये हुए बहुव्रीहि समासमें यह विकल्प होता है । उपर्युक्त उदाहरणमें 'अनेकमन्य०' — २।२।२४ — इससे बहुव्रीहि समास किया गया है । उसमें दिक् शब्दका उल्लेख नहीं है । अतः वहाँ यह विकल्प प्रवृत्त नहीं होता है ।)

यदि यह बात है तो (प्रकृतसूत्रमें) 'बहुव्रीहौ' शब्द रखनेमें कोई लाभ दिखाई नहीं देता।

द्वन्द्व समासमें यह विकल्प क्यों नहीं होता ?

"लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव" (प. शे. १०५) इस परिभाषासे (प्रतिपदोक्त ही दिक्समास लेना है, इसलिए नहीं होता)।

तो फिर उत्तरसूत्र-(में अनुवृत्ति होने-) के लिए 'बहुव्रीहि' शब्द रखना चाहिये।

उसके लिए भी नहीं । क्योंकि उत्तरसूत्रमें अर्थात् 'न बहुव्रीहौ' यहाँ ('बहुव्रीहौ') ऐसा कहा ही गया है।

परंतु ('न बहुव्रीहौ') यहाँ और एक दूसरा (बहुव्रीहि) शब्द चाहिये; (उसके लिए यहाँ 'बहुव्रीहौ' ऐसा कहना चाहिये)[3]। क्योंकि मुख्य जो बहुव्रीहि है वहीं वह (निषेध) हो और बहुव्रीहि जैसा समझा जानेवाला जो गौण बहुव्रीहि है वहाँ न हो। जैसे,—'एकैकस्मै देहि।' (यहाँ 'एकं बहुव्रीहिवत्'—८।१।९—इससे द्वित्व किया गया है और वह बहुव्रीहि जैसा समझा जा रहा है।)

---

२. तात्पर्य, प्रकृतसूत्रमें 'बहुव्रीहौ' कहनेकी आवश्यकता नहीं यह सिद्ध हुआ।

३. प्रकृतसूत्रमें 'बहुव्रीहौ' कहना चाहिये ऐसा कहनेवालेको।

४. सू. १।१।१२ टि. ४ देखिये।

वेदि। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। समास इति वर्तते तेन बहुव्रीहिं विशेषयिष्यामः। समासो यो बहुव्रीहिरिति॥ इदं तर्हि प्रयोजनम्। अवयवभूतस्यापि बहुव्रीहेः प्रतिषेधो यथा स्यात्। इह मा भूत्। वस्त्रमन्तरमेषां त इमे वस्त्रान्तराः। वसनमन्तरमेषां त इमे वसनान्तराः। वस्त्रान्तराश्च वसनान्तराश्च वस्त्रान्तरवसनान्तराः।

न बहुव्रीहौ॥ १। १। २९॥(९८)

किमुदाहरणम्। प्रियविश्वाय। नैतदस्ति प्रयोजनम्। सर्वाद्यन्तस्य बहुव्रीहेः प्रतिषेधेन भवितव्यम्। वक्ष्यति ह्येतत्। बहुव्रीहौ सर्वनामसंज्ञयोरुप

यह भी प्रयोजन नहीं है। क्योंकि (इस सूत्रमें) 'समासे' पदकी (उस सूत्रसे) अनुवृत्ति की जाय और ('समासे') यह पद बहुव्रीहिको विशेषण किया जाय, जिससे मुख्य समास जो बहुव्रीहि है (ऐसा अर्थ होगा, और वही वह निषेध होगा)।

तो फिर वहाँ (दूसरे बहुव्रीहि शब्दका) यह उपयोग समझा जाय कि अवयवभूत बहुव्रीहिको भी (सर्वनामसंज्ञाका उस सूत्रमे) निषेध हो। अर्थात् वस्त्रं अन्तरं येषां ते इमे वस्त्रान्तराः, वसनं अन्तरं येषां ते इमे वसनान्तराः, वस्त्रान्तराश्च वसनान्तराश्च वस्त्रान्तरवसनान्तराः। यहाँ (द्वन्द्वसमासमें प्रविष्ट[५] बहुव्रीहिको सर्वनामसंज्ञा का निषेध होना चाहिये। नहीं तो प्रधानाप्रधानन्यायसे[६] अवयवभूत बहुव्रीहिको सर्वनामसंज्ञाका निषेध) न होगा। (दूसरे बहुव्रीहि शब्दकी अनुवृत्तिके बलपर अप्रधान बहुव्रीहिका भी वहाँ ग्रहण होता है।)

(सू २९—जिन (शब्दों)—का बहुव्रीहि समास करना हो उनको (पहलेसे ही सर्वनामसंज्ञा) नहीं होती।

इसका उदाहरण कौनसा है?

'प्रियविश्वाय' यह उदाहरण है। (यहाँ सर्वनामसंज्ञाका निषेध होनेका कारण 'स्मै' आदेश–७।१।१४–नहीं हुआ है।)

यह उदाहरण उचित नहीं जँचता। क्योंकि सर्व-आदि शब्द जिसके अन्तमें हो वह बहुव्रीहि ही नहीं होता। वार्तिककारोंने आगे यह बतलाया है कि 'बहुव्रीहि

---

५ दूसरे समासमें प्रविष्ट हुआ।

६ प्रधान और अप्रधान दोनोंको कोई कार्य प्राप्त हुआ तो वह प्रधानकोही किया जाय अप्रधानको न किया जाय। 'वस्त्रान्तरवसनान्तरा' द्वंद्वसमासमें बहुव्रीहि प्रविष्ट होनेके कारण बहुव्रीहिसमास होके सिद्ध हुए 'वस्त्रान्तर' और 'वसनान्तर' शब्दोंको अपना अर्थ व्यक्त करनेका पूर्ण स्वातंत्र्य नहीं रहा (१।१।२७ टि ८ देखिये)। तब उसको 'न बहुव्रीहौ' से सर्वनामसंज्ञाका निषेध न होगा।

संख्यानमिति। तत्र विश्वप्रियायेति भवितव्यम्॥ इदं तर्हि। द्व्यन्याय त्र्यन्याय। ननु चात्रापि सर्वनाम्न एव पूर्वनिपातेन भवितव्यम्। नैष दोषः। वक्ष्यत्येतत्। संख्यासर्वनाम्नोर्यो बहुव्रीहिः परत्वात्तत्र संख्यायाः पूर्वनिपातो भवतीति॥ इदं चाप्युदाहरणम्। प्रियविश्वाय। ननु चोक्तं विश्वप्रियायेति भवितव्यमिति। वक्ष्यत्येतत्। वा प्रियस्येति॥ न खल्वप्यवश्यं सर्वाद्यन्तस्यैव बहुव्रीहेः प्रतिषेधेन भवितव्यम्। किं तर्हि। असर्वाद्यन्तस्यापि भवितव्यम्। किं प्रयोजनम्। अकज्मा भूदिति। किं च स्यात्। यद्यत्राकच्स्यात्। को न स्यात्। कश्चेदानीं काकचोर्विशेषः। व्यञ्जनान्तेषु विशेषः। अहकं पितास्य मकत्पितृकः त्वकं पितास्य त्वकत्पितृक

समासमें सर्वनामसंज्ञक और संख्यावाचकको पूर्वनिपात किया जाय' (२।२।३५ वार्तिक १)। अतः 'विश्वप्रियाय' ऐसा बहुव्रीहि समास हो।

तो फिर (प्रकृतसूत्रका) द्व्यन्याय, त्र्यन्याय (उदाहरण समझा जाय)।

परन्तु (द्व्यन्याय, त्र्यन्याय) यहाँ भी ('अन्य' इस) सर्वनामशब्दको ही पूर्वनिपात होना चाहिये न?

यह दोष नहीं आता। क्योंकि 'संख्यावाचक शब्द और सर्वनामसंज्ञक शब्दके बहुव्रीहि समासमें परत्वके कारण संख्याशब्दको पूर्वनिपात होता है' (ऐसा वही आगे बताता है)।

पहले दिया हुआ 'प्रियविश्वाय' उदाहरण भी ठीक ही है।

परन्तु, 'विश्वप्रियाय' यह रूप हो ऐसा कहा गया है न?

(बहुव्रीहिमें) 'प्रिय शब्दको (पूर्वनिपात) विकल्पसे होता है' ऐसा आगे (२।२।३५ वार्तिक २) कहना है।

और (प्रकृतसूत्रसे) सर्व-आदि शब्द जिसके अन्तमें हों केवल ऐसेही बहुव्रीहिमें सर्वनामसंज्ञाका निषेध हो सो बात नहीं, तो सर्व-आदि शब्द अन्तमें न हों तो भी (उन्हें बहुव्रीहिमें सर्वनामसंज्ञाका निषेध) होता है।

उसका क्या उपयोग है?

अकच् प्रत्यय न हो यह (उसका उपयोग है)।

वहाँ अकच् होनेमें क्या दोष है?

'क' प्रत्यय नहीं होगा।

वहाँ चाहे 'क' प्रत्यय हो, चाहे 'अकच्' प्रत्यय हो, उनमें क्या अन्तर होनेवाला है?

व्यञ्जनान्त शब्दोंमें भेद दीख पड़ता है। जैसे,—(बहुव्रीहिमें युष्मद्, अस्मद् शब्दोंको अकच् हुआ तो) 'अहकं पिता अस्य मकत्पितृकः', 'त्वकं पिता अस्य त्वकत्पितृकः' ऐसा प्राप्त होता है। और 'मत्कपितृकः', 'त्वत्कपितृकः' यह तो

इति प्राप्नोति। मत्कपितृकः त्वत्कपितृक इति चेष्यते। कथं पुनरिच्छतापि भवता वहिरङ्गेण प्रतिषेधेनान्तरङ्गो विधिः शक्यो बाधितुम्। अन्तरङ्गानपि विधीन्वहिरङ्गो विधिर्बाधते गोमत्प्रिय इति यथा। क्रियते तत्र यत्नः प्रत्ययोत्तरपदयोश्च [७. २. ९८] इति। ननु चेहापि क्रियते न बहुव्रीहाविति। अस्त्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्। किम्। प्रियविश्वाय। उपसर्जनप्रतिषेधेनाप्येतत्सिद्धम्॥ अयं

इष्ट है।

(मत्कपितृकः आदि उदाहरणोंमें) तुम सर्वनामसंज्ञाका निषेध चाहते हो सहि परन्तु (बहुव्रीहि समासके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले) इस वहिरंग निषेधसे अंतरंगसंज्ञाका बाध करना कैसे संभव होगा?

अन्तरङ्ग विधियोंकी भी बहिरङ्गविधि बाधक होती है; जैसे, — 'गोमत्प्रियः'। यहाँ (अन्तरङ्ग 'हल्ङ्यादिलोप'का–६।१।६८–बहिरङ्ग लुक्से–२।४।७१–बाध किया गया है। वैसा यहाँ भी वहिरङ्ग निषेधसे अन्तरङ्ग संज्ञाका बाध होगा।)

वहाँ ('गोमत्प्रियः' में बहिरङ्गसे अन्तरङ्गका भी बाध होनेके विषयमें) 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' (७।२।९८) यहाँ ('उत्तरपद' शब्द रखकर) यत्न[2] कर दिया गया है।

वैसा यहाँ भी (बहिरङ्ग निषेधसे अन्तरङ्गसंज्ञाका बाध होनेके लिए ही) 'न बहुव्रीहौ' ऐसा यत्न किया गया है।

परन्तु ('न बहुव्रीहौ') यह वचन करनेका दूसरा प्रयोजन है न?

सो कौनसा?

'प्रियविश्वाय' यहीं।

('संज्ञोपसर्जनप्रतिषेधः'—१।१।२७ वार्ति० २ इस) उपसर्जननिषेधसे भी (उपर्युक्त उदाहरणोंकी) सिद्धि होती है।

और[3] बहुव्रीहि कहनेपर उसकी जो प्रथम कल्पना मनमें उद्भूत होती है वह

---

१. बहुव्रीहि समास करनेके बाद 'न बहुव्रीहौ' निषेधकी प्राप्ति हो जानेके कारण यह निषेध बहिरंग है, और सर्वनामसंज्ञा बहुव्रीहि समास करनेके पूर्वहि प्राप्त हो जानेसे वह अंतरंग है।

२. यह ज्ञापक 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' (७।२।९८) सूत्रपर भाष्यकारोंने स्पष्ट किया है।

३. अब 'न बहुव्रीहौ' निषेध बहिरंग नहीं, क्योंकि बहुव्रीहि समास करनेके पूर्व जब सर्वनामसंज्ञा प्राप्त होती है उसी समय यह निषेध भी प्राप्त होता है, यह यहाँसे लेकर भाष्यकार सिद्ध करते हैं।

खल्वपि बहुव्रीहिरस्त्येव प्राथमकल्पिको यस्मिन्नैकपद्यमैकस्वर्यमेकविभक्तिकत्वं च। अस्ति तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यं बहुव्रीह्यर्थानि पदानि बहुव्रीहिरिति। तद्यत्तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यं तस्येदं ग्रहणम्॥ गोनर्दीय आह।[५]

अकच्स्वरौ तु कर्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयौ।
त्वकत्पितृकः मकत्पितृक इत्येव भवितव्यमिति॥

प्रतिषेधे भूतपूर्वस्योपसंख्यानम्॥ १॥

प्रतिषेधे भूतपूर्वस्योपसंख्यानं कर्तव्यम्। आढ्यो भूतपूर्वः आढ्यपूर्वः।

बहुव्रीहि है ही जिसमें (अनेक पदोंको मिलाकर) एक (सामासिक) पद (तैयार) होता है, उसमें एक ही स्वर होता है और उसके आगे विभक्तिप्रत्यय भी एक ही लगता है। (यह मुख्य लोकप्रसिद्ध बहुव्रीहि है।) अब "एकाध वस्तु तैयार करनेके लिए जो एक विशेष प्रकारकी अवस्था रची जाती है उस अवस्थाको भी उस वस्तुको दिखानेवाला शब्द लगानेकी लोगोंमें प्रथा है।" इस न्यायसे बहुव्रीहिके लिए जो (प्रत्येकको विभक्तिप्रत्यय लगाकर होनेवाले) अनेक[४] पद है, उन्हें बहुव्रीहि कहा जा सकता है। अतः इस तरह बहुव्रीहिके लिए कल्पित किये हुए वाक्यको लगानेवाला जो बहुव्रीहि शब्द है वह इस प्रकृतसूत्रमें सूत्रकारोंने रखा है।

(अतः 'बहुव्रीहि समास बनानेके लिए गृहीत जो अलौकिक प्रक्रियावाक्य है उसमें सर्व आदि शब्दोंको सर्वनामसंज्ञा नहीं होती है' ऐसा प्रकृतसूत्रका अर्थ निश्चित हो जाता है।)

गोनर्दीय तो यह कहते है कि 'अकच्' और ("स्वाङ्गशिटामदन्तानाम्"—फिट्सूत्र २९—इससे सर्वनाम शब्दको बताया हुआ) स्वर, ये दोनों, (समासोंमें) किसी भी भागमें होनेवाले (सर्व आदि) शब्दोंको निःसंदेह किये जायें। अतः त्वकत्पितृक, मकत्पितृक ऐसे ही उदाहरण इष्ट है। (अर्थात् यह सूत्र करनेकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है।)

(वा १) प्रतिषेधमें 'भूतपूर्व' अर्थके 'पूर्व' शब्दको सर्वनामसंज्ञा नहीं होती है।

(इस सर्वनामसंज्ञाके) प्रतिषेध—(प्रकरण) में "भूतपूर्व" (अर्थात् पहलेसे ही

---

४ इन अनेक पदोंकोही 'अलौकिक प्रक्रिया वाक्य' कहते हैं।

५ 'भाष्यकार पतञ्जलि गोनर्द देशमें एक ऋषिकी अञ्जलीसे सन्ध्यावन्दन करते समय प्रकट होके गिर पडे' ऐसा ऐतिह्य है। 'अञ्जले पतित' इस अर्थमें उनका 'पतञ्जलि' नाम अन्वर्थक ही है। गोनर्द देशमें प्रकट होनेके कारण उनको 'गोनर्दीय' कहते हैं। भाष्यकार अपने मतका उल्लेख 'गोनर्दीय' शब्दसे करते हैं।

आढ्यपूर्वाय देहीति ॥

प्रतिषेधे भूतपूर्वस्योपसंख्यानानर्थक्यं पूर्वादीनां व्यवस्थायामिति वचनात् ॥ २ ॥

प्रतिषेधे भूतपूर्वस्योपसंख्यानमनर्थकम् । किं कारणम् । पूर्वादीनां व्यवस्थायामिति वचनात् । पूर्वादीनां व्यवस्थायां सर्वनामसंज्ञोच्यते न चात्र व्यवस्था गम्यते ॥

तृतीयासमासे ॥ १ । १ । ३० ॥

समास इति वर्तमाने पुनः समासग्रहणं किमर्थम् । अयं तृतीयासमासो

उपस्थित) इस अर्थका जो पूर्व शब्द है उसे सर्वनामसंज्ञा नहीं होती ऐसा कहा जाय। जैसे,—आढ्यः भूतपूर्वः आढ्यपूर्वः, तस्मै आढ्यपूर्वाय देहि।

(वा. २) प्रतिषेधमें 'भूतपूर्व' अर्थके 'पूर्व' शब्दको सर्वनामसंज्ञा नहीं होती है यह वचन निरर्थक है, क्योंकि पूर्व आदि शब्दोंको व्यवस्था होनेपर सर्वनामसंज्ञा कही है।

(इस सर्वनामसंज्ञाके) प्रतिषेध – (प्रकरण) में 'भूतपूर्व' अर्थके 'पूर्व' शब्दको सर्वनामसंज्ञा नहीं होती है ऐसा वचन करना निरर्थक है।

क्या कारण है ?

क्योंकि व्यवस्था होनेपर पूर्व आदि शब्दोंको सर्वनामसंज्ञा (आचार्यने) कही है। अर्थात् पूर्व आदि शब्दोंको व्यवस्था होनेपर सर्वनामसंज्ञा कही है; और प्रकृत उदाहरणोंमें तो व्यवस्था प्रतीत नहीं[१] होती।

(सू. ३०)—तृतीयासमासमें (सर्व आदि शब्दोंको सर्वनामसंज्ञा नहीं होती है)।

यहाँ पूर्वसूत्रसे (१।१।२८) 'समास' शब्दकी अनुवृत्ति आनेपर भी पुनः यहाँ 'समासे' शब्द रखा गया है सो किसलिए ?

---

१. 'आढ्यपूर्व' शब्दमें 'पूर्व' पद 'आढ्य' का विशेषण है। यह विशेषण वृत्तिके विशेष्यका होनेके कारण 'पूर्व' शब्दमें अपना अर्थ व्यक्त करनेका संपूर्ण स्वातंत्र्य नहीं है। यहाँ 'पूर्व' शब्द विशेष्यसे संबद्ध ही अपने अर्थको व्यक्त करेगा (१।१।२७ टि. ८ देखिये)। तब जैसे पराधीन व्यक्ति अपनी अपेक्षाएँ दूर नहीं हटा सकता वैसेही वृत्तिके विशेषणकी गति है। तब अन्यत्र उस अर्थको नियमसे अवधिकी अपेक्षा है तो भी वह अर्थ स्वयं वृत्तिके शब्दसे उपनियत होके उसी वृत्तिमेंके विशेष्यका विशेषण हुआ तो अवधिकी अपेक्षाका नियम नहीं रहता।

ऽस्त्येव प्राथमकल्पिको यस्मिन्नैकपद्यमैकस्वर्यमेकविभक्तिकत्वं च । अस्ति तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यं तृतीयासमासार्थानि पदानि तृतीयासमास इति । तद्यत्तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यं तस्येदं ग्रहणम् ॥ अथवा समास इति वर्तमाने पुनः समासग्रहणस्यैतत्प्रयोजनं योगाङ्गं यथोपजायेत । सति योगाङ्गे योगविभागः करिष्यते । तृतीया । तृतीयासमासे सर्वादीनि सर्वनामसञ्ज्ञानि न भवन्ति । मासपूर्वाय देहि । संवत्सरपूर्वाय देहि । ततो ऽसमासे । असमासे च तृतीयायाः सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि न भवन्ति । मासेन पूर्वाय देहि ।

यह तृतीयासमास ऐसा ही एक है कि (तृतीया समास कहते ही) प्रथमतः जिसकी कल्पना मनमें आती है और जिसमें (अनेक पदोंको मिलाकर) एक (सामासिक) पद तैयार होता है। उसमें एक ही स्वर होता है और विभक्तिप्रत्यय भी एक ही लगता है। (वह लोकप्रसिद्ध मुख्य तृतीयासमास है)। अब "एकाध वस्तुके लिए जो एक विशेष प्रकारकी अवस्था रची जाती है उस अवस्थाको भी उस वस्तुको दिखानेवाला शब्द लगानेकी लोगोंमें प्रथा है।" इस न्यायसे तृतीयासमासका विग्रह करनेके लिए जो (वाक्यमें अनेक) पद (अलग अलग) दिखाये जाते है उस वाक्यको भी तृतीयासमास कहा जा सकता है। अतः इस तरह तृतीयासमासका विग्रह करनेके लिए कल्पित किये हुए वाक्यको लगनेवाला जो तृतीयासमास शब्द है उसका भी यहाँ ग्रहण हो (यही समास शब्द रखनेका उपयोग है)। (इससे 'मासेन पूर्वाय' यहाँ भी सर्वनामसञ्ज्ञाका निषेध सिद्ध होता है।)

अथवा 'समासे' शब्दकी अनुवृत्ति आनेपर पुनः यहाँ 'समासे' शब्द रखा गया है उसका उपयोग यह है कि यहाँ समासको सूत्रका अवयव माना जाय। और इस तरह अवयव माना जानेपर यों योगविभाग किया जायगा—'तृतीया' इतना ही एक सूत्र है। (वहाँ समासग्रहणकी अनुवृत्ति है।) अतः तृतीयासमासमें सर्व आदि शब्दोंको सर्वनामसंज्ञा नहीं होती (यही उसका अर्थ है)। उदा० 'मासपूर्वाय देहि', 'संवत्सरपूर्वाय देहि'। उसके आगे 'असमासे' यह दूसरा सूत्र है। तृतीयासमासभिन्न स्थानपर, अर्थात् तृतीयासमास जैसे वाक्यमें, सर्व आदि शब्दोंको सर्वनामसञ्ज्ञा नहीं होती (यही उसका अर्थ है)। उदा० मासेन पूर्वाय देहि।

---

[1] जैसे 'अब्राह्मणको लाया जाय' ऐसा कहा गया तो 'ब्राह्मणभिन्नको लाया जाय' यही उसका अर्थ होता है, पर वहाँ ब्राह्मणभिन्न ऐसा ब्राह्मणसदृश अन्य कोई मनुष्य ही लाया जाता है, वैसेही यहाँ 'तृतीयासमासभिन्नस्थली' ऐसा कहनेसे तृतीयासमाससदृश उसका अर्थ दिखानेवाला वाक्यही लिया जाता है।

[द्वन्द्वे च १ । १ । ३१ ॥]

विभाषा जसि ॥ १ । १ । ३२ ॥

जसः कार्यं प्रति विभाषाकज्झि न भवति ॥

[प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च ॥ १ । १ । ३३ ॥]

पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् ॥ १ । १ । ३४ ॥

अवरादीनां च पुनः सूत्रपाठे ग्रहणानर्थक्यं गणे पठितत्वात् ॥ १ ॥

(सू. ३१) द्वन्द्व-समासमें भी सर्वआदि शब्दोंको सर्वनामसंज्ञा नहीं होती है।

(सू. ३२) (द्वन्द्व-समासमें सर्वआदि शब्दोंको) 'जस्' प्रत्यय आगे होनेपर (सर्वनामसंज्ञा) विकल्पसे (होती है)।

'जस्' प्रत्ययके स्थानपर ('शी आदेश—७।१।१७—यह) कार्य करनेके लिए ही (यह सर्वनामसंज्ञा एकबार) विकल्पसे कही गयी है। (अन्य कार्य कर्तव्य होनेपर "द्वन्द्वे च" निषेध कायम होता है। क्योंकि) द्वन्द्वमें 'अकच्' प्रत्यय (५।३।७१) होता ही नहीं।

(सू. ३३) प्रथम, चरम, तयप्प्रत्ययान्त, अल्प, अर्ध, कतिपय और नेम इन शब्दोंको 'जस्' प्रत्यय आगे होनेपर सर्वनामसंज्ञा विकल्पसे होती है।

(सू. ३४) जिस अर्थको अवधिकी अपेक्षा अवश्य लगती है उस अर्थमें प्रयुक्त किये हुए तथा जो किसीकी भी संज्ञा नहीं (हैं) ऐसे पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर और अधर इन शब्दोंको ('जस्' प्रत्यय आगे होनेपर सर्वनामसंज्ञा विकल्पसे होती है)।

(वा. १) अवर आदि शब्दोंका पुनः प्रकृतसूत्रमें जो पाठ किया गया है वह निरर्थक है, क्योंकि गणमें उनका पाठ है।

अवरादीनां च पुनः सूत्रपाठे ग्रहणमनर्थकम्। किं कारणम्। गणे पठितत्वात्। गणे ह्येतानि पठ्यन्ते। कथं पुनर्ज्ञायते स पूर्वः पाठो ऽयं पुनः पाठ इति। तानि हि पूर्वादीनीमान्यवरादीनि। इमान्यपि पूर्वादीनि। एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति स पूर्वः पाठो ऽयं पुनः पाठ इति यदयं पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा [७.१.१६] इति नवग्रहणं करोति। नवैव हि पूर्वादीनि॥ इदं तर्हि प्रयोजनं व्यवस्थायाम-

---

अवर आदि शब्दोंका ('सर्वादि-' गणमें पाठ होनेपर भी उनका) पुनः प्रकृत-सूत्रमें जो पाठ किया गया है सो निरर्थक है।

क्या कारण है?

क्योंकि (सर्वादि-) गणमें इन शब्दोंका (इसी क्रमसे) पाठ किया है।

परन्तु गणपाठ पहलेका है और सूत्रपाठ पीछेका है सो कैसे जाना जाता है?

सर्वआदि शब्दोंका गणपाठमें पहले उपक्रम किया है और सूत्रपाठमें उसके पीछे अर्थात् बादमें उपक्रम किया है।

(सूत्रपाठमें भी) इन पूर्वआदि शब्दोंका भी उपक्रम (गणपाठकी अपेक्षा पहले किया है ऐसा कहा जाता है।)

यदि यह बात है तो वह (गणपाठ) पहलेका, यह (अष्टाध्यायी पाठ) पीछेका ऐसा आचार्यका व्यवहार ही सूचित करता है। क्योंकि यह आचार्य "पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा" (७।१।१६) यहाँ (अधिकोंकी व्यावृत्तिके लिए) 'नवभ्यः' शब्द प्रयुक्त करता है। पूर्वआदि शब्द अष्टाध्यायीमें नौ ही हैं। (अतः जब कि 'नवभ्यः' शब्द प्रयुक्त करता है तब सर्वादिगणपाठ पहलेका है ऐसा अनुमान निकलता है, इसीलिए अधिक

---

१. 'यह प्रकृतसूत्र अस् प्रत्यय आगे होनेपर विकल्पसे सर्वनामसंज्ञा कहनेवाला है' ऐसा न मानके केवल सर्वनामसंज्ञा कहनेवाला ही यह सूत्र है ऐसा मानके यह आशंका की है।

२ यदि पाणिनिने गणपाठ पहले न किया होता तो 'सर्वादीनि सर्वनामानि' सूत्रमें 'सर्वादीनि' पद रखा जा सकता। क्योंकि 'सर्व' शब्द आरम्भमें कहा है वह कुछ भी उस समय नहीं कहा जा सकता है।

३ 'सर्वादीनि॰' सूत्रमें 'आदि' शब्द 'पहला' अर्थमें न लेकर 'प्रकार' अर्थमें लिया गया तो 'सर्व शब्द-जैसे जो शब्द हैं उनको सर्वनामसंज्ञा होती है' ऐसा उसका अर्थ होके सर्वनामसंज्ञा की जा सकती है। अब सर्वनामसंज्ञा जिनको करनी है वे सर्व शब्द-जैसे शब्द कौनसे यह समझनेके लिए बादमें गणपाठकी रचना पाणिनिने की ऐसा कहा जा सकता है। तब 'सूत्रपाठके पूर्वही गणपाठ किया है' ऐसा अनुमान निश्चित करनेके लिए वह प्रमाण नहीं लिया जा सकता।

संज्ञायामिति वक्ष्यामीति। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। एवंविशिष्टान्येवैतानि गणे पठ्यन्ते। इदं तर्हि प्रयोजनं त्यादिपर्युदासेन पर्युदासो मा भूदिति। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नैषां त्यादिपर्युदासेन पर्युदासो भवतीति यदयं पूर्वत्रासिद्धम् [८. २. १] इति निपातनं करोति। वार्तिककारश्च पठति जश्भावादिति

शब्दोंकी[४] व्यावृत्तिके लिए प्रयुक्त 'नवभ्यः' शब्द सुसंगत बैठता है।)

तो (पूर्वादिक नौ शब्दोंका यहाँ पुनः पाठ किये जानेका) प्रयोजन यह समझा जाय कि 'व्यवस्थायामसंज्ञायाम्' यह विशेषण (पूर्वादि सात शब्दोंको ही) लागू हो। ('अज्ञातिधनाख्यायां' विशेषण स्वशब्दको ही, तथा 'बहिर्योगोपसंव्यानयोः' विशेषण अन्तरशब्दको ही लागू हो।)

यह भी प्रयोजन नहीं है। क्योंकि गणमें वैसे विशेषण लगाकर ही पाठ किया गया है।

तो फिर (पूर्वादि नौ शब्दोंके) पाठका फल यहाँ (यह समझा जाय कि 'किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः'—५।३।२—यहाँके) त्यादिकोंके प्रतिषेधसे (पूर्वादिकोंका) प्रतिषेध न हो।

यह भी प्रयोजन नहीं आता है। त्यादिकोंके प्रतिषेधसे (पूर्वादि नौ शब्दोंके आगे तसिलादिकोंका) प्रतिषेध नहीं होता ऐसा आचार्यका व्यवहार सूचित करता है, क्योंकि ये आचार्य "पूर्वत्रासिद्धम्" (८।२।१) यहाँ ('पूर्वत्र' शब्द) प्रयुक्त

---

४. 'सर्वादिगण'में पूर्व इत्यादि नौ शब्दोंके आगे त्यद्, तद् इत्यादि जो शब्द हैं उनका संग्रह 'पूर्वादिभ्यः' (७।१।१६) पदमें न हो इसलिए उसको 'नवभ्यः' विशेषण दिया है। सारांश, 'सूत्रपाठकी अपेक्षा गणपाठ पूर्वका है' ऐसा निश्चय होनेके कारण इस प्रकृतसूत्रमें 'पूर्वपरावर०' शब्दोंका प्रत्यक्ष उच्चारण न करके 'पूर्वादीनि' कहनेमे इष्टसिद्धि हो सकती है ऐसा सिद्ध होता है।

५. सर्वादिगणका पाठक्रम दो प्रकारका है। प्रथमतः सर्व, विश्व इत्यादि १४ शब्द, तदनंतर पूर्व, पर इत्यादि ९ शब्द, और तत्पश्चात् त्यद्, तद् इत्यादि १२ शब्द यह एक क्रम है। और दूसरा पाठक्रम यह है कि प्रथमतः सर्व, विश्व इत्यादि १४ शब्द, तदनन्तर त्यद्, तद् इत्यादि १२ शब्द और तत्पश्चात् पूर्व, पर इत्यादि ९ शब्द। यह दूसरा पाठक्रम लिया गया तो पूर्व, पर इत्यादि ९ शब्द त्यादिकोंमें आते हैं। 'द्वि' शब्द त्यद्, तद् इत्यादि १२ शब्दोंमेंसे आठवाँ शब्द है। उससे आरंभ करके आगेके सभी शब्दोंका त्यादिकोंमें संग्रह होता है। त्र, त्रल्, तसिल् इत्यादि प्रत्यय सर्वनामके आगे कहे हैं, पर उनमेंसे त्यादिक शब्द अलग रखे हैं। 'अद्व्यादिभ्यः' (५।३।२) ऐसा वहाँ निषेध किया है। वह निषेध हटाकर त्रल्, तसिल् प्रत्यय पूर्व, पर इत्यादि शब्दोंके आगे होने चाहिये इसलिए हेतुपूर्वक यह प्रकृतसूत्र किया है।

चेदुत्तरत्राभावादपवादप्रसङ्ग इति ॥ इद तर्हि प्रयोजन जसि विभाषा वक्ष्यामीति ॥

स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् ॥ १ । १ । ३५ ॥

आख्याग्रहण किमर्थम्। ज्ञातिधनपर्यायवाची य· स्वशब्दस्तस्य यथा स्यादिह मा भूत्। स्वे पुत्रा स्वा पुत्रा । स्वे गाव स्वा गाव ॥

अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः ॥ १ । १ । ३६ ॥

उपसंव्यानग्रहणमनर्थक बहिर्योगेण कृतत्वात् ॥ १ ॥

करते है। और ("ढो ढे लोप"—८।३।१३—इस सूत्रका स्पष्टीकरण करनेके लिए दिये हुए) 'जशभावादिति चेदुत्तरत्राभावादपवादप्रसङ्ग' (८।३।१३ वा २) वार्तिकमें ('उत्तरत्र' शब्द) वार्तिककार भी प्रयुक्त करते है। (अर्थात् इस सूत्रवार्तिकप्रयोगसे त्यदादिकोंके पहले पूर्वादिकोंका पाठ है ऐसा सूचित होता है।)

तो फिर (पूर्वआदि शब्दोंको) 'जस्' प्रत्यय आगे होनेपर (सर्वनामसज्ञाका) विकल्प करें इसलिए उसका यहाँ पुन. पाठ किया गया है।

(सू ३५)—('जस्' प्रत्यय आगे होनेपर) 'स्व' शब्दको (सर्वनामसज्ञा विकल्पसे होती हे), परन्तु उस 'स्व' शब्दका अर्थ ज्ञाति वा धन न होना चाहिये।

यहाँ 'आख्या' शब्द रखा गया है सो किसलिए?

ज्ञातिवाचक और धनवाचक जो 'स्व' शब्द है उसीको सर्वनामसज्ञाका निषेध होना चाहिये। परन्तु 'स्वे पुत्रा,' 'स्वा पुत्रा', 'स्वे गाव', 'स्वा गाव', यहाँ सर्वनामसज्ञाका निषेध नहीं होना चाहिये।

(सू ३६) बहिर्योग अथवा उपस॰यान अर्थका जो 'अन्तर' शब्द (उसको 'जस्' प्रत्यय आगे होनेपर सर्वनामसज्ञा विकल्पसे होती है)।

(वा १) 'उपस॰यान' शब्द निरर्थक है, क्योंकि 'बहिर्योग' से इष्टसिद्धि होती है।

---

१ (सू ३५) यहाँ 'स्व शब्द आत्मीय अर्थमें रखा है। अब वह आत्मीय पदार्थ पुन आदि ज्ञाति हो अथवा गो आदि धन हो तो भी यहाँ सर्वनामसज्ञाका निषेध नहीं होता, क्योंकि 'स्व' शब्द ज्ञाति वा धनकी आख्या अर्थात् नाम नहीं होता है।

१ (सू ३६) 'बहिर्योग' के दो अर्थ होते हैं। गावकी सीमा दिखानेके लिए जो तट रचा जाता है उस सीमाके बाहरके खुले प्रदेशको 'बहि' कहते हैं। और उस प्रदेशमें स्थित पदार्थको भी 'बहि' कहते हैं। इन अर्थोमेंसे किसी एकका योग अर्थात् सबध दिखानेवाले 'अतर' शब्दको सर्वनामसज्ञा होती है। 'अन्तरे अन्तरा गृहा' के दो अर्थ होते हैं। 'सीमाके बाहरके घर' यह एक अर्थ है। और 'सीमाके अदरके जो घर सीमासे लगकर हैं वे घर' यह दूसरा अर्थ है। क्योंकि सीमासे लगकर जो अदरके घर हैं उनका बाहर खुले प्रदेशमें जो पदार्थ है उनसे सबध वहाँ 'अन्तर' शब्दसे प्रतीत होता है। 'उपसव्यान' शब्दके भी दो अर्थ हैं। 'उप', 'सम्' इन दो उपसर्गोको आगे 'व्ये' धातुको 'ल्युट्' प्रत्यय और

उपसंव्यानग्रहणमनर्थकम्। किं कारणम्। बहिर्योगेण कृतत्वात्। बहिर्योग इत्येव सिद्धम्॥

न वा शाटकयुगाद्यर्थम्॥ २॥

न वानर्थकम्। किं कारणम्। शाटकयुगाद्यर्थम्। शाटकयुगाद्यर्थं तर्हीदं वक्तव्यं यत्रैतन्न ज्ञायते किमन्तरीयं किमुत्तरीयमिति॥ अत्रापि य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति निर्ज्ञातं तस्य भवतीदमन्तरीयमिदमुत्तरीयमिति॥

अपुरीति वक्तव्यम्॥ इह मा भूत्। अन्तरायां पुरि वसतीति॥

(इस सूत्रमें) 'उपसंव्यान' शब्द निरर्थक है।

क्या कारण है?

क्योंकि 'बहिर्योग' (अर्थसे) इष्ट कार्य होता है। अर्थात् 'बहिर्योग' अर्थसे ही इष्टसिद्धि होती है।

(वा. २)—('उपसंव्यान' शब्द) निरर्थक नहीं होता है; क्योंकि (समान दीखनेवाले) दो वस्त्रोंके बारेमें इसका उपयोग है।

('उपसंव्यान' शब्द) निरर्थक नहीं होता है।

क्या कारण है?

क्योंकि (समान दीखनेवाले) दो वस्त्रोंके बारेमें इसका उपयोग है। जहाँ (परत न मोड़े हुए समान दीखनेवाले) दो वस्त्र हैं वहाँ 'अन्तरीय' (अर्थात् पहननेका वस्त्र) कौनसा और 'उत्तरीय' (अर्थात् ओढ़नेका वस्त्र) कौनसा यह ज्ञात न होनेके कारण वहाँ बहिर्योग नहीं दिखाया जा सकता। (अतः केवल बहिर्योग शब्दसे काम नहीं चलता। इसलिए उपसंव्यान शब्द प्रयुक्त किया गया है।)

यहाँ भी मनुष्य चतुर हो तो 'अमुक वस्त्र अन्तरीय है और अमुक वस्त्र उत्तरीय है' सो ठीक ठीक पहचानता है। (उसके साथ बहिर्योग भी निश्चित होनेके कारण बहिर्योग इस अर्थसे ही अन्तरीय अथवा उत्तरीय वस्त्रके अर्थको दर्शानेवाले 'अन्तर' शब्दको सर्वनामसंज्ञा होगी। अतः 'उपसंव्यान' शब्द सूत्रमें रखनेकी आवश्यकता नहीं है।)

("अन्तरं बहिर्योगो०" गणसूत्रमें) 'अपुरि' शब्द कहा जाय। ('पुर' का अर्थात् नगरका अन्तर हो तो अन्तर शब्दको सर्वनामसंज्ञा वहाँ नहीं होती ऐसा कहा जाय।) क्योंकि 'अन्तरायां पुरि वसति' यहाँ 'अन्तरा' शब्दको सर्वनामसंज्ञा नहीं होनी चाहिये।

उसको 'अन' आदेश (७।३।१) करके उपसंव्यान शब्द बना है। यहाँ धातुका अर्थ है 'आच्छादन करना।' आगेके प्रत्ययका 'उस क्रियाका कर्म और करण' यह दो प्रकारका अर्थ हो सकता है। तब जो ढाँका जाता है वह अन्तरीय अर्थात् पहननेका वस्त्र, और जिससे ढाँका जाता है वह उत्तरीय अर्थात् ओढ़नेका वस्त्र, दोनों वस्त्रोंको 'उपसंव्यान' कहते हैं। तब इन दोनों अर्थोंमें 'अन्तर' शब्दको सर्वनामसंज्ञा होती है।

२. क्योंकि ओढ़नेके वस्त्रका बाहरके खुले प्रदेशसे संबंध रहता है यह प्रसिद्ध ही है। तथा उस बाहरके खुले प्रदेशमें जो पदार्थ हैं उनसे अर्थात् ओढ़नेके वस्त्रसे पहननेके वस्त्रका संबंध रहता है। तब दो वस्त्रोंमेंसे किसी एक वस्त्रको दिखानेवाला अन्तर शब्द हो तो भी उसको, 'बहिर्योग' के दो अर्थोंमेंसे कोई एक अर्थ लेकर, सर्वनामसंज्ञा की जा सकती है।

वाप्रकरणे तीयस्य ङित्सूपसंख्यानम् ॥ ३ ॥

वाप्रकरणे तीयस्य ङित्सूपसख्यान कर्तव्यम्। द्वितीयायै द्वितीयस्यै। तृतीयायै तृतीयस्यै। विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्याम् [७. ३ ११५] इत्येतन्न वक्तव्यं भवति। किं पुनरत्र ज्यायः। उपसख्यानमेवात्र ज्यायः। इदमपि सिद्ध भवति। द्वितीयाय द्वितीयस्मै। तृतीयाय तृतीयस्मै ॥

स्वरादिनिपातमव्ययम् ॥ १ । १ । ३७ ॥

किमर्थं पृथग्ग्रहण स्वरादीना क्रियते न चादिष्वेव पठ्येरन्। चादीनां वा

(वा ३) विकल्पके प्रकरणमें 'ङित्' प्रत्यय आगे होनेपर तीयप्रत्ययान्त का ग्रहण किया जाय।

('सर्वनामसज्ञा–' के) विकल्पके प्रकरणमें 'ङित्' प्रत्यय आगे होनेपर तीय प्रत्ययान्तका ग्रहण किया जाय (अर्थात् जिसका ङकार इत्सज्ञक है ऐसे प्रत्ययके पीछेके तीयप्रत्ययान्त शब्दको विकल्पसे सर्वनामसज्ञाका विधान किया जाय।) जैसे,— द्वितीयायै द्वितीयस्यै, तृतीयायै तृतीयस्यै। (यह वार्तिक किया गया तो) "विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्याम्" (७।३।११५) यह सूत्र करनेकी आवश्यकता नहीं है।

अब (वार्तिक और सूत्र इन दोनोंमेंसे) कौनसा रखना अच्छा है?

वार्तिक ही रखना अच्छा। क्योंकि उसमें द्वितीयाय द्वितीयस्मै, तृतीयाय तृतीयस्मै, ये उदाहरण भी सिद्ध होते हैं।

(सू. ३७)–स्वर् आदि शब्द तथा निपातसंज्ञक (१।४।५७–९७) शब्द इनको अव्ययसंज्ञा होती है।

(इस सूत्रमें) 'स्वर' आदिकोंका पृथक् उच्चारण किसलिए किया है? (वैसा करनेकी आवश्यकता नहीं है।) चादिगणमें ही 'स्वर'–आदि शब्द क्यों न पढे जायें?

अद्रव्यार्थक चादिगणके शब्दोंको निपातसज्ञा (बतायी गयी है), परन्तु

---

१ 'चादिगण' के 'च' आदि शब्दोंको निपातसज्ञा कही है (१।४।५७)। उस चादिगणमें स्वरादिगण मिलाया गया तो उसीसे 'स्वर्' आदिको निपातसज्ञा होगी, और प्रकृतसूत्रमें 'स्वर्' आदिको निपात की दृष्टिसे अव्ययसंज्ञा होगी। तब यहाँ 'स्वरादि' ऐसा अर्थात् अलग कहनेकी आवश्यकता नहीं।

२ लिंग और सख्याका संबंध जिस अर्थको प्रतीत होता है उस अर्थको द्रव्य कहते हैं, जैसे, घट, पट इत्यादि शब्दोंके अर्थ। जिस अर्थको लिंग और सख्याका संबंध प्रतीत नहीं

असत्त्ववचनाना निपातसञ्ज्ञा स्वरादीना पुन सत्त्ववचनानामसत्त्ववचनाना च ॥ अथ किमर्थमुभे सञ्ज्ञे क्रियेते न निपातसञ्ज्ञैव स्यात्। नैव शक्यम्। निपात एकाजनाङ् [१ १ १४] इति प्रगृह्यसञ्ज्ञोक्ता सा स्वरादीनामप्येकाचा प्रसज्येत ॥ एव तर्ह्यव्ययसञ्ज्ञैवास्तु। तच्चाशक्यम्। वक्ष्यत्येतत्। अव्यये नञ्कुनिपाताना मिति। तद्गरीयसा न्यासेन परिगणन कर्तव्य स्यात् ॥ तस्मात्पृथग्ग्रहण कर्तव्यम्। उभे च सञ्ज्ञे कर्तव्ये ॥

द्रव्यार्थक तथा अद्रव्यार्थक दोनों प्रकारके ('स्वर' आदि गणोंके) 'स्वर' आदि शब्दोंको (अव्ययसञ्ज्ञा इष्ट है)।

अब, निपात और अव्यय दो सञ्ज्ञाएँ क्यों की गयी हैं? (वे दो सञ्ज्ञाएँ न की जायें।) क्या एक निपातसञ्ज्ञा ही न की जाय? (अर्थात् "प्राग्रीश्वरान्निपाता" १।४।५६—इसके आगे "स्वरादिनिपातम्" आदि सूत्र करके 'स्वर' आदिकोंको निपातसञ्ज्ञा ही बतायी जाय। अव्ययसञ्ज्ञा बिलकुल नहीं।)

यह करना सभव नहीं है। क्योंकि "निपात एकाजनाङ्" (१।१।१४) सूत्रसे बतायी हुई जो प्रगृह्यसञ्ज्ञा है वह एक स्वरसे युक्त 'स्व' आदि शब्दोंको भी होने लगेगी। (जैसे,—क इव क्वे।)

यदि यह बात है तो एक अव्ययसञ्ज्ञाही रहने द। (अर्थात् 'प्राग्रीश्वरादव्ययम्' १।४।५६—ऐसा सूत्र करके उसके आगे "स्वरादिनिपातम्०" आदि सूत्र रखकर आगे "चादयोऽसत्त्वे"—१।४।५७—आदि सूत्र रखे जायें।)

वैसा करना असभव है। क्योंकि ("तत्पुरुषे तुल्यार्थ०"—६।२।२—इस सूत्रसे बताया हुआ पूर्वपदप्रकृतिस्वर 'स्नात्वाकालक' आदि उदाहरणोंमें न हो इसलिए) "अव्यये नञ्कुनिपातानाम्" (६।२।२ वा ३) ऐसा (वहाँ) परिगणन करता है। बहुत शब्द रखकर वह विस्तृत करना होगा। (अर्थात् अब निपातसञ्ज्ञा न होनेके कारण परिगणनके निपात शब्दोंके बदले 'च' आदि सब शब्द रखने पड़ेंगे।) अत (प्रकृतसूत्रमें) 'स्वरादि' और 'निपात' दोनों शब्द पृथक पृथक रखने चाहिये, तथा 'निपात' और 'अव्यय' ये सञ्ज्ञाएँ भी दो पृथक पृथक करनी चाहिये।

होता उस अर्थको अद्रव्य कहते हैं जैसे च वा इत्यादि शब्दोंसे प्रतीत होनेवाले समुच्चय विकल्प इत्यादि अर्थ। ये ही अर्थ जहाँ समुच्चय विकल्प इत्यादि शब्दोंसे प्रतीत होते हैं वहाँ उनको द्रव्य कहते हैं।

३ 'क' में 'किम्' शब्दके आगे 'अत्' प्रत्यय (५।३।१२) किया है। उस 'अ' तद्धितप्रत्ययको अब अव्ययसञ्ज्ञाके स्थानमें निपातसञ्ज्ञा होनेवाली है (१।१।३८) इसलिए उसको प्रगृह्यसञ्ज्ञा होके प्रकृतिभाव (६।१।१२५) होगा और गुण (६।१।८७) न होगा।

तद्धितश्चासर्वविभक्तिः ॥ १ । १ । ३८ ॥

असर्वविभक्तावविभक्तिनिमित्तस्योपसंख्यानम् ॥ १ ॥

असर्वविभक्तावविभक्तिनिमित्तस्योपसंख्यानं कर्तव्यम् । नाना विना । किं पुनः कारणं न सिध्यति ॥

सर्वविभक्तिर्ह्यविशेषात् ॥ २ ॥

सर्वविभक्तिर्ह्येष भवति । किं कारणम् । अविशेषेण विहितत्वात् ॥

त्रलादीनां चोपसंख्यानम् ॥ ३ ॥

(सू. ३८) जिस शब्दके आगे सब विभक्ति – (प्रत्यय) नहीं लगते ऐसे तद्धितप्रत्ययान्त शब्दको (अव्ययसंज्ञा होती है)।

(वा. १) 'असर्वविभक्ति' के साथ 'अविभक्तिनिमित्त' ऐसा और कहना चाहिये।

'असर्वविभक्तिः' ऐसा जो कहा गया है वहाँ और 'अविभक्तिके निमित्त' ऐसा कहना चाहिये; जैसे, विना, नाना।

परन्तु, ('विना' और 'नाना' यहाँ) प्रकृतसूत्रसे अव्ययसंज्ञा क्यों नहीं सिद्ध होती?

(वा. २) यह सभीविभक्त्यन्तके आगे किया जा सकता है।

यह ('ना' अथवा 'नाञ्' तद्धित-प्रत्यय) सभीविभक्त्यन्त ('वि' अथवा 'नञ्' शब्दों–) के आगे किया जा सकता है।

क्या कारण है?

क्योंकि विशिष्ट एक विभक्तिही कारणके तौरपर उस सूत्रमें नहीं रखी गयी है।

(वा. ३) और 'त्रल्' आदि ('तद्धितप्रत्ययान्त शब्दों–' को अव्ययसंज्ञा होती है) ऐसा कहा जाय।

---

१. 'असर्वविभक्ति.' पदका अर्थ है 'जिस तद्धितप्रत्ययान्त शब्दके आगे सब प्रकारकी विभक्ति उत्पन्न नहीं होती'। परन्तु वह अर्थ न लेके 'जिस तद्धितप्रत्ययकी उत्पत्ति होते समय उसकी प्रकृतिको सब विभक्ति नहीं लगायी जा सकती' यह अर्थ समझकर वार्तिककारोंने यह वार्तिक किया है। 'विना,' 'नाना' यहाँ 'वि' के आगे 'ना' और 'न' के आगे 'नाञ्' प्रत्यय (५।२।२७) हुआ है। उस प्रत्ययकी उत्पत्तिके समय उसकी प्रकृतिके आगे अर्थात् 'वि' और 'नञ्' के आगे अमुक विभक्ति की जानी चाहिये ऐसा विशेष कुछ भी वहाँ नहीं कहा है। अतः वहाँ कोई भी विभक्ति की तो भी चलता है। 'अविभक्तिनिमित्त' का अर्थ है 'जिस तद्धित प्रत्ययकी निर्मितिके समय उसकी प्रकृतिके आगे किसी भी विशेष विभक्तिको कारण नहीं समझा जाता है'। 'ना' और 'नाञ्' प्रत्यय वैसे हैं।

त्रलादीनां चोपसंख्यानं कर्तव्यम्। तत्र यत्र। ततः यतः। ननु च विशेषेणैते विधीयन्ते। पञ्चम्यास्तसिल् [५.३.७] सप्तम्यास्त्रल् [१०] इति। वक्ष्यत्येतत्। इतराभ्यो ऽपि दृश्यन्ते [१४] इति॥ यदि पुनरविभक्तिः शब्दो ऽव्ययसंज्ञो भवतीत्युच्येत॥

अविभक्ताविततरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिः॥ ४॥

अविभक्ताविततरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिः संज्ञायाः। केतरेतराश्रयता। सत्यविभक्तित्वे संज्ञया भवितव्यं संज्ञया चाविभक्तित्वं भाव्यते तदितरेतराश्रयं भवति। इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते॥

अलिङ्गमसंख्यमिति वा॥ ५॥

और त्रल् आदि (तद्धितप्रत्यय करनेपर वहाँ उस तद्धितप्रत्ययान्त) शब्दको (अव्ययसंज्ञा होती है) ऐसा कहा जाय, जैसे, तत्र, यत्र, ततः, यतः।

परन्तु (त्रल्, तसिल् इत्यादि जो तद्धित प्रत्यय हैं) वे विशिष्टविभक्तिनिमित्त मानकर ही कहे गये हैं; जैसे, – "पञ्चम्यास्तसिल्" (५।३।७), "सप्तम्यास्त्रल्" (५।३।१०)। (अतः ऊपरके उदाहरणोंमें प्रकृतसूत्रसे ही अव्ययसंज्ञा सिद्ध होती है।)

(तो भी दूसरी ओर दोष आता ही है।:—) "इतराभ्योपि दृश्यन्ते" (५।३।१४) इस (सूत्रसे पञ्चमी, सप्तमी, इनसे अन्य जो विभक्तियाँ हैं तदन्तसे भी त्रल्तसिलादिक होता है) ऐसा कहा है। (अतः भवत् आदि शब्दोंका योग होनेपर सभीविभक्त्यन्त शब्दोंके आगे वताये हुए त्रल् आदि प्रत्यय करनेपर वहाँ अव्ययसंज्ञा नहीं होगी।)

अब, यदि ('तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' के बदले 'अविभक्तिः शब्दः' ऐसा सूत्र करके प्रयोगमें) जिस शब्दके आगे भी विभक्ति नहीं दिखाई देती उस शब्दको अव्ययसंज्ञा होती है ऐसा कहा जाय (तो विना, नाना, तत्र, ततः इत्यादि स्थानोंपर दोष नहीं आता)। परन्तु—

(वा. ४) 'अविभक्तिः' कहा जाय तो अन्योन्याश्रयदोषसे (अव्ययसंज्ञाकी) असिद्धि होती है।

'अविभक्तिः' कहा जाय तो अन्योन्याश्रयदोष आनेके कारण अव्ययसंज्ञा ही सिद्ध नहीं होती।

वह अन्योन्याश्रयदोष कैसे आता है?

(कोई भी शब्द) प्रथमतः विभक्तिरहित होगा तो उसे (अव्यय) सज्ञा होगी, और प्रथमतः सज्ञा होगी तो (वह शब्द) विभक्तिरहित है ऐसा सिद्ध होगा, यह अन्योन्याश्रयदोष आता है। और एक दूसरेपर निर्भर कार्य तो नहीं हो सकते।

(वा. ५) अथवा 'लिङ्गरहित तथा संख्यारहित (जो है वह अव्ययसज्ञक होता है)' ऐसा कहा जाय।

अथवालिङ्गमसंख्यमव्ययसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम् । एवमपीतरेतराश्रयमेव भवति । केतरेतराश्रयता । सत्यलिङ्गासंख्यत्वे संज्ञया भवितव्यं संज्ञया चालिङ्गा-संख्यत्वं भाव्यते तदितरेतराश्रयं भवति । इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते ॥ नेदं वाचनिकमलिङ्गतासंख्यता च । किं तर्हि । स्वाभाविकमेतत् । तद्यथा । समानमीहमानानां चाधीयानानां च केचिदर्थैर्युज्यन्ते ऽपरे न । तत्र किमस्माभिः कर्तुं शक्यम् । स्वाभाविकमेतत् ॥ तत्तर्हि वक्तव्यमलिङ्गमसंख्यमिति । न वक्तव्यम् ।

सिद्धं तु पाठात् ॥ ६ ॥

पाठाद्वा सिद्धमेतत् । कथं पाठः कर्तव्यः । तसिलादयः प्राक्पाशपः ।

अथवा 'लिङ्गरहित तथा संख्यारहित जो है वह अव्ययसंज्ञक होता है' ऐसा वचन किया जाय ।

तो भी अन्योन्याश्रय दोष आता ही है ।

वह अन्योन्याश्रयदोष कैसे आता है ?

लिङ्गरहित तथा संख्यारहित शब्द दिखाई दे तो अव्ययसंज्ञा होगी, और अव्यय संज्ञा होनेपर वह शब्द लिङ्गरहित तथा संख्यारहित बनेगा, ऐसा अन्योन्याश्रयदोष आता है और एक दूसरेपर निर्भर कार्य तो नहीं हो सकते ।

परन्तु लिङ्गरहितत्व तथा संख्यारहितत्व वचनसे निष्पन्न नहीं होगा; यह तो स्वाभाविक है । जैसे, —एक ही प्रकारकी इच्छा करनेवाले तथा एक ही प्रकारका उद्योग करनेवाले अनेक लोगोंमेंसे कुछ लोगोंको ही फल प्राप्त होता है और कुछ लोगोंको फल प्राप्त नहीं होता, वहाँ हम क्या करें ? क्योंकि वैसा होना स्वाभाविक ही है । (अतः लिंग और संख्या न लगना यह अर्थ दूसरेपर न होनेके कारण अन्योन्याश्रय नहीं होता ।)

तो फिर 'अलिङ्गमसंख्यमव्ययम्' यह वचन करना चाहिये ।

वैसा वचन करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

(वा. ६) अथवा प्रत्यक्ष पाठ करनेसे यह सिद्ध होता है ।

अथवा ('स्वरादि' गणमें) प्रत्यक्ष पाठ करनेसे यह सिद्ध होता है ।

परन्तु वह पाठ कैसे किया जाय ?

("पञ्चम्यास्तसिल्" —५।३।७— सूत्रसे बताये हुए) तसिल् प्रत्ययको आरंभ करके ("याप्ये पाशप्" —५।३।४७— सूत्रसे बताये हुए) 'पाशप्' प्रत्यय तकके प्रत्यय; ("बह्वल्पार्थाच्छस्०" —५।४।४२— सूत्रसे बताये हुए) 'शस्' प्रत्ययको आरंभ करके "समासान्ताः" (५।४।६८) इस सूत्र तक के प्रत्यय; ("अमु च च्छन्दसि" ५।४।१२—इस सूत्रमें बताये हुए अम् और आम्, तथा "किमेत्तिङव्ययघात् आमु०"

शस्प्रभृतयः प्राक्समासान्तेभ्यः। मान्तः। कृत्वोऽर्थः। तसिवती। नानाञाविति॥

अथवा पुनरस्त्वविभक्तिः शब्दो ऽव्ययसंज्ञो भवतीत्येव। ननु चोक्तम-विभक्तावितरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिरिति। नैष दोषः। इदं तावदयं प्रष्टव्यः। यदपि तावद्वैयाकरणा विभक्तिलोपमारभमाणा अविभक्तिकाञ्शब्दान्प्रयुञ्जते ये त्वेते वैयाकरणेभ्यो ऽन्ये मनुष्याः कथं ते ऽविभक्तिकाञ्शब्दान्प्रयुञ्जत इति। अभिज्ञाश्च पुनर्लौकिका एकत्वादीनामर्थानाम्। आतश्चाभिज्ञा अन्येन हि वर्त्तैनेक गां क्रीणन्त्यन्येन द्वावन्येन त्रीन्। अभिज्ञाश्च न च प्रयुञ्जते। तदेतदेवं संदर्शयतामर्थ-

---

५।४।११–इस सूत्रसे बताया हुआ 'आम्' ये) मकारान्त प्रत्यय; ("संख्यायाः... कृत्वसुच्—५।४।१७—"द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्"—५।४।१८—विभाषा बहोर्धा—५।४।२०–इन सूत्रोंद्वारा बताये हुए) कृत्वसुच्, सुच और धा प्रत्यय; ("तेनैकदिक्", "तसिश्च"—४।३।११२, ११३–इन सूत्रोंसे बताया हुआ) तस् प्रत्यय; ("तेन तुल्यं०" "तत्र तस्यैव"—५।१।११५, ११६–इत्यादि सूत्रोंद्वारा बताया हुआ) वत् प्रत्यय, ("विनञ्भ्यां०"–५।२।२७—सूत्रसे बताये हुए) ना और नाञ् प्रत्यय। (इन प्रत्ययोंका पाठ करनेसे "स्वरादिनिपात०"—१।१।३७—इसीसे अव्ययसंज्ञा होती है। अतः असर्वविभक्तिविषयक अन्योन्याश्रयदोष नहीं आता।)

अथवा ('असर्वविभक्तिः' के बदले) 'अविभक्तिः' (यह पद सूत्रमें रखकर) विभक्तिरहित शब्द अव्ययसंज्ञक होता है ऐसा जो कहा है, वही रहने दें।

परन्तु 'अविभक्तिः' कहा जाय तो अन्योन्याश्रयदोष आनेके कारण अव्यय-संज्ञा नहीं होती यह (दोष) पहले दिखाया गया है न?

यह दोष नहीं आता। यहाँ (जो अन्योन्याश्रयदोष देता है) उसे पहले यह पूछा जाय कि जो व्याकरणशास्त्राभिज्ञ हैं उन्हें अमुक सूत्रसे विभक्तिका लोप बताया गया है यह ज्ञात होनेके कारण वे विभक्तिरहित शब्दोंका प्रयोग करते हैं सो ठीक है। परन्तु जो व्याकरणाभिज्ञ नहीं हैं वे भी विभक्तिरहित शब्दोंका प्रयोग करते हैं सो कैसे? यद्यपि वे व्याकरणानभिज्ञ हैं तो भी उन्हें एक आदि संख्याका ज्ञान शब्दसे होता है ऐसा मानना ही चाहिये। (नहीं तो घटः, घटौ आदि स्थानोंपर एक घट सूचित करना हो तब एकवचन रखते हैं और दो घट सूचित करने हों तो द्विवचन रखते हैं। यदि उन्हें शब्दसे एकत्वादि संख्याका ज्ञान न होता हो, तो दो घट सूचित करता है तब एकवचन, और एक घट सूचित करता है तो द्विवचन भी रखेंगे अथवा बिलकुल वचन रखेंगे ही नहीं। परन्तु वे वैसा नहीं करते। इससे व्याकरणानभिज्ञ लोगोंको भी शब्दसे एकत्वादि संख्याका ज्ञान होता है ऐसा सिद्ध हो जाता है।) और अगले व्यवहारसे भी यही सिद्ध होता है। एक बैल खरीदना हो तो निश्चित एक मूल्यपर खरीदा जाता है। निश्चितके दुगुने मूल्यपर दो, और तिगुने मूल्यपर तीन बैल खरीदे जाते हैं। यदि उन्हें संख्याका ज्ञान नहीं है तो दो-तीन बैलोंके लिए दुगुना-तिगुना मूल्य क्यों देते हैं?

रूपमेवैतदेवजातीयक येनात्र विभाक्तिर्न भवतीति। तच्चाप्येतदेवमनुगम्यमान दृश्यताम्। किंचिदव्यय विभक्त्यर्थप्रधानं किंचित्क्रियाप्रधानम्। उच्चैर्नीचैरिति विभक्त्यर्थप्रधान हिरुक्पृथगिति क्रियाप्रधानम्। तद्धितश्चापि कश्चिद्विभक्त्यर्थप्रधान कश्चित्क्रियाप्रधानः। तत्र यत्रेति विभक्त्यर्थप्रधानो नाना विनेति क्रियाप्रधानः न चैतयोरर्थयोर्लिङ्गसख्याभ्या योगोऽस्ति॥

अथाप्यसर्वविभक्तिरित्युच्यत एवमपि न दोषः। कथम्। इद चाप्ययत्ले ऽतिबहु क्रियत एकस्मिन्नेकवचन द्वयोर्द्विवचन बहुषु बहुवचनमिति। कथं तर्हि।

अतः (एकत्वादि सख्याका) ज्ञान होकर भी (अव्ययके विषयमें तद्वाचक विभक्तिका) प्रयोग नहीं करते। इससे यह समझा जाय कि अव्ययरूप अर्थका स्वरूपही ऐसे स्वभावका है कि उससे वहाँ विभक्ति नहीं लगती।

(और अव्ययको लिंग, सख्या नहीं लगते है) यह बात अगले प्रकारसे भी सुसगत रूपसे निश्चित हो जाती है। देखिये, कुछ अव्यय विभक्त्यर्थप्रधान होते है (अर्थात् उनके अर्थमें विभक्त्यर्थको मुख्यत्व होता है), और कुछ अव्यय क्रियाप्रधान होते है (अर्थात् उनके अर्थमें क्रियाको मुख्यत्व होता है)। जैसे,–'उच्चैः', 'नीचैः' (इनसे ऊँचे स्थानमें और नीचे स्थानमें ये अर्थ मनमें आनेके कारण) ये विभक्त्यर्थप्रधान अव्यय है। तथा हिरुक्, पृथक् (इनसे वर्जन करना और अलग होना ये क्रियाएँ मनमें आनेके कारण) क्रियाप्रधान अव्यय हैं। वैसेही तद्धित-प्रत्यय भी करनेपर वहाँ भी कुछ स्थानोंपर उसके अर्थमें विभक्त्यर्थको मुख्यत्व दिखाई देता है, और कुछ स्थानोंपर क्रियाको मुख्यत्व दिखाई देता है। जैसे, यत्र, तत्र, इनसे 'जिस स्थानपर', 'उस स्थानपर' ऐसा अर्थ मनमें आनेके कारण वह प्रत्यय मुख्यत्वसे विभक्त्यर्थको दर्शाता है, और विना, नाना, आदिसे 'अलग रखना' यह क्रिया मनमें आनेके कारण यह तद्धितप्रत्यय मुख्यतया क्रियाको दिखाता है। और विभक्त्यर्थ और क्रिया इनको लिंग और सख्याका अन्वय होनेकी योग्यता बिलकुल नहीं है। (इससे अव्ययका लिंगसख्याराहित्य युक्तिसिद्ध अर्थात् स्वाभाविक ठहरता है।)

अब, 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' (१।१।३८) यह सूत्र जैसा है वैसा ही रखा जाय तो भी दोष नहीं आता।

सो कैसे?

वह यों कि एकत्व दिखाना हो तो एकवचन किया जाय, द्वित्व दिखाना हो तो द्विवचन किया जाय, और बहुत्व दिखाना हो तो बहुवचन किया जाय (१।४।२१,२२) यह जो कहा है, वह भी अधिक किया है ऐसा दिखाई देता है।

तो फिर (वह थोडेमें कैसे बनाया जाय?)

('एकत्व दिखाना हो तब' ये शब्द निकालकर) केवल 'एकवचन किया

एकवचनमुत्सर्गः करिष्यते तस्य द्विबह्वोरर्थयोर्द्विवचनबहुवचने बाधके भविष्यतः॥ न चाप्येवं विग्रहः करिष्यते। न सर्वा असर्वाः। असर्वा विभक्तयो ऽस्मादिति। कथं तर्हि। न सर्वासर्वा। असर्वा विभक्तिरस्मादिति। त्रिकं पुनर्विभक्तिसंज्ञम्॥

एवं गते कृत्यपि तुल्यमेतन्मान्तस्य कार्यं ग्रहणं न तत्र।

ततः परे चाभिमता न कार्यास्त्रयः कृदर्था ग्रहणेन योगाः॥ १॥

जाय' ऐसा कहा जाय। इस वचनसे सर्वत्र जो एकवचन प्राप्त होता है उसका द्वित्व अथवा बहुत्व दिखाना हो तो क्रमशः बताया हुआ द्विवचन और बहुवचन ये बाधा करेंगे। (अर्थात् अव्ययके आगे केवल एकवचनहि होगा। अतः न और नाञ् इन तद्धितोंकी उत्पत्ति होते समय वि और न इत्यादिके आगे सब विभक्तियाँ गृहीत नहीं मानी जा सकनेके कारण विना, नाना, यहाँ अव्ययसंज्ञा होगी।)

और ('असर्वविभक्तिः' इस समासका) 'न सर्वाः असर्वाः, असर्वा विभक्तयो अस्मात्', (सात प्रकारकी विभक्तियाँ जिस तद्धितके आगे नहीं की जा सकतीं वह तद्धित) यह विग्रह न किया जाय। तो फिर किस तरह किया जाय? 'न सर्वा असर्वा, असर्वा विभक्तिः अस्मात्' (जिस तद्धितके आगे सर्व = यद्यावत् तीनों विभक्ति प्रत्यय उत्पन्न नहीं किये जा सकते, वह तद्धित) इस तरह किया जाय। विभक्ति यह संज्ञा तो (एकवचन, द्विवचन, और बहुवचन, इन)तीनोंके समुदायकी है। (अतः 'विना', 'नाना' अव्ययके आगे सात प्रकारकी विभक्तियोंका एकवचन हुआ, तो भी द्विवचन और बहुवचन न होनेके कारण विना और नाना यहाँसे तद्धित प्रत्यय असर्वविभक्तियाँ ही हैं। इससे मूल सूत्रसे ही वहाँ अव्ययसंज्ञा होती है।)

('असर्वा विभक्तिः अस्मात्' इस तरह समासका विग्रह करते समय एकवचन, द्विवचन और बहुवचन, इस त्रिकको विभक्तिसंज्ञा होनेके कारण हरएक विभक्तिका एकवचन उत्पन्न हुआ तो भी द्विवचन और बहुवचन की उत्पत्ति न होनेके कारण असर्वविभक्तित्व है ही,) यह गृहीत माना जाय, तो ('असर्वविभक्ति अव्ययम्' इतनाही तद्धितशब्दरहित सूत्र रहने दें। "कृन्मेजन्तः" इस अगले सूत्रसे जिस स्थानपर अव्ययसंज्ञा इष्ट है उस कृत्प्रत्ययके विषयमें भी वह पूर्वोक्त असर्वविभक्तित्व संभव होता है। इसलिए वहाँ अव्ययसंज्ञा बतानेवाला 'कृन्मेजन्तः' सूत्र करनेकी आवश्यकता नहीं है; और उसके आगेकी अव्ययसंज्ञाके नाते इष्ट, और प्रतिपदोक्त उच्चारित किये हुए ऐसे तीन कृत्संज्ञक प्रत्यय, अर्थात् "क्त्वातोसुन्कसुनः" यह सूत्र करनेकी आवश्यकता नहीं है। (इतनाही नहीं तो "स्वरादिनिपातमव्ययम्"–१।१।३७– इस सूत्रको आरंभ करके "अव्ययीभावश्च" १।१।४१ इस सूत्रके साथ कुल पाँच) सूत्र करनेकी आवश्यकता नहीं है। (१)

कृत्तद्धिताना ग्रहण तु कार्यं सख्याविशेष ह्यभिनिश्रिता ये ।
तेषा प्रतिषेधो भवतीति वक्तव्यम् । इह मा भूत् । एको द्वौ बहव इति ।
तस्मात्स्वरादिग्रहण न कार्यं कृत्तद्धिताना ग्रहण च पाठे ॥ २ ॥

पाठेनेयमव्ययसज्ञा क्रियते सेह न प्राप्नोति । परमोच्चै परमनीचैरिति । तदन्तविधिना भविष्यति । इहापि तर्हि प्राप्नोति । अत्युच्चै अत्युच्चैसौ अत्युच्चैस इति । उपसर्जनस्य नेति प्रतिषेधो भविष्यति । स तर्हि प्रतिषेधो वक्तव्य । न वक्तव्य । सर्वनामसज्ञाया प्रकृत प्रतिषेध इहानुवर्तिष्यते । स वै तत्र प्रत्याख्यायते । यथा स तत्र प्रत्याख्यायत इहापि तथा शक्य प्रत्याख्यातुम् । कथ

(एकवचन आगे रखा गया तो फिर भी द्विवचनादिक आगे न होनेके कारण आनेवाला) असर्वविभक्तित्व, एकादि ही विशिष्ट वचन होनेवाले एक, द्वि, बहु इन शब्दोंके विषयमें भी होनेके कारण उन्हें प्राप्त होनेवाली अव्ययसज्ञा न हो, इसलिए, तद्धितशब्द वहाँ रखा जाना चाहिये। (अर्थात् मूलमें है, वैसा ही सूत्र करना चाहिये।) मूलका सूत्र कायम करनेपर 'कृन्मेजन्त' आदि पूर्वोक्त पाँच सूत्र भी रखना आवश्यक है। (और 'उभय' इस तद्धितान्त शब्दको अव्ययसज्ञा न हो इसलिए जिन तद्धितोंकी अव्ययसज्ञा इष्ट है उन तद्धितप्रत्ययोंका प्रतिपदोक्त पाठ किया जाय।)

अत 'स्वर' आदि ये शब्द सूत्रमें रखने चाहिये। तथा कृत्प्रत्ययों और तद्धितप्रत्ययोंका भी पाठ किया जाय।

जिनका प्रत्यक्ष पाठ किया है उन 'स्वर'-आदिकोंको अव्ययसज्ञा होती है ऐसा कहा गया तो वह 'परमोच्चै,' 'परमनीचै' इन स्थानोंपर प्राप्त नहीं होती।

परन्तु ('शब्दस्वरूप'का अध्याहार करके) तदन्तविधि करनेसे (ऊपरके उदाहरणोंके विषयमें अव्ययसज्ञा) होगी।

तो फिर, 'अत्युच्चै, अत्युच्चैसौ, अत्युच्चैस' यहाँ भी अव्ययसज्ञा होने लगेगी।

(समासमें) 'विशेषण बने हुए ('स्वर'-आदि) जो शब्द हैं उनको अव्यय सज्ञा नहीं होती' इस वचनसे प्रतिषेध होगा।

तो फिर यहाँ वैसा प्रतिषेध करना चाहिये।

करनेकी आवश्यकता नहीं है। सर्वनामसज्ञाके बारमें उपसर्जनप्रतिषेध किया गया है। उसकी यहा अनुवृत्ति की जा सकेगी।

परन्तु वहाँ प्रतिषेधका प्रत्याख्यान किया है न?

वहाँ जैसे प्रत्याख्यान किया है वैसे यहाँ भी उस उपसर्जनप्रतिषेधका प्रत्याख्यान करना सभव है।

वहाँ कैसे (उस उपसर्जनप्रतिषेधका) प्रत्याख्यान किया गया है?

स तत्र प्रत्याख्यायते। महतीय सञ्ज्ञा क्रियत इति। इत्रमपि च महती सञ्ज्ञा क्रियते। सञ्ज्ञा च नाम यतो न लघीय। कुत एतत्। लघ्वर्थं हि सञ्ज्ञाकरणम्। तत्र महत्या सञ्ज्ञाया करण एतत्प्रयोजनमन्वर्थसञ्ज्ञा यथा विज्ञायेत। न व्येतीत्यव्ययमिति। क्व पुनर्न व्येति। स्त्रीपुंनपुंसकानि सत्त्वगुणा एकत्वद्वित्व बहुत्वानि च। एतानर्थान्केचिद्वियन्ति केचिन्न वियन्ति। ये न वियन्ति तदव्ययम्॥

सदृश त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥

✓क्रन्मेजन्तः॥ १।१।३९॥

कथमिद विज्ञायते। कृद्यो मान्त इति। आहोस्वित्कृदन्त यन्मान्तमिति।

(सर्वनाम) यह महासञ्ज्ञा की जानेके कारण उसके बलार (वहाँ उपसर्जन प्रतिषेधका प्रत्याख्यान किया गया है)।

यदि यही बात है तो यहाँ भी (अव्यय) यह भी महासञ्ज्ञा की गयी है। अब जो सञ्ज्ञा होती है वह ऐसी हो कि जिससे छोटा शब्द ससारमें न हो।

यह कैसे? (बहुतसे अर्थ) एक छोटसे शब्दके अन्तर्गत आ जायें इसलिए सञ्ज्ञा की जाती है। अत वहाँ महासञ्ज्ञा करनेका प्रयोजन यह समझा जाय कि अपने अर्थका अनुसरण की हुई यह सञ्ज्ञा है, अर्थात् 'न व्येति' (न विविध विकार गच्छति) इस व्युपत्तिसे 'जिसका स्वरूप नहीं बदलता है वह शब्दस्वरूप' ऐसा अव्ययशब्दका अर्थ है। (वह अर्थ जिस शब्दके साथ ठीक बैठता है उस शब्दको अव्ययसञ्ज्ञा दी जाय।)

शब्दका स्वरूप कहाँ नहीं बदलता? पदार्थोके धर्म स्त्रीत्व, पुस्त्व और नपुसकत्व ये लिंग, तथा एकत्व, द्वित्व, बहुत्व ये सख्याएँ, इन्हें कुछ पदार्थ आश्रय देते हैं और कुछ पदार्थ आश्रय नहीं देते। उनमें जो पदार्थ आश्रय नहीं देते उन पदार्थोंका प्रतिपादन करनेवाले शब्दोंको अव्यय कहते है।

"तीनों लिंगोंमें, सब विभक्तियोंमें और सब वचनोंमें जिसका स्वरूप नहीं बदलता है, अर्थात् एक ही आकारमें रहता है, वह अव्यय है।"

(सू ३९) मकार अथवा एच् (ए, ऐ, ओ, औ) जिसके अन्तमें है वह 'कृत्' प्रत्यय जिसके अन्तमें है उस शब्दका अव्ययसञ्ज्ञा होती है।

इस ('कृन्मेजन्त' सूत्र-) का अर्थ कैसे समझा जाय? यहा 'कृत् जो मकारान्त है' यह अर्थ समझना चाहिये? (अर्थात् 'कृत्' प्रत्ययको 'मेजन्त' विशेषण लगाना चाहिये?) अथवा 'कृदन्त जो मकारान्त है' ऐसा अर्थ समझा जाय? (अर्थात् प्रथमत तदन्तविधि करके उस कृदन्तपर 'मेजन्त' विशेषण लगाना चाहिये?)

कि चात। यदि विज्ञायते कृयो मान्त इति कारयाचकार हारयाचकारेत्यत्र न प्राप्नोति। अथ विज्ञायते कृदन्त यन्मान्तमिति प्रतामौ प्रताम अत्रापि प्राप्नोति। यथेच्छसि तथास्तु। अस्तु तावत्कृयो मान्त इति। कथ कारयाचकार हारयाचकारेति। कि पुनरत्राव्ययसज्ञया प्रार्थ्यते। अव्ययात् [२ ४ ८२] इति लुग्यथा स्यात्। मा भूदेवम्। आम [२ ४ ८१] इत्येव भविष्यति। न सिध्यति। लिग्रहण तत्रानुवर्तते। लिग्रहण निवर्तिष्यते। यदि निवर्तते प्रत्ययमात्रस्य लुक्प्राप्नोति। इष्यते च प्रत्ययमात्रस्य। आतश्चेष्यत एव ह्याह कृञ्चानु-

---

इन दो प्रकारके अर्थोंमें क्या भेद है?

यदि 'कृत् जो मकारान्त है' यह अर्थ किया गया, तो 'कारयाचकार,' 'हारयाचकार' यहाँ (कारयाम्, हारयाम् इनके आगे 'कृत्' नामका जो लिट्' प्रत्यय है, वह मकारान्त न होनेके कारण, वहाँ अव्ययसज्ञा) नही होगी। अब 'कृदन्त जो मकारान्त' ऐसा अर्थ किया गया, तो 'प्रतामौ', 'प्रताम' यहाँ भी ('प्रताम्', लुप्त बने हुए क्विप् प्रत्ययके कारण, कृदन्त है, और मकारान्त तो स्वत सिद्ध है, इसीलिए अव्ययसज्ञा) होने लगेगी (ऐसा भेद दिखाई देता है।)

तो फिर आपकी इच्छाके अनुसार कोई भी प्रकार रहने दीजिये। 'कृत् जो मकारान्त' यह अर्थ रहने दीजिये।

परन्तु वैसा अर्थ गृहीत माना जाय तो कारयाचकार, हारयाचकार, यहाँ अव्ययसज्ञा कैसे होगी?

परन्तु यहाँ अव्ययसज्ञा करके क्या प्राप्त करना है?

"अव्ययादाप्सुप" (२।४।८२) इससे ('कारयाम्' इस आमन्तके आगे का सुप् प्रत्ययको) लुक करना है।

वह (लुक्) उस सूत्रसे न हो, "आम" (२।४।८१) इससे होगा।

उससे नहीं होगा। क्योंकि वहाँ ("मन्त्रे घस०"—२।४।८०—सूत्रसे) 'ले' पदकी अनुवृत्ति आती है।

'ले' पदकी "आम" यहाँ निवृत्ति की जायगी।

यदि 'ले' पदकी अनुवृत्ति 'आम' यहाँ बद की गयी, तो उससे आमन्तके आगे कोई प्रत्यय दिखाई नहीं देगा।

परन्तु आमन्तके आगे कोई भी प्रत्यय न दिखाई देना इष्ट ही है न? और आमन्तके आगे कोई भी प्रत्यय न दीखना इसीलिए इष्ट है कि इन आमन्त-शब्दोंके आगे "लिट्प्रत्यय आगे होनेवाले कृ, भू, और अस् इनका अव्यवहित अनुप्रयोग

---

(१) तब 'आम' सूत्रसे 'लिट्' प्रत्ययका ही 'लुक्' होगा, 'सुप्' प्रत्ययका न होगा।

प्रयुज्यते लिटि [३ १. ४०] इति। यदि च प्रत्ययमात्रस्य लुग्भवति तत एतदुपपन्नं भवति ॥ अथवा पुनरस्तु कृदन्तं यन्मान्तमिति । कथं प्रतामौ प्रताम इति। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न प्रत्ययलक्षणेनाव्ययसंज्ञा भवतीति यदयं प्रशान्शब्दं स्वरादिषु पठति ॥

कृन्मेजन्तश्चानिकारोकारप्रकृतिः ॥ १ ॥

कृन्मेजन्तश्चानिकारोकारप्रकृतिरिति वक्तव्यम्। इह मा भूत्। आधये आधेः। चिकीर्षवे चिकीर्षोरिति ॥

अनन्यप्रकृतिरिति वा ॥ २ ॥

अथवानन्यप्रकृतिः कृदव्ययसंज्ञो भवतीति वक्तव्यम्॥ किं पुनरत्र ज्यायः।

किया जाय" (३।१।४०) ऐसा कहा है। यदि आम्न्तके आगेका कोई भी प्रत्यय न दिखाई दे तो ही (आमन्तोंके आगे अव्यवहित अनुप्रयोग कहना) यह ठीक मेल खाता है।

अथवा 'कृदन्त जो मकारान्त' यह अर्थ लिया जाय (तो भी कोई आपत्ति नहीं है)।

तो फिर 'प्रतामौ', 'प्रतामः' यहाँ (अव्ययसंज्ञा) क्यों नहीं होती ?

जब कि यह आचार्य (अव्ययसंज्ञा होनेके लिए) 'प्रशान्' इस (क्विबन्त शब्द-) का 'स्वरादि' गणमें पाठ करता है, तब 'प्रत्ययलक्षणसे अव्ययसंज्ञा नहीं होती' ऐसा सूचित करता है।

(वा १) 'कृन्मेजन्तः' में जो एच् लेना है वह इकार अथवा उकार के स्थानपर बना हुआ आदेश न हो।

'कृन्मेजन्त.' यहाँ जो एच् (ए, ऐ, ओ, औ) लेना है वह इकार अथवा उकारके स्थानपर बना हुआ आदेश न हो, ऐसा कहा जाय। क्योंकि 'आधये', 'आधे.' यहाँ ("उपसर्गे घो. किः"—३।३।९२ – इससे किये हुए 'कि' अर्थात् 'इ' प्रत्ययको 'घेर्ङिति'—७।३।१११ –इससे गुण करनेपर वह एकार एच् है और *स्थानिवद्भावसे कृत है*), *तथा 'चिकीर्षवे', 'चिकीर्षो.' यहाँ* (सन्नन्तके आगे 'सनाशंसभिक्ष उः'—३।२।१६८ – इससे किये हुए 'उ' प्रत्ययको गुण करनेपर वह ओकार एच् और स्थानिवद्भावसे कृत है इसलिए उसके स्थानपर अव्ययसंज्ञा होने लगेगी) वह न हो।

(वा. २) अथवा अन्य किसी भी (वर्ण-)का आदेश न हुआ जो एच् है (तदन्तकृत्प्रत्ययकी अव्ययसंज्ञा होती है)।

अथवा दूसरे किसी भी (वर्ण-) की आदेशरूपसे न बना हुआ जो एच् (अर्थात् सयुक्त सन्धिस्वर) है तदन्त कृत्प्रत्ययकी अव्ययसंज्ञा होती है ऐसा वचन किया जाय।

अनन्यप्रकृतिवचनमेव ज्यायः। इदमपि सिद्धं भवति। कुम्भकारेभ्यः नगरकारेभ्य इति ॥ तत्तर्हि वक्तव्यम्।

न वा संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य ॥ ३ ॥

न वा वक्तव्यम्। किं कारणम्। संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येत्येषा परिभाषा कर्तव्या ॥ कः पुनरत्र विशेष एषा वा परिभाषा क्रियेतानन्यप्रकृतिरिति वोच्येत। अवश्यमेषा परिभाषा कर्तव्या। बहून्येतस्याः

("इकार अथवा उकारके स्थानपर न बना हुआ एच्" (वा. १) ऐसा कहना अथवा "किसी भी वर्णके स्थानमें न बना हुआ एच्" (वा. २) ऐसा कहना) इन दोनोंमेंसे कौनसा वचन अधिक समुचित है?

(सामान्यतया) 'किसी भी वर्णको आदेश न बना हुआ एच्' यह कहना ही श्रेष्ठ है; क्योंकि (सामान्यतया कहनेसे) 'कुम्भकारेभ्यः', 'नगरकारेभ्यः' ये उदाहरण भी सिद्ध होते हैं। (अर्थात् यहाँका 'ए' अकारके स्थानमें बना हुआ—७।३।१०३—होनेके कारण वहाँ अव्ययसंज्ञा नहीं होती।)

तो फिर वहाँ वैसा वचन (वा. २) करना चाहिये।

(वा. ३) अथवा वैसा वचन न किया जाय, क्योंकि दोनोंके संबंधपर निर्भर जो विधान है वह दोनोंके संबंधका विनाश करनेवालेका निमित्त नहीं होता है।

अथवा वैसा वचन करनेकी आवश्यकता नहीं है।

क्या कारण है।

क्योंकि "दोनोंके संबंधपर निर्भर होकर प्रवृत्त बना हुआ जो विधान है वह दोनोंके संबंधका (साक्षात् वा परंपरया) विनाश करनेवालेका निमित्त नहीं होता है" (देखिये परि. शे. परि. ८५) ऐसी परिभाषा की[1] जाय।

परन्तु चाहे संनिपातपरिभाषा की जाय, अथवा चाहे 'किसीको भी आदेश न बना हुआ एच् यहाँ चाहिये', ऐसा वचन किया इनमें भेद क्या है?

यह (संनिपात) परिभाषा अवश्य करनी ही चाहिये। क्योंकि इस परिभाषाके उपयोग बहुत हैं।

---

१. ह्रस्वअकारान्त अङ्ग और झलादि बहुवचन सुप् इन दोनोंके पौर्वापर्यसंबंधके आधारपर प्रवृत्त हुई जो विधि एकार है, वह पौर्वापर्यसंबंधका विघात करनेवाले 'अव्ययादाप्सुपः' इस सुप्लुक्की सहायता नहीं करती, अर्थात् सुप्लुक्की सहायता करनेवाली जो 'कृन्मेजन्तः' से कही हुई अव्ययसंज्ञा है, उस संज्ञाकी सहायता नहीं करती। अर्थात् एजन्त न होनेके कारण अव्ययसंज्ञा नहीं होती। इसलिए उस अव्ययसंज्ञापर अवलंबित सुप्लुक् भी नहीं होता।

परिभाषायाः प्रयोजनानि । कानि पुनस्तानि ।

प्रयोजनं ह्रस्वत्वं तुग्विधेर्ग्रामणिकुलम् ॥ ४ ॥

ग्रामणिकुल सेनानिकुलमित्यत्र ह्रस्वत्वे कृते ह्रस्वस्य पिति कृति तुग्भवतीति तुक्प्राप्नोति । संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति न दोषो भवति ॥ नैतदस्ति प्रयोजनम् । बहिरङ्गं ह्रस्वत्वमन्तरङ्गस्तुक् । असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ॥

नलोपो वृत्रहभिः ॥ ५ ॥

वृत्रहभिः भ्रूणहभिरित्यत्र नलोपे कृते ह्रस्वस्य पिति कृति तुग्भवतीति तुक् प्राप्नोति । संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्त तद्विघातस्येति न दोषो भवति ॥

कौनसे वे उपयोग हैं ?

(वा. ४) इस संनिपातपरिभाषाका प्रयोजन ह्रस्वविधान तुक् आगमका (निमित्त नहीं होता है)। जैसे, ग्रामणिकुलम् ।

'ग्रामणिकुलम्', 'सेनानिकुलम्' यहाँ "इको ह्रस्वो०" (६।३।६१) सूत्रसे उत्तरपदनिमित्तक पूर्वपदको ह्रस्व करनेपर "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" (६।१।७१) इससे तुक् (आगम) प्राप्त होता है। पूर्वपद और उत्तरपद इन दोनोंके संबंधके कारण बना हुआ (ह्रस्व), उस संबंधका नाश करनेवाले तुक् आगमका निमित्त नहीं होता है इसलिए दोष नहीं आता। (यह इस सनिपातपरिभाषाका उपयोग है।)

यह इस परिभाषाका उपयोग नहीं होता। क्योंकि (पूर्वपद और उत्तरपद इन दोनोंपर निर्भर होनेके कारण) ह्रस्व बहिरंग है, और तुक् आगम (केवल 'ग्रामणि' इतनेपर ही निर्भर होनेके कारण) अंतरंग है। और तुक् आगम कर्तव्य होनेपर बहिरंग ह्रस्व असिद्ध होता है। (इससे तुक् आगम नहीं होगा)।

(वा. ५) (इस संनिपातपरिभाषाका और एक प्रयोजन,) नकारका लोप (तुक् आगमका निमित्त नहीं होता), जैसे, वृत्रहभिः।

'वृत्रहभिः', 'भ्रूणहभिः' यहाँ 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) इससे नकारका लोप करनेपर 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इससे तुक् आगम प्राप्त होता है। (पदसंज्ञाके द्वारा भिस् और उसकी प्रकृति,) इन दोनोंके संबंधके कारण बना हुआ नकारका लोप तुक् विधिको निमित्त नहीं होता, इसलिए दोष नहीं आता। (यह सनिपातपरिभाषाका उपयोग है)।

---

१ क्योंकि पूर्वपद और उत्तरपद इन दोनोंके बीचमें 'तुक्' आगम होगा। और उससे उन दोनोंका सांनिध्य नष्ट हो जानेसे उनके संबंधका 'तुक्' आगमसे विनाश होनेवाला है।

एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। असिद्धो नलोप.। तस्यासिद्धत्वान्न भविष्यति॥

उदुपधत्वमकित्त्वस्य निकुचिते॥ ६॥

उदुपधत्वमकित्त्वस्यानिमित्तम्। क्व। निकुचिते। निकुचित इत्यत्र नलोपे कृत उदुपधाद्भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम् [१ २ २१] इत्यकित्त्व प्राप्नोति। सनिपातलक्षणो विधिरनिमित्त तद्विघातस्येति न दोषो भवति॥ एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। अस्त्वत्राकित्त्वम्। न धातुलोप आर्धधातुके [१ १ ४] इति प्रतिषेधो भविष्यति॥

नाभावो यञि दीर्घत्वस्यामुना॥ ७॥

यह भी उपयोग नहीं होता, क्यों कि नकारका लोप (८।२।२) असिद्ध है। वह असिद्ध होनेके कारण तुक् आगम नहीं[४] होगा।

(वा. ६) उपधाको ह्रस्व उकार होना, कित्त्वके निषेधका निमित्त नहीं होता, जैसे, 'निकुचित' में।

उपाधाको ह्रस्व उकार होना कित्त्वके निषेधका निमित्त नहीं होता।

कहाँ?

'निकुचित:' इस उदाहरणमें 'नि' उपसर्गपूर्वक 'कुञ्च्' धातुके आगे 'क्त' प्रत्यय करके "अनिदिता हल०" (६।४।२४) इससे नकारका लोप करनेपर "उदुपधाद् भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम्" (१।२।२१) इससे ('क्त' प्रत्ययके) कित्त्वका निषेध प्राप्त होता है। (अत लघूपधगुण ७।३।८६ होगा यह दोष[५] आता है)। परन्तु सन्निपातपरिभाषासे यह दोष नहीं आता (ऐसा उस परिभाषाका उपयोग है)।

यह भी सन्निपातपरिभाषाका उपयोग नहीं होता है, क्योंकि यहाँ (अर्थात् 'निकुचितम्' में "उदुपधात्०" १।२।२१ इससे 'क्त' प्रत्ययके कित्त्वका निषेध हो। "न धातुलोप आर्धधातुके" (१।१।४) इससे (गुणका) प्रतिषेध होगा।

(वा ७) 'ना' आदेश, 'यञ्' व्यञ्जन आगे होनेपर आनेवाले दीर्घको निमित्त नहीं होता।

---

४ 'भिस्' प्रत्ययके निमित्तसे 'वृत्रहन्' को जो पदसंज्ञा (१।४।१७) हुई उसके आधारपर होनेवाले नकारका लोप बहिरंग है। 'तुक्' आगमके लिए 'भिस्' प्रत्ययकी आवश्यकता न होनेसे वह अन्तरंग है।

५ क्योंकि कित्त्वका निषेध होनेके कारण गुणका निषेध (१।१।५) नहीं आता।

६ 'क्त' प्रत्ययके कित्त्वके कारण नकारका लोप (६।४।२४) होके ह्रस्व उकार धातुकी उपधाको प्राप्त हुआ है। तब वह उपधाको प्राप्त हुआ ह्रस्व उकार 'क्त' प्रत्ययके कित्त्वका निषेध करनेवाले 'उदुपधात्०' (१।२।२१) की सहायता नहीं करेगा।

नाभावो यञि दीर्घत्वस्यानिमित्तम्। क। अमुना। नाभावे कृते अतो दीर्घो यञि; सुपि च [७.३.१०१; १०२] इति दीर्घत्वं प्राप्नोति। संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति न दोषो भवति॥ एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। वक्ष्यत्येतत्। न मु टादेश इति॥

आत्त्वं क्त्विस्योपादास्त ॥ ८॥

आत्त्वं क्त्वित्स्यानिमित्तम्। क। उपादास्तास्य स्वरः शिक्षकस्येति।

("आङो नाऽस्त्रियाम्"–७।३।१२० – इससे किया हुआ) 'ना' आदेश 'यञ्' व्यञ्जन आगे होनेपर आनेवाले दीर्घको निमित्त नहीं होता।

कहाँ?

'अमुना' उदाहरणमें। यहाँ 'ना' आदेश करनेपर "अतो दीर्घो यञि", "सुपि च" (७।३।१०१, १०२) इन सूत्रोंसे दीर्घ प्राप्त होता है, परन्तु वह संनिपातपरिभाषासे नहीं होता है।

यह भी उपयोग नहीं आता, क्योंकि "न मु ने" (८।२।३) के बदले (वार्तिककार) "न मु टादेशे" (८।२।३ वा. १) ऐसा सूत्र करनेवाला है। (उसीसे यह सिद्ध होगा।)

(वा. ८) आत्त्व क्त्विस्को निमित्त नहीं होता; जैसे, 'उपादास्त'।

आत्त्व क्त्वित्का निमित्त नहीं होता।

कहाँ?

'उपादास्त अस्य स्वरः शिक्षकस्य। (यहाँ 'उपादास्त' शब्दमें 'दीङ्'

आत्वे कृते स्थाघ्वोरिच्च [१ २.१७] इतीत्वं प्राप्नोति। संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति न दोषो भवति॥ एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। उक्तमेतत्। दीङः प्रतिषेधः स्थाघ्वोरित्त्व इति॥

तिसृचतसृत्वं ङीब्विधेः॥९॥

तिसृचतसृत्व ङीब्विधेरनिमित्तम्। क। तिस्रस्तिष्ठन्ति। चतस्रस्तिष्ठन्ति। तिसृचतसृभावे कृत ऋन्नेभ्यो ङीप् [४ १.५] इति ङीप्प्राप्नोति। संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति न दोषो भवति॥ एतदपि नास्ति

धातुके ईकारको) 'आ' आदेश (६।१।५०) करनेपर "स्थाघ्वोरिच्च" (१।२।७) सूत्रसे 'इ' आदेश प्राप्त होता है। परन्तु संनिपातपरिभाषासे नहीं होता।

यह भी उपयोग नहीं आता। (क्योंकि) – "स्थाघ्वोरिच्च" (१।२।१७) सूत्रसे बताया हुआ कार्य अर्थात् इत्व कर्तव्य होनेपर 'दीङ्' धातुको घुसंज्ञाका प्रतिषेध होता है" (१।१।२० वा. ६) ऐसा पहले बताया ही है।

(वा. ९) तिसृ और चतसृ आदेश ङीप् प्रत्ययको निमित्त नहीं होते।

तिसृ और चतसृ आदेश ङीप् प्रत्ययको निमित्त नहीं होते।

कहाँ?

तिस्रस्तिष्ठन्ति चतस्रस्तिष्ठन्ति। (यहाँ स्त्रीलिंगी त्रि और चतुर इन शब्दोंके आगे जस् प्रत्यय करनेपर "त्रिचतुरोः स्त्रियाम्०" – ७।२।९९ – त्रि और चतुर शब्दोंके स्थानपर) 'तिसृ' और 'चतसृ' आदेश करनेपर 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (४।१।५) सूत्रसे 'ङीप्' प्रत्यय प्राप्त होता है। (परन्तु त्रि शब्द और विभक्ति इन दोनोंके पौर्वापर्य–) संबंधके कारण बना हुआ तिसृ आदेश उस संबंधका विघात करनेवाले (ङीप्–) को निमित्त नहीं होता। इसलिए दोष नहीं आता। (यह इस परिभाषाका उपयोग है।)

यह भी उपयोग नहीं होता है। क्योंकि, जब कि आचार्य (पाणिनि) 'नाम्' आगे होनेपर (तिसृ वा चतसृ शब्दको "नामि" —६।४।३— सूत्रसे प्राप्त) दीर्घका

---

१. 'उप–' उपसर्गपूर्वक 'दीङ्' धातुके आगे लुङ्, त, च्लि, सिच्, अडागम करनेके बाद 'अ दी स् त' अवस्थामें 'मीनातिमिनोतिदीङा०' (६।१।५०) से एजुत्पादक सिच् प्रत्यय आगे होनेके कारण 'दीङ्' धातुके ईकारके स्थानमें आकार किया जानेपर 'दाधा घ्वदाप्' (१।१।२०) से घुसंज्ञा होनेसे 'स्थाघ्वोरिच्च' (१।२।१७) से इकारादेश प्राप्त होता है। परन्तु सिच् प्रत्ययमें रहनेवाली एच् (गुण) निर्माण करनेवाली जो शक्ति है उसके अवलंबपर जो 'आ'कार प्राप्त हुआ है वह, उस शक्तिका विघात करनेवाले 'स्थाघ्वो०' से कहे हुए कित्त्वका निमित्त नहीं होता है। इसलिए दोष नहीं आता है। संनिपातपरिभाषाका यह उपयोग है।

प्रयोजनम्। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न तिसृचतसृभावे कृते ङीम्भवतीति यदयं न तिसृचतसृ [६ ४.४] इति नामि दीर्घत्वप्रतिषेधं शास्ति ॥

इमानि तर्हि प्रयोजनानि। शतानि सहस्राणि। नुमि कृते ष्णान्ता षट् [१.१.२४] इति षट्संज्ञा प्राप्नोति। संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति न दोषो भवति ॥ शकटौ पद्धतौ। अन्त्ये कृतेऽतः [४.१.४] इति टाप्प्राप्नोति। संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति न दोषो भवति ॥ इयेष उवोष। गुणे कृत इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः [३.१.३६] इत्याम्प्राप्नोति। संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति न दोषो भवति ॥

"न तिसृचतसृ" (६।४।४) इससे निषेध करते हैं, तब तिसृ वा चतसृ आदेश करनेपर ङीप् प्रत्यय नहीं होता ऐसा सूचित करते है।

तो फिर (इस संनिपातपरिभाषाके) ये उपयोग माने जायें; जैसे, शतानि, सहस्राणि। (यहाँ शत और सहस्र शब्दोंके आगे 'जस्' प्रत्ययको 'शि' आदेश करनेके बाद तन्निमित्त) 'नुम्' ('न्' आगम)—७।१।७२—करनेपर "ष्णान्ता षट्" (१।१।२०) इससे (शतन्, सहस्रन् इनको) 'षट्' संज्ञा प्राप्त होती है। (तब उनके आगेके 'जस्' प्रत्ययका लुक्—७।१।२२—होगा यह दोष आता है।) परन्तु (आगेके सर्वनामस्थान 'इ' प्रत्ययके) संबंधके कारण हुआ नुमागम उस प्रत्ययको विघात करनेवाली षट्संज्ञाको निमित्त नहीं होता, इसीलिए दोष नहीं आता। वैसेही 'शकटौ,' 'पद्धतौ' यहाँ (शकटि और पद्धति इन शब्दोंके आगे सप्तमी एकवचन का 'ङि' प्रत्यय करके "अच्च घेः"—७।३।११९—इससे घिसंज्ञकको) अकार (अन्तादेश) करनेपर 'अजाद्यतष्टाप्' (४।१।४) इससे 'टाप्' प्रत्यय प्राप्त होता है। परन्तु (घिसंज्ञक और ङिप्रत्यय इन दोनोंके सामीप्य) संबंधपर निर्भर हो कर बना हुआ (अकार अन्तादेश) उस (संबंध) का विघात करनेवाले ('टाप्' प्रत्यय) को निमित्त नहीं होता है। इसलिए दोष नहीं आता।

वैसेही 'इयेष', 'उवोष' यहाँ (इष् और उष् धातुओंके आगे लिट्, तिप्, णल्, द्वित्व, हलादिशेष और उत्तरखंडमें लघूपध) गुण करनेपर "इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः" (३।१।३६) इससे 'आम्' प्रत्यय प्राप्त होता है। परन्तु (आगेके लिट्-प्रत्ययके) संबंधसे बना हुआ गुण, उस प्रत्ययका (परंपरासे) विघात करनेवाले ('आम्' प्रत्ययको) निमित्त नहीं होता; इसलिए दोष नहीं आता।

---

१०. यदि 'तिसृणाम्' यहाँ बीचमें 'ङीप्' प्रत्यय हुआ होता तो ऋकारको दीर्घकी प्राप्ति न होनेके कारण निषेधको वैयर्थ्य प्राप्त होता।

११. 'आमः' (२।४।८१) मे कहा हुआ 'लुक्' उस 'लिट्'-प्रत्ययका साक्षात् विघात करनेवाला है। उसकी सहायता करनेवाला 'आम्' प्रत्यय परंपरया उस प्रत्ययका विघात करनेवाला है।

तस्य दोषो वर्णाश्रयः प्रत्ययो वर्णविचालस्य ॥ १० ॥

तस्यैतस्य लक्षणस्य दोषो वर्णाश्रयः प्रत्ययो वर्णविचालस्यानिमित्तं स्यात्। क। अत इञ् [४.१.९५]। दाक्षिः प्लाक्षिः। न प्रत्ययः संनिपातलक्षणः। अङ्गसंज्ञा तर्ह्यनिमित्तं स्यात् ॥

आत्त्वं पुग्विधेः क्रापयति ॥ ११ ॥

आत्त्वं पुग्विधेरनिमित्तं स्यात्। क। क्रापयतीति ॥

पुग्घ्रस्वत्वस्यादीदपत् ॥ १२ ॥

(वा. १०) उस (संनिपातपरिभाषाग्रहण) का दोष, वर्णके आधारपर बना हुआ प्रत्यय उस वर्णके नाशका (निमित्त नहीं होगा)।

अब यह संनिपातपरिभाषा लेनेपर (जो) दोष आते हैं (उन्हें दिखाता है)। वर्णके अवलंबपर बना हुआ प्रत्यय उस वर्णके नाशका निमित्त नहीं होगा।

कहाँ ?

दाक्षिः, प्लाक्षिः। यहाँ (दक्ष और प्लक्ष इन शब्दोंके अन्त्य 'अ' कारको मानकर) "अत इञ्"–४।१।९५–(इससे बना हुआ 'इञ्' प्रत्यय उस अकारको नाश करनेवाले "यस्येति च"—६।४।१४८–इससे होनेवाले लोपका निमित्त नहीं होगा।)

परन्तु ('दक्ष', 'प्लक्ष–' के) अन्त्य अकार का उसके आगेके किसी भी अक्षरसे भी) जो संबंध है वह उस 'इञ्' प्रत्ययका निमित्त नहीं। (अतः वह वर्णके नाशका कारण नहीं होगा सो कैसे संभव है ?)

(यदि यह बात है) तो (अकारान्त प्रकृति और इञ् प्रत्यय इन दोनोंके पौर्वापर्यसंबंधके कारण बनी हुई) अंगसंज्ञा (उस वर्णके नाशका) कारण नहीं होगी (ऐसा दोष समझा जाय।)

(वा. ११) आत्त्व पुगागमका (निमित्त नहीं होगा); जेसे 'क्रापयति' में।

(वैसेही) आत्त्व ('आ' आदेश) पुगागमके लिए निमित्त नहीं होगा।

कहाँ ?

'क्रापयति' उदाहरणमें।

(वा. १२) 'पुक्' ह्रस्वको (निमित्त न होगा); जैसे, 'अदीदपत्' में।

---

११. 'क्री' धातुके आगे 'णिच्' प्रत्यय करके वृद्धि (७।२।११४) की गयी तो 'क्रीङ्जीनां णौ' (६।१।४८) से 'क्री' धातुके ऐकारके स्थानमें जो 'आ–' कार होता है वह, 'क्री' प्रकृति और 'णिच्' प्रत्यय इन दोनोंके पूर्वापरसंबंधके आधारपर हुआ है। वह उस संबंधका विघात करनेवाले पुगागमका निमित्त न होगा।

पुग्घ्रस्वत्वस्यानिमित्तं स्यात्। क। अदीदपदिति॥

त्यदाद्यकारष्टाब्विधेः॥ १३॥

त्यदाद्यकारटाब्विधेरनिमित्त स्यात्। क। या सा॥

इड्विधिराकारलोपस्य पपिवान्॥ १४॥

इड्विधिराकारलोपस्यानिमित्तं स्यात्। क। पपिवान् तस्थिवानिति।

'पुक्' (अर्थात् 'प्' आगम) ह्रस्वके लिए निमित्त न होगा।

कहाँ?

'अदीदपत्' उदाहरणमें।

(वा. १३) 'त्यद्' आदिको कहा हुआ अकार 'टाप्' विधिका (निमित्त न होगा)।

'त्यद्' आदि सर्वनामोंको कहा हुआ अकार ('अ' आदेश) 'टाप्' विधिके लिए निमित्त न होगा।

कहाँ?

'या' 'सा' इत्यादि उदाहरणोंमें।

(वा. १४) इडागम आकारके लोपका (निमित्त न होगा;) जैसे पपिवान्।)

इडागम (अर्थात् 'इ' आगम) आकार ('आ' आदेश-) के लोपके लिए निमित्त न होगा।

कहाँ?

'पपिवान्', 'तस्थिवान्' इत्यादि उदाहरणोंमें।

---

१३. 'दा' धातुके आगे 'णिच्' प्रत्यय, 'अर्त्तिह्री०' (७।३।३६) से 'आ' कारको पुक् आगम, आगे लुङ्, तिप्, "इतश्च" (३।४।१००) से इकारलोप और च्लि, चङ् इतने कार्य करके दाप् इ अत् अवस्थामें यहाँ आकारको बादमें प्राप्त हुआ पुक् आगम उस ह्रस्वविधानत्व आकारको विधात करनेवाले 'णौ चङि०' (७।४।१) इस ह्रस्वका निमित्त न होगा।

१४. यद् और तद् शब्दोंके आगे प्रथमैकवचन 'सु' प्रत्यय, 'त्यदादीनाम' (७।२।१०२) से अत्व, और पररूप किया गया हो, प्रकृति और प्रत्यय दोनोंके आनन्तर्यसे प्राप्त हुआ अकार, उस आनन्तर्यका विघात करनेवाली टाब्विधिका निमित्त न होगा।

१५. 'पा' और 'स्था' धातुओंके आगे लिट् प्रत्ययके स्थानमें 'क्वसु' आदेश होनेके बाद 'क्वसु'-प्रत्ययको "वस्वेकाजा०" (७।२।६७) से आकारको मानकर आया हुआ इडागम, उस आकारका विघात करनेवाले "आतो लोप इटि०" (६।४।६४) इस लोपका निमित्त न होगा।

मतुब्विभक्त्युदात्तत्वं पूर्वनिघातस्य ॥ १५ ॥

मतुब्विभक्त्युदात्तत्वं पूर्वनिघातस्यानिमित्तं स्यात् । क्व । अग्निमान् वायुमान् । परमवाचा परमवाचे ॥

नदीह्रस्वत्वं संबुद्धिलोपस्य ॥ १६ ॥

नदीह्रस्वत्वं संबुद्धिलोपस्यानिमित्तं स्यात् । क्व । नदि कुमारि किशोरि ब्राह्मणि ब्रह्मबन्धु । ह्रस्वत्वे कृत एङ्ह्रस्वात्संबुद्धेरिति लोपो न प्राप्नोति । मा

(वा. १५) मतुप् और विभक्तिको कहा हुआ उदात्त स्वर पूर्वनिघातका (निमित्त नहीं होगा।)

मतुप् और विभक्ति इनको कहा हुआ उदात्त स्वर पूर्वनिपातके लिए निमित्त नहीं होगा।

कहाँ ?

'अग्निमान्', 'वायुमान्', 'परमवाचा', 'परमवाचे' इत्यादि उदाहरणोंमें।

(वा. १६) नदीसंज्ञक शब्दको कहा हुआ ह्रस्व संबुद्धिलोपका निमित्त नहीं होगा।)

नदीसंज्ञक शब्दको कहा हुआ जो ह्रस्व है वह संबुद्धिलोपके लिए निमित्त नहीं होगा।

कहाँ ?

नदि, कुमारि, किशोरि, ब्राह्मणि, ब्रह्मबन्धु इन उदाहरणोंमें। (नदी–आदि शब्दोंके आगे संबोधनके एकवचनका सुप्रत्यय करके "अम्बार्थनद्योः०"–७।३।१०७–इससे) ह्रस्व करनेपर (संबुद्धिप्रत्ययको मानकर बना हुआ ह्रस्व, उस संबुद्धिप्रत्ययका विघात करनेवाले) "एङ् ह्रस्वात् संबुद्धेः" – ६।१।६९ – (इस लोपके लिए निमित्त नहीं होगा। इसलिए यहाँ) यह संबुद्धिलोप प्राप्त नहीं होता।

१६. 'अग्नि' और 'वायु' शब्दोंके आगे 'मतुप्' प्रत्यय करके उस मतुप् प्रत्ययको, 'जिसका अन्त्य स्वर उदात्त है उस ह्रस्वान्त शब्दके आगेके मतुप्को उदात्त होता है' इस अर्थके "ह्रस्वनुड्भ्यां०" (६।१।१७६) से उदात्त किया गया तो अन्तोदात्त शब्द और मतुप् दोनोंके संनिपातसे बने हुए मतुप् प्रत्ययका उदात्त उस अन्तोदात्तका विघात करनेवाले 'अनुदात्तं पदमेक०' (६।१।१५८) इस पूर्वनिघातका निमित्त न होगा। तथा 'परमवाच्' समासके आगे तृतीया वा चतुर्थी विभक्तिका एकवचन करके उस विभक्तिको 'एकाच्क होकर अन्तोदात्त उत्तरपदके आगेकी तृतीयाविभक्तिको उदात्त होता है' इस अर्थके अन्तोदात्त शब्दको मानकर बना हुआ विभक्त्युदात्त स्वर उस अन्तोदात्तका विघात करनेवाले 'अनुदात्तं पद०' (६।१।१५८) इस पूर्वनिघातका निमित्त न होगा।

द्रुवेम् । ङ्यन्तादित्येवं भविष्यति । न सिध्यति । दीर्घादित्युच्यते ह्रस्वान्ताच्च न प्राप्नोति । इदमिह संप्रधार्यम् । ह्रस्वत्वं क्रियतां संबुद्धिलोप इति किमत्र कर्तव्यम् । परत्वाद् ह्रस्वत्वम् । नित्यः संबुद्धिलोपः । कृतेऽपि ह्रस्वत्वे प्राप्नोत्यकृतेऽपि । अनित्यः संबुद्धिलोपः । न हि कृते ह्रस्वत्वे प्राप्नोति । किं कारणम् । संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति ॥

एते दोषाः समा भूयांसो वा तस्मान्नार्थो ऽनया परिभाषया । न हि दोषाः सन्तीति परिभाषा न कर्तव्या लक्षणं वा न प्रणेयम् । न हि भिक्षुकाः सन्तीति

(नदीसंज्ञक शब्दोंको ह्रस्व करनेपर संनिपातपरिभाषाके कारण 'एङ्ह्रस्वात्' इससे) लोप न हो। परन्तु 'हल्ङ्याब्भ्यो०' (६।१।६८) इससे लोप होगा।

'हल्ङ्याब्भ्यो०' इससे लोप नहीं होगा। (क्योंकि वहाँ 'ङ्याप्-' को) 'दीर्घात्' यह विशेषण किया जानेके कारण ह्रस्वस्वरान्तके आगेके 'सु' प्रत्ययका लोप नहीं हो सकता।

परन्तु पहले यहाँ यह विचार करना चाहिये कि (नदी + स् अर्थात् 'सु' प्रत्यय होनेपर प्रथमतः) ह्रस्व किया जाय अथवा ('हल्ङ्याब्भ्यो०' इससे) संबुद्धिलोप किया जाय, इन दोनोंमेंसे क्या किया जाय? 'पर' होनेके कारण प्रथमतः ह्रस्व किया जाय।

परन्तु संबुद्धिलोप नित्य है न? क्योंकि ह्रस्व किया हो अथवा न किया हो तो भी (संबुद्धिलोप) प्राप्त होता।

संबुद्धिलोप नित्य नहीं है। क्योंकि ह्रस्व करनेपर (संबुद्धिलोप) प्राप्त नहीं हो सकता।

क्या कारण है?

आगेके प्रत्ययके कारण बना हुआ ह्रस्व उस (प्रत्यय-) का विघात करनेवाले ("एङ्ह्रस्वात्०" इस संबुद्धिलोप-) का निमित्त नहीं होता है इसलिए।

तात्पर्य, संनिपातपरिभाषाके जितने उपयोग हैं उतने ही दोष होंगे अथवा उपयोगोंसे दोष ही थोडेसे अधिक भी होनेकी संभावना है। अतः यह परिभाषा करनेमें कुछ तथ्य नहीं दिखाई देता है।

परन्तु दोष आते हैं इसलिए परिभाषा करनेकी आवश्यकता नहीं है, अथवा एकाध सूत्र करनेकी आवश्यकता नहीं है, ऐसा कहना उचित नहीं है। क्यों कि भिक्षा माँगनेवाले आते हैं इसलिए कोई (अपने रसोईघरके चूल्हेपरकी) हण्डी चढ़ाना पहले ही बंद करता है। अथवा मृग (गेहूँ आदि, अनाज खानेके लिए) आते हैं इसलिए

स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते न च मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते। दोषाः खल्वपि साकल्येन परिगणिताः प्रयोजनानामुदाहरणमात्रम्। कुत एतत्। न हि दोषाणा लक्षणमस्ति। तस्माद्यान्येतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि तदर्थमेषा परिभाषा कर्तव्या प्रतिविधेय दोषेषु॥

[क्त्वातोसुन्कसुनः॥ १। १। ४०॥]

अव्ययीभावश्च॥ १। १। ४१॥

अव्ययीभावस्याव्ययत्वे प्रयोजनं लुग्मुखस्वरोपचाराः॥ १॥

अव्ययीभावस्याव्ययत्वे प्रयोजनं किम्। लुग्मुखस्वरोपचाराः॥ लुक्। उपाग्नि प्रत्यग्नि। अव्ययात्० [२.४ ८२] इति लुक्सिद्धो भवति॥ मुखस्वरः।

जौ (आदि अनाज) बोना कोई थोडे ही बंद करता है। (और वास्तविक विचार करनेपर सनिपातपरिभाषाके जितने उपयोग है उतने दोष अथवा उनसे भी अधिक दोष है ऐसा जो कहा है सो ठीक नहीं; क्योंकि) जितने दोष है वे सब गिनकर उनकी सख्या निश्चित की गयी है और उपयोगके नाते कुछ उदाहरण अन्य उदाहरण खोजनेके लिए दिये है। (अर्थात् उदाहरण भी बहुत होते है।)

सो कैसे?

क्योंकि दोषोंका लक्षण नहीं किया जाता है। (दोषोंकी सख्या निश्चित होनेके कारण उनकी एक दिशा दिखाई है ऐसा कहनेके लिए मार्ग नहीं है।) अत. इस सनिपातपरिभाषाके जो उपयोग है उनके लिए यह परिभाषा अवश्य करनी चाहिये। जहाँ दोष आयेगा उस स्थानपर (ज्ञापक आदि करके सनिपात परिभाषाका अनित्यत्व निश्चित करके) उन दोषोंका निरसन किया जाय।

(सू. ४०) क्त्वा, तोसुन् और कसुन् प्रत्यय अन्तमें होनेवाले शब्दोंको अव्ययसंज्ञा होती है।

(वा. ४१) अव्ययीभाव, समास करनेपर उन सामासिक शब्दोंको अव्ययसंज्ञा होती है।

(वा १) अव्ययीभावको अव्ययसंज्ञा करनेके फल है लुक्, मुखस्वर और उपचार।

अव्ययीभाव समासको अव्ययसज्ञा करनेका फल क्या है?

लुक्, मुखस्वर और उपचार ये फल हैं। 'लुक्' के उदाहरण—उपाग्नि, प्रत्यग्नि। यहाँ (अव्ययीभाव समासको अव्ययसज्ञा की जानेके कारण)

---

१ 'उपाग्नि' यहाँ "अव्ययं विभक्ति॰" (२।१।६) से अव्ययीभाव समास हुआ है। 'प्रत्यग्नि' यहाँ 'लक्षणेनाभि॰' (२।१।१४) से अव्ययीभाव समास हुआ है।

उपाग्निमुखः प्रत्यग्निमुखः । नाव्ययदिक्शब्दगोमहत्स्थूलमुष्टिपृथुवत्सेभ्यः [६. २. १६८] इति प्रतिषेधः सिद्धो भवति ॥ उपचारः । उपपयःकारः उपपयःकाम इति । अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य [८.३.४६] इति प्रतिषेधः सिद्धो भवति । किं पुनरिदं परिगणनमाहोस्विदुदाहरणमात्रम् । परिगणनमित्याह ॥

अपि खल्वप्याहुः । यदन्यदव्ययीभावस्याव्ययकृतं प्राप्नोति तस्य प्रतिषेधो वक्तव्य इति । किं पुनस्तत् । पराङ्गवद्भावः । पराङ्गवद्भावे ऽव्ययप्रतिषेधश्चोदित उच्चैरधीयान नीचैरधीयानेत्येवमर्थम् । स इहापि प्राप्नोति । उपाग्न्यधीयान

"अव्ययात्०" (२।४।८२) सूत्रसे (अव्ययीभाव समासके आगेकी विभक्तिका) लुक् सिद्ध होता है। मुखस्वरके उदाहरण — उपाग्निमुखः, प्रत्यग्निमुखः। यहाँ ('उपाग्नि' और 'प्रत्यग्नि' अव्ययोंका 'मुख' शब्दके साथ बहुव्रीहि समास करनेपर "मुखं स्वाङ्गम्"—६।२।१६७—इस सूत्रसे 'मुख' उत्तरपदको प्राप्त अन्तोदात्त स्वरका) "नाव्ययदिक्शब्दगोमहत्स्थूलमुष्टिपृथुवत्सेभ्यः" (६।२।१६८) इससे प्रतिषेध सिद्ध होता है। उपचारका उदाहरण— उपपयःकारः, उपपयःकामः इत्यादि। यहाँ "अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य" (८।३।४६) इससे (विसर्गके स्थानपर प्राप्त 'स-' कारका उसी सूत्रमें 'अनव्ययस्य' ऐसा कहनेके कारण) प्रतिषेध सिद्ध होता है।

परन्तु यहाँ (वार्तिककारके मनमें क्या होगा, जिससे कि) यह परिगणन है (अर्थात् निश्चित तीन ही अव्ययीभावको अव्ययसंज्ञा बनानेके उपयोग है) अथवा उदाहरणमात्र है (अर्थात् उदाहरणोंमें एक दिशा दिखायी जानेपर अन्य स्थानोंपर भी उस अव्ययसंज्ञाका उपयोग किया जाय)?

यह परिगणन है, ऐसा कहता हूँ। क्योंकि (लुक् मुखशब्दको स्वर और विसर्गको सकार) इनसे भिन्न कार्य कर्तव्य होनेपर अव्ययीभाव-समासको अव्ययसंज्ञाका निषेध किया जाय ऐसा वैयाकरणोंने कहा है। (अतः उसके अनुसार यह परिगणन मानना ही उचित दिखाई देता है।)

(लुक् आदि तीनोंसे जो भिन्न कार्य है) वह कौनसा है?

पराङ्गवद्भाव (वह कार्य है)। ("सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे"—२।१।२—इससे "आमन्त्रितसंज्ञक शब्दके पीछेका सुबन्त अपने आगेके आमंत्रितके अवयवके समान समझा जाय" ऐसा) सुबन्तको पराङ्गवद्भाव बनाकर ('अव्ययानां न'—वा. ७—इस वार्तिकसे) अव्ययके पराङ्गवद्भावका निषेध बताया गया है। जैसे, उच्चैरधीयान, नीचैरधीयान। (यहाँ उच्चैः, नीचैः ये अव्यय अपने आगेके 'अधीयान' इस आमन्त्रितके अवयवके समान नहीं समझे जाते)। वैसे ही उपाग्न्यधीयान, प्रत्यग्न्यधीयान। (यहाँ भी

प्रत्यगन्यधीयान ॥ अकच्यव्ययग्रहणं क्रियत उच्चकैः नीचकैरित्येवमर्थम्। तदिहापि प्राप्नोति। उपाग्निकम् प्रत्यग्निकमिति ॥ मुम्यव्ययप्रतिषेध उच्यते दोषामन्यमहः दिवामन्या रात्रिरित्येवमर्थम्। स इहापि प्राप्नोति। उपकुम्भंमन्यः उपमणिकंमन्यः ॥ अस्य च्वावव्ययप्रतिषेध उच्यते दोषाभूतमहः दिवाभूता रात्रिरित्येवमर्थम्। स इहापि प्राप्नोति। उपकुम्भीभूतम् उपमणिकीभूतम् ॥

यदि परिगणनं क्रियते नार्थोऽव्ययीभावस्याव्ययसंज्ञया। कथं यान्यव्ययीभावस्याव्ययत्वे प्रयोजनानि। नैतानि सन्ति। यत्तावदुच्यते लुगित्याचार्यप्र-

---

'उपाग्नि', 'प्रत्यग्नि' इस अव्ययीभावको अव्ययसंज्ञा होनेपर उसे पराङ्गवद्भावका निषेध प्राप्त होता है; परन्तु परिगणनसे उस स्थानपर अव्ययीभावको अव्ययसंज्ञाकी निवृत्ति की जानेके कारण पराङ्गवद्भावका निषेध नहीं आ सकता।) वैसे ही "अव्ययसर्वनाम्ना०" (५।३।७१) सूत्रमें अव्ययग्रहण किया है। जैसे, उच्चकैः, नीचकैः। यहाँ जैसा अकच् प्रत्यय होता है, वैसा 'उपाग्निकं,' 'प्रत्यग्निकं' यहाँ भी प्राप्त होता है। (परन्तु परिगणनके कारण उस स्थानपर अव्ययीभावको अव्ययसंज्ञा नहीं है इसलिए अकच नहीं होता, तो 'क' प्रत्यय ही होता है।) वैसे ही ('अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्'-६।३।६७ – इससे बताया हुआ) 'मुम्' आगम अव्ययको नहीं होता यह निषेध किया गया है। (अर्थात् मुमागमके उद्देश्योंमेंसे अव्यय हटाया गया है।) इससे जिस तरह दोषामन्यम् अहः, दिवामन्या रात्रिः यहाँ (मन्य यह खित्प्रत्ययान्त उत्तरपद आगे होनेपर दोषा अथवा दिवा इस अव्ययसंज्ञक स्वरान्त पूर्वपदको) मुम् नहीं होता है, वैसे ही 'उपकुम्भंमन्यः,' 'उपमणिकंमन्यः' यहाँ भी (उपकुम्भ, उपमणिक इन पूर्वपदोंको) मुमागम नहीं प्राप्त होता। (परन्तु परिगणनके कारण वह प्रतिषेध यहाँ लागू नहीं होता, इसलिए मुमागम होता है।) वैसेही दोषाभूतम् अहः, दिवाभूता रात्रिः, यहाँ (च्विनिमित्तक 'ई' आदेश – ७।४।३२ – न हो इसलिए "अव्ययस्य च्वौ ईत्वं न" इससे अव्ययको) ईत्वका निषेध बताया गया है। वह निषेध उपकुम्भीभूतम्, उपमणिकीभूतम् यहाँ भी प्राप्त होता है। (परन्तु परिगणनके कारण उस स्थानपर अव्ययीभावको अव्ययसंज्ञाकी निवृत्ति होनेके कारण वह निषेध अव्ययीभावको लागू नहीं होता, इसलिए ईत्व होता है।)

यदि परिगणन किया तो अव्ययीभावको अव्ययसंज्ञा करनेमें कुछ भी लाभ नहीं दिखाई देता।

अव्ययीभावको अव्ययसंज्ञा करनेके जो प्रयोजन दिखाये हैं उनके बारेमें क्या कहना है?

ये प्रयोजन ही नहीं हैं। (अव्ययीभावको अव्ययसंज्ञा होनेके कारण उपाग्नि, प्रत्यग्निके आगेके सुपका 'अव्ययादाप्सुपः'—२।४।८२—इससे) जो लुक् होता है

वृत्तिर्ज्ञापयति भवत्यव्ययीभावाल्लुगिति यदय नाव्ययीभावादतः [२ ४ ८३] इति प्रतिषेध शास्ति। उपचार᾿। अनुत्तरपदस्थस्येति वर्तते॥ तत्र मुखस्वर एकः प्रयोजयति न चैक प्रयोजन योगारम्भ प्रयोजयति। यद्येतावत्प्रयोजन स्यात् तत्रैवाय ब्रूयान्नाव्ययदव्ययीभावाच्चेति॥

शि सर्वनामस्थानम्॥ १।१॥ ४२॥ सुडनपुंसकस्य॥ १।१।४३॥

शि सर्वनामस्थानं सुडनपुंसकस्येति चेज्जसि शिप्रतिषेधः॥ १॥

ऐसा कहा गया है, उसका उत्तर यह है—जब कि यह (आचार्य) "नाव्ययीभावादत०" (२।४।८३) सूत्रसे (ह्रस्वअकारान्त अव्ययीभावके आगेके सुपके लुक्का) प्रतिषेध करता है, तब (अव्ययसज्ञा न होनेपर भी) अव्ययीभावके सुप्का लुक् होता है, ऐसा सूचित करता है। वैसेही, (उपपय.कार, उपपय काम यहाँ अव्ययीभावको अव्ययसज्ञा होनेके कारण 'अत. कृकमिकस०'—८।३।४६—सूत्रसे बताया हुआ जो) उपचार (अर्थात् विसर्गका 'स'कार उस–) का प्रतिषेध सिद्ध होता है ऐसा जो कहा है इसका उत्तर—('नित्य समासे०"—८।३।४५—इस पूर्वसूत्रमेंसे) 'अनुत्तरपदस्थस्य' इस पदकी अनुवृत्ति ('अत. कृकमिकस०' इस सूत्रमें) आती है। (अत 'उपपय'–' में उत्तरपदके विसर्गको सकारका प्रतिषेध होगा। इस तरहसे दो उदाहरणोंका निपटारा हुआ। अब केवल अकेले मुखस्वरके (प्रतिषेधके) बारेमें ही (अव्ययीभावको) अव्ययसज्ञा करनी पडती है। परन्तु उस एक उदाहरणके लिए सामान्यसूत्र करना ठीक नहीं लगता। अत यदि यही एक उपयोग हो तो उसी सूत्रमें (अर्थात् 'नाव्ययदिक्शब्द०'—८।२।१६८—इस सूत्रमें) अव्ययशब्दके आगे अव्ययीभाव शब्द रखा जाय।

(सू ४२)—(जस् और शस् इनके स्थानपर होनेवाले) 'शि' आदेशको (७।१।२०) सर्वनामस्थान संज्ञा (होती है)।

(सू ४३) 'सुट्' (अर्थात् सु, औ, जस्, अम् और औट् इन पाँच विभक्ति प्रत्ययोंको सर्वनामस्थानसज्ञा होती है, परन्तु वहाँ पूर्वशब्द) नपुंसक लिंगमें न हो।

(वा. १) 'शि' आदेशको सर्वनामस्थानसज्ञा बताकर आगे नपुसक लिंगी शब्दके आगेके प्रत्ययोंको सर्वनामस्थानसज्ञाका निषेध किया है, तो जस्के स्थानपर किए हुए 'शि' आदेशको सर्वनामस्थानसंज्ञाका प्रतिषेध प्राप्त होता है।

---

१ सकारको होनेवाले विसर्गको प्राचीन वैयाकरणोंने 'उपचार' सज्ञा दी है।

शि सर्वनामस्थानं सुडनपुंसकस्येति चेज्जसि शेः प्रतिषेधः प्राप्नोति। कुण्डानि तिष्ठन्ति। वनानि तिष्ठन्ति॥

असमर्थसमासश्चायं द्रष्टव्योऽनपुंसकस्येति। न हि नञो नपुंसकेन सामर्थ्यम्। केन तर्हि। भवति ना। न भवति नपुंसकस्येति॥

यत्तावदुच्यते शि सर्वनामस्थानं सुडनपुंसकस्येति चेज्जसि शिप्रतिषेध इति। नाप्रतिषेधात्॥ नायं प्रसज्यप्रतिषेधो नपुंसकस्य नेति। किं तर्हि। पर्युदासोऽयं यदन्यन्नपुंसकादिति। नपुंसके ऽव्यापारः। यदि केनचित्प्राप्नोति तेन

('शि सर्वनामस्थानम्' इस सूत्रसे सामान्यतया) 'शि' आदेशको सर्वनामस्थान संज्ञा बताकर आगे ('सुडनपुंसकस्य' सूत्रसे सुट् अर्थात् 'सु' आदि पाँच प्रत्ययोंको वही संज्ञा बताकर बादमें) नपुंसकलिंगी शब्दके आगेके 'सु' आदि पाँच प्रत्ययोंको सर्वनामस्थानसंज्ञाका निषेध किया है, तो जस्‌के स्थानपर किये हुए 'शि' आदेशको सर्वनामस्थानसंज्ञाका प्रतिषेध प्राप्त होता है। (अतः) 'कुण्डानि तिष्ठन्ति,' 'वनानि तिष्ठन्ति' (यहाँ नुमागमआदि नहीं आ सकता।)

तथा 'अनपुंसकस्य' यह (नञ्तत्पुरुष) असमर्थसमास (अर्थात् अन्वयरहित पदोंका समास) होता है। क्योंकि, नञ्‌का नपुंसकशब्दके साथ अन्वय नहीं होता।

तो फिर किसके साथ (नञ्‌का अन्वय होता है)?

नपुंसकलिंगमें (उन पाँच प्रत्ययोंको सर्वनामस्थानसंज्ञा) नहीं होती है ऐसा 'भवति' (अर्थात् 'होना' क्रिया—) के साथ (नञ्‌का अन्वय होता है)।

नपुंसकशब्दके आगेके सु, औ इत्यादि पाँच प्रत्ययोंको सर्वनामस्थानसंज्ञाका प्रतिषेध किया जाता है तो 'जस्'के स्थानपर किये हुए 'शि' आदेशको सर्वनामस्थानसंज्ञाका प्रतिषेध प्राप्त होता है।

नहीं होता। क्यों कि यहाँ प्रसज्यप्रतिषेध नहीं होता। अर्थात् ('अनपुंसकस्य' यह) 'नपुंसकलिंगमें (सर्वनामस्थानसंज्ञा) नहीं होती' इस अर्थका 'प्रसज्यप्रतिषेध' नहीं होता।

तो फिर क्या?

'नपुंसकात् अन्यत्' इस अर्थका 'पर्युदास' है। (नपुंसकभिन्न शब्दके आगेके

1. सु, औ इत्यादि पाँच प्रत्ययोंको सर्वनामस्थानसंज्ञा होती है यह संज्ञा सामान्यतया कही गयी तो उसकी प्राप्ति नपुंसकलिंगमें भी आती है। तदनन्तर उसका निषेध करना 'प्रसज्यप्रतिषेध' है। और संज्ञा कहते समय आरंभमें ही नपुंसकलिंगके सिवा अन्य लिंगोंमें सु औ इत्यादि पाँच प्रत्ययोंको संज्ञा कही तो नपुंसकलिंगमें उस संज्ञाकी प्राप्ति ही नहीं होगी। इसको 'पर्युदास' कहते हैं।

भविष्यति । पूर्वेण च प्राप्नोति ॥

अप्राप्तेर्वा ॥ अथवानन्तरा या प्राप्तिः सा प्रतिषिध्यते । कुत एतत् । अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति । पूर्वा प्राप्तिरप्रतिषिद्धा तया भविष्यति । ननु चेयं प्राप्तिः पूर्वां प्राप्तिं बाधते । नोत्सहते प्रतिषिद्धा सती बाधितुम् ॥

यदप्युच्यते ऽसमर्थसमासश्चायं द्रष्टव्य इति · यद्यपि वक्तव्यो ऽथवैतर्हि

सु, औ इत्यादि पाँच वचनोंको सर्वनामस्थानसंज्ञा होती है, यह अर्थ है।) अतः नपुसकमें इस सूत्रका व्यापार नहीं है। पर नपुसकमें यदि एकाध सूत्रसे संज्ञा प्राप्त होती है तो उससे वह संज्ञा होगी और नपुंसकमें भी पूर्वसूत्रसे संज्ञा प्राप्त होती ही है।

अथवा ('अनपुंसकस्य' यह प्रसज्यप्रतिषेध लिया गया तो भी उस प्रसज्य प्रतिषेधसे) समीप होनेवाली अर्थात् 'सुट्' से प्राप्त होनेवाली संज्ञाका ही निषेध किया जाता है।

सो कैसे ?

'विधि वा निषेध करना हो, सो अत्यन्त निकट होनेवालेका ही किया जाय' ऐसा न्याय है। (देखिये प. शे. ६१)। अतः पूर्वसूत्रसे प्राप्त जो सर्वनामसंज्ञा है उसका निषेध नहीं है। इससे पूर्वसूत्रसे (नपुंसकमें भी सर्वनामस्थानसंज्ञा) होगी।

परन्तु पूर्वसूत्रसे प्राप्त संज्ञाका इस सूत्रसे प्राप्त संज्ञा बाध करती है न[२] ?

('सुट' से प्राप्त सज्ञाके निषेधसे बाध करनेके कारण) परावृत्त बनी हुई वह संज्ञा पूर्वसंज्ञाका बाध करनेका साहस नहीं करती। (अतः पूर्वसूत्रसे जस् के स्थानपर बने हुए 'शि' आदेशको निर्बाध सर्वनामस्थानसंज्ञा होती है।)

और भी (जो 'नञ्का नपुंसक शब्दसे अन्वय न होनेके कारण अनपुंसकस्य यह) अन्वयरहित पदोंका समास समझना पड़ेगा' ऐसा दूषण दिया है। (उसके विषयमें हम कहते है कि, 'असमर्थसमासश्च' वार्तिकका, प्रसज्यप्रतिषेधके पक्षमें नञ्का नपुंसकसे अन्वय न होनेके कारण) 'असमर्थपदोंका नञ्समास होता है' ऐसा अपूर्व विधान करना चाहिये। (अतः असमर्थसमासका अपूर्व विधान करना यह दोष आता है।) तथापि असमर्थ नञ्समासका[१] विधान करना ही चाहिये। क्योंकि असमर्थ

---

२. 'शि' आदेशको 'शि सर्वनामस्थानम्' इस पूर्वसूत्रसे भी सर्वनामस्थानसंज्ञा प्राप्त होती है। और 'सुडनपुंसकस्य' सूत्रके 'सुट्' से प्राप्त हुई संज्ञा परत्वके कारण पूर्वसूत्रसे प्राप्त हुई संज्ञाका बाध करती है। और 'सुट्' से प्राप्त हुई संज्ञाका 'अनपुसकस्य' निषेध बाध करता है। तब 'जस्' के स्थानमें किये 'शि' आदेशको संज्ञा प्राप्त होती ही नहीं, यह दोष आता है ही।

बहूनि प्रयोजनानि। कानि। असूर्यंपश्यानि मुखानि। अपुनर्गेया श्लोकाः। अश्राद्धभोजी ब्राह्मण इति ॥

न वेति विभाषा ॥ १ । १ । ४४ ॥

न वेति विभाषायामर्थसंज्ञाकरणम् ॥ १ ॥

न वेति विभाषायामर्थस्य संज्ञा कर्तव्या। नवाशब्दस्य यो ऽर्थस्तस्य संज्ञा भवतीति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्।

शब्दसंज्ञायां ह्यर्थासंप्रत्ययो यथान्यत्र ॥ २ ॥

शब्दसंज्ञायां हि सत्यामर्थस्यासंप्रत्ययः स्याद्यथान्यत्र। अन्यत्रापि शब्दसंज्ञायां शब्दस्य संप्रत्ययो भवति नार्थस्य। क्वान्यत्र। दाधा घ्वदाप्

नञ्समासके बहुत उदाहरण है। जैसे, असूर्यंपश्यानि मुखानि, अपुनर्गेया श्लोकाः, अश्राद्धभोजी ब्राह्मण।

(सू ४४) 'न' और 'वा' इन दोनोंको मिलाकर जो अर्थ होता है (अर्थात् 'नहीं होता है और एक वार होता है' उसको 'विभाषा' संज्ञा होती है)।

(वा १) 'न', 'वा' के अर्थको विभाषा संज्ञा होती है, ऐसा वचन किया जाय।

'न', 'वा' इन शब्दोंका उच्चारण करके जो विभाषासंज्ञा की है वहाँ उस अर्थको वह संज्ञा की जाय। अर्थात् न, वा इन दो शब्दोंका जो अर्थ है उसे विभाषा संज्ञा होती है, ऐसा वचन किया जाय।

ऐसा वचन करनेका उपयोग क्या है?

(वा २)—(न, वा) शब्दोंको संज्ञा करनेपर अर्थ का बोध नहीं होगा, जैसे अन्यत्र नहीं होता।

('न', 'वा' इन) शब्दोंको संज्ञा करनेपर (विभाषा शब्दसे 'न', 'वा' इन शब्दों का) अर्थ का बोध, जैसे अन्यस्थानपर नहीं होता वैसे यहां भी, नहीं होगा। यथान्यत्र अर्थात् जैसे अन्य स्थानपर शब्दको संज्ञा करनेपर उस संज्ञाशब्दसे जिस संज्ञा की हो उसी शब्दका बोध होता है, उसके अर्थका बोध नहीं होता है।

अन्यस्थानपर अर्थात् कहाँ?

'दाधा घ्वदाप्' (१।१।२०), 'तरप्तमपौ घः' (१।१।२२) यहाँ

---

१ असूर्यंपश्यानि 'का 'सूर्यको न देखनेवाले मुख' यह अर्थ मनमें आता है। तब 'नञ्-का सूर्यसे अन्वय न होनेके कारण' असूर्य असमर्थ नञ्-समास है। यही आगेके दो उदाहरणोंमें भी समझा जाय। तब प्रसज्यप्रतिषेधार्थमें असमर्थ नञ्-समासका अपूर्व विधान करना पड़ रहा ... नहीं किया जा सकता है।

[१.१.२०] तरप्तमपौ घः [२२] इति घुग्रहणेषु घग्रहणेषु च शब्दस्य संप्रत्ययो भवति नार्थस्य ॥ तर्त्तार्हि वक्तव्यम् । न वक्तव्यम् ।

इतिकरणो ऽर्थनिर्देशार्थः ॥ ३ ॥

इतिकरणः क्रियते सो ऽर्थनिर्देशार्थो भविष्यति । किं गतमेतदितिनाहोस्विच्छब्दाधिक्यादर्थाधिक्यम् । गतमित्याह । कुतः । लोकतः । तद्यथा । लोके गौरित्ययमाहेति गोशब्दादितिकरणः परः प्रयुज्यमानो गोशब्दं स्वस्मात्पदार्थात्प्रच्यावयति । सो ऽसौ स्वस्मात्पदार्थात्प्रच्युतो यासावर्थपदार्थकता तस्याः शब्दपदार्थकः संपद्यते । एवमिहापि नवाशब्दादितिकरणः परः प्रयुज्यमानो नवाशब्द

"घुमास्था०" (६।४।६६), "घकालतनेषु०" (६।३।१७) इत्यादि स्थानोंपर 'घु' और 'घ' इन शब्दोंसे दा, धा और तर, तम इन शब्दोंका ही बोध होता है, उन शब्दोंके अर्थका बोध नहीं होता ।

तो फिर ('न, वा शब्दके अर्थको विभाषा संज्ञा होती है') ऐसा वचन करना चाहिये ।

वैसा वचन करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

(वा. ३) (सूत्रमें) जो 'इति' शब्द रखा है वह ('न,' 'वा' शब्दोंके) अर्थका दर्शक होगा।

('न वेति विभाषा' सूत्रमें) जो 'इति' शब्द रखा है वह 'न,' 'वा' शब्दों के अर्थका दर्शक होगा ।

परन्तु क्या (न, वा शब्दोंका अर्थ मनमें ला देनेका) वह काम 'इति' शब्दसे होता है ? (अर्थात् वह कार्य वैसा बना लानेकी स्वाभाविक ही शक्ति 'इति' शब्दमें है ?) अथवा शब्द अधिक रखा है उसके बलपर कुछ अधिक गृहीत माना जाय ?

(न, वा शब्दका अर्थ मनमें ला देनेका काम) 'इति' शब्दसे (उसकी स्वाभाविक शक्तिसे ही) होता है, ऐसा मेरा कहना है ।

सो कैसे ?

लोकसे । जैसे लोकमें 'गौः इति अयम् आह' (यह गाय ऐसा कहता है) इस वाक्यके 'गो शब्दके आगे नियोजित 'इति' शब्द, गो शब्दको अपने अर्थसे भ्रष्ट करता है । वह अपने मूल अर्थसे परावृत्त बना हुआ अर्थात् (एक प्रकारका पशु, यह) अर्थ दिखाने की जिसकी शक्ति नष्ट हुई है वह गो शब्द अपने स्वरूपको दिखानेवाला ऐसा बनता है । इस तरह यहाँ (अर्थात् शास्त्रमें) भी ('न

---

[१] 'इति' शब्द जिस शब्दके आगे प्रयुक्त किया हो उसकी स्वाभाविक शक्तिमें परिवर्तन करता है । लोगोंमें शब्दसे स्वभावतः अर्थ ध्यानमें आते समय वहाँ 'इति' शब्दसे

स्वस्मात्पदार्थात्प्रच्यावयति। सोऽसौ स्वस्मात्पदार्थात्प्रच्युतो यासौ शब्दपदार्थकृता तस्या लौकिकमर्थं संप्रत्याययति। न वेति यद्गम्यते न वेति यत्प्रतीयत इति॥

समानशब्दप्रतिषेधः ॥ ४ ॥

समानशब्दानां प्रतिषेधो वक्तव्यः। नवा कुण्डिका। नवा घटिकेति। किं च स्याद्यद्येतेषामपि विभाषासंज्ञा स्यात्। विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ [१.१.२८]। दक्षिणपूर्वस्यां शालायाम्। अचिरकृताया संप्रत्ययः स्यात्॥

न वा विधिपूर्वकत्वात्प्रतिषेधसंप्रत्ययो यथा लोके ॥ ५ ॥

न वैष दोषः। किं कारणम्। विधिपूर्वकत्वात्। विधाय किंचिन्न

वेति विभाषा ' इस सूत्रके। ' न वा ' शब्दोंके आगे प्रयुक्त ' इति ' शब्द न, वा शब्दोंको शब्दस्वरूप मूल अर्थ दिखानेके कार्यसे पराङ्मुख करता है। वह ' न वा ' शब्द अपने मूल अर्थसे परावृत्त बना हुआ अपना जो निषेधविकल्प लौकिक अर्थ है उसको दिखानेवाला बनता है। अर्थात् ' न वा ' इन शब्दोंसे जो मनमें आता है अर्थात् प्रतीत होता है (उसे विभाषा संज्ञा होती है, ऐसा ' न वेति ' का अर्थ होता है।)

(वा. ४) समानशब्दोंका प्रतिषेध (करना चाहिये)।

(नवा इस शब्दका) जो दूसरा अर्थ है उस अर्थको भी (विभाषा संज्ञा प्राप्त होती है। उसको) प्रतिषेध करना चाहिये। जैसे,—नवा कुण्डिका, नवा घटिका। (यहाँ ' नवा ' शब्दका अर्थ है ' नवीन ')

तो फिर उस अर्थको विभाषासंज्ञा हुई तो क्या होगा?

" विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ "—१।१।२८—(यहाँके विभाषा शब्दसे ' नवीन ' यह अर्थ मनमें आयेगा। अतः ' नवीन ' यह अर्थ गम्यमान होनेपर दिक् समासको सर्वनामसंज्ञा होती है ऐसा अर्थ होगा। अतः) ' दक्षिणपूर्वस्यां शालायां ' यहाँ नवीन शाला यह अर्थ मनमें आयेगा।

(वा. ५) अथवा (पर्यायशब्दका निषेध करनेकी आवश्यकता) नहीं, क्योंकि जैसे लोकमें वैसे विधि कहानेपर निषेधका संप्रत्यय होता है।

यह दोष नहीं आता।

क्या कारण है?

' विधिपूर्वकत्वात् ' अर्थात् कुछ न कुछ विधान करके आगे पाणिनिसे ' न वा '

उसके समीपस्थ शब्दसे शब्द ही ध्यानमें आता है। शास्त्रमें उसके विरुद्ध है। क्योंकि शास्त्रमें ' स्वं रूपं० ' (१।१।६८) से प्रायः सभी शब्दोंमें स्वभावतः उनका स्वरूप ध्यानमें आता है। यहाँ ' इति ' शब्दसे उसके समीपस्थ शब्दसे लौकिक—जैसा अर्थ ध्यानमें आता है।

वेत्युच्यते। तेन प्रतिषेधवाचिनः संप्रत्ययो भवति। तद्यथा लोके। ग्रामो भवता गन्तव्यो न वा। नेति गम्यते॥ अस्ति कारणं येन लोके प्रतिषेधवाचिनः संप्रत्ययो भवति। किं कारणम्। विलिङ्गं हि भवाँल्लोके निर्देशं करोति। अङ्ग हि समानलिङ्गो निर्देशः क्रियतां प्रत्यग्रवाचिनः संप्रत्ययो भविष्यति। तद्यथा। ग्रामो भवता गन्तव्यो नवः। प्रत्यग्र इति गम्यते॥ एतच्चैव न जानीमः कचिद्व्याकरणे समानलिङ्गो निर्देशः क्रियत इति। अपि च कामचारः प्रयोक्तुः शब्दानामभिसंबन्धे। तद्यथा। यवागूर्भवता भोक्तव्या नवा। यदा यवागूशब्दो

(इस अर्थके विभाषा) शब्दका उच्चारण किया हुआ दिखाई देता है। इससे (विभाषाके अर्थमें) निषेध हो ऐसा ही इष्ट मनमें आता है।

जैसे लोकमें 'ग्रामो भवता गन्तव्यः' कहकर आगे 'न वा' कहनेसे उस 'न वा' शब्दसे निषेध यह अर्थ मनमें आता है (वैसे कुछ विधान करके आगे उच्चारित विभाषा शब्दसे निषेध अर्थ मनमें आता है।)

परन्तु लोकमें ('न वा' शब्दसे) निषेधका जो अर्थ मनमें आता है उसका कारण अलग है।

सो कौनसा?

लोकका लिङ्गरहित उदाहरण (अर्थात् 'न वा' शब्द) आपने दिखाया है। (उस स्थानपर ऐसे 'न वा' शब्दका निर्देश किया है इसलिए उससे निषेध अर्थ मनमें आता है।) अब लिङ्गसहित 'नव'—शब्दका प्रयोग करके देखा जाय, जिससे उससे 'नवीन' यह अर्थ निश्चित प्रतीत होगा। जैसे,—'ग्रामो भवता गन्तव्यो नवः' कहनेपर नव शब्दसे नवीन यह अर्थ प्रतीत होता है।

(यदि यह बात है तो) व्याकरणशास्त्रमें कहीं भी लिंगसहित विभाषा शब्दका निर्देश किया है ऐसा हम नहीं जानते। और शब्दोंका एक दूसरेके साथ संबंध जोडना प्रयोक्ताकी इच्छापर निर्भर है। जैसे,—'यवागूर्भवता भोक्तव्या नवा'। इस वाक्यमें जब यवागू शब्दका भोजन क्रियासे संबंध होता है और भोजनक्रियाका 'नवा' शब्दसे संबंध आता है, तब 'नवा' शब्दसे निषेध अर्थ मनमें आता है 'आप यवागू खायें,

---

२ 'विभाषा श्वेः' (६।१।३०) इत्यादि विभाषासंज्ञोपदेशमें उच्चारित विभाषाशब्द 'श्वि' धातुको संप्रसारणका विधान करके बादमें उच्चारित होनेके कारण वह 'प्रतिषेध' अर्थको ध्यानमें ला देता है, यह वस्तुस्थिति है। इससे यह निश्चय किया जा सकता है कि जब कि संज्ञाप्रदेशका विभाषाशब्द निषेधार्थको दिखाता है तो 'न वेति' सूत्रका 'नवा' शब्द निषेधार्थक समझा गया है।

३ वैसे तो शास्त्रमें भी विभाषाशब्द 'नवीन' अर्थको दिखायेगा। तब संज्ञाप्रदेशके विभाषाशब्दके अर्थसे प्रकृतसूत्रके 'नवा' शब्दका अर्थ निश्चित नहीं किया जा सकता।

भुजिनाभिसंबध्यते भुजिर्नवाशब्देन तदा प्रतिषेधवाचिनः संप्रत्ययो भवति। यवागूर्भवता भोक्तव्या नवा। नेति गम्यते। यदा यवागूशब्दो नवाशब्देनाभिसंबध्यते न भुजिना तदा प्रत्यग्रवाचिनः संप्रत्ययो भवति। यवागूर्नवा भवता भोक्तव्या। प्रत्यग्रेति गम्यते। न चेह वयं विभाषाग्रहणेन सर्वादीन्यभिसंबध्नीमः। दिक्समासे बहुव्रीहौ सर्वादीनि विभाषा भवन्तीति। किं तर्हि। भवतिरभिसंबध्यते। दिक्समासे बहुव्रीहौ सर्वादीनि भवन्ति विभाषेति ॥

विध्यनित्यत्वमनुपपन्नं प्रतिषेधसंज्ञाकरणात् ॥ ६ ॥

विधेरनित्यत्वं नोपपद्यते। शुशाव शुशुवतुः शुशुवुः। शिश्वाय शिश्वियतुः शिश्वियुः। किं कारणम्। प्रतिषेधसंज्ञाकरणात्। प्रतिषेधस्येयं संज्ञा क्रियते। तेन विभाषाप्रदेशेषु प्रतिषेधस्यैव संप्रत्ययः स्यात् ॥

अथवा नहीं।' यहाँ निषेधरूप अर्थ प्रतीत होता है। अब जब 'नवा' शब्द यवागू शब्दसे संबंध पाता है, और भोजनक्रियासे संबंध नहीं पाता, तब 'नवा' शब्दसे 'नवीन' (अर्थात् ताजा) इस अर्थकी प्रतीति होती है। जैसे, 'यवागूर्नवा भवता भोक्तव्या' इस वाक्यमें 'नवा' शब्दका यवागू शब्दसे संबध होनेके कारण वहाँ 'नवा' शब्दसे ताजा यह अर्थ मनमें आता है। अतः 'विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ' इस सूत्रमें विभाषा शब्दका सर्वआदि शब्दोंके साथ हम संबंध नहीं करते। अर्थात् दिग्बहुव्रीहिमें 'विकल्पसे सर्व-आदिक शब्द होते है' ऐसा हम नहीं कहते।

तो फिर क्या?

दिग्बहुव्रीहिमें सर्व आदि शब्द विकल्पसे होते है, (अर्थात् विकल्पसे वे सर्वनाम-संज्ञक होते है) ऐसा (विभाषा शब्दका) भवति-क्रियासे संबंध किया गया है।

(वा. ६) विधिका विकल्प नहीं हो सकता, क्योंकि (विभाषाशब्द) **प्रतिषेधकी संज्ञा होती है।**

विभाषाशब्दसे विधिका विकल्प होना ठीक तरहसे नहीं बैठता। अतः शुशाव, शुशुवतु, शुशुवुः (ऐसे संप्रसारण—६।१।३०—किये हुए रूप) और शिश्वाय, शिश्वियतुः, शिश्वियुः (ये संप्रसारण न किये हुए रूप) सिद्ध नहीं होते।

क्या कारण है?

कारण यह कि 'प्रतिषेध' इस अर्थको विभाषा संज्ञा की गयी है। अतः विभाषा शब्दके प्रदेशोंमें 'प्रतिषेध' अर्थकी ही प्रतीति होगी।

---

४. व्याकरणशास्त्रमें कहीं भी विभाषाशब्दका अनिरादित निर्देश न होनेके कारण यह विभाषाशब्द 'नवीन' अर्थको नहीं दिखा सकता है। तो किसी एकका विधान करके बादमें विभाषाशब्द उच्चारित होनेसे वह 'निषेध' अर्थका बोधक है ऐसा निश्चय होता है।

सिद्धं तु प्रसज्यप्रतिषेधात् ॥ ७ ॥

सिद्धमेतत्। कथम्। प्रसज्यप्रतिषेधात्। प्रसज्य किंचिन्न वेत्युच्यते। तेनोभयं भविष्यति ॥

विप्रतिषिद्धं तु ॥ ८ ॥

विप्रतिषिद्धं तु भवति। अत्र न ज्ञायते केनाभिप्रायेण प्रसजति केन निवृत्तिं करोतीति ॥

न वा प्रसङ्गसामर्थ्यादन्यत्र प्रतिषेधविषयात् ॥ ९ ॥

न वैष दोषः। किं कारणम्। प्रसङ्गसामर्थ्यात्। प्रसङ्गसामर्थ्याच्च विधिर्भविष्यत्यन्यत्र प्रतिषेधविषयात्। प्रतिषेधसामर्थ्याच्च प्रतिषेधो भविष्यत्यन्यत्र विधि-

---

(वा. ७) प्रसज्यप्रतिषेधसे यह सिद्ध होता है।

('विभाषा' शब्दसे 'विकल्प' अर्थकी प्रतीति हो तो) यह सिद्ध होता है।

सो कैसे?

प्रसज्यप्रतिषेधसे। अर्थात् पहले विधि करके फिर उसका निषेध किया जाता है। अतः (विधि और निषेध इन दोनोंके विधानके बलपर) ये दोनों बातें होंगी। (अर्थात् विकल्प होगा।)

(वा. ८) परन्तु यह विरुद्ध दीखता है।

विधि करके उसकी निवृत्ति करना यह विरुद्ध दिखाई देता है। यहाँ किस अभिप्रायसे विधि की जाय और किस अभिप्रायसे उसका निषेध किया जाय सो समझमें नहीं आता।

(वा. ९) अथवा (यह दोष) नहीं आता। क्योंकि प्रसङ्गके बलपर प्रतिषेधका विषय छोड़कर विधि होगी।

यह दोष नहीं आता।

क्या कारण है?

प्रसङ्गके बलपर अर्थात् विधिके बलपर प्रतिषेधका समय छोड़कर विधि होगी और निषेधके बलपर विधिका समय छोड़कर निषेध भी होगा।

(निषेध किये जानेके बलपर विधिकी कल्पना करना और विधि और निषेध इन दोनोंके विधान किये जानेके बलपर बारीबारीसे दोनोंकी प्रवृत्ति होनेके कारण अर्थात् विकल्प फलित होता है) ऐसा करना भी कहाँ ठीक होगा? जहाँ अप्राप्त-विभाषा है वहाँ।

---

५. 'नवा' शब्दके अर्थको अर्थात् निषेधको विभाषासंज्ञा की जानेके कारण प्राप्तविभाषामें विभाषाशब्दसे निषेध ही ध्यानमें आता है। परन्तु अप्राप्तविभाषाप्रदेशमें अन्य शास्त्रसे विधि की

विषयात् ॥ तदेतत्क सिद्धं भवति । याऽप्राप्ते विभाषा । या हि प्राप्ते कृतसामर्थ्यस्तत्र पूर्वेण विधिरिति कृत्वा प्रतिषेधस्यैव संप्रत्ययः स्यात् । एतदपि सिद्धम् । कथम् । विभाषेति महती संज्ञा क्रियते । संज्ञा च नाम यतो न लघीयः । कुत एतत् । लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम् । तत्र महत्याः संज्ञायाः करण एतत्प्रयोजनमुभयोः संज्ञा यथा विज्ञायेत नेति, च वेति च । तत्र या तावदप्राप्ते विभाषा तत्र प्रतिषेध्य नास्तीति कृत्वा वेत्यनेन विकल्पो भविष्यति । या हि प्राप्ते विभाषा तत्रोभयमुपस्थितं भवति नेति च वेति च । तत्र नेत्यनेन प्रतिषिद्धे वेत्यनेन विकल्पो

परन्तु जो प्राप्तविभाषा है वहाँ स्वतंत्र पूर्वशास्त्रसे विधि बताई जानेके कारण (और उसका अन्य स्थानोंपर अर्थात् विकल्पकी प्राप्ति जिस स्थानपर नहीं आती उस स्थानपर उपयोग होनेके कारण वहाँ विभाषापदसे) निषेधकी ही प्रतीति होगी। (अतः विकल्प सिद्ध नहीं होता।)

यह भी सिद्ध होता है। (अर्थात् वैसे स्थानपर भी विभाषापदसे विकल्पकी प्रतीति होगी।)

सो कैसे ?

विभाषा जैसी बड़ी संज्ञा की गयी है। जो संज्ञा होती है वह इतनी छोटी होती है कि उससे दूसरा छोटा शब्द न हो।

सो कैसे ?

थोड़ेमें (अर्थात् एक बिलकुल छोटे शब्दसे बहुत अर्थोंका) संग्रह हो इस हेतुसे ही संज्ञा करनी होती है इसलिए। अतः वहाँ (विभाषा यह) महासंज्ञा करनेका यह फल समझा जाय कि 'न' और 'वा' इन दो शब्दोंको (अर्थात् इन शब्दोंसे प्रतीत होनेवाले दो अर्थोंको) मिलाकर यह विभाषासंज्ञा समझी जाय। (अर्थात 'इति' शब्दका 'न' और 'वा' इनमेंसे प्रत्येकके साथ संबंध करके 'न' शब्दका अर्थ 'निषेध' और 'वा' शब्दका अर्थ 'विकल्प' इन दो अर्थोंको मिलाकर विभाषासंज्ञा होती है)। अतः जहाँ अप्राप्तविभाषा है, वहाँ प्रतिषेध्य (अर्थात् जिसका निषेध किया जा सके वह) पहले कुछ नहीं कहा गया है इससे, 'वा' शब्द (के अर्थ) से विकल्प होगा। अब जो प्राप्तविभाषा (अथवा उभयत्रविभाषा भी) है वहाँ 'न इति' अर्थात् निषेध, और 'वा इति' अर्थात् विकल्प इन दोनों (अर्थों–) की उपस्थिति होती है। उसमें प्रथमतः निषेधांशसे (प्राप्तविधिका) निषेध करनेपर (पीछेसे) विकल्पांश-

जानेके कारण उसका निषेध कहना मेल नहीं खाता। अतः वहाँ निषेधके स्थलपर विधिकी कल्पना की जाय। तब विधि और निषेध दोनोंका विधान किया जानेसे दोनोंको भी सामर्थ्य प्राप्त होनेके लिए बारी बारीसे दोनोंकी प्रवृत्ति होके विकल्प फलित होता है, जैसे, 'जराया जरसन्यतरस्याम्' (७।२।१०)।

भविष्यति ॥ एवमपि

विधिप्रतिषेधयोर्युगपद्वचनानुपपत्तिः ॥ १० ॥

विधिप्रतिषेधयोर्युगपद्वचनं नोपपद्यते । शुशाव शुशुवतुः शुशुवुः । शिश्वाय शिश्वियतुः शिश्वियुः । किं कारणम् ।

भवतीति चेन्न प्रतिषेधः ॥ ११ ॥

भवतीति चेत्प्रतिषेधो न प्राप्नोति ।

नेति चेन्न विधिः ॥ १२ ॥

नेति चेद्विधिर्न सिध्यति ॥

सिद्धं तु पूर्वस्योत्तरेण बाधितत्वात् ॥ १३ ॥

सिद्धमेतत् । कथम् । पूर्वविधिमुत्तरो विधिर्बाधते । इतिकरणो ऽर्थनिर्देशार्थ

से विकल्प होगा ।

इस तरह (निषेध और विकल्प इन दोनों अर्थोंको मिलाकर विभाषा-सञ्ज्ञा की तो) भी—

(वा. १०) विधि और निषेध इन दोनोंका एक ही समय अस्तित्व नहीं हो सकता ।

एकही समय विधि और निषेधसे दोनों बातें नहीं निभ सकतीं । अतः शुशाव, शुशुवतुः, शुशुवुः तथा शिश्वाय, शिश्वियतुः, शिश्वियुः ये दो प्रकारके रूप नहीं हो सकते ।

क्या कारण है ?

(वा. ११) (कार्य) होता है ऐसा कहा गया तो उसी समय उसका प्रतिषेध नहीं होता ।

कोई कार्य होता है ऐसा कहा गया तो उसी समय वह नहीं होता ऐसा नहीं कहा जा सकता ।

(वा. १२) (कार्य) नहीं होता ऐसा कहा गया तो उसी समय वह होता है ऐसा नहीं कहा जा सकता ।

यदि (कोई कार्य) नहीं होता ऐसा कहा गया तो वह उसी समय होता है ऐसा नहीं कहा जा सकता ।

(वा. १३) परन्तु उत्तर विधानसे पूर्व विधानका बाध होनेके कारण इष्ट कार्य सिद्ध होता है ।

विधि और निषेध दोनों एकही स्थानपर ठीक बैठते हैं ।

सो कैसे ?

पूर्व विधान का अगला विधान बाध करता है और 'इति' शब्दके प्रयोग

इत्युक्तम् ॥

साध्वनुशासनेऽस्मिन्यस्य विभाषा तस्य साधुत्वम् ॥ १४ ॥

साध्वनुशासनेऽस्मिञ्शास्त्रे यस्य विभाषा क्रियते स विभाषा साधुः स्यात्। समासश्चैव हि विभाषा तेन समासस्यैव विभाषा साधुत्वं स्यात् । अस्तु । यः साधुः स प्रयोक्ष्यतेऽसाधुर्न प्रयोक्ष्यते । न चैव हि कदाचिद्राजपुरुष इत्यस्यामवस्थायामसाधुत्वमिष्यते । अपि च

(यहाँ 'न' और 'वा' इन दोनों शब्दोंके अर्थ ही लेने चाहिये) ऐसा पहले बताया[६] गया है ।

(वा. १४) शब्दोंके साधुत्वका अनुशासन करनेवाले इस शास्त्रमें जिसका विकल्प बतलाया जाता है उस (शब्द) का साधुत्व सिद्ध होता है ।

शब्दोंके साधुत्वका अनुशासन करनेवाले (अर्थात् अमुक शब्द साधु हैं ऐसा कहनेवाले) इस शास्त्रमें जिस कार्यके संबंधमें विकल्प बतलाया जाता है (उस कार्यका विकल्प न होकर) वह कार्य दिखानेवाला जो शब्द है वह शब्द विकल्पसे साधु होता है। समास ही विकल्पसे बताया गया है। अतः उस समासका विकल्प न होकर उस सामासिक शब्दका साधुत्व विकल्पसे समझा जायगा। (अर्थात् एकबार असाधुत्व भी आयेगा।

(साधुत्वका विकल्प हुआ तो) होने दीजिये। जिस (शब्द) का साधुत्व होगा उसका प्रयोग किया जायगा। और असाधु (शब्द) का प्रयोग नहीं किया जायगा।

परन्तु (समास करनेपर) अर्थात् 'राजपुरुषः' (यह सामासिक शब्द सिद्ध करनेपर) इस सामासिक शब्दको कभी भी असाधुत्व इष्ट नहीं है। (सो अब मानना पड़ेगा न ?)

---

६. उन दो अर्थोंमें विरोध रहनेके कारण एकसे दूसरेका बाध करना आवश्यक ही है। उसमें 'न' शब्द पहले रखा जानेसे उसी क्रमसे उसका अर्थ भी पहले ध्यानमें आता है। तदनन्तर उसका 'वा' शब्दसे ध्यानमें आयी पाक्षिक विधिसे एक बार बाध होता है। तब विभाषास्थलमें प्रथमतः 'न' इस निषेध अंशकी प्रवृत्ति होती है। तब 'विभाषा श्वेः' (६।१।३०) इत्यादिमें 'क्तिन्' प्रत्यय आगे होनेपर प्राप्त हुए संप्रसारणका निषेध करनेके बाद सर्वत्र ही एक बार संप्रसारण होता है ऐसा विधिमुखसे विकल्प प्रवृत्त होता है। उससे 'शुशाव', 'शिश्वाय' इत्यादि दोनों प्रकारके रूप सिद्ध होते हैं।

७. व्याकरणशास्त्रसे शब्द सिद्ध नहीं किये जाते हैं। क्योंकि शब्द नित्य होनेके कारण वे सिद्ध ही हैं। तब व्याकरणशास्त्रका उपयोग यही है कि अमुक शब्द साधु है यह समझमें आ जाय। 'शब्द अनित्य है' यह नैयायिकोंका पक्ष है। उस पक्षमें 'शब्द सिद्ध करना' यह व्याकरणशास्त्रका कार्य है ऐसा कहा जा सकता है।

द्वैधाप्रतिपत्तिः ॥ १५ ॥

द्वैधं शब्दानामप्रतिपत्तिः । इच्छामश्च पुनर्विभाषाप्रदेशेषु द्वैधं शब्दानां प्रतिपत्तिः स्यादिति तच्च न सिध्यति ॥ यस्य पुनः कार्याः शब्दा विभाषासौ समासं निर्वर्तयति । यस्यापि नित्याः शब्दास्तस्याप्येष न दोषः । कथम् । न विभाषाग्रहणेन साधुत्वमभिसंबध्यते । किं तर्हि । समाससंज्ञाभिसंबध्यते । समास इत्येषा संज्ञा विभाषा भवतीति । तद्यथा । मेध्यः पशुर्विभाषितः । मेध्यो ऽनड्वान्विभाषित इति । नैतद्विचार्यते ऽनड्वाननड्वानिति । किं तर्हि । आलब्धव्यो नालब्धव्य इति ॥

(वा. १५) दो प्रकारके शब्दोंकी प्रतिपत्ति नहीं होगी ।

और (साधुत्वका विकल्प हुआ तो) दो प्रकारके शब्द निष्पन्न होते हैं वे नहीं होंगे । और हम तो चाहते हैं कि जहाँ विकल्प बताया हो वहाँ दोनों प्रकारके शब्द प्रयोगमें आये । वह साध्य नहीं होता ।

अब जिसके मतमें शब्द अनित्य हैं वह विकल्पसे समास करता है । (अतः राज्ञः पुरुषः और राजपुरुषः ऐसे दो प्रकारके शब्द साधु समझकर उपयोगमें लाये जा सकते हैं ।)

परन्तु जिसके मतमें शब्द नित्य हैं उसके भी मतमें ' द्वैधाऽप्रतिपत्तिः ' यह दोष नहीं आता ।

सो कैसे ?

विभाषा शब्दका साधुत्वसे संबंध न करना पर्याप्त होगा ।

तो फिर उसका संबंध किससे करे ?

समाससंज्ञाके साथ विभाषाका संबंध करना हो तो समास नामकी जो संज्ञा है वह विकल्पसे होती है । जैसे—' यज्ञीय पशु विभाषित है ' अथवा ' यज्ञीय बैल विभाषित है ' ऐसा कहनेपर वहाँ वह पशु है वा नहीं, और बैल है वा नहीं ऐसा विभाषाका पशुसे वा बैलसे संबंध नहीं होता ।

तो फिर वहाँ किसका विकल्प माना जाता है ?

(याज्ञिक पशुका) आलंभन करना अर्थात् हिंसा करना, अथवा आलंभन न करना (इस तरह आलंभनक्रियाका विकल्प माना जाता है ।)

---

८. क्योंकि शब्दको साधुत्व देना या न देना यह कार्य व्याकरणशास्त्रकार नहीं कर सकता । केवल साधु शब्द कौनसे और वे कैसे पहचाने जायें इतना ही वे बता सकते हैं ।

९. क्योंकि सूत्रकारभी पशुका पशुत्व और ' गो 'का गोत्व एक बारभी स्थिर नहीं कर सकते ।

१०. हिंसा करना या न करना मनुष्यके आधीन है इसलिए क्रियाका विकल्प सूत्रकार

कार्ये युगपदन्वाचययौगपद्यम् ॥ १६ ॥

कार्येषु शब्देषु युगपदन्वाचयेन च यदुच्यते तस्य युगपद्वचनता प्राप्नोति। तव्यत्तव्यानीयरः [३.१ ९६] ढक् च मण्डूकात् [४ १.११९] इति ॥ यस्य पुनर्नित्याः शब्दाः प्रयुक्तानामसौ साधुत्वमन्वाचष्टे। ननु च यस्यापि कार्यास्तस्याप्येष न दोषः। कथम्। प्रत्ययः परो भवतीत्युच्यते न चैकस्याः प्रकृतेरनेकस्य प्रत्ययस्य युगपत्परत्वेन संभवो ऽस्ति। नापि ब्रूमः प्रत्ययमाला प्राप्नोतीति। किं तर्हि। कर्तव्यमिति प्रयोक्तव्ये युगपद् द्वितीयस्य तृतीयस्य च प्रयोगः प्राप्नोतीति।

(वा. १६) शब्द यदि कार्य समझे जायें, तो जहाँ एक ही समय समुच्चयसे कुछ विधान किया जानेपर उन सब शब्दोंका युगपत् उच्चारण करना पड़ेगा।

अनित्य शब्दोंके विषयमें यौगपद्यसे अथवा समुच्चयसे जिनका विधान किया है ऐसे (अर्थात् क्रमशः) तव्यत्, तव्य, अनीयर प्रत्यय, (३।१।९६) और 'ढक् च मण्डूकात्' (४।१।११९) सूत्रसे बताये हुए 'ढक्' और 'अण्' प्रत्यय इनका एक ही समयमें प्रयोग प्राप्त होता है। (कार्यशब्दवादी केवल सूत्रपर दृष्टि रखकर शब्द बनायेगा। अतः उस सूत्रसे तव्यत्, तव्य इत्यादि प्रत्ययोंका युगपत् विधान किया गया है। इसलिए तीनों प्रत्यय एक समयमें करनेकी बारी आती है।) अब जिसके मतमें शब्द नित्य है वह (प्रयोगपर दृष्टि रखकर) व्यवहारमें प्रयुक्त हुए शब्दोंका साधुत्व बतायेगा। (उस प्रयोगमें तव्यदादिक प्रत्ययोंकी एक कालमें उत्पत्ति दिखाई न देनेके कारण पर्यायसे तव्यदादि तीन प्रत्ययोंका प्रयोग करेगा। इसलिए उसके मतमें 'तव्यदादिकका युगपत् प्रयोग होगा' यह दोष नहीं आता।)

जिसके मतसे शब्द अनित्य है उसके मतमें भी यह दोष नहीं आता।

सो कैसे?

प्रत्यय आगे होता है ऐसा ("परश्च"— ३।१।२ — सूत्रसे) बताया गया है। अतः एक प्रकृतिके आगे अनेक प्रत्ययोंका युगपत्–प्रयोग नहीं हो सकता। प्रत्ययोंकी माला (अर्थात् एक प्रकृतिके आगे अनेक प्रत्ययोंका युगपत्–प्रयोग) प्रसक्त होती है, ऐसा हम नहीं कहते।

तो फिर आपका कहना क्या है?

('तव्यत्' प्रत्यय करके) 'कर्तव्य' शब्दका प्रयोग करनेकी इच्छा होनेपर उसके साथ ही पुनः 'तव्य' प्रत्यय करके दूसरे 'कर्तव्य' शब्दका और (अनीयर

कह सकते हैं। तब शब्द नित्य माने गये तो भी उनके साधुत्वका विकल्प करना शास्त्रकारोंके आधीन है इसलिए समाससंज्ञाका विकल्प माना जा सकता है, अतः कोई भी दोष नहीं आता।

नैष दोषः। अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः। अर्थं संप्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते। तत्रैकेनोक्तत्वात्तस्यार्थस्य द्वितीयस्य प्रयोगेण न भवितव्यमुक्तार्थानामप्रयोग इति ॥

आचार्यदेशशीलने च तद्विषयता ॥ १७ ॥

आचार्यदेशशीलनेन यदुच्यते तस्य तद्विषयता प्राप्नोति। इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य [६. ३. ६१] प्राचामवृद्धात्फिन्बहुलम् [४. १. १६०] इति गालवा एव ह्रस्वान्प्रयुञ्जीरन्प्राक्षु चैव हि फिन्स्यात्। तद्यथा। जमदग्निर्वा एतत्पञ्चममवदानमवाद्यत्तस्मान्नाजामदग्न्यः पञ्चावत्तं जुहोति ॥ यस्य पुनर्नित्याः शब्दा गालवग्रहणं तस्य पूजार्थं देशग्रहणं च कीर्त्यर्थम्। ननु च यस्यापि

प्रत्यय करके) तीसरे 'करणीय' शब्दका भी प्रयोग प्रसक्त होता है (ऐसा हमारा कहना है)।

यह दोष नहीं आता। क्योंकि (दूसरेको) कोई अर्थ विदित करा लें इस उद्देश्यसे वक्तासे शब्दप्रयोग किया जाता है। 'मैं अर्थ विदित कराता हूँ' इस हेतुसे वक्तासे शब्दप्रयोग किया जाता है वहाँ वह अर्थ एक शब्दसे निवेदित किया जानेके कारण उसी अर्थका दूसरा (अथवा तीसरा शब्द) प्रयोगमें लानेका कारण नहीं है। कारण कि "जो अर्थ एक शब्दसे निवेदन किया वही अर्थ निवेदित करनेके लिए पुनः शब्दप्रयोग न करें" (यह लोकप्रसिद्ध न्याय है)।

(वा. १७) आचार्यका अथवा देशका उल्लेख करके जो बताया है उस शब्दका प्रयोग करनेका उन्हींको अधिकार पहुँचता है।

आचार्यका अथवा देशका उल्लेख करके जो बताया है (तादृशकार्यघटित) उस शब्दका (जो उस आचार्यके वंशके अथवा उस देशके लोग हों) उन्हींको प्रयोग करनेका अधिकार पहुँचता है। जैसे "इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य" (६।३।६१ यहाँ (गालवनामक ऋषिका उल्लेख करके ह्रस्व बताया गया है,) वैसेही "प्राचामवृद्धात्फिन् बहुलम्" (४।१।१६०) यहाँ ('प्राग्देश' का उल्लेख करके फिन् प्रत्यय बनाया है; इसलिए) गालववंशके ही ह्रस्व घटित प्रयोग करेंगे, और प्राग्देशमें ही फिन् प्रत्ययका प्रयोग होगा। जैसे, 'जमदग्निः वा एतत् पञ्चमम् अवदानम् अवाद्यत् तस्मात् न अजामदग्न्यः पञ्चावत्तं जुहोति' (जब कि पाँचवाँ अवदान जमदग्निनामक ऋषिने ग्रहण किया तब जामदग्न्यव्यतिरिक्त मनुष्य पञ्चावत्त हवन न करे, ऐसा सूत्रमें बताया है।) अब जिसके मतमें शब्द नित्य हैं उसके मतमें गालवाचार्यका उल्लेख उसकी पूज्यता दिखानेके लिए है और देशका निर्देश (उस देशके लोगोंकी) कीर्ति होनेके लिए किया है (ऐसा समझा जाता है)।

परन्तु, जिसके मतमें शब्द कार्य (निष्पाद्य) हैं, उसके भी मतमें गालवाचार्यका

कार्यास्तस्यापि पूजार्थं गालवग्रहणं स्याद्देशग्रहणं च कीर्त्यर्थम्।

तत्कीर्तने च द्वैधाप्रतिपत्तिः ॥ १८ ॥

तत्कीर्तने च द्वैधं शब्दानामप्रतिपत्तिः स्यात्। इच्छामश्च पुनराचार्य-ग्रहणेषु देशग्रहणेषु च द्वैधं शब्दानां प्रतिपत्तिः स्यादिति तच्च न सिध्यति॥

अशिष्यो वा विदितत्वात् ॥ १९ ॥

अशिष्यो वा पुनरयं योगः। किं कारणम्। विदितत्वात्। यदनेन योगेन प्रार्थ्यते तस्यार्थस्य विदितत्वात्। ये ऽपि ह्येतां संज्ञां नारभन्ते ते ऽपि विभाषेत्युक्ते ऽनित्यत्वमवगच्छन्ति। याज्ञिकाः खल्वपि संज्ञामनारभमाणा विभाषेत्युक्ते ऽनित्यत्वमवगच्छन्ति। तद्यथा। मेध्यः पशुर्विभाषितः। मेध्यो ऽनड्वान्विभाषित इति। आलब्धव्यो नालब्धव्य इति गम्यते॥ आचार्यः खल्वपि संज्ञामारभमाणो भूयिष्ठमन्यैरपि शब्दैरेतमर्थं संप्रत्याययति। बहुलम् अन्यतरस्याम्

उल्लेख उसकी पूज्यता दिखानेके लिए होगा और देशका उल्लेख (उस देशके लोगोंकी) कीर्ति होनेके लिए होगा। ('जब कि गालवाचार्यने ह्रस्वका प्रयोग किया है, तुम भी ह्रस्वका प्रयोग करो यह विधान करनेमें स्पष्टतया गालवाचार्यकी स्तुति होती है।)

(सू. १८) उस (आचार्य अथवा देश–) का उल्लेख किया हो तो (शब्दोंकी दो प्रकारकी प्रतिपत्ति न होगी।)

उस (आचार्य अथवा देश) का उल्लेख किया हो वहाँ शब्दोंके दो प्रकारके रूप समझमें नहीं आयेंगे। हम तो आचार्यका अथवा देशका निर्देश किया गया हो वहाँ (विकल्पकी तरह) शब्दोंके दो प्रकारके रूप चाहते हैं, वे साध्य नहीं होते।

(वा. १९) ('न वेति विभाषा') सूत्र करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि (उस सूत्रका अर्थ) विदित है।)

('न वेति विभाषा') सूत्र करनेकी आवश्यकता नहीं है।

क्यों ?

क्योंकि इस सूत्रसे जो अर्थ कथन किया है वह लोकप्रसिद्ध ही है। जिन लोगोंने 'विभाषा' संज्ञा नहीं की वे लोग भी 'विभाषा' कहनेपर उसका अर्थ 'अनित्य' ऐसा समझते हैं। याज्ञिक लोग भी 'विभाषा' संज्ञा कहे बिना 'विभाषा' कहनेपर 'अनित्य' ही उसका अर्थ समझते है। सो ऐसे— "मेध्यः पशुर्विभाषितो मेध्योऽनड्वान् विभाषितः।" ऐसा कहनेपर 'आलब्धव्य है' अथवा 'आलब्धव्य नहीं है' ऐसा समझा जाता है। पाणिनि आचार्य भी विभाषासंज्ञा बताकर बहुत स्थानोंपर बहुलम्, अन्यतरस्याम्, उभयथा, वा, एकेषाम् इत्यादि अन्य शब्दोंसे भी विभाषा शब्दका अर्थ विदित करते है। (अतः "इकोऽन्यतरस्याम्"—१।४।५३—

उभयथा वा एकेषामिति ॥

अप्राप्ते त्रिसंशयाः ॥ २० ॥

इत उत्तरं या विभाषा अनुक्रमिष्यामो ऽप्राप्ते ता द्रष्टव्याः। त्रिसंशयास्तु भवन्ति प्राप्ते ऽप्राप्ते उभयत्र वेति ॥

द्वन्द्वे च, विभाषा जसि [१. १. ३१, ३२] ॥ २०-१ ॥

प्राप्ते ऽप्राप्ते उभयत्र वेति संदेहः। कथं च प्राप्ते कथं वाऽप्राप्ते कथं

आदि प्राप्ताप्राप्त विभाषाके स्थानपर 'अन्यतरस्याम्' शब्दसे जैसे निषेधपूर्वक विकल्पात्मक अर्थकी प्रतीति होती है वैसे ही 'विभाषा' शब्दसे भी होगी; इसलिए 'न वेति विभाषा' यह संज्ञासूत्र करनेकी आवश्यकता नहीं है।)

(वा. २०) अप्राप्तविभाषाओंके बारेमें तीन (प्रकारके) संदेह (निर्माण होते हैं)।

यहाँसे आगे हम जो विभाषाएँ क्रमसे कहनेवाले हैं वे अप्राप्त विभाषाएँ हैं ऐसा समझा जाय। (उन विभाषाओंके बारेमें) तीन (प्रकारके) सन्देह निर्माण होते हैं। — क्या यह प्राप्तविभाषा समझी जाय, अथवा अप्राप्तविभाषा समझी जाय, अथवा उभयत्रविभाषा समझी जाय (इस प्रकार तीन प्रकारके सन्देह निर्माण होते हैं)।

(वा. २०.१) 'द्वन्द्वे च' और 'विभाषा जसि' (पा. १. १. ३१, ३२) इस प्रकरणमें जो विभाषा बतायी गयी है वह क्या प्राप्तविभाषा है, अथवा अप्राप्तविभाषा है, अथवा उभयत्रविभाषा है, ऐसा संदेह निर्माण होता है[11]।

यह विभाषा प्राप्तविभाषा कैसे हो सकती है? अप्राप्तविभाषा कैसे संभवनीय है?

---

११. 'प्रथमचरम०' सूत्रमें 'सर्वादीनि' पदकी अनुवृत्ति लाके वह तयप्प्रत्ययान्तको विशेषण लगाया गया तो सर्वादिगणपठित तयप्प्रत्ययान्तको विकल्पसे सर्वनामसंज्ञा होती है ऐसा 'प्रथमचरम०' सूत्रके तय पदका वाक्यार्थ ठहरता है। तब 'उभय' शब्दके आगे 'जस्' प्रत्यय लगाया जानेपर 'उभय' शब्दको सर्वादिगणपाठके कारण प्राप्त हुई संज्ञाका तयप्ग्रहणसे 'जस्' आगे रहनेपर विकल्प कहा जानेके कारण तयप्प्रत्ययान्तको कही हुई विभाषा प्राप्तविभाषा हो सकती है। अब 'सर्वादीनि' की निवृत्ति की गयी और पूर्वप्रतिषेध माना गया तो यह अप्राप्तविभाषा होती है। अर्थात् गणपाठनिष्पन्नसंज्ञा जस्प्रत्ययातिरिक्त स्थलमें सावकाश है, और तयप्प्रत्ययान्तको कही हुई विभाषा 'द्वितय' इत्यादि शब्द स्थलमें सावकाश है। और 'उभय' शब्दके आगे 'जस्' प्रत्यय किया जानेपर नित्य और विकल्प दोनों संज्ञाएँ प्राप्त होनेपर पूर्वविप्रतिषेधसे नित्यसंज्ञा करते समय 'द्वितय' शब्दमें संज्ञाकी प्राप्ति न होनेपर तयप्ग्रहणसे विकल्प किया जानेसे अप्राप्तविभाषा हो सकती है। और परविप्रतिषेध मान लिया तो उभयशब्दस्थलमें गणपाठके कारण प्राप्त हुई संज्ञाका विकल्प और द्वितयशब्दस्थलमें अप्राप्तसंज्ञाका विकल्प करनेसे उभयत्रविभाषा होती है।

वोभयत्र। उभयशब्दः सर्वादिषु पठ्यते तयपश्चायजादेशः क्रियते तेन वा नित्ये प्राप्ते ऽन्यत्र वाऽप्राप्त उभयत्र वेति। अप्राप्ते। अयच्प्रत्ययान्तरम्। यदि प्रत्ययान्तरमुभयीतीकारो न प्राप्नोति। मा भूदेवम्। मात्रच इत्येव भविष्यति। कथम्। मात्रजिति नेदं प्रत्ययग्रहणम्। किं तर्हि। प्रत्याहारग्रहणम्। क्व सन्निविष्टानां प्रत्याहारः। मात्रशब्दात्प्रभृत्यायचश्चकारात्। यदि प्रत्याहारग्रहणं कति तिष्ठन्ति

और उभयत्रविभाषा कैसे होती है? 'उभय' शब्दका सर्वादिगणमें पाठ किया है। और 'तयप्' प्रत्ययके स्थानपर 'अयच्' (अय) आदेशका विधान किया है (५।२।४४) अत. ('उभय' शब्दको सर्वनामसंज्ञा) नित्य प्राप्त होनेपर (वहीं उसके विकल्प करना चाहिये), अथवा इतरत्र (अर्थात् 'द्वितय' आदि शब्दोंको सर्वनामसंज्ञा) प्राप्त न होनेपर वहीं विकल्प करना चाहिये), अथवा दोनों स्थानोंपर विकल्प करना चाहिये (यह संदेह निर्माण होता है)।

(तयप् प्रत्ययान्तके बारेमें जो विभाषा है वह) अप्राप्तविभाषा (समझी जाय)। क्योंकि ("उभादुदात्तो नित्यम्" सूत्रसे तयप् प्रत्ययके स्थानपर 'अयच्' आदेश करके 'उभय' शब्द नहीं बनाना है, तो 'उभय' शब्दके आगे 'तयप्' प्रत्ययका बाधक) स्वतंत्र 'अयच्' प्रत्यय (करके बनाया जाय।)

यदि ('उभय' शब्दके आगे) स्वतंत्र 'अयच' प्रत्यय किया जाता है तो 'उभयी' यहाँ ("टिड्ढाणञ्०"—४।१।१५—सूत्रसे 'तयप्—' प्रत्ययान्तके आगे 'उभादुदात्तो नित्यम्'—५।२।४४—से बताया हुआ) ई (ङीप्) प्राप्त नहीं हो सकता।

(तयप्-प्रत्ययान्तके आगे बताया हुआ ङीप्) न हुआ तो भी उसी सूत्रसे मात्रच् प्रत्ययान्तके आगे (बताया हुआ) ङीप् होगा।

सो कैसे?

('टिड्ढाणञ्०' सूत्रसे) मात्रच् (यह जो शब्द रखा गया है वह) प्रत्यय नहीं है।

तो फिर क्या है?

वह प्रत्याहार है।

कहाँ निर्दिष्ट किये हुओंका यह प्रत्याहार किया है?

("प्रमाणे द्वयसच्०"—५।२।३७—सूत्रके) मात्र शब्दको आरंभ करके ("द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा"—५।२।४३—सूत्रके) अयच् प्रत्ययके चकारतक (सूत्रसमुदायमें प्राप्त हुए सब प्रत्ययोंका यह प्रत्याहार है)।

यदि (मात्रच् शब्द) प्रत्याहार है तो 'कति तिष्ठन्ति', यहाँ भी (कति शब्दसे ङीप्) प्राप्त होता है।

[1] क्योंकि 'डति' प्रत्यय (५।२।४१) 'मात्रच्'–प्रत्याहारमें पाया जाता है।

उभयत्र वेति । अप्राप्ते ॥ अन्यद्धि क्त्विमन्यन्ङित्त्वम् ।

एकं चेन्ङित्कितौ ॥

यद्येकं ङित्कितौ ततो ऽस्ति संदेहः । अथ हि नाना नास्ति संदेहः । यद्यपि नानैवमपि संदेहः । कथम् । प्रोर्णुवीति । सार्वधातुकमपित् [१ २ ४] इति वा नित्ये प्राप्ते ऽन्यत्र वाप्राप्त उभयत्र वेति । अप्राप्ते ॥

विभाषोपयमने [१.२.१६]॥ २०३ ॥

प्राप्ते ऽप्राप्त उभयत्र वेति संदेहः । कथं च प्राप्ते कथं वाऽप्राप्ते कथं चोभयत्र । गन्धने [१ २.१५] इति वा नित्ये प्राप्ते ऽन्यत्र वाऽप्राप्त उभयत्र

स्थानोंपर (विकल्प किया तो) उभयत्रविभाषा होती है ।

यह अप्राप्तविभाषा ही है । क्योंकि कित्त्व भिन्न है और ङित्त्व भिन्न है ।

' ङित् ' और ' कित् ' एक ही माने जायें तो यहाँ संदेहके लिए स्थान है, और यदि ङित् और कित् वस्तुतः भिन्न ही हों तो यहाँ संदेह ही नहीं आता है ।

ङित् और कित् भिन्न हैं तो भी यहाँ संदेह प्राप्त होता है ।

सो कैसे ?

' प्रोर्णुवि[17] ' यहाँ " सार्वधातुकमपित् " (१।२।४) इस (अगले सूत्र-) से नित्य प्राप्त होनेपर (वहाँ इससे विकल्प किया तो) प्राप्तविभाषा होती है, अन्य स्थानोंपर ही (इससे विकल्प किया तो) अप्राप्तविभाषा होती है, और दोनों स्थानोंपर (विकल्प किया तो) उभयत्रविभाषा होती है ।

परन्तु यहाँ अप्राप्तविभाषा ही समझी जाय) ।

(वा. २० ३) " विभाषोपयमने " (१।२।१६) यह क्या प्राप्तविभाषा है, अथवा अप्राप्तविभाषा है, अथवा उभयत्रविभाषा है, ऐसा संदेह पैदा होता है ।

परन्तु प्राप्तविभाषा कैसे, और अप्राप्तविभाषा कैसे, वा उभयत्रविभाषा कैसे हो सकती है ?

" यमो गन्धने " (१।२।१५) इस पूर्वसूत्रसे गन्धन अर्थ गम्यमान होनेपर (पूर्व

---

१६ ' लिट् ' में भी ' विभाषोर्णोः ' से ' असंयोगात् ' का पूर्वविप्रतिषेधसे बाध होता है ।

१७ ' प्र ' उपसर्गपूर्वक ' ऊर्णु ' धातुके आगे ' लट् ' प्रत्यय, उसके स्थानमें आत्मनेपद उत्तमपुरुष एकवचन ' इट् ' प्रत्यय किया है । ' विभाषोर्णोः ' सूत्रमें बादमें अनुराग होके आये हुए ' इट् ' शब्दसे प्रत्यय ही लिया तो प्राप्तविभाषा होती है, आगम ही लिया तो अप्राप्त विभाषा होती है, और प्रत्यय और आगम दोनोंका भी ग्रहण किया तो उभयत्रविभाषा होती है ।

१८ क्योंकि पूर्वसूत्रमें ' इट् ' शब्दसे आगमका ही ग्रहण किया जानेसे यहाँ वह अर्थ लेना चाहिये ।

अत्रापि प्राप्नोति। अत इति वर्तते। एवमपि तैलमात्रा घृतमात्रा अत्रापि प्राप्नोति। सदृशस्याप्यसंनिविष्टस्य न भविष्यति प्रत्याहारेण ग्रहणम् ॥

ऊर्णोतेर्विभाषा [१.२.३] ॥ २०·२ ॥

प्राप्ते ऽप्राप्त उभयत्र वेति संदेहः। कथं च प्राप्ते कथं वाऽप्राप्ते कथं वोभयत्र। असंयोगाल्लिट् कित् [१.२.५] इति वा नित्ये प्राप्ते ऽन्यत्र वाऽप्राप्त

('टिड्ढाणञ्०' सूत्रमें 'अजाद्यतः०'—४।१।४—सूत्रसे) 'अतः' (पद) की अनुवृत्ति आती है। (अतः टिदादिप्रत्ययान्त शब्दोंका जो अवयव अकार है तदन्तके आगे ङीप् होता है ऐसा 'टिड्ढाणञ्०' का अर्थ होता है। कति टिदायन्त शब्द है तो भी अकारान्त न होनेके कारण ङीप् नहीं होता।)

तो भी 'तैलमात्रा,' 'घृतमात्रा' यहाँ ङीप् प्राप्त होता है।

(प्रत्याहारमें प्राप्त हुए मात्र शब्दके सदृश ऊपरके उदाहरणका मात्र शब्द है।) यद्यपि वह सदृश है तो भी प्रत्याहारमें (मात्र प्रत्यय है, वैसा यह प्रत्यय) न होनेके कारण (इस मात्र शब्दका) उस प्रत्याहारमें ग्रहण नहीं होगा।

(वा. २०·२) 'ऊर्णोतेर्विभाषा' —१।२।३— (सूत्रसे 'ऊर्णु' धातुके आगेके इडादि-प्रत्ययको जो ङित्त्वका विकल्प किया है वह) क्या प्राप्तविभाषा है, अथवा अप्राप्तविभाषा है, अथवा उभयत्रविभाषा है ऐसा सन्देह पैदा होता है।

उपर्युक्त विभाषा प्राप्तविभाषा कैसे हो सकती है? अथवा अप्राप्तविभाषा कैसे संभवनीय है? अथवा उभयत्रविभाषा कैसे होगी?

'असंयोगाल्लिट् कित्'—१।२।५— सूत्रसे नित्य प्राप्त होनेपर (वहीं इस 'ऊर्णोतेर्विभाषा' सूत्रसे विकल्प किया तो[14]) यह प्राप्तविभाषा होती है। अन्य स्थानोंपर ही (इस विभाषासूत्रसे विकल्प किया तो) अप्राप्तविभाषा होती है और दोनों

---

१३. 'प्रमाण' अर्थके 'मात्र' शब्दके साथ 'तैल' शब्दका तत्पुरुष समास (२।१।७२) यहाँ हुआ है। 'मात्रच्' प्रत्याहारमें जो 'मात्र' शब्द दीखता है उसीके सदृश यह है इसलिए यह भी प्रत्याहारमें है ऐसा मानकर यह आशंका की गयी है।

१४. 'कित्त्व' का उपयोग ऊर्णुधातुस्थलमें गुणका निषेध (१।१।५) है। और वहाँ ङित्त्वका भी वही उपयोग है, इसलिए कित्त्व और ङित्त्व दोनों एक ही हैं ऐसा समझकर यह विचार किया है। 'असंयोगाल्लिट् कित्' यहाँ 'विभाषोर्णोः' सूत्र उपस्थित करके उसमें अपित् और लिट् पदोंका संबंध करके स्वतंत्र वाक्यार्थ किया जानेसे वह प्राप्तविभाषा होती है।

१५. 'विभाषोर्णोः' का स्वदेशमें ही स्वतंत्र वाक्यार्थ करना। 'लिट्' में उसका असंयोगात्' से परत्वके कारण बाध किया जानेसे 'लिट्' के सिवा अन्य स्थलोंमें ही 'विभाषोर्णोः' के उदाहरण पाये जाते हैं।

वेति। अप्राप्ते। गन्धन इति निवृत्तम् ॥

अनुपसर्गाद्वा [१.३.४३] ॥ २०.४ ॥

प्राप्ते ऽप्राप्त उभयत्र वेति संदेहः। कथं च प्राप्ते कथं वाऽप्राप्ते कथं वोभयत्र। वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः [१.३.३८] इति वा नित्ये प्राप्ते ऽन्यत्र वाऽप्राप्त उभयत्र वेति। अप्राप्ते। वृत्त्यादिष्विति निवृत्तम् ॥

विभाषा वृक्षमृगादीनाम् [२.४.१२] ॥ २०.५ ॥

प्राप्ते ऽप्राप्त उभयत्र वेति संदेहः। कथं च प्राप्ते कथं वाऽप्राप्ते

सूत्रसे किया) नित्य प्राप्त होता है वहाँ (इससे विकल्प किया तो) प्राप्तविभाषा होती है, अन्य स्थानोंपर ही (इससे विकल्प किया तो) अप्राप्तविभाषा होती है, और दोनों स्थानोंपर (विकल्प किया तो) उभयत्रविभाषा होती है।

परन्तु यहाँ अप्राप्तविभाषा ही (समझी जाय)। क्योंकि यहाँ 'गन्धने' पदकी अनुवृत्ति नहीं है।

(वा २०४) "अनुपसर्गाद्वा" (१।३।४३) सूत्रमें कही हुई विभाषा क्या प्राप्तविभाषा है, अथवा अप्राप्तविभाषा है, अथवा उभयत्रविभाषा है, ऐसा संदेह पैदा होता है।

परन्तु प्राप्तविभाषा कैसे, और अप्राप्तविभाषा कैसे, और उभयत्रविभाषा कैसे हो सकती है?

"वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः" (१।३।३८) सूत्रसे नित्य आत्मनेपद प्राप्त होनेपर (वहाँ उससे विकल्प किया तो) प्राप्तविभाषा होती है, अन्य स्थानोंपर ही (इससे विकल्प किया तो) अप्राप्तविभाषा होती है, और दोनों स्थानोंपर (विकल्प किया तो) उभयत्रविभाषा होती है।

परन्तु यहाँ अप्राप्तविभाषा ही समझी जाय। क्योंकि यहाँ 'वृत्तिसर्गतायनेषु' पदकी अनुवृत्ति नहीं है।

(वा. २०५) "विभाषा वृक्षमृग०" (२।४।१२) सूत्रमें कही हुई

---

१९ क्योंकि यहाँ 'गन्धने' की अनुवृत्ति है।

२०. जहाँ 'गन्धन' अर्थ न हो वहाँ। यहाँ 'गन्धने' की अनुवृत्ति नहीं है और 'गन्धन' अर्थ होनेपर पूर्वविप्रतिषेधसे नित्य विकल्प होता है।

२१. 'गन्धने' की अनुवृत्ति नहीं, और पूर्वप्रतिषेध भी नहीं है।

२२. यहाँ 'वृत्तिसर्गतायनेषु' पदकी अनुवृत्ति की जाती है वहाँ यह विकल्प होता है।

२३ जहाँ वृत्ति, सर्ग, तायन ये अर्थ न हो वहाँ। यहाँ 'वृत्तिसर्गतायनेषु' की अनुवृत्ति नहीं है। और 'वृत्ति'-आदि अर्थ हों तो पूर्वप्रतिषेधसे नित्य आत्मनेपद ही होता है।

२४. 'वृत्तिसर्गतायनेषु' की अनुवृत्ति नहीं, और पूर्वप्रतिषेध भी नहीं है।

कथं वोभयत्र । जातिरप्राणिनाम् [२.४.६] इति वा नित्ये प्राप्ते ऽन्यत्र वाऽप्राप्त उभयत्र वेति । अप्राप्ते । जातिरप्राणिनामिति निवृत्तम् ॥

उपविदजागृभ्यो ऽन्यतरस्याम् [३.१.३८] ॥ २०-६ ॥

प्राप्ते ऽप्राप्त उभयत्र वेति संदेहः । कथं च प्राप्ते कथं वाप्राप्ते कथं वोभयत्र । प्रत्ययान्तादिति वा नित्ये प्राप्ते ऽन्यत्र वाप्राप्त उभयत्र वेति । अप्राप्ते ।

विभाषा क्या प्राप्तविभाषा है, अथवा अप्राप्तविभाषा है, अथवा उभयत्रविभाषा है, ऐसा संदेह पैदा होता है ।

परन्तु यह प्राप्तविभाषा कैसे, अप्राप्तविभाषा कैसे, और उभयत्रविभाषा कैसे हो सकती है ?

" जातिरप्राणिनाम् " (२।४।६) सूत्रसे नित्य (एकवद्भाव) प्राप्त होनेपर (वहीं इससे विकल्प[25] किया तो) प्राप्तविभाषा होती है, अन्य स्थानोंपर ही (इससे विकल्प किया तो) अप्राप्तविभाषा होती है, और दोनों स्थानोंपर[26] (विकल्प किया तो) उभयत्रविभाषा होती है ।

परन्तु यहाँ अप्राप्तविभाषा ही समझी जाय । क्योंकि ' जातिरप्राणिनाम् ' पदकी अनुवृत्ति यहाँ नहीं[27] है ।

(वा. २०६) " उपविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम् " (३।१।३८) सूत्रमें कही हुई विभाषा क्या प्राप्तविभाषा है, अथवा अप्राप्तविभाषा है, अथवा उभयत्रविभाषा है, ऐसा संदेह पैदा होता है ।

परन्तु प्राप्तविभाषा कैसे, अप्राप्तविभाषा कैसे, और उभयत्रविभाषा कैसे हो सकती है ?

(प्रत्ययान्त धातु है वहाँ) प्रत्ययान्त धातुओंके आगे नित्य आम् प्रत्यय (३।१।३५) प्राप्त होनेपर (वहीं इससे विकल्प[28] किया तो) प्राप्तविभाषा होती है, अन्य स्थानोंपर ही (इससे विकल्प किया तो) अप्राप्तविभाषा होती है, और दोनों स्थानोंपर (विकल्प[29] किया तो) उभयत्रविभाषा होती है ।

---

२५. क्योंकि यहाँ ' जातिरप्राणिनाम् ' की अनुवृत्ति है । वृक्ष, मृग इत्यादि शब्दोंसे उनकी प्रतिकृतियाँ ली गयीं तो वे अप्राणि हो सकती हैं ।

२६. वृक्ष, मृग इत्यादि मुख्य और उनकी प्रतिकृतियाँ दोनों स्थलोंमें । यहाँ ' जातिरप्राणिनाम् ' की अनुवृत्ति नहीं है ।

२७. और वृक्ष, मृग इत्यादिकी प्रतिकृतियाँ लेनेके लिए प्रमाण नहीं है ।

२८. यहाँभी ' प्रत्ययात् ' पदका संबंध है ऐसा मान लिया तो ।

२९. यहाँ ' प्रत्ययात् ' का संबंध नहीं । और उष, विद इत्यादि धातुएँ और वे ही प्रत्ययान्त धातुएँ ये एकरूप ही हैं ऐसा मान लिया है ।

प्रत्ययान्ता धात्वन्तराणि ॥

दीपादीनां विभाषा [३.१.६१] ॥ २०-७ ॥

प्राप्ते ऽप्राप्त उभयत्र वेति संदेहः । कथं च प्राप्ते कथं वाप्राप्ते कथं वोभयत्र । भावकर्मणोः [३. १. ६६] इति वा नित्ये प्राप्ते ऽन्यत्र वाप्राप्त उभयत्र वेति । अप्राप्ते । कर्तरीति हि वर्तते । एवमपि संदेहो न्याय्ये वा कर्तरि कर्मकर्तरि वेति । नास्ति संदेहः । सकर्मकस्य कर्ता कर्मवद्भवत्यकर्मकाश्च दीपादयः ।

परन्तु यहाँ अप्राप्तविभाषा ही समझी जाय। (क्यों कि उष्, विद्, जागृ इन मूल धातुओंसे, इन्हीं धातुओंके आगे) प्रत्यय लगाकर बनी हुई धातुएँ (अत्यन्त) भिन्न हैं।

(वा. २०७) "दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम्" (३।१।६१) सूत्रमें कही हुई विभाषा क्या प्राप्तविभाषा है, अथवा अप्राप्तविभाषा है, अथवा उभयत्रविभाषा है, ऐसा संदेह पैदा होता है।

परन्तु प्राप्तविभाषा कैसे, अप्राप्तविभाषा कैसे, और उभयत्रविभाषा कैसे हो सकती है?

"भावकर्मणोः" (३।१।६६) सूत्रसे नित्य (चिण् प्रत्यय) प्राप्त होनेपर (वहीं इससे विकल्प किया तो यह) प्राप्तविभाषा होती है, अन्य स्थानोंपर ही (इससे विकल्प किया तो यह) अप्राप्तविभाषा होती है, और दोनों स्थानोंपर (विकल्प किया तो) उभयत्रविभाषा होती है।

परन्तु यहाँ अप्राप्तविभाषा ही समझी जाय। क्योंकि ('दीपजन०' सूत्रमें) 'कर्तरि' की अनुवृत्ति है।

तो भी संदेह पैदा होता है कि (वह कर्ता) योग्य कर्ता ही चाहिये, अथवा[11] कर्म हो वा अन्य कोई हो, कर्ता होना मात्र पर्याप्त होगा?

यहाँ यह संदेह पैदा नहीं होता है। क्योंकि सकर्मक धातुओंके ही कर्ताको कर्मवद्भाव होता है। और दीप्, जन् इत्यादि धातुएं तो अकर्मक ही हैं।

मूल अकर्मक होनेपर भी उपसर्ग लगानेपर सकर्मक होती हैं न[12]?

---

१०. 'चिण्भावकर्मणोः' यहाँ 'दीपजन०' सूत्र उपस्थित करके वहाँ 'भावकर्मणोः'का संबंध करके स्वतंत्र वाक्यार्थ किया तो वह 'प्राप्तविभाषा' होती है, और स्वदेशमें ही वाक्यार्थ किया और उसमें 'भावकर्मणोः'-का और 'कर्तरि'-का संबंध न किया गया तो वह 'उभयत्र-विभाषा' होती है।

११. कर्म, कारण इत्यादिकी कर्तृत्वविवक्षा की तो जो कर्ता होता है वह किसी प्रकारका अर्थात् काम-चलाऊ कर्ता होता है।

१२. तथा 'बुद्' धातु मूलतः सकर्मक है न?

अकर्मका अपि वै सोपसर्गाः सकर्मका भवन्ति। कर्मापदिष्टा विधयः कर्मस्थभावकानां कर्मस्थक्रियाणां वा भवन्ति कर्तृस्थभावकाश्च दीपादयः॥

विभाषाग्रे प्रथमपूर्वेषु [३.४.२४] ॥ २०-८ ॥

प्राप्ते ऽप्राप्ते उभयत्र वेति संदेहः। कथ च प्राप्ते कथं वाप्राप्ते कथं वोभयत्र। आभीक्ष्ण्ये [३.४.२२] इति वा नित्ये प्राप्ते ऽन्यत्र वाप्राप्त उभयत्र वेति। अप्राप्ते। आभीक्ष्ण्य इति निवृत्तम्॥

तृनादीनां विभाषा [६.२.१६१] ॥ २०-९ ॥

प्राप्ते ऽप्राप्त उभयत्र वेति संदेहः। कथं च प्राप्ते कथं वाप्राप्ते कथं वोभयत्र।

कर्मवद्भावसे होनेवाले यक्, चिण् इत्यादि कार्य कर्मस्थभावक[33] अथवा कर्मस्थक्रियक धातुएँ हों तभी होते हैं; और दीप्, जन् इत्यादि धातुएँ तो कर्तृस्थभावक ही है।

(वा. २०-८) "विभाषाऽग्रेप्रथमपूर्वेषु" (३।४।२४) सूत्रमें कही हुई विभाषा प्राप्तविभाषा है, अथवा अप्राप्तविभाषा है, अथवा उभयत्रविभाषा है, ऐसा संदेह पैदा होता है।

परंतु प्राप्तविभाषा कैसे, अप्राप्तविभाषा कैसे, और उभयत्रविभाषा कैसे हो सकती है?

"आभीक्ष्ण्ये०" (३।४।२२) सूत्रसे (णमुल् प्रत्यय नित्य प्राप्त होनेपर (वहीं इससे विकल्प किया तो प्राप्तविभाषा[34] होती है, अन्य स्थानोंपर ही (इससे विकल्प[35] किया तो) अप्राप्तविभाषा होती है, और दोनों स्थानोंपर[36] (विकल्प किया तो) उभयत्रविभाषा होती है।

परंतु यहाँ अप्राप्तविभाषा ही समझी जाय। क्योंकि 'आभीक्ष्ण्ये०' पदकी अनुवृत्ति यहाँ नहीं है।

(वा. २०.९) "विभाषा तृन्नन्नतीक्ष्णशुचिषु" (६।२।१३१) सूत्रमें कही हुई विभाषा प्राप्तविभाषा है, अथवा अप्राप्तविभाषा है, अथवा उभयत्रविभाषा है, ऐसा संशय पैदा होता है।

परंतु प्राप्तविभाषा कैसे, अप्राप्तविभाषा कैसे और उभयत्रविभाषा कैसे हो सकती है?

---

३३. आगे (३।१।८७ वा. ३) देखिये।

३४. 'विभाषाग्रे०'में 'आभीक्ष्ण्ये'का संबंध किया गया तो यह प्राप्तविभाषा होती है।

३५. और यहाँ 'आभीक्ष्ण्ये' का संबंध न करके 'आभीक्ष्ण्य' अर्थ होनेपर 'पूर्वविप्रतिषेध'से नित्यही णमुल्-प्रत्यय होता है ऐसा मान लिया तो।

३६. और पूर्वविप्रतिषेध नहीं लिया तो।

आक्रोशे [६.२.१५८] इति वा नित्ये प्राप्तेऽन्यत्र वाप्राप्ते उभयत्र वेति। अप्राप्ते। आक्रोश इति निवृत्तम्॥

एकहलादौ पूरयितव्ये ऽन्यतरस्याम् [५.३.५९] ॥ २०-१० ॥

प्राप्ते ऽप्राप्त उभयत्र वेति संदेहः। कथं च प्राप्ते कथं वाप्राप्ते कथं वोभयत्र। उदकस्योदः संज्ञायाम् [६.३.५७] इति वा नित्ये प्राप्ते ऽन्यत्र वाप्राप्त उभयत्र वेति। अप्राप्ते। संज्ञायामिति निवृत्तम्॥

श्वादेरिञि, पदान्तस्यान्यतरस्याम् [७.३.८, ९] ॥ २०-११ ॥

'आक्रोशे च' (६।२।१५८) सूत्रसे (उत्तरपदको अन्त उदात्त) नित्य प्राप्त होनेपर (वहीं उससे विकल्प किया तो) प्राप्तविभाषा होती है, अन्य स्थानोंपर ही (इससे विकल्प किया तो) अप्राप्तविभाषा होती है, और दोनों स्थानोंपर (विकल्प किया तो) उभयत्रविभाषा होती है।

परन्तु यहाँ अप्राप्तविभाषा ही मानी जाय। क्योंकि 'आक्रोशे' पदकी अनुवृत्ति यहाँ नहीं है।

(वा. २०.१०) 'एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम्' (६।३।५९) सूत्रमें कही हुई विभाषा क्या प्राप्तविभाषा है, अथवा अप्राप्तविभाषा है, अथवा उभयत्रविभाषा है?

परन्तु प्राप्तविभाषा कैसे, अप्राप्तविभाषा कैसे, और उभयत्रविभाषा कैसे हो सकती है।

"उदकस्योदः संज्ञायाम्" (६।३।५७) सूत्रसे नित्य 'उद' आदेश प्राप्त होनेपर (वहीं इससे विकल्प किया तो यह) प्राप्तविभाषा होती है, अन्य स्थानोंपर ही (इससे विकल्प किया तो यह) अप्राप्तविभाषा होती है, और दोनों स्थानोंपर (विकल्प किया तो) उभयत्रविभाषा होती है।

परंतु यहाँ अप्राप्तविभाषा ही समझी जाय। क्योंकि 'संज्ञायाम्' पदकी अनुवृत्ति यहाँ नहीं है।

(वा. २०.११) "श्वादेरिञि" (७।३।८) और "पदान्तस्यान्यतरस्याम्"

---

१७. क्योंकि यहाँ 'आक्रोशे'-का संबंध मान लिया है।

१८. और 'आक्रोशे च' (६।२।१५८) यहाँ पूर्वसूत्रसे 'अचः' पदकी अनुवृत्ति है। अतः नित्यविधि और विकल्पविधि दोनोंकी एकत्र प्राप्ति ही नहीं होती।

१९. 'संज्ञायाम्' पदकी यहाँ अनुवृत्ति मान ली है। जब 'संज्ञायाम्'की अनुवृत्ति यहाँ की नहीं और संज्ञा रहनेपर पूर्वविप्रतिषेधसे नित्य ही 'उद' आदेश होता है ऐसा मान लिया तो यह अप्राप्तविभाषा होती है, और पूर्वविप्रतिषेध नहीं लिया गया तो उभयत्रविभाषा होती है।

प्राप्ते ऽप्राप्त उभयत्र वेति संदेहः। कथं च प्राप्ते कथं वाप्राप्ते कथं वोभयत्र। इञीति वा नित्ये प्राप्ते ऽन्यत्र वाप्राप्त उभयत्र वेति। अप्राप्ते। इञीति निवृत्तम्॥

सपूर्वायाः प्रथमाया विभाषा [८.१.२६]॥ २०-१२॥

प्राप्ते ऽप्राप्त उभयत्र वेति संदेहः। कथं च प्राप्ते कथं वाप्राप्ते कथं वोभयत्र। चादिभिर्योग इति वा नित्ये प्राप्ते ऽन्यत्र वाप्राप्त उभयत्र वेति।

(पा. ७।३।९) इन सूत्रोंमें कही हुई विभाषा क्या प्राप्तविभाषा है, अथवा अप्राप्तविभाषा है, अथवा उभयत्रविभाषा है ऐसा संदेह प्राप्त होता है।

परंतु प्राप्तविभाषा कैसे, अप्राप्तविभाषा कैसे और उभयत्रविभाषा कैसे हो सकती है?

('इञि' पदकी अनुवृत्ति यहाँ लायी जानेपर) 'इञ्' आगे हो तब (ऐच् आगम) नित्य प्राप्त होनेपर (वहीं इससे विकल्प किया तो) प्राप्तविभाषा होती है, (अनुवृत्ति न लाकर) अन्य स्थानोंपर ही (विकल्प किया तो) अप्राप्तविभाषा होती है, और दोनों स्थानोंपर (विकल्प किया तो) उभयत्रविभाषा होती है।

परंतु यहाँ अप्राप्तविभाषा ही समझी जाय। क्योंकि 'इञि' पदकी अनुवृत्ति यहाँ नहीं है।

(वा. २०.१२) "सपूर्वायाः प्रथमाया विभाषा" (८।१।२६) सूत्रमें कही हुई विभाषा क्या प्राप्तविभाषा है, अथवा अप्राप्तविभाषा है, अथवा उभयत्रविभाषा है, यह संदेह पैदा होता है।

परन्तु प्राप्तविभाषा कैसे, अप्राप्तविभाषा कैसे, और उभयत्रविभाषा कैसे, हो सकती है?

च, वा इत्यादिका योग होनेपर (बताया हुआ—८।१।२४—वाम्, नौ इत्यादि आदेशोंका निषेध) नित्य प्राप्त होनेपर (वहीं इससे विकल्प किया तो) प्राप्तविभाषा होती है, अन्य स्थानोंपर ही (इससे विकल्प किया तो) अप्राप्तविभाषा होती है, और दोनों स्थानोंपर (विकल्प किया तो) उभयत्रविभाषा होती है।

---

४० और 'इञ्' प्रत्यय किया जानेपर पूर्वविप्रतिषेधसे नित्य ही निषेध होता है ऐसा मान लिया तो इस तरह आगे भी नित्यविधिका जो निमित्त है उसकी अनुवृत्ति न करके और नित्यविधिसे पूर्वविप्रतिषेधके कारण विकल्पविधिका बाध होता है ऐसा समझ लिया तो अप्राप्तविभाषा हो सकती है, और पूर्वविप्रतिषेध नहीं लिया तो उभयत्रविभाषा हो सकती है ऐसा समझा जाय।

अप्राप्ते। चादिभिर्योग इति निवृत्तम्॥

ग्रो यङि, अचि विभाषा [८.२.२०,२१] ॥ २०·१३ ॥

प्राप्ते ऽप्राप्त उभयत्र वेति संदेहः। कथं च प्राप्ते कथं वाप्राप्ते कथं वोभयत्र। यङीति वा नित्ये प्राप्ते ऽन्यत्र वाप्राप्त उभयत्र वेति। अप्राप्ते। यङीति निवृत्तम्॥

प्राप्ते च ॥ २१ ॥

इत उत्तरं या विभाषा अनुक्रमिष्यामः प्राप्ते ता द्रष्टव्याः। निःसंशयास्तु भवन्ति प्राप्ते ऽप्राप्त उभयत्र वेति॥

विभाषा विप्रलापे [१.३.५०] ॥ २१·१ ॥

प्राप्ते ऽप्राप्त उभयत्र वेति संदेहः। कथं च प्राप्ते कथं वाप्राप्ते कथं

परंतु यहाँ अप्राप्तविभाषा ही समझी जाय। क्योंकि 'चवाहाहैवयुक्ते' पदकी अनुवृत्ति यहाँ नहीं है[४१]।

(वा. २०·१३) "ग्रो यङि" (८।२।२०) और "अचि विभाषा" (८।२।२१) इन सूत्रोंमें कही हुई विभाषा क्या प्राप्तविभाषा है, अथवा अप्राप्तविभाषा है, अथवा उभयत्रविभाषा है, यह संदेह पैदा होता है।

परन्तु प्राप्तविभाषा कैसे, अप्राप्तविभाषा कैसे, और उभयत्रविभाषा कैसे हो सकती है?

'यङि' पदकी अनुवृत्ति लाकर (पूर्वसूत्रसे 'ल' आदेश) नित्य प्राप्त होनेपर (वहीं इससे विकल्प किया तो) प्राप्तविभाषा होती है[४२], अन्य स्थानोंपर ही (विकल्प किया तो) अप्राप्तविभाषा होती है, और दोनों स्थानोंपर (विकल्प किया तो) उभयत्र-विभाषा होती है।

परन्तु यहाँ अप्राप्तविभाषा ही समझी जाय। क्योंकि 'यङि' पदकी अनुवृत्ति यहाँ नहीं है।

(वा. २१) इसके आगे प्राप्तविभाषाएँ।

यहाँसे आगे हम जो विभाषाएँ क्रमसे कहनेवाले हैं वे प्राप्तविभाषाएँ मानी जायँ। परंतु यहाँ प्राप्तविभाषा, अथवा अप्राप्तविभाषा, अथवा उभयत्रविभाषा इन तीनों प्रकारकी विभाषाओंके बारेमें संदेह पैदा होता है।

(वा. २१·१) "विभाषा विप्रलापे" (१।३।५०) सूत्रमें कही हुई विभाषा क्या प्राप्तविभाषा है, अथवा अप्राप्तविभाषा है, अथवा उभयत्रविभाषा है यह संदेह पैदा

---

४१. और च वा इत्यादिका योग रहनेपर पूर्वविप्रतिषेधसे नित्य ही निषेध होता है।

४२. 'निजेगिलः' यहाँ प्रत्ययलक्षणसे 'यङ्' माने है और आगे 'अच्' भी है।

४३. 'निजेगिलः' यहाँ 'न लुमताङ्गस्य' (१।१।६३) इस निषेधसे प्रत्ययलक्षण नहीं होता।

वोभयत्र। व्यक्तवाचाम् [१.३.४८] इति वा नित्ये प्राप्ते ऽन्यत्र वाप्राप्त उभयत्र वेति। प्राप्ते। व्यक्तवाचामिति हि वर्तते॥

विभाषोपपदेन प्रतीयमाने [१.३.७७]॥ २१.२॥

प्राप्ते ऽप्राप्त उभयत्र वेति संदेहः। कथं च प्राप्ते कथं वाप्राप्ते कथं वोभयत्र। स्वरितञितः [१.३.७२] इति वा नित्ये प्राप्ते ऽन्यत्र वाप्राप्त उभयत्र वेति। प्राप्ते। स्वरितञित इति हि वर्तते॥

तिरो ऽन्तर्धौ, विभाषा कृञि [१.४,७१,७२]॥ २१.३॥

प्राप्ते ऽप्राप्त उभयत्र वेति संदेहः। कथं च प्राप्ते कथं वाप्राप्ते कथं

होता है।

परंतु प्राप्तविभाषा कैसे, अप्राप्तविभाषा कैसे, और उभयत्रविभाषा कैसे हो सकती है?

"व्यक्तवाचां समुच्चारणे" (१।३।४८) सूत्रसे नित्य (आत्मनेपद) प्राप्त होनेपर (वहीं इससे विकल्प किया तो) प्राप्तविभाषा होती है, अन्य स्थानोंपर ही (इससे विकल्प किया तो) अप्राप्तविभाषा होती है, और दोनों स्थानोंपर (विकल्प किया तो) उभयत्रविभाषा होती है।

(परंतु यहाँ) प्राप्त विभाषा ही (समझी जाय)। क्योंकि 'व्यक्तवाचाम्' पदकी अनुवृत्ति यहाँ है।

(वा. २१.२) "विभाषोपपदेन प्रतीयमाने" (१।३।७७) सूत्रमें कही हुई विभाषा क्या प्राप्तविभाषा है, अथवा अप्राप्तविभाषा है, अथवा उभयत्रविभाषा है, यह संदेह पैदा होता है।

परन्तु प्राप्तविभाषा कैसे, अप्राप्तविभाषा कैसे, और उभयत्रविभाषा कैसे हो सकती है?

"स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले" (१।३।७२) सूत्रसे नित्य (आत्मनेपद) प्राप्त होनेपर (वहीं इससे विकल्प किया तो) प्राप्तविभाषा होती है, अन्य स्थानोंपरही (इससे विकल्प किया तो) अप्राप्तविभाषा होती है, और दोनों स्थानोंपर (विकल्प किया तो) उभयत्रविभाषा होती है।

(परन्तु यहाँ) प्राप्तविभाषा ही (समझी जाय)। क्योंकि 'स्वरितञितः०' इस सब सूत्रकी अनुवृत्ति यहाँ है।

(वा. २१.३) "तिरोऽन्तर्धौ" (१।४।७१) और "विभाषा कृञि" (१।४।७२) इन सूत्रोंमें कही हुई विभाषा प्राप्तविभाषा है, अथवा अप्राप्तविभाषा है, अथवा उभयत्रविभाषा है, यह संदेह पैदा होता है।

परन्तु प्राप्तविभाषा कैसे, अप्राप्तविभाषा कैसे, और उभयत्रविभाषा कैसे हो

वोभयत्र। अन्तर्धाविति वा नित्ये प्राप्ते ऽन्यत्र वाप्राप्त उभयत्र वेति। प्राप्ते। अन्तर्धाविति हि वर्तते ॥

अधिरीश्वरे, विभाषा कृञि [१.४.९७,९८] ॥ २१-४ ॥

प्राप्ते ऽप्राप्त उभयत्र वेति संदेहः। कथं च प्राप्ते कथं वाप्राप्ते कथं वोभयत्र। ईश्वर इति वा नित्ये प्राप्ते ऽन्यत्र वाप्राप्त उभयत्र वेति। प्राप्ते। ईश्वर इति हि वर्तते ॥

द्विवस्तदर्थस्य, विभाषोपसर्गे [२.३.५८,५९] ॥ २१-५ ॥

प्राप्ते ऽप्राप्त उभयत्र वेति संदेहः। कथं च प्राप्ते कथं वाप्राप्ते कथं

सकती है ?

अन्तर्धि अर्थ गम्यमान होनेपर (पूर्वसूत्रसे गतिसंज्ञा) नित्य प्राप्त होनेपर (वहीं इससे विकल्प किया तो) प्राप्तविभाषा होती है, अन्य स्थानोंपर ही (विकल्प किया तो) अप्राप्तविभाषा होती है, और दोनों स्थानोंपर (विकल्प किया तो) उभयत्रविभाषा होती है ?

(परन्तु यहाँ) प्राप्तविभाषा ही (समझी जाय)। क्योंकि 'अन्तर्धौ' पदकी अनुवृत्ति यहाँ है।

(वा. २१ ४) "अधिरीश्वरे" (१।४।९७) और "विभाषा कृञि" (१।४।९८) इन सूत्रोंमें कही हुई विभाषा प्राप्तविभाषा है, अथवा अप्राप्तविभाषा है, अथवा उभयत्रविभाषा है, यह संदेह पैदा होता है।

परन्तु प्राप्तविभाषा कैसे, अप्राप्त विभाषा कैसे, और उभयत्रविभाषा कैसे हो सकती है ?

ईश्वर अर्थ गम्यमान होनेपर (पूर्वसूत्रसे 'कर्मप्रवचनीय' संज्ञा) नित्य प्राप्त होनेपर (वहीं इससे विकल्प किया तो) प्राप्तविभाषा होती है, अन्य स्थानोंपर (विकल्प किया तो) अप्राप्तविभाषा होती है, और दोनों स्थानोंपर (विकल्प किया तो) उभयत्र विभाषा होती है।

(परन्तु यहाँ) प्राप्तविभाषा ही (समझी जाय)। क्योंकि 'ईश्वरे' पदकी अनुवृत्ति यहाँ है।

(वा. २१ ५) "दिवस्तदर्थस्य" (२।३।५८) और "विभाषोपसर्गे" (२।३।५९) इन सूत्रोंमें कही हुई विभाषा क्या प्राप्तविभाषा है, अथवा अप्राप्तविभाषा है, अथवा उभयत्रविभाषा है, यह संदेह पैदा होता है।

परन्तु प्राप्तविभाषा कैसे, अप्राप्तविभाषा कैसे, और उभयत्रविभाषा कैसे हो सकती है ?

वोभयत्र। तदर्थस्येति वा नित्ये प्राप्ते ऽन्यत्र वाप्राप्त उभयत्र वेति। प्राप्ते। तदर्थस्येति हि वर्तते॥

उभयत्र च ॥ २२ ॥

इत उत्तर या विभाषा अनुक्रमिष्याम उभयत्र ता द्रष्टव्या। त्रिसशयास्तु भवन्ति प्राप्ते ऽप्राप्त उभयत्र वेति॥

हृक्रोरन्यतरस्याम् [१. ४. ५३] ॥ २२-१ ॥

प्राप्ते ऽप्राप्त उभयत्र वेति सदेह। कथ च प्राप्ते कथ वाप्राप्ते कथ वोभयत्र। गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणाम् [१ ४ ५२] इति वा नित्ये प्राप्ते ऽन्यत्र वाप्राप्त उभयत्र वेति। उभयत्र। प्राप्ते तावत्। अभ्यवहारयति

'दिवस्तदर्थस्य' इस पूर्वसूत्रसे (षष्ठी) नित्य प्राप्त होनेपर (वहीं इससे विकल्प किया तो) प्राप्तविभाषा होती ह, अन्य स्थानोंपर ही (इससे विकल्प किया तो) अप्राप्तविभाषा होती ह, और दोनों स्थानोंपर (विकल्प किया तो) उभयत्रविभाषा होती है।

(परन्तु यहा) प्राप्तविभाषा ही (समझी जाय)। क्योंकि 'तदर्थस्य' पदकी अनुवृत्ति यहाँ है।

(वा २२) (यहाँसे आगे) **उभयत्रविभाषा।**

यहाँसे आगे हम जो विभाषाएँ क्रमसे कहनेवाले है उन्हें उभयत्रविभाषाएँ मानी जायँ। परन्तु यहाँ प्राप्तविभाषा, अथवा अप्राप्तविभाषा अथवा उभयत्रविभाषा इन तीनों प्रकारकी विभाषाओंके बारेमें सदेह पैदा होता है।

(वा २२१) "हृक्रोरन्यतरस्याम्" (१।४।५३) सूत्रमें कही हुई विभाषा प्राप्तविभाषा है, अथवा अप्राप्तविभाषा है, अथवा उभयत्रविभाषा है, यह सदेह पैदा होता है।

परन्तु प्राप्तविभाषा कैसे, अप्राप्तविभाषा कैसे, और उभयत्रविभाषा कैसे हो सकती है।

'गतिबुद्धि०' (१ ४ ५२) इस पूर्वसूत्रसे (कर्मसज्ञा) नित्य प्राप्त होनेपर (वहीं इससे विकल्प किया तो) प्राप्तविभाषा होती है, अन्य स्थानोंपर ही (इससे विकल्प किया तो) अप्राप्तविभाषा होती है, और दोनों स्थानोंपर (विकल्प किया तो) उभयत्रविभाषा होती है।

(परतु यहा) उभयत्रविभाषा ही (समझी जाय)। उनमेंसे (कर्मसज्ञा) प्राप्त होकर (प्रकृत सूत्रमे उसका विकल्प होनेका उदाहरण)— 'अभ्यवहारयति

४४ यहाँ 'हृ' धातुका 'प्रत्यवसान' (भक्षण) अर्थ होनेसे 'गतिबुद्धि० (१।४।५२) सूत्रसे कर्ताको नित्य कर्मसंज्ञा प्राप्त होती है।

सैन्धवान् अभ्यवहारयति सैन्धवैः । विकारयति सैन्धवान् विकारयति सैन्धवैः । अप्राप्ते । हरति भारं देवदत्तः हारयति भारं देवदत्तम् हारयति भारं देवदत्तेन । करोति कटं देवदत्तः कारयति कटं देवदत्तम् कारयति कटं देवदत्तेन ॥

न यदि, विभाषा साकाङ्क्षे [३. २. ११३, ११४] ॥ २२२ ॥

प्राप्ते ऽप्राप्ते उभयत्र वेति संदेहः । कथं च प्राप्ते कथं वाप्राप्ते कथं वोभयत्र । यदीति वा नित्ये प्राप्ते ऽन्यत्र वाप्राप्ते उभयत्र वेति । उभयत्र । प्राप्ते तावत् । अभिजानासि देवदत्त यत्कश्मीरेषु वत्स्यामः । यत्कश्मीरेष्ववसाम । यत्तत्रौदनान्भोक्ष्यामहे । यत्तत्रौदनानभुञ्ज्महि । अप्राप्ते । अभिजानासि देवदत्त कश्मीरान्गमिष्यामः । कश्मीरानगच्छाम । तत्रौदनान्भोक्ष्यामहे । तत्रौदनान-

---

सैन्धवान्', 'अभ्यवहारयति सैन्धवैः'। 'विकारयति सैन्धवान्', विकारयति सैन्धवैः'। अब कर्मसंज्ञा अप्राप्त होनेपर (प्रकृत सूत्रसे उसका विकल्प होनेका उदाहरण)—'हरति भारं देवदत्तः' (इसका प्रयोजक)—'हारयति भारं देवदत्तम्', हारयति भारं देवदत्तेन'। वैसेही 'करोति कटं देवदत्तः' (इसका प्रयोजक)—'कारयति कटं देवदत्तम्', 'कारयति कटं देवदत्तेन'।

(वा २२२) "न यदि" (३।२।११३) और "विभाषा साकाङ्क्षे" (३।२।११४) इन सूत्रोंमें कही हुई विभाषा प्राप्तविभाषा है, अथवा अप्राप्तविभाषा है, अथवा उभयत्रविभाषा है, यह संदेह पैदा होता है।

परंतु प्राप्तविभाषा कैसे, अप्राप्तविभाषा कैसे, और उभयत्रविभाषा कैसे हो सकती है?

'न यदि' इस पूर्वसूत्रसे (लृट् प्रत्ययका निषेध) नित्य प्राप्त होनेपर (वहाँ इससे विकल्प किया तो) प्राप्तविभाषा होती है, अन्य स्थानोंपर ही (इससे विकल्प किया तो) अप्राप्तविभाषा होती है, और दोनों स्थानोंपर विकल्प किया तो) उभयत्र विभाषा होती है।

(परंतु यहाँ) उभयत्रविभाषा ही (समझी जाय)। उनमेंसे (लृट् प्रत्ययका निषेध) नित्य प्राप्त होकर (विकल्प होनेका उदाहरण)—'अभिजानासि देवदत्त यत्कश्मीरेषु वत्स्यामः', 'यत् कश्मीरेष्ववसाम'। 'यत्तत्रौदनान् भोक्ष्यामहे', 'यत्तत्रौदनान् अभुञ्ज्महि'। अब (लृट् प्रत्ययका निषेध) अप्राप्त होनेपर (वहाँ प्रकृत सूत्रसे विकल्प होनेका उदाहरण)—'अभिजानासि देवदत्त कश्मीरान् गमिष्यामः'। कश्मीरान्

४० यहाँ 'हिनस्ति' अर्थमें 'कृ' धातु वर्तमान है, इसलिए 'अभ्युदय' सूत्रसे हिन्दमें को नित्य कर्मसंज्ञा प्राप्त होती है।

भुञ्ज्महि ॥

विभाषा श्वेः [६. १. ३०]॥ २२-३ ॥

प्राप्ते ऽप्राप्त उभयत्र वेति संदेह॰। कथ च प्राप्ते कथ वाप्राप्ते कथ वोभयत्र। कितीति वा नित्ये प्राप्ते ऽन्यत्र वाप्राप्त उभयत्र वेति। उभयत्र। प्राप्ते तावत्। शुशुवतुः शुशुवुः। शिश्वियतु शिश्वियु.। अप्राप्ते। शुशाव शुशविथ। शिश्वाय शिश्वयिथ॥

विभाषा संघुषास्वनाम् [७. २. २८]॥ २२-४ ॥

सपूर्वाद् घुषेः प्राप्ते ऽप्राप्त उभयत्र वेति संदेह.। कथ च प्राप्ते कथ वाप्राप्ते कथ वोभयत्र। घुषिरविशब्दने [७ २. २३] इति वा नित्ये प्राप्ते

अगच्छाम'। 'तत्रौदनान् भोक्ष्यामहे'। 'तत्रौदनान् अभुञ्ज्महि'।

(वा २२३) "विभाषा श्वे." (६।१।३०) सूत्रमें कही हुई विभाषा क्या प्राप्तविभाषा है, अथवा अप्राप्तविभाषा है, अथवा उभयत्रविभाषा है, यह संदेह पैदा होता है।

परतु प्राप्तविभाषा कैसे, अप्राप्तविभाषा कैसे, और उभयत्रविभाषा कैसे हो सकती है।

'कित्' प्रत्यय आगे हो तो बताया हुआ सप्रसारण (६।१।१५) नित्य प्राप्त होनेपर (वहीं इससे विकल्प किया तो) यह प्राप्तविभाषा होती है, अन्य स्थानोंपरहि (इससे विकल्प किया तो) अप्राप्तविभाषा होती है, और दोनों स्थानोंपर (विकल्प किया तो) उभयत्रविभाषा होती है ;

(परतु यहाँ) उभयत्रविभाषा ही (समझी जाय)। उनमेंमे (सप्रसारण) नित्य प्राप्त होनेपर (वहाँ प्रकृत सूत्रसे विकल्प होनेका उदाहरण—'शुशुवतु शुशुवु' 'शिश्वियतु. शिश्वियु'। अत्र (सप्रसारण) अप्राप्त होनेपर (वहाँ प्रकृत सूत्रसे विकल्प होनेका उदाहरण)—'शुशाव, शुशविथ', शिश्वाय, शिश्वयिथ।'

(वा २२४) ("रुष्यमत्वरसघुषास्वनाम्" (७।२।२८) सूत्रमें 'सम्'-उपसर्गपूर्वक 'घुष' धातुके आगेके निष्ठा प्रत्ययके 'इट्' आगमका निषेध विकल्पसे बताया गया है।) उस 'सम्' पूर्वक 'घुष्' धातुके बारेमें क्या वह प्राप्तविभाषा है, अथवा अप्राप्तविभाषा है, अथवा उभयत्रविभाषा है, यह संदेह पैदा होता है।

परन्तु प्राप्तविभाषा कैसे, अप्राप्तविभाषा कैसे, और उभयत्रविभाषा कैसे हो सकती है ?

"घुषिरविशब्दने" (७।२।२३) सूत्रमे ('इट्'–आगमका निषेध) नित्य प्राप्त होनेपर (वहीं इससे विकल्प किया तो) प्राप्तविभाषा होती है, अन्य स्थानोंपर ही

ऽन्यत्र वाप्राप्त उभयत्र वेति । उभयत्र । प्राप्ते तावत् । संघुष्टा रज्जुः संघुषिता रज्जुः । अप्राप्ते । संघुष्टं वाक्यम् संघुषितं वाक्यम् ॥ आङ्पूर्वात्स्वनेः प्राप्ते ऽप्राप्त उभयत्र वेति संदेहः । कथं च प्राप्ते कथं वाप्राप्ते कथं वोभयत्र । मनसीति वा नित्ये प्राप्ते ऽन्यत्र वाप्राप्त उभयत्र वेति । उभयत्र । प्राप्ते तावत् । आस्वान्तं मनः आस्वनित मनः । अप्राप्ते । आस्वान्तो देवदत्तः आस्वनितो देवदत्त इति ॥

इति श्रीभगवत्पतञ्जलिविरचिते व्याकरणमहाभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमे पादे षष्ठमाह्निकम् ॥

(इससे विकल्प किया तो) अप्राप्तविभाषा होती है, और दोनों स्थानोंपर (विकल्प किया तो) उभयत्रविभाषा होती है ।

(परन्तु यहाँ) उभयत्रविभाषा ही (समझी जाय ।) (उनमेंसे 'इट्' आगमका निषेध) नित्य प्राप्त होनेपर (वहाँ प्रकृत सूत्रसे विकल्प होनेका उदाहरण)— 'संघुष्टा रज्जुः' 'संघुषिता रज्जुः' । अब ('इट्' आगमका निषेध) अप्राप्त होनेपर वहाँ प्रकृतसूत्रसे विकल्प होनेका उदाहरण)—'संघुष्टं वाक्यं,' 'संघुषितं वाक्यम्' ।

(वैसेही इसी सूत्रसे, 'आ–'उपसर्गपूर्वक 'स्वन्' धातुके आगेके निष्ठाप्रत्ययके 'इट्' आगमका निषेध विकल्पसे बताया गया है ।) उस 'आ–' उपसर्गपूर्वक 'स्वन्' धातुके बारेमें क्या वह प्राप्तविभाषा है, अथवा अप्राप्तविभाषा है, अथवा उभयत्रविभाषा है ? यह संदेह प्राप्त होता है ।

परन्तु प्राप्तविभाषा कैसे, अप्राप्तविभाषा कैसे, और उभयत्रविभाषा कैसे हो सकती है ।

'मन' अर्थ हो तो ("क्षुब्धस्वान्त०"–७।२।१८–सूत्रसे 'इट्' आगमका निषेध) नित्य प्राप्त होनेपर (वहाँ प्रकृत सूत्रसे विकल्प किया तो) प्राप्तविभाषा होती है, अन्य स्थानोंपर ही (इससे विकल्प किया तो) अप्राप्तविभाषा होती है, और दोनों स्थानोंपर (इससे विकल्प किया तो) उभयत्रविभाषा होती है ।

(परन्तु यहाँ) उभयत्रविभाषा ही (मानी जाय) । (उनमेंसे 'इट्' आगमका निषेध) नित्य प्राप्त होनेपर (वहाँ प्रकृतसूत्रसे विकल्प होनेका उदाहरण)— 'आस्वान्तं मनः', 'आस्वनितं मनः' । अब ('इट्' आगम का निषेध) अप्राप्त होनेपर (वहाँ प्रकृत सूत्रसे विकल्प होनेका उदाहरण)— 'आस्वान्तो देवदत्तः' 'आस्वनितो देवदत्तः ॥'

इस प्रकार भगवान् पतञ्जलिके रचे हुए व्याकरणमहाभाष्यके पहले अध्यायके पहले पादका छठा आह्निक समाप्त हुआ ।

आगमादेशादिव्यवस्थानामकं सप्तममाह्निकम्।

आगमादेशादिव्यवस्थानामका सातवाँ आह्निक [अ १ पा १ आह्निक ७]

[आगमस्वरूपका विवेचन—इस आह्निकमें प्रथमतः सम्प्रसारणसंज्ञाका विचार किया है, और तदनन्तर संज्ञासूत्रोंका वाक्यार्थ करनेके लिए उपयुक्त तथा आवश्यक नियम सूत्रकारोंने दिये हैं। इन नियमोंको और सूत्रोंके आधारपर अनुमानसे निकलनेवाले तत्सदृश नियमोंको 'परिभाषा' यह अन्वर्थक संज्ञा बादमें दी गयी है। सम्प्रसारणसंज्ञा 'यकारके स्थानमें इकार होता है' इस स्वरूपकी वाक्यसंज्ञा है अथवा 'यकारके स्थानमें होनेवाले इकारको सम्प्रसारण कहा जाय' इस स्वरूपकी वर्णसंज्ञा है, इस विषयमें दोनों रीतियाँ विवक्षित हैं। वार्तिककारोंके इस मतका भाष्यकारने विवेचन किया है और इन दोनों प्रकारोंपर प्राप्त हुए दोषोंका निराकरण किया है। शब्द अनित्य हैं इस पक्षमें सम्प्रसारण आदेश और सम्प्रसारणसंज्ञाके बारेमें आनेवाला अन्योन्याश्रय दोष टाल देनेके लिए सम्प्रसारण 'भाविसंज्ञा' ली जाय ऐसा भी भाष्यकारने कहा है, और 'इस सूतकी साडी बुनो' यह लौकिक दृष्टान्त देकर सुन्दर शब्दोंमें अपने विधानका स्पष्टीकरण किया है। इसके बाद 'आद्यन्तौ टकितौ' (सू ४६) सूत्रका विवरण करते हुए भाष्यकारने शब्द नित्य होनेसे उनको आगम अर्थात् जोड कैसे लगाया जा सकता यह लौकिक कठिनाई उपस्थित की है और जहा जहाँ पाणिनिने आगम कहा है वहाँ वहा 'अनागमकानां सागमका आदेशाः' अर्थात् 'आगमरहित शब्दके स्थानमें आगमसहित शब्द शुद्ध है ऐसा समझा जाय' इस प्रकार उसका निराकरण किया है। फिर भाष्यकारने यहाँ यह भी कहा है कि, प्रस्तुत 'आद्यन्तौ टकितौ' सूत्रको संज्ञासूत्र न समझकर परिभाषासूत्र मान लिया जाय तो जहाँ यह शब्द उच्चारित हो कि जिसका ट् अथवा क् इत् है वहाँ इस सूत्रसे व्यवस्था हो जानेके कारण कोई भी दोष प्राप्त न होगा। सूत्रकार प्रथमतः शब्दके मूल स्वरूपका उपदेश करते हैं, तदनन्तर प्रत्ययका और उसके बाद आगमोंका तथा आदेशोंका उपदेश करते हैं, हेतु यह है कि सब वर्णन ध्यानमें आकर नित्य शब्दका स्वरूप ज्ञात हो जाय, परन्तु भाष्यकारने बताया है कि वास्तवमें नित्य शब्द ही सच्चा शब्द है, आगम, आदेश इत्यादि सब काल्पनिक हैं। यहाँ भाष्यकारने और भी एक स्पष्टीकरण यह दिया है कि प्रकृतसूत्र षष्ठीप्रकरणमें रखा जाय और षष्ठी अवयवषष्ठी ली जाय जिससे टित् वा कित् आगम जिसको कहा हो उसका वह आद्यावयव वा अन्त्यावयव हो सकेगा। इसके बाद मित् आगमके संबंधमें विचार प्रारम्भ करके कहा है कि अन्त्य स्वरके आगे मित् आगम लगाया जाय यह कहनेवाला 'मिदचोऽन्त्यात्परः' (सू १।१।४७) सूत्र 'षष्ठी स्थानेयोगा' (१।१।४९) सूत्रका और 'प्रत्ययः', 'परश्च' (३।१।१,२) सूत्रोंका अपवादसूत्र लेना है। ऐसा

कहकर भाष्यकारने यहाँ बताया है कि सामान्य और विशेष दोनोंकी एकसाथ प्राप्ति आकर विशेष शास्त्र होनेकी अशक्यता हो तभी तक्रकौण्डिन्यन्यायसे लोकव्यवहारके समान दोनों कार्योंकी शक्यता होकर दोनोंके स्वतन्त्र उदाहरण प्राप्त होते हुए भी अपवादकल्पना की जा सकती है और विशेषशास्त्र सामान्यशास्त्रका अपवाद हो सकता है।

आदेशविचार—'एच इग्घ्रस्वादेशे' (सू ४८) सूत्रसे लेकर 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' (सू ५५) सूत्रतक सूत्रकारोंने आदेशके विषयमें विचार किया है। 'एच इग्घ्रस्वादेशे' यहाँ स्थानसाम्यके कारण इ और उ ही ए ऐ ओ औ के ह्रस्व लिये जाते हैं, अधिक स्थानसाम्य हो तो भी अर्ध एकार और अर्ध ओकार नहीं लिये जाते हैं, क्योंकि अर्ध ओकार और अर्ध ओकार विशिष्टशास्त्रान्तर्गत वर्ण ही है। 'षष्ठी स्थानेयोगा' (४९) सूत्रसे षष्ठीके सामान्यतः यद्यपि कई अर्थ हों तो भी व्याकरणशास्त्रमें विशिष्ट कारणसे कुछ अपवादस्थल छोडकर स्थानेषष्ठी ही सर्वत्र ली जाय यह शास्त्रसंकेत है। जहाँ अवयवषष्ठी लेनी हो वहाँ 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः' न्यायके अनुसार वैसे ली जाय। अब व्याख्यानसे ही सर्वत्र काम चलना शक्य हो तो भी जब कि सूत्रकारोंने 'षष्ठी स्थानेयोगा' सूत्र किया है तो 'सूत्रमें स्थानीका उच्चारण किया गया हो उच्चारित शब्दस्वरूपको ही आदेश होते हैं, (निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति) यह उनकी कृतिसे ही सूचित हो जाता है। 'स्थानेऽन्तरतम' (सू ५०) सूत्रका यहाँ विशेषतः उपयोग होता है जहाँ स्थानी और आदेशका यथासंख्य निर्देश न हो ऐसा प्रथमतः भाष्यकारने बताया है, और बादमें 'अन्तरतमे' और 'अन्तरतम' इन दो पाठोंके कारण निर्माण होनेवाले स्थानियोंमेंसे चुनाव करके जो स्थानी अधिक सदृश हो उस स्थानीको आदेश किया जाय ऐसा अर्थ किया जाय, अथवा आदेशोंमें चुनाव करके जो आदेश अधिक सदृश हो वह किया जाय, इन दोनों पक्षोंका विवेचन करके और दूसरा पक्ष अधिक प्रशस्त है ऐसा बताकर प्रस्तुत सूत्र परिभाषासूत्र अर्थात् व्यवस्थापक सूत्र समझा जाय ऐसा कहा है। वस्तुतः जैसे अपनी अपनी योग्यताके अनुसार भिन्न भिन्न स्तरके लोग समाजमें विशिष्ट स्थानमें भोजनादि व्यवहार करते हैं वैसे ही शास्त्रमें भी होना शक्य होनेसे प्रस्तुत सूत्रकी विशेष आवश्यकता नहीं ऐसा यदि कहा जाय तो भी चल सकता है। तदनन्तर 'उरण् रपरः' (सू ५१) सूत्रके अर्थके संबंधमें ऋकारको गुण, वृद्धि अथवा अन्य आदेश कहा गया तो वह अण् ही किया जाय और वह रपर किया जाय इस प्रकारका नियमपक्ष, अथवा ऋकारको जो आदेश होता हो वह रपर किया जाय इस प्रकारका उपपक्ष, इन दोनों पक्षोंका विचार करके ऋकारको गुण या वृद्धि या अन्य आदेश करनेका विचार आया तो रेफ लगाकर वह आदेश करना यह अर्थ करके गुण कहा जानेपर 'स्थानेऽन्तरतम' सूत्रसे अर् ही गुण होता है ऐसा 'समुदाय स्थान' पक्ष भाष्यकारने मान्य माना है। इसके बाद अन्तके कारण लगनेवाला यह रेफ पूर्व शब्दका अन्त होता है अथवा अगले शब्दका आदि होता है अथवा स्वतंत्र ही रहता है इन वार्तिककारोंके दिये हुए तीनों पक्षोंका ग्रहण हुआ।

विवेचन भाष्यकारने किया है, उससे भाष्यकारके मतसे पूर्व शब्दका अन्त्यावयव पक्ष स्युक्तिक है ऐसा दीख पडता है। तत्पश्चात् 'अलोन्त्यस्य' (सू ५२), 'ङिच्च' (सू ५३), 'आदे परस्य' (सू ५४) और 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' (सू ५५) इन परिभाषासूत्रोंकी उपयुक्तता भाष्यकारने दिखायी है और बताया है कि 'अलोन्त्यस्य' सूत्रको सामान्यसूत्र मानकर 'आदे परस्य' और 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' अपवादसूत्र समझे जायँ।]

इग्यणः संप्रसारणम् ॥ १।१।४५ ॥(४५)

किमियं वाक्यस्य संप्रसारणसंज्ञा क्रियते। इग्यण इत्येतद्वाक्यं संप्रसारणसंज्ञं भवतीति। आहोस्विद्वर्णस्य। इग्यो यणः स्थाने वर्णः स संप्रसारणसंज्ञो भवतीति। कश्चात्र विशेषः।

संप्रसारणसंज्ञायां वाक्यसंज्ञा चेद्वर्णविधिः ॥ १ ॥

संप्रसारणसंज्ञायां वाक्यसंज्ञा चेद्वर्णविधिर्न सिध्यति। संप्रसारणात्परः पूर्वो

(सू. ४५) यण् (अर्धस्वर) के स्थानपर जो इक् (इ, उ, ऋ, लृ) किया जाता है उसको संप्रसारणसंज्ञा होती है।

'यण् के स्थानपर इक् होता है इस वाक्यको संप्रसारणसंज्ञा होती है' इस अर्थमें इस सूत्रसे कही हुई संप्रसारणसंज्ञा वाक्यको की जाय, अथवा 'यण् के स्थानपर आये हुए इक्को संप्रसारणसंज्ञा होती है' इस अर्थमें वर्णको की जाय?

इन दो अर्थोंमें क्या भेद है?

(वा. १) 'यह संप्रसारणसंज्ञा वाक्यको होती है' यह मान लिया जाय तो 'वर्ण ही संप्रसारण होता है' ऐसा मानके उसको कहा हुआ कार्य (सिद्ध नहीं होगा)।

'यह संप्रसारणसंज्ञा वाक्यको होती है' यह मान लिया जाय तो 'वर्ण ही संप्रसारण होता है' ऐसा मानके उसको कहा हुआ कार्य सिद्ध नहीं होगा। उदा•

भवति संप्रसारणस्य दीर्घो भवतीति। न हि वाक्यस्य संप्रसारणसंज्ञायां सत्यामेष निर्देश उपपद्यते नाप्येतयोः कार्ययोः संभवोऽस्ति ॥ अस्तु तर्हि वर्णस्य ॥

वर्णसंज्ञा चेन्निर्वृत्तिः ॥ २ ॥

वर्णसंज्ञा चेन्निर्वृत्तिर्न सिध्यति ष्यङः संप्रसारणम् [६.१.१३] इति। स एव हि तावदिग्दुर्लभो यस्य संज्ञा क्रियते। अथापि कथंचिल्लभ्येत केनासौ यणः स्थाने स्यात्। अनेनैव ह्यसौ व्यवस्थाप्यते। तदेतदितरेतराश्रयं भवति। इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते ॥

विभक्तिविशेषनिर्देशस्तु ज्ञापक उभयसंज्ञात्वस्य ॥ ३ ॥

संप्रसारणके आगे अच् होनेपर पूर्वपरके स्थानमें पूर्वरूप एकादेश होता है (६।१।१०८), उत्तरपद आगे होनेपर संप्रसारणको दीर्घ होता है (६।३।१३९, ६।४।२)। वाक्यको संप्रसारण संज्ञा हो तो यह विधान समुचित नहीं है। और तो पूर्वरूप और दीर्घ ये कार्य वाक्यको किये नहीं ही जा सकते।

अतः वर्णको ही 'संप्रसारण' संज्ञा होने दी जाय।

(वा. २) 'वर्णको संज्ञा होती है' यह मान लिया जाय तो वर्णकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं होगी।

'वर्णको (संप्रसारण) संज्ञा होती है' यह मान लिया जाय तो (संप्रसारणका विधान करनेसे जो) वर्णकी उत्पत्ति (होती है वह) सिद्ध नहीं होगी। जैसे, "ष्यङ्प्रत्ययान्त (पूर्वपद-) को संप्रसारण होता है" (६।१।१३) इससे (कारीषगन्धीपुत्रः आदि उदाहरणोंमें) जिस वर्णको संप्रसारणसंज्ञा करनी है वह इक् नामका वर्णही नहीं दीख पड़ता है। अब (शब्द नित्य होनेके कारण ऊपरके उदाहरणमें इक् नामका वर्ण मूलका है इस कल्पनासे) किसी तरह दीख पड़े तो वह इक् यण्के स्थानमें हुआ है ऐसा कैसे कहा जायगा? क्योंकि (जिस इक् नामक वर्णको संप्रसारणसंज्ञा करनी है वह इक् यण्के स्थानमें होता है) यह व्यवस्था इस संप्रसारणसंज्ञा कहनेवाले प्रकृतसूत्रसे ही करनेकी है। तब ('यण्के स्थानमें आये हुए इक्को संप्रसारणसंज्ञा करना' और 'पहलेसे ही संप्रसारण मानकर वह इक् यण्के स्थानमें करना' ये दो बातें परस्परावलंबिन होनेके कारण) यहाँ अन्योन्याश्रय दोष आता है। और जहाँ अन्योन्याश्रय दोष आता है वहाँ उन दोनोंमेंसे कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता।

(वा. ३) भिन्न भिन्न विभक्तियाँ लगाकर (यह आचार्य) उच्चारण करते हैं। तब वह ऐसा ज्ञापित करते हैं कि (वर्ण और वाक्य इन) दोनोंको भी संप्रसारण संज्ञा होती है।

यदयं विभक्तिविशेषैर्निर्देशं करोति संप्रसारणात्परः पूर्वो भवति संप्रसारणस्य दीर्घो भवति ष्यङः संप्रसारणमिति तेन ज्ञायत उभयोः संज्ञा भवतीति। यत्तावदाह संप्रसारणात्परः पूर्वो भवति संप्रसारणस्य दीर्घो भवतीति तेन ज्ञायते वर्णस्य भवतीति। यदप्याह ष्यङः संप्रसारणमिति तेन ज्ञायते वाक्यस्यापि संज्ञा भवतीति॥

अथवा पुनरस्तु वाक्यस्यैव। ननु चोक्तं संप्रसारणसंज्ञायां वाक्यसंज्ञा चेद्वर्णविधिरिति। नैष दोषः। यथा काकाज्जातः काकः श्येनाज्जातः श्येन एवं संप्रसारणाज्जातं संप्रसारणम्। यत्तत्संप्रसारणाज्जातं संप्रसारणं तस्मात्परः पूर्वो भवति तस्य दीर्घो भवतीति॥ अथवा दृश्यन्ते हि वाक्येषु वाक्यैकदेशान्प्रयुञ्जानाः पदेषु

जब कि यह आचार्य (पाणिनि) "संप्रसारणाच्च" (६।१।१०८) इस पूर्वरूप कहनेवाले सूत्रमें ('संप्रसारण' शब्द पंचमी विभक्ति लगाकर उच्चारते है), तथा "संप्रसारणस्य" (६।३।१३९) इस दीर्घ कहनेवाले सूत्रमें ('संप्रसारण' शब्द षष्ठी विभक्ति लगाकर उच्चारते हैं) और 'ष्यङः संप्रसारणं०' (६।१।१०) इस ष्यडन्तके संप्रसारणका विधान करनेवाले सूत्रमें ('संप्रसारण' शब्द प्रथमा विभक्ति लगाकर उच्चारते है), इस तरह भिन्न भिन्न विभक्तियाँ लगाकर उच्चारण करते हैं तब वह ऐसा ज्ञापित करते है कि (वर्ण और वाक्य) इन दोनोंको भी संप्रसारणसंज्ञा होती है। उसमें 'संप्रसारणके आगे अच् होनेपर (पूर्व और पर इन दोनोंके स्थानमें) पूर्वरूप एकादेश होता है' और 'संप्रसारणको दीर्घ होता है' (ऐसा जो कहा है) उससे 'वर्णको संज्ञा होती है' ऐसा सूचित करता है, और 'ष्यङ्प्रत्ययान्त पूर्वपदको संप्रसारण होता है' (ऐसा जो कहा है) उससे 'वाक्यको संज्ञा होती है' ऐसा सूचित करता है।

अथवा केवल वाक्यको ही संप्रसारणसंज्ञा हो, (वर्णको नहीं)।

पर केवल वाक्यको ही संप्रसारणसंज्ञा हो तो वर्णको कहे हुए (पूर्वरूप और दीर्घ ये) व्यवहार सिद्ध न होंगे ऐसा अभी कहा है न?

यह दोष नहीं आता है। जैसे लोकमें कौएसे जन्मा हुआ कौआ कहलाता है, श्येनसे जन्मा हुआ श्येन (बाज) कहलाता है, वैसे ही (यहाँ संप्रसारणसंज्ञा यद्यपि सूत्रसे वाक्यको ही हुई तो भी उस) संप्रसारणसे बने हुए वर्णको संप्रसारण कहा जाय। तब उस संप्रसारणसंज्ञक वाक्यसे बना हुआ जो वर्ण है वह संप्रसारण ही है ऐसा मानकर उसके आगे (अच् आनेपर) पूर्वरूप किया जाय और (वैसे वर्णको) दीर्घ भी किया जाय।

अथवा (लोगोंमें) दीख पड़ता है कि वाक्यके बदले वाक्यके किसी अंशका ही उच्चारण किया जाता है, तथा पदके बदले पदके किसी भागका ही उच्चारण किया

च पदैकदेशान्। वाक्येषु तावद्वाक्यैकदेशान्। प्रविश पिण्डीम् प्रविश तर्पणम्। पदेषु पदैकदेशान्। देवदत्तो दत्तः सत्यभामा भामेति। एवमिहापि संप्रसारणनिर्वृत्तात्संप्रसारणनिर्वृत्तस्येत्येतस्य वाक्यस्यार्थे संप्रसारणात्संप्रसारणस्येत्येष वाक्यैकदेशः प्रयुज्यते। तेन निर्वृत्तस्य विधिं विज्ञास्यामः। संप्रसारणनिर्वृत्तात्संप्रसारणनिर्वृत्तस्येति॥ अथवाहायं संप्रसारणात्परः पूर्वो भवति संप्रसारणस्य दीर्घो भवतीति न च वाक्यस्य संप्रसारणसंज्ञायां सत्यमिप निर्देश उपपन्नो नाप्येतयोः कार्ययोः संभवो ऽस्ति तत्र वचनाद्भविष्यति॥

अथवा पुनरस्तु वर्णस्य। ननु चोक्तं वर्णसंज्ञा चेन्निर्वृत्तिरिति। नैष दोषः।

जाता है। उनमेंसे वाक्यके बदले उसके एक अंशके उच्चारणका उदाहरण— 'प्रविश पिण्डीम्। प्रविश तर्पणम्। पदके बदले पदके एक भागके उच्चारण का उदाहरण— 'देवदत्त'के बदले 'दत्त' (पदका ही उच्चारण करते हैं), 'सत्यभामा' (पद-) के बदले 'भामा' (ऐसा ही उच्चारण किया जाता है)। उसी प्रकार इस (शास्त्र-) में (आचार्य पाणिनिने) भी 'संप्रसारणसे उत्पन्न हुए वर्णके आगे' और 'संप्रसारणसे उत्पन्न हुए वर्णको' इन वाक्योंका उच्चारण न करके उन वाक्योंके बदले यही अर्थ ध्यानमें रखकर 'संप्रसारणके आगे' (६।१।१०८) और 'संप्रसारणको' (६।३।१३९) ऐसा उस वाक्यके एक भागका उच्चारण किया है। अतः उस भागका 'संप्रसारणसे उत्पन्न हुएके आगे' और 'संप्रसारणसे उत्पन्न हुए' यह अर्थ लेकर पूर्वरूप और दीर्घ ये व्यवहार किये जायेंगे।

अथवा यह आचार्य (पाणिनि) संप्रसारणके आगे अच् होनेपर पूर्व और परके स्थानपर पूर्वरूप होता है और संप्रसारणको दीर्घ होता है ऐसा आगे कहीं कहीं कहते हैं, और वह विधान तो यहाँ वाक्यको संप्रसारणसंज्ञा करनेपर सुसंगत नहीं होता है। और (पूर्वरूप तथा दीर्घ) इन कार्योंका (वाक्यमें) संभव भी नहीं। अर्थात् उस वचनके बलपर ('लाक्षणिक अर्थसे वह कहा है' ऐसी कल्पना होगी और संप्रसारणसंज्ञक वाक्यसे निर्माण हुए वर्णको पूर्वरूप और दीर्घ ये) कार्य किये जायेंगे।

अथवा (वाक्यको संप्रसारणसंज्ञा न हो)। केवल वर्णको ही हो।

---

१. 'गृहं प्रविश', 'पिण्डीं भक्षय' इन दो वाक्योंके स्थानमें क्रमसे 'प्रविश' 'पिण्डीम्' इतना ही उच्चारण किया जाय। लोगोंमें कोई परस्पर परिचित मनुष्य दो पहरको मिलता है तब उसे कहते हैं 'घर चलिये, खजूर खाइये।' कभी कभी जल्दीमें केवल यहीं और इतना ही कहा जाता है-'चलिये, थोडासा खजूर।' तथा 'तीर्थं प्रविश, तर्पणं कुरु' इन दो वाक्योंके बदले क्रमसे 'प्रविश, तर्पणम्' इतना ही कहा जाता है।

इतरेतराश्रयमात्रमेतच्चोदितम्। सर्वाणि चेतरेतराश्रयाण्येकत्वेन परिहृतानि सिद्ध तु नित्यशब्दत्वादिति। नेद तुल्यमन्यैरितरेतराश्रयैः। न हि तत्र किंचिदुच्यते ऽस्य स्थाने य आकारैकारौकारा भा यन्ते ते वृद्धिसंज्ञा भवन्तीति। इह पुनरुच्यत इग्यो यणः स्थाने वर्णः स सम्प्रसारणसज्ञो भवतीति॥ एवं तर्हि भाविनीयं संज्ञा विज्ञास्यते। तद्यथा। कश्चित्कंचित्तन्तुवायमाह। अस्य सूत्रस्य शाटक वयेति। स पश्यति यदि शाटको न वातव्यो ऽथ वातव्यो न शाटकः शाटको वातव्यश्चेति विप्रतिषिद्धम्। भाविनी खल्वस्य संज्ञाभिप्रेता स मन्ये वातव्यो यस्मिन्नुते शाटक इत्येतद्भवतीति। एवमिहापि स यणः स्थाने भवति यस्याभिनिर्वृत्तस्य सम्प्रसारण-

वर्णको ही संप्रसारणसज्ञा हो तो (सप्रसारणका विधान करनेसे जो वर्णकी उत्पत्ति होती है वहीं अन्योन्याश्रयदोष आनेसे वह) उत्पत्ति नहीं होगी ऐसा अभी कहा है न?

वह दोष नहीं आता है। यह केवल अन्योन्याश्रयदोष ही यहाँ आपने बताया है, पर सभी स्थानके इन अन्योन्याश्रयदोषोंका निरसन 'सिद्धं तु नित्यशब्दत्वात्' (३।१।१ वा. ९) सूत्रसे पहले किया ही है।

निरसन किया है सही, पर अन्य स्थानके अन्योन्याश्रय दोषके समान यहाँका अन्योन्याश्रयदोष नहीं है। कारण यह है कि, उस वृद्धिसंज्ञा कहनेवाले सूत्रमें "अमुक वर्णके स्थानमें होनेवाले जो 'आ'कार, 'ऐ'कार और 'औ'कार हे इनको वृद्धिसंज्ञा होती है" ऐसा विशेष कुछ नहीं कहा है (अर्थात् "आकार, ऐकार और ओकारको वृद्धिसज्ञा होती है" इतना ही केवल कहा है) और यहाँ तो "यण्के स्थानपर आया हुआ जो इक् नामका वर्ण है उसको सप्रसारणसज्ञा होती है" यह (विशेष) विधान किया है। (उससे यहाँ नित्य अन्योन्याश्रयदोष आता है।)

तो फिर यहाँ भी (पाणिनिने) भाविसंज्ञा[२] की ऐसा समझा जाय (जिससे दोष नहीं आयेगा)। जैसे, लोगोंमें कोई किसी जुलाहेसे कहता है कि 'इन धागोंका दुपट्टा बुनो'। यदि वह जुलाहा सोचे कि यदि यह व्यक्ति 'दुपट्टा' कहता ही है तो कुछ भी बुनना नहीं है। यदि धागे बुनने है तो 'दुपट्टा' नहीं कहा जा सकता है। 'दुपट्टा और वह बुनना' यह विधान विरुद्ध है। (पर लोगोंमें यह विधान विरुद्ध नहीं समझा जाता है) जुलाहा भी समझता है कि ('दुपट्टा') यह भाविसज्ञा इस व्यक्तिको अभिप्रेत है अर्थात् ऐसा कुछ बुनना है कि जिसको बुननेपर वह दुपट्टा कहलाया जाय। उसी तरह यहाँ भी वह वर्ण यण्के स्थानपर होता है कि जो होनेपर उसको संप्रसारण-सज्ञा होगी। (ऐसी भाविसंज्ञा यहाँ लेनेसे अन्योन्याश्रयदोष नहीं आता है।)

२ 'शब्द अनित्य है' ऐसा मन्दबुद्धि लोगोंके लिए मान लेके यह उत्तर आरंभमें भाष्यकार देते है।

मित्येषा संज्ञा भविष्यति ॥ अथवेजादियजादिप्रवृत्तिश्चैव हि लोके लक्ष्यते यजाद्युपदेशात्त्विजादिनिवृत्तिः प्रसक्ता। प्रयुञ्जते च पुनर्लोका इष्टम् उप्तमिति। ते मन्यामहे ऽस्य यणः स्थान इममिकं प्रयुञ्जत इति। तत्र तस्यासाध्वभिमतस्य शास्त्रेण साधुत्वमवस्थाप्यते क्ङिति सार्वुभवति ङिति साधुर्भवतीति ॥

आद्यन्तौ टकितौ ॥ १ । १ । ४६ ॥

समासनिर्देशो ऽयं तत्र न ज्ञायते क आदिः को ऽन्त इति। तद्यथा। अजाविधनौ देवदत्तयज्ञदत्तावित्युक्ते तत्र न ज्ञायते कस्याजा धनं कस्यावय इति। यद्यपि तावल्लोक एष दृष्टान्तो दृष्टान्तस्यापि पुरुषारम्भो निवर्तको भवति। अस्ति

अथवा ('सिद्धं तु नित्यशब्दत्वात्' यह जो पहले कहा है वह भी उत्तर यहाँ उचित होता है। वह यह है कि, कुछ धातुओंके स्वरूप) लोगोंमें इज्–आदि और यज्–आदि इन दो प्रकारके पाये जाते हैं। परन्तु (धातुपाठमें पाणिनिने) यज्–आदि उपदेश किया है, इसलिए इज्–आदि स्वरूपोंके प्रयोग उचित नहीं लगते। और लोगोंमें तो 'इष्टम्', 'उप्तम्' इत्यादि प्रयोग दिखाई देते हैं। उससे हम यह मानते हैं कि (इस प्रयोगमें) यण्के बदले इक्का उच्चारण किया है। तब (वैसे इक् जिन प्रयोगोंमें उच्चारे जाते हैं) वे प्रयोग असाधु समझे जायेंगे। (वे वैसे न समझे जायँ इसलिए पाणिनिने) 'कित् प्रत्यय आगे होनेपर (इक्का प्रयोग) शुद्ध है (६।१।१५), ङित् प्रत्यय आगे होनेपर (इक्का प्रयोग) शुद्ध है (६।१।१६)' (ऐसा कहकर) उन प्रयोगोंका साधुत्व बताया है।[१]

(सू. ४६) जिसको इत्संज्ञक टकार जोड़ा है (वह जिसको कहा हो) उसका आद्यावयव होता है, तथा जिसको इत्संज्ञक ककार जोड़ा है (वह जिसको कहा हो) उसका अन्त्यावयव होता है।

('टकितौ') यह यहाँ समस्तपद उच्चारित है। उससे ज्ञात नहीं होता है कि आदि कौन है और अन्त कौन है। जैसे, 'अजाविधनौ देवदत्तयज्ञदत्तौ' (देवदत्त और यज्ञदत्त बकरी भेडीवाले हैं।) ऐसा कहनेपर विशेषरूपसे ज्ञात नहीं होता कि बकरियाँ किसका धन है और भेडियाँ किसका धन है। (दोनोंका भी दोनों प्रकारका धन है यह अर्थ ध्यानमें आता है।)

यद्यपि यह दृष्टान्त लोगोंमें है तो भी यदि इस दृष्टान्तके विरुद्ध मनुष्यने जान बूझकर कुछ कहा हो तो वहाँ वह दृष्टान्त लागू नहीं होता।

फिर वैसा कुछ यहाँ आचार्य पाणिनिने कहा है क्या ?

---

१. सारांश, यण्के स्थानमें इक् न होनेके कारण अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता।

२ यहाँ ट् और क् इन दो वर्णोंका द्वंद्व करके उसका 'इत्' पदके साथ बहुव्रीहि समास किया है।

चेह कश्चित्पुरुषारम्भ । अस्तीत्याह । कः । संख्यातानुदेशो नाम ॥

कौ पुनष्टकितावाद्यन्तौ भवतः । आगमावित्याह । युक्तं पुनर्यन्नित्येषु नाम शब्देष्वागमशासन स्यान्न नित्येषु नाम शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः । आगमश्च नामापूर्वः शब्दोपजनः । अथ युक्त यन्नित्येषु शब्देष्वादेशाः स्युः । बाढ युक्तम् । शब्दान्तरैरिह भवितव्यम् । तत्र शब्दान्तराच्छब्दान्तरस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता । आदेशास्तर्हीमे भविष्यन्त्यनागमकाना सागमकाः । तत्कथम् । सज्ञाधिकारोऽयम् । आद्यन्तौ चेह संकीर्त्येते टकारककारावितावुदाह्रियेते । तत्राद्यन्तयोष्टकारककाराविती सज्ञे भविष्यतः । तत्रार्धधातुकस्येड्वलादेः

हॉ, है।

वह क्या है ?

यथासख्यसूत्र (१।३।१०) जिसको कहते है वही है यह ।

पर ये जो यहाँ टकारेत्सज्ञक आदि और ककारेत्सज्ञक अन्त होते है ऐसा कहा है वे कौन समझे जायें ?

वे आगम समझे जायें, ऐसा कहा है।

पर शब्द यदि नित्य है तो उनको आगम कहना क्या युक्त होगा ? (कदापि नहीं।) शब्द यदि नित्य है तो उनमेंके वर्ण कूटस्थ (एक ही स्वरूपमें कायम रहनेवाले), अविचाली (विचलित न होनेवाले) और उत्पत्ति, विनाश इत्यादि विकारोंसे रहित होने चाहिये । और आगम तो एक नया ही अवयव शब्दको लगाया हुआ होगा। (अतः नित्य शब्दोंमें उसका कैसे सभव होगा ?

पहले हम यह पूछते है कि यदि शब्द नित्य है तो उनको जो आदेश होते है वे क्या युक्त है ?

आदेश कहना निश्चयसे युक्त होगा। क्योंकि वहाँ वे भिन्न शब्द ही होते है। अत' एक शब्दके बदले दूसरे शब्दका ज्ञान होना उचित ही है। (उससे शब्दके नित्यत्वकी कुछ भी हानि नहीं होती।

तो फिर ये आगम भी आदेश ही होंगे, अर्थात् आगमरहितोंको आगमसहित (शब्द) आदेश होते है (ऐसा समझा जा सकता है।)

सो कैसे ?

यह सज्ञाका प्रकरण चालू है। और इस सूत्रमे तो 'आदि' और 'अन्त' का उल्लेख किया है और उनके आगे इत्सज्ञक टकार और इत्सज्ञक ककार उच्चारे गये है। तब ज्ञात होता है कि इत्सज्ञक टकार आदिकी सज्ञा है और इत्सज्ञक ककार अन्तकी सज्ञा है। अतः 'आर्धधातुकस्येड् वलादे.' —७।२।३५—(सूत्रमें इट्मेंका टकार यह

---

२ अ १, पा १ सू २० टिप्पणी १२ देखिये।

[७.२.३५] इत्युपस्थितमिदं भवत्यादिरिति। तेनेकारादिरादेशो भविष्यति। एतावदिह सूत्रमिडिति। कथं पुनरियता सूत्रेणेकारादिरादेशो लभ्यः। लभ्य इत्याह। कथम्। बहुव्रीहिनिर्देशात्। बहुव्रीहिनिर्देशो ऽयम्। इकार आदिरस्येति। यद्यपि तावदत्रैतच्छक्यते वक्तुमिह कथं लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः [६.४.७१] इति यत्राशक्यमुदात्तग्रहणेनाकारो विशेषयितुम्। तत्र को दोषः। अङ्गस्योदात्तत्वं प्रसज्येत। नैष दोषः। त्रिपदोऽयं बहुव्रीहिः। तत्र वाक्य एवोदात्तग्रहणेनाकारो

संज्ञाशब्द इत्संज्ञक दिखाई देनेसे) यह सूत्र वहाँ उपस्थित होता है और उस (इट्-) का अर्थ आदि (ऐसा प्रतीत होता है); इससे (वलादिप्रत्ययको) इकारादि आदेश हो सकेगा।

पर सूत्रमें उस अर्थका केवल 'इट्' पद ही दीसता है। और उससे 'इकारादि आदेश होता है' इतना अर्थ कैसे निकलता है?

केवल 'इट्' पदसे ही उतना अर्थ निकलता है ऐसा कहा जा सकता है।

सो कैसे?

बहुव्रीहिनिर्देशसे। यहाँ ('इ' और 'ट्' इन दो वर्णोंका) बहुव्रीहिसमास करके (इट्का) उच्चारण किया है। (उस टकारका 'आदि' अर्थ होनेसे) 'इकार है आदि जिसका ऐसा आदेश होता है' यह अर्थ होगा[1]।

यद्यपि यहाँ ('आर्धधातुकस्येड् वलादेः'–७।२।३५–के बारेमें) यह कहना शक्य है, तो भी "लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः" (६।४।७१) सूत्रके बारेमें (वह कैसे कहा जायगा? क्योंकि यहाँ उदात्तपदका संबंध अट्में के अकारके साथ होना चाहिये। परन्तु 'अट्' शब्द अ और ट् इन दोनोंका बहुव्रीहिसमास होनेके कारण उसमेंके) 'अ' इस पूर्वपदको साथ उदात्तपदका विशेषणरूपसे संबंध होना अशक्य है।

उदात्तपदका संबंध अकारके साथ न हुआ तो क्या दोष होगा?

दोष यह है कि (अट्में के अकारको उदात्त न होकर) अङ्गको उदात्त होने लगेगा।

यह दोष नहीं आता है। ('अडुदात्तः' यह सामासिक एक पद लिया जाय, अ, ट् और उदात्त इन) तीन पदोंका बहुव्रीहिसमास किया जाय, और (उस बहुव्रीहिके) वाक्यमें ही 'उदात्त' शब्द 'अ-'कारको विशेषणरूपमें लगाया जाय,

---

१. 'तव्य', 'स्य' इत्यादि प्रत्यय हैं उनको जो इकारादि आदेश कर्तव्य हैं वे ऐसेगैरे न करके 'स्थानेन्तरतमः' (१।१।५०) परिभाषासे उचित ही होते हैं। अर्थात् 'भवितव्य' उदाहरणमें 'तव्य' को 'इतव्य' होता है, 'भविष्यति' उदाहरणमें 'स्य' को 'इस्य' होता है।

विशेष्यते । अकार उदात्त आदिरस्येति । यत्र तर्ह्यनुवृत्त्यैतद्भवत्याडजादीनाम् [६-४-७२] इति । वक्ष्यत्येतत् । अजादीनामटा सिद्धमिति ॥ अथवा यत्तावदयं सामान्येन शक्नोत्युपदेष्टुं तत्तावदुपदिशति प्रकृतिं ततो वलाद्यार्धधातुकं ततः पश्चादिकारम् । तेनाय विशेषेण शब्दान्तरं समुदायं प्रतिपद्यते । तद्यथा । खदिरबुर्बुरयोः । खदिरबुर्बुरौ गौरकाण्डौ सूक्ष्मपर्णौ । ततः पश्चादाह कण्टकवान्खदिर इति । तेनासौ विशेषेण द्रव्यान्तरं समुदायं प्रतिपद्यते ॥ अथवैतदानुपूर्व्यायं शब्दान्तरमुपदिशति प्रकृतिं ततो वलाद्यार्धधातुकं ततः पश्चादिकार यस्मिंस्तस्यागमबुद्धिर्भवति ॥

जिससे 'उदात्त अकार है आदि जिसका' (ऐसा आदेश किया जायगा।)

('लुङ्लङ्०'—६।४।७१—सूत्रका इस प्रकार निपटारा किया) तो भी (उसमेंके) उदात्तपदकी अनुवृत्ति 'आडजादीनाम्' (६।४।७२) इस अगले सूत्रमें होके 'आ'कार उदात्त होता है उसका क्या निपटारा है?

(वह सूत्र ही अनावश्यक होनेके कारण उसकी ओर ध्यान न दिया जाय।) 'अजादीनामटा सिद्धम्' यह वार्तिक करना ही पडेगा। (६।४।७४, वा. १)

अथवा (प्रकृतसूत्रको संज्ञासूत्र न मानकर परिभाषासूत्र ही रहने दें। टित्, कित् यद्यपि आगम समझे गये तो भी शब्दके नित्यत्वकी कुछ भी हानि नहीं होती है। क्यों कि आचार्य पाणिनिकी पद्धति यह है कि) वह (आचार्य) जिस बातका सामान्य रूपसे उपदेश कर सकते हैं वहाँ उस सामान्यस्वरूपका मूलप्रकृतिके रूपमे उपदेश करते हैं। फिर (तव्य आदि) वलादि आर्धधातुक प्रत्ययोंका उपदेश करते हैं, बादमें (उस प्रत्ययके आरंभमें कहीं कहीं) इकार है ऐसा कहते हैं। उससे (वह मूल प्रकृति, वलादि आर्धधातुकप्रत्यय और इकार इनका) समुदायरूप (भवितव्य इत्यादिक) मूलतः भिन्न स्वतंत्र शब्द ही है ऐसा विदित होता है। जैसे, लोगोंमें खदिर और बुर्बुरके संबंधमें आरंभमें साधारण ही उपदेश किया जाता है कि खदिर और बुर्बुर दोनों वृक्षोंके काण्ड गौर होते हैं। दोनोंके पत्ते भी छोटे रहते हैं। तदनन्तर विशेष कहा जाता है कि खदिरवृक्ष कण्टकयुक्त[४] है। इस विशेष उपदेशसे वह मूलतः भिन्न स्वतंत्र पदार्थ ही है ऐसा समझमें आता है।

अथवा यह (भगवान् पाणिनि) इस क्रमसे स्वतंत्र शब्दका उपदेश करते हैं। वह आरंभमें मूल प्रकृति कहते हैं, फिर उसके आगे वलादि आर्धधातुक प्रत्यय कहते हैं, बादमें उसको इकार लगानेको कहते हैं जिस इकारके विषयमें (श्रोताकी) 'यह आगम है' ऐसी बुद्धि होती है। (यः जो क्रमसे कहा गया है वह मूल नित्य शब्द

---

४ यहाँ मूलमें 'कण्टक' शब्द है, उसके स्थानमें कुछ प्रतोंमें 'कटुक' पाठ है।

टकितोराद्यन्तविधाने प्रत्ययप्रतिषेधः ॥ १ ॥

टकितोराद्यन्तविधाने प्रत्ययस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः प्रत्यय आदिरन्तो वा मा भूत् । चरेटः [३ २ १६] आतो ऽनुपसर्गे कः [३] इति ॥ परवचनात्सिद्धम् । परवचनात्प्रत्यय आदिरन्तो वा न भविष्यति ।

परवचनात्सिद्धमिति चेन्नापवादत्वात् ॥ २ ॥

परवचनात्सिद्धमिति चेत्तन्न । किं कारणम् । अपवादत्वात् । अपवादो ऽय योगः । तद्यथा । मिदचो ऽन्त्यात्परः [१ १ ४७] इत्येष योगः स्थाने-

---

अमुक स्वरूपका है यह समझनेके लिए कहा है । यह सब पाणिनिका कल्पित ही है, इस कल्पनामय सृष्टिसे ही शब्दके सत्य स्वरूपका परिचय हो यह पाणिनिका उद्देश्य है । अत. केवल कल्पनाओंसे वस्तुस्थितिमें बदल न होनेके कारण शब्दके नित्यत्वको कुछ भी हानि नहीं पहुँचती ।)

(वा. १) " टकितोराद्यन्त " विधानमें प्रत्ययका निषेध कहा जाय ।

" जिसको इत्संज्ञक टकार जोडा है वह (जिसको कहा हो) उसका आद्यावयव होता है, तथा जिसको इत्संज्ञक ककार जोडा है वह (जिसको कहा हो) उसका अन्त्यावयव होता है, " यह जो प्रकृतसूत्रसे विधान किया है वहाँ प्रत्ययका निषेध कहा जाय । इससे (प्रत्ययको यद्यपि टकार जोडा हो तो भी वह) आद्यावयव नहीं होगा, तथा (उसको यद्यपि ककार जोडा हो तो भी वह) अन्त्यावयव नहीं होगा । उदा०, 'चरेट्' (३।२।१६), 'आतोऽनुपसर्गे क'—३।२।३—(इनसे कहे हुए ट और क प्रत्यय) ।

' प्रत्यय पर (आगे लगाया जानेवाला) किया जाय " (३।१।२) ऐसा कहा जानेसे इष्टसिद्धि होती है । अर्थात् (उस वचनसे) प्रकृतसूत्रका परत्वके कारण बाध (१।४।२) होनेसे वह आद्यावयव वा अन्त्यावयव नहीं होगा ।

(वा २) प्रत्यय पर किया जाय ऐसा कहा जानेसे इष्ट सिद्ध होगा यह नहीं कहा जा सकता । कारण यह कि अपवाद होता है ।

प्रत्यय पर किया जाय ऐसा कहा जानेसे इष्ट सिद्ध होगा यह नहीं कहा जा सकता है ।

क्यों ?

क्योंकि अपवाद होता है ।— ('आद्यन्तौ०') यह प्रकृतसूत्र ('परश्च' — ३।१।२ — सूत्रका) अपवाद है । जैसे " मिदचोऽन्त्यात्पर " (१।४।४७) सूत्र "षष्ठी स्थानेयोगा" (१।१।४९) का और "प्रत्यय परश्च" (३।१।२) का अपवाद है (वैसे ही यह भी है) ।

योगत्वस्य प्रत्ययपरत्वस्य चापवादः। विषम उपन्यासः। युक्तं तत्र यदनवकाशं मित्करणं स्थानेयोगत्वं प्रत्ययपरत्वं च बाधत इह पुनरुभयं सावकाशम्। कोऽवकाशः। टित्करणस्यावकाशः। टित इतीकारो यथा स्यात्। कित्करणस्यावकाशः। कितीत्याकारलोपो यथा स्यात्। प्रयोजनं नाम तद्वक्तव्यं यन्नियोगतः स्यात्। यदि चायं नियोगतः परः स्यात्तत एतत्प्रयोजनं स्यात्। कुतो नु खल्वेतट्टित्करणादयं परो भविष्यति न पुनरादिरिति कित्करणाच्च परो भविष्यति

यह दृष्टान्त यहाँ लागू नहीं होता। क्योंकि (श्नम् आदि प्रत्ययोंको) जो इत्संज्ञक मकार लगाया है उसका कहीं भी अन्यत्र उपयोग न होनेसे (उसके बलपर 'मिदचोऽन्त्यात्परः' सूत्रसे) 'षष्ठी स्थानेयोगा' का और 'प्रत्ययः परश्च' का बाध किया गया यह उचित ही है। (पर यहाँ वैसा नहीं।) यहाँ (इत्संज्ञक टकार और ककार इन) दोनोंका भी उपयोग होता है।

कहाँ वह उपयोग होता है?

('चरेष्टः' — ३।२।१६ — सूत्रसे कहे हुए 'ट' प्रत्ययको इत्संज्ञक टकार लगाया है।) इस इत्संज्ञक टकारका उपयोग यह है कि (उसके 'कुरुचरी' उदाहरणमें) 'टिड्ढाणञ्०' (४।१।१५) सूत्रसे (स्त्रीप्रत्यय) ईकार हो। उसी प्रकार ('आतोऽनुपसर्गे कः' — ३।२।३ — सूत्रसे कहे हुए 'क' प्रत्ययको इत्संज्ञक ककार लगाया है।) इस इत्संज्ञक ककारका उपयोग यह है कि (उसके 'गोदः' उदाहरणमें) कित् प्रत्यय आगे रहनेपर कहा हुआ आकारका लोप (६।४।६४) हो।

परन्तु उपयोग दिखाना है तो (वह केवल कुछ अनुमान करके नहीं दिखाना है। फिर) विधिके अनुसार ही बताना चाहिये। अब यदि ('कुरुचरी' में 'ट' प्रत्यय तथा 'गोदः' में 'क' प्रत्यय जो पर किया है) वह ('परश्च'—३।१।२—इस) विधिके अनुसार ही पर किया हो, तो (इत्संज्ञक टकारका 'स्त्रीप्रत्यय ईकार होना') यह उपयोग तथा (इत्संज्ञक ककारका 'आकारका लोप होना') यह उपयोग ठीक है ऐसा कहा जायगा। परन्तु यहाँ ऐसा निश्चय कैसे किया गया कि 'इत्संज्ञक टकारका स्त्रीप्रत्यय ईकार होना' यह उपयोग होनेके लिए 'कुरुचरी' में 'ट' प्रत्यय पर ही होगा, प्रकृतसूत्रसे आद्यवयव नहीं होगा? तथा 'इत्संज्ञक ककारका 'आ'कारका लोप होना' यह उपयोग होनेके लिए 'गोदः' में 'क' प्रत्यय पर ही होगा, प्रकृतसूत्रसे अन्त्यावयव नहीं होगा? (तात्पर्य यह है कि इत्संज्ञक टकार और ककारका उचित उपयोग अन्यत्र न होनेसे उनके बलपर प्रकृतसूत्र "प्रत्ययः परश्च" सूत्रका अपवाद होगा, अतः 'परवचनात् सिद्धम्' अर्थात् 'परश्च सूत्रसे प्रकृतसूत्रका परत्वके कारण बाध करना' यह परिहार ठीक नहीं ऐसा सिद्ध हुआ।)

न पुनरन्त इति । टितः खल्वप्येष परिहारो यत्र नास्ति संभवो यत्परश्च स्यादादिश्च । कितस्त्वपरिहारः । अस्ति हि संभावो यत्परश्च स्यादन्तश्च । तत्र को दोषः । उपसर्गे घोः किः [३·३·९२] । आघ्योः प्रघ्योः । नोङ्धात्वोः [६·१·१७५] इति प्रतिषेधः प्रसज्येत । टितश्चाप्यपरिहारः । स्यादेव ह्ययं टित्करणादादिर्न पुनः परः । क तर्हीदानीमिदं स्याट्टित ईकारो भवतीति । य उभयवान् । गापोष्टक् [३·२·८] इति ॥

और यह परिहार इत्संज्ञक टकारके संबंधसे आगे करना हो तो वहाँ करें कि जहाँ ('ट' प्रत्यय) 'पर भी किया जायगा और आद्यावयव भी किया जायगा' ये दो पर्याय (एक ही समय) संभवनीय नहीं होते (और इनमें विरोध दीख पड़ता है)। परन्तु इत्संज्ञक ककारके संबंधसे तो इस परिहारका नाम ही न लें। क्योंकि ('गोदः' में 'क' प्रत्यय) 'पर करना, और अन्त्यावयव करना' ये दोनों पर्याय एक ही समय शक्य होते हैं (और इससे विरोध ही नहीं दिखाई देता है)। (तब वहाँ परत्वसे बाध कैसे होगा ?)

फिर (बाध न हो तो) दोष क्या है ?

(दोष यह है कि) 'आघ्योः', 'प्रघ्योः' उदाहरणोंमें "उपसर्गे घोः किः" (३।३।९२) सूत्रसे 'कि' प्रत्यय किया जानेपर (वह प्रत्यय धातुका अन्त्यावयव समझा गया तो उनके 'ओस्' प्रत्ययको) होनेवाले (उदात्तस्वरका) 'नोङ्धात्वोः' (६।१।१७५) सूत्रसे निषेध होने लगेगा।

अब इत्संज्ञक टकारके संबंधसे (विरोध आनेपर भी वहाँ 'परत्वके कारण बाध करना' यह) परिहार ठीक नहीं। 'ट' प्रत्यय इत्संज्ञक टकारके बलपर ('कुरुचरी' में धातुका) आद्यावयव होगा ही, पर कभी नहीं होगा। (अर्थात् प्रकृतसूत्र 'परश्च' सूत्रका अपवाद होगा।)

फिर इत्संज्ञक टकारका 'ईकार (स्त्रीप्रत्यय) होना' (यह जो उपयोग 'टिड्ढाणञ्०'— ४।१।१५ —सूत्रसे कहा है) उसका उदाहरण कहाँ मिलता है ?

जिस प्रत्ययको (इत्संज्ञक टकार और ककार ये) दोनों हैं ऐसा 'टक्' (अर्थात् अ) प्रत्यय "गापोष्टक्"— ३।२।८ —(सूत्रसे 'सामगी', 'सोमपी' में किया है) वहाँ (उसका उदाहरण) मिलेगा।

---

५. 'टक्' प्रत्ययको टकार जोड़ा जानेसे 'सामग' में वह प्रत्यय 'गा' धातुका आद्यावयव किया जाय अथवा ककार जोड़ा जानेसे 'गा' धातुका अन्त्यावयव किया जाय यह विरोध निर्माण हुआ तो वहाँ 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (१।४।२) परिभाषाके कारण अन्त्यावयवसे आद्यावयवका परत्वसे बाध होता है। प्रकृत सूत्रमें 'आदि' शब्दके आगे 'अन्त' शब्द सूत्रकारोंने रखा है।

सिद्धं तु षष्ठ्यधिकारे वचनात् ॥ ३ ॥

सिद्धमेतत् । कथम् । षष्ठ्यधिकारे ऽयं योगः कर्तव्यः । आद्यन्तौ टकितौ षष्ठीनिर्दिष्टस्येति ॥

आद्यन्तयोर्वा षष्ठ्यर्थत्वात्तदभावे ऽसंप्रत्ययः ॥ ४ ॥

आद्यन्तयोर्वा षष्ठ्यर्थत्वात्तदभावे षष्ठ्या अभावे ऽसंप्रत्ययः स्यात् ।

(वा. ३) परन्तु षष्ठी अधिकारमें यह सूत्र पढ़नेसे (इष्ट) सिद्ध होता है ।

यह सिद्ध होता है (अर्थात् टित् और कित् प्रत्यय पर ही होंगे, आद्यावयव वा अन्त्यावयव नहीं होंगे) ।

सो कैसे ?

षष्ठीके प्रकरणमें यह प्रकृत सूत्र रखा जाय अर्थात् षष्ठी विभक्तिका उच्चारण करके यदि टित् वा कित् कहे गये हों तो वे आद्यावयव वा अन्त्यावयव होंगे। (प्रत्यय कहनेवाले सूत्रमें पंचमी विभक्तिका उच्चारण किया जाता है, षष्ठीका नहीं ।)

(वा ४) आद्यावयव और अन्त्यावयव ये षष्ठीके अर्थ होनेके कारण जहाँ उस षष्ठीका अभाव है वहाँ बोध न होगा ।

आद्यावयव और अन्त्यावयव ये षष्ठी (प्रत्यय-) के अर्थ होनेके कारण जहाँ उस षष्ठी (प्रत्यय-) का अभाव है वहाँ (उन अर्थोंका) बोध न होगा । अत. (प्रकृतपरिभाषासे) वहाँ आद्यावयव वा अन्त्यावयव नहीं होगा ।

---

६ परिभाषासूत्र केवल व्यवस्थापक सूत्र है । विधिसूत्रकी तरह नवीन कुछ करनेकी सामर्थ्य उसमें नहीं । 'आर्धधातुकस्येट्०' (७।२।३५) से 'भवितव्य' उदाहरणमें 'तव्य' प्रत्ययको 'इट्' करना है। वहाँ 'आद्यन्तौ०' यह प्रकृत परिभाषासूत्र प्रवृत्त न होता तो 'भवितव्य' उदाहरण सिद्ध न होता । कारण यह कि 'आर्धधातुकस्य' इस षष्ठी प्रत्ययका 'अवयव' अर्थ कदाचित् लिया न जाता, और वह अवयव जो आदि, मध्य, अन्त कहीं भी जोड़ना है वह कदाचित् आद्यावयव भी हो जाता । इस तरह 'भवितव्य' उदाहरणकी सिद्धि हुई तो भी वह कदाचित् मध्यावयव वा अन्त्यावयव होकर अनिष्ट रूप भी हो जाता । अब यह प्रकृत परिभाषासूत्र प्रवृत्त हो जानेसे सब अव्यवस्था दूर होके 'भवितव्य' एक ही रूप कायम किया जाता है । 'चरेष्ट' से जहाँ 'ट' प्रत्यय होता है वहाँ अर्थात् 'कुरुचर' उदाहरणमें यदि इस परिभाषासूत्रकी प्रवृत्ति न हुई तो वह 'ट' प्रत्यय 'चर्' धातुका आद्यावयव कदापि न होता। कारण यह कि वहाँ 'अवयव' अर्थको दिखानेवाला षष्ठीप्रत्यय ही नहीं है। 'चरेः' पंचमी है। जब वहाँ आद्यावयव करना है तो वह विधिसूत्रके समान नवीन ही करना पड़ेगा। और इतना बल परिभाषासूत्रमें माननेसे निरर्थक अधिक बोझ उसपर लादना है। तात्पर्य, षष्ठीप्रत्यय न हो तो वहाँ यह परिभाषासूत्र प्रवृत्त नहीं होता ऐसा सिद्ध होता है।

आदिरन्तो वा न भविष्यति ॥ युक्तं पुनर्यच्छब्दनिमित्तको नामार्थः स्यान्नार्थनिमित्तकेन नाम शब्देन भवितव्यम् । अर्थनिमित्तक एव शब्दः । तत्कथम् । आद्यन्तौ षष्ठ्यर्थौ । न चात्र षष्ठीं पश्यामः । ते मन्यामह आद्यन्तावेवात्र न स्तस्तयोरभावे षष्ठ्यपि न भवतीति ॥

मिदचो ऽन्त्यात्परः ॥ १ । १ । ४७ ॥

किमर्थमिदमुच्यते ।

मिदचो ऽन्त्यात्पर इति स्थानपरप्रत्ययापवादः ॥ १ ॥

मिदचो ऽन्त्यात्पर इत्युच्यते स्थानेयोगत्वस्य प्रत्ययपरत्वस्य चापवादः । स्थानेयोगत्वस्य तावत् । कुण्डानि वनानि । पयांसि यशांसि । प्रत्ययपरत्वस्य ।

परन्तु 'शब्दप्रयोग अर्थका निमित्त है' यह आपका विधान क्या युक्त है ?

नहीं। अर्थके निमित्त शब्दका प्रयोग होता है। तब यदि अर्थ ही शब्दप्रयोगका कारण है, *तो फिर यहाँ ('षष्ठीप्रत्ययका अभाव होनेसे उसके अर्थका बोध नहीं होता है')* यह पूर्वोक्त विधान कैसे किया जाय ?

(वार्तिककारोंका अभिप्राय यह है कि) आद्यावयव और अन्त्यावयव ये तो षष्ठीप्रत्ययके अर्थ हैं। और (ये प्रत्यय कहनेवाले) सूत्रमें तो षष्ठीप्रत्यय नहीं दीखता। उससे हम कहते हैं कि (शब्दप्रयोगके निमित्त होनेवाले मूलभूत जो) आद्यावयव और अन्त्यावयव ये अर्थ ही पाणिनिके मनमें नहीं है, इसीलिए (अर्थात् वे अर्थ मनमें न होनेसे) षष्ठीप्रत्यय भी उन्होंने वहाँ नहीं रखा।

(सू. ४७) इत्संज्ञक मकार जिसको लगाया हो वह आगम (जिसको कहा हो उसीका अवयव समझकर उसके) स्वरोंसे अन्त्य स्वरके आगे किया जाय।

यह (सूत्र) किसलिए किया है ?

(वा. १) 'मिदचोऽन्त्यात्परः' यह जो प्रकृतसूत्र किया है वह "स्थानीके स्थानपर आदेश होता है" (१।१।४९) और "प्रत्यय पर होता है" (३।१।२) इन दोनोंका अपवाद किया है।

(वा. १) 'मिदचोऽन्त्यात्परः' यह जो प्रकृतसूत्र किया है वह "स्थानीके स्थानपर आदेश होता है" (१।१।४९) और "प्रत्यय पर होता है" (३।१।२) इन दोनोंका अपवाद किया है।

'मिदचोऽन्त्यात्परः' यह जो प्रकृतसूत्र किया है वह "स्थानीके स्थानपर आदेश होता है" (१।१।४९) और "प्रत्यय पर होता है" (३।१।२) इन दोनोंका अपवाद किया है। उनमेंसे "स्थानीके स्थानपर आदेश होता है" (इसके अपवादके उदाहरण हैं) 'कुण्डानि', 'वनानि', 'पयांसि', 'यशांसि'। "प्रत्यय पर

---

७. शब्दप्रयोग अर्थका उत्पादक कारण नहीं, वह ज्ञापक कारण है ऐसा सिद्धान्त है। उससे पाणिनिका मनोगत यहाँ अनुमानित होता है ऐसा समझा जाय।

१. 'नपुंसकस्य झलचः' (७।१।७२) से कहा हुआ 'नुम्' 'षष्ठी स्थानेयोगा' (१।१।४९) परिभाषासे आदेश हुआ तो 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२) के आधारपर अन्त्य

भिनत्ति छिनत्ति । भवेदिदं युक्तमुदाहरणं कुण्डानि वनानि यत्र नास्ति संभवो यदयमचो ऽन्त्यात्परश्च स्यात्स्थाने चेति । इदं त्वयुक्तं पयांसि यशांसीति । अस्ति हि संभवो यदचो ऽन्त्यात्परश्च स्यात्स्थाने च । एतदपि युक्तम् । कथम् । नैवेश्वर आज्ञापयति नापि धर्मसूत्रकाराः पठन्त्यपवादैरुत्सर्गा बाध्यन्तामिति । किं तर्हि । लौकिको ऽयं दृष्टान्तः । लोके हि सत्यपि संभवे बाधनं भवति । तद्यथा ।

होता है " इसके (अपवादका उदाहरण है) 'भिनत्ति', 'छिनत्ति'।

(ये जो अपवादके उदाहरण दिये है उनमेंसे) 'कुण्डानि', 'वनानि' ये उदाहरण युक्त है। क्योंकि, वहाँ ('नपुंसकस्य झलचः'—७।१।७२—सूत्रसे कहा हुआ जो नुम् है) वह आगम ('प्रकृतसूत्रसे कुण्ड, वन से) अन्तिम अच्के आगे (अर्थात् 'अ'कारके आगे भी किया जायगा) और (षष्ठी स्थानेयोगा—१।१।४९ —सूत्रसे अन्तिम वर्णके अर्थात् उस 'आ'कारके) 'स्थानपर भी किया जायगा' यह एक ही समय संभवनीय नहीं। (अतः बाध करनेके सिवा दूसरा कोई मार्ग ही नहीं। इससे वहाँ अपवाद लिया है यह ठीक हुआ।) परन्तु 'पयांसि,' 'यशांसि' ये (अपवादके उदाहरण) युक्त नहीं है। क्योंकि यहाँ (वही नुम् आगम 'प्रकृतसूत्रसे पयस्, यशस्के) अन्तिम अच्के आगे (अर्थात् आकारके आगे भी किया जायगा) और (षष्ठी स्थाने० सूत्रसे अन्तिम वर्णके अर्थात् सकारके) 'स्थानपर भी किया जायगा' यह एक ही समय संभवनीय है। (अतः यहाँ बिना किसी कारणके बाध करना योग्य नहीं।)

('पयांसि', 'यशांसि) ये भी (अपवादके उदाहरण) योग्य ही हैं।

सो कैसे ?

(पहले) 'अपवादोंसे उत्सर्गोका (अर्थात् सामान्य शास्त्रका) बाध किया जाय' यह सिद्धान्त कहाँ से आया ? (इसका विचार करना चाहिये)। न ईश्वरने (अर्थात् वेदने) वैसी आज्ञा दी है, न धर्मकारोंने भी वैसा वचन कहा है।

तो फिर (पूर्वोक्त विधानके मूलमें क्या है) ?

इस सिद्धान्तके मूलमें लौकिक दृष्टान्त है (ऐसा दीख पड़ता है)।—

वर्णको अर्थात् 'कुण्ड', 'वन' के अन्त्य अकारके स्थानमें और 'पयस्', 'यशस्' के अन्त्य सकारके स्थानमें हो जाता। परन्तु इस प्रकृत परिभाषासे 'षष्ठी स्थाने०' परिभाषाका बाध किया जानेसे वह 'नुम्' किसी भी वर्णके स्थानमें न होके अन्त्य अकारके आगे आगम-स्वरूपसे होता है। अब उसको 'आदेश' नहीं कहा जा सकता।

२. 'रुधादिभ्यः श्नम्' (३।१।७८) से कहा हुआ 'श्नम्' प्रत्यय 'परश्च' (३।१।२) से 'रुध्' के आगे हो जाता। परन्तु इस प्रकृत परिभाषासे 'परश्च' का बाध किया जानेसे 'श्नम्' प्रत्यय 'रुध्' के आगे न होके अन्त्य 'अच्' के आगे अर्थात् 'रुध्' धातुके उकारके आगे प्रत्यय होकर ही आगमस्वरूपसे होता है।

दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयतां तक्रं कौण्डिन्यायेति सत्यपि संभवे दधिदानस्य तक्रदानं निवर्तकं भवति । एवमिहापि सत्यपि संभवे ऽचामन्त्यात्परत्वं षष्ठीस्थानेयोगत्वं बाधिष्यते ॥

अन्त्यात्पूर्वो मस्जेरनुषङ्गसंयोगादिलोपार्थम् ॥ २ ॥

अन्त्यात्पूर्वो मस्जेर्मिद्वक्तव्यः । किं प्रयोजनम् । अनुषङ्गसंयोगादिलोपार्थम् । अनुषङ्गलोपार्थं संयोगादिलोपार्थं च । अनुषङ्गलोपार्थं तावत् । मग्नः

लोगोंमें (उत्सर्ग और अपवाद इन दोनोंका एक स्थानपर) संभव हो तो भी (वहाँ अपवादसे उत्सर्गका) बाध किया हुआ दिखाई देता है। जैसे, 'ब्राह्मणोंको दही दिया जाय और कौण्डिन्यको छाछ दिया जाय' ऐसा कहनेपर वहाँ यद्यपि (कौण्डिन्यको दही और छाछ ये) दोनों (पदार्थ दिये जाने) का संभव है तो भी वहाँ उसको केवल छाछ ही दिया जाता है, दही नहीं दिया जाता। अतः (वहाँ जैसे तक्रदानसे दधिदानका बाध होता है, वैसे 'पयांसि', 'यशांसि' इन दोनों उदाहरणोंमें भी ('अन्त्यवर्णके स्थानपर नुम् करना' और 'अन्त्य अच्के आगे करना' इन) दो वार्तोंका संभव है तो भी 'अन्त्य अच्के आगे मित् किया जाय' (यह कहनेवाले) इस प्रकृत सूत्रसे 'अन्त्यवर्णके स्थानपर आदेश किया जाय' ऐसा कहनेवाले ('षष्ठी स्थाने॰' सूत्र-) का बाध होगा।

(वा. २) मस्ज् धातुको कहा हुआ मित् (अर्थात् नुम्) अनुषङ्गलोप और संयोगादिलोप होनेके लिए अन्त्यवर्णके पूर्व कहा जाय।

मस्ज् धातुको जो मित् (अर्थात् नुम् आगम 'मस्जिनशोर्झलि' — ७।१।६० सूत्रसे कहा है) वह (अन्त्य अच्के आगे न होके) अन्त्यवर्णके पूर्व होता है ऐसा कहा जाय।

इसका क्या उपयोग है?

अनुषङ्गसंयोगादिलोपार्थम्। अर्थात् अनुषङ्गलोप (६।४।२४) होनेके लिए और संयोगादिलोप (८।२।२९) होनेके लिए। उपधाका जो नकार होता है उसको अनुषङ्ग कहते हैं। उसके लोपके उदाहरण हैं, 'मग्नः', 'मग्नवान्'। संयोगादिलोपके उदाहरण

ममवान् । संयोगादिलोपार्थम् । मङ्क्ता मङ्क्तुम् मङ्क्तव्यम् ॥

भर्जिमर्च्योश्च ॥ ३ ॥

भर्जिमर्च्योश्चान्त्यात्पूर्वो मिद्वक्तव्यः । भरूजा मरीचय इति ॥ स तर्हि वक्तव्यः । न वक्तव्यः । निपातनात्सिद्धम् । किं निपातनम् । भरूजाशब्दो ऽङ्गुल्यादिषु पठ्यते मरीचिशब्दो बाह्वादिषु ॥

हैं, 'मङ्क्ता', 'मङ्क्तुम्' 'मङ्क्तव्यम्'।

(वा. ३) भर्जि, मर्चिको भी जो मित् आगम होता है वह अन्त्य वर्णके पूर्व होता है।

भर्जि, मर्चिको भी जो मित् आगम होता है वह अन्त्य वर्णके पूर्व होता है ऐसा कहा जाय; जैसे, 'भरूजाः', 'मरीचयः'।

तो फिर वैसा कहना ही चाहिये न ?

वह न कहा जाय। निपातनसे ही वह सिद्ध होगा। (निपातन अर्थात् प्रत्यक्ष शब्दका उच्चारण।)

वह निपातन कौनसा ?

'अङ्गुलि-आदि गणमें (५।२।१०८) पाणिनिने 'भरूजा' शब्दका उच्चारण किया है। तथा बाहु-आदि गणमें (४।१।९६) 'मरीचि' शब्दका उच्चारण [६]किया है।

---

४. 'मस्ज्' धातुके आगे 'ण्वुल्तृचौ' (३।१।१३३) से 'तृच्' प्रत्यय करनेके बाद 'नुम्' आगम अकारके आगे हुआ तो 'नस्ज' ऐसा संयोग होता है। तब संयोगका आदि सकार न होनेके कारण 'स्कोः संयो०' (८।२।२९) से सकारका लोप न होगा। अब प्रकृत वार्तिकसे जकारके पूर्व नुम् किया तो 'स्नज्' ऐसा संयोग होता है और संयोगका आदि सकार होनेके कारण उसका लोप होता है। 'तीन वा अधिक व्यंजन समीप हो तो उनमेंसे दो व्यंजनोंको संयोगसंज्ञा होती है' इस मतके अनुसार यह उपयोग बताया है। 'समुदाये संयोगादिलोपो मस्जे' (१।१।७ वार्तिक २) देखिये।

५ 'भर्ज्' धातुके आगे 'अच्' प्रत्यय करनेके बाद धातुको जो 'रुम्' आगम होता है वह अकारके आगे न होकर अन्त्य वर्णके अर्थात् जकारके पूर्व होता है और उससे 'भरूज' शब्द बनता है। आगे स्त्रीलिंगी 'टाप्' प्रत्यय होकर 'भरूजा' रूप होता है। तथा दशम गणकी 'मर्च' धातुके आगे णिच् प्रत्यय करके उसके आगे 'अच इ.' (उणा० ४।१४१) से 'इ' प्रत्यय हुआ है। वहाँ धातुको जो 'इम्' आगम होता है वह अन्त्य वर्णके अर्थात् चकारके पूर्व होता है और उससे 'मरीचि' शब्द सिद्ध होता है।

६. और 'मृकण्भ्यामीचिः' (उणा० ४।६९) से 'मृ' धातुके आगे 'ईचि' प्रत्यय करके भी 'मरीचि' शब्द सिद्ध होता है।

किं पुनरयं पूर्वान्त आहोस्वित्परादिराहोस्विदभक्तः । कथं चायं पूर्वान्तः स्यात्कथं वा परादिः कथं वाभक्तः । यद्यन्त इति वर्तते ततः पूर्वान्तः । अथादेरिति वर्तते ततः परादिः । अथोभयं निवृत्तं ततो ऽभक्तः । कश्चात्र विशेषः ।

अभक्ते दीर्घनलोपस्वरणत्वानुस्वारशीभावाः ॥ ४ ॥

यद्यभक्तो दीर्घत्वं न प्राप्नोति । कुण्डानि वनानि । नोपधायाः [६·४·७] सर्वनामस्थाने चासंबुद्धौ [८] इति दीर्घत्वं न प्राप्नोति । दीर्घ ॥ नलोप । नलोपश्च न सिध्यति । अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था । ता ता पिण्डानाम् । नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य [८·२·७] इति नलोपो न प्राप्नोति ।

फिर, क्या यह 'मित्' पूर्वका अन्त्यावयव होता है, अथवा परका आद्यावयव होता है, अथवा दोनोंका भी अवयव न होकर बीचमें अलग ही रहता है ?

(यह प्रश्न यहाँ कैसे निर्माण होता है ?) 'पूर्वका अन्त्यावयव' कैसे होगा ? 'परका आद्यावयव' कैसे होगा ? तथा 'बीचमें अलग रहता है' यह भी कैसे कहा जाय ?

यदि इस प्रकृत सूत्रसे 'अन्त' शब्दकी अनुवृत्ति हुई तो '(मित्) पूर्वका अन्त्यावयव होता है' (ऐसा कहा जायगा) । तथा 'आदि' शब्दकी अनुवृत्ति की गयी तो 'परका आद्यावयव होता है' (ऐसा कहा जायगा) । और दोनों शब्दोंकी अनुवृत्ति न की गयी तो 'बीचमें अलग रहता है' (ऐसा कहा जायगा) ।

फिर इन तीन पक्षोंमें भेद क्या है ?

(वा. ४) यदि ('मित्' अर्थात् नुम् आगम) अलग रहा तो दीर्घ नलोप, स्वर, णत्व, अनुस्वार और शीभाव नहीं प्राप्त होंगे ।

यदि ('मित्' किसीका भी अवयव न होकर) अलग ही रहा तो दीर्घ नहीं होगा । 'कुण्डानि', 'वनानि' उदाहरणोंमें "नोपधायाः"—६।४।७—(सूत्रके आगेके) "सर्वनामस्थाने चासंबुद्धौ" (६।४।८) सूत्रसे (उपधाको कहा हुआ) दीर्घ नहीं प्राप्त होगा । तथा नकारका लोप नहीं होगा । 'अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था', ता ता पिण्डानाम्' वाक्योंमें ('त्री' और 'ता ता' रूपोंमें) "नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य" (८।२।७) सूत्रसे जो नकारका लोप होता है वह प्राप्त नहीं होगा । तथा स्वर भी सिद्ध नहीं होगा । 'सर्वाणि ज्योतींषि'

---

७. 'कुण्ड' शब्दके आगे जो 'जस्' प्रत्यय है उसको 'शि' आदेश (७।१।२०) करनेके बाद 'नपुंसकस्य झलचः' (७।१।७२) से जो नुम् हुआ है वह यदि इस अंगका अवयव न होकर केवल आगे हुआ तो अंग नकारान्त न होनेसे दीर्घ न होगा ।

८. त्रि और तद् शब्दोंके नपुंसकलिंगमें प्रथमा बहुवचन जो 'त्रीणि' और 'तानि' होते हैं उनके 'इ' प्रत्ययका 'सुपां सुलुक्०' (७।१।३९) से वेदमें लुक् होके उनके पिछले नुमागमका नकार प्रातिपदिकका अन्त्यावयव है इसलिए उसका लोप होता है ।

नलोप ॥ स्वर । स्वरश्च न सिध्यति । सर्वाणि ज्योतींषि । सर्वस्य सुपि [६·१·१९१] इत्याद्युदात्तत्वं न प्राप्नोति । स्वर ॥ णत्व । णत्वं च न सिध्यति। माषवापाणि व्रीहिवापाणि । पूर्वान्ते प्रातिपदिकान्तनकारस्येति सिद्धम् । परादौ विभक्तिनकारस्येति । अभक्ते नुमो ग्रहणं कर्तव्यम् । न कर्तव्यम् । क्रियते न्यास एव । प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च [८·४·११] इति । णत्व ॥ अनुस्वार। अनुस्वारश्च न सिध्यति । द्विषंतपः परंतपः । मो ऽनुस्वारो हलीत्यनुस्वारो न प्राप्नोति । मा भूदेवम् । नश्चापदान्तस्य झलि [८·३·२४] इत्येवं भविष्यति। यस्तर्हि न झल्परः । वहंलिहो गौः । अभ्रंलिहो वायुः । अनुस्वार ॥ शीभाव।

वाक्यमें 'सर्वाणि' रूपमें "सर्वस्य सुपि" (६।१।१९१) सूत्रसे जो आदि उदात्त होता है वह नहीं होगा[९]। तथा 'माषवापाणि', 'व्रीहिवापाणि' उदाहरणोंमें णत्व सिद्ध नहीं होगा। यहाँ ("नपुंसकस्य झलचः"—७।१।७२—सूत्रसे कहा हुआ) नुम् यदि पूर्वका अन्त्यावयव माना गया तो ('प्रातिपदिकान्त०'—८।४।११—सूत्रसे) प्रातिपदिकका अन्त्यावयव समझकर उस नुमके नकारको णत्व होगा। यदि वह नुम् 'पर–'का आद्यावयव माना गया तो 'वह नकार विभक्तिप्रत्ययोंमेंसे है' ऐसा समझकर उसी सूत्रसे णत्व होगा। और वह नुम् 'किसीका भी अवयव नहीं' ऐसा माना गया तो (उस णत्व कहनेवाले सूत्रमें नुमके नकारको णत्व होनेके लिए) 'नुम्' यह अलग शब्द रखना चाहिये। पर वह नया शब्द रखनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि पाणिनिने 'प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च' (८।४।११) सूत्रमें यह नुम् शब्द रखा ही है।

तथा (यदि मित् किसीका भी अवयव न माना गया तो) अनुस्वार भी सिद्ध नहीं होगा। "मोनुस्वारः" (८।३।२३) सूत्रसे जो हल् (व्यञ्जन) आगे होनेपर (पदके अन्तमें होनेवाले मकारको) अनुस्वार कहा है वह 'द्विषंतपः', 'परंतपः' उदाहरणोंमें नहीं होगा[११]। परन्तु उस सूत्रसे अनुस्वार न हुआ तो भी कुछ आपत्ति नहीं। "नश्चापदान्तस्य झलि" (८।३।२४) सूत्रसे वहाँ अनुस्वार होगा। तो फिर जहाँ झल् आगे न हो वहाँ क्या व्यवस्था की जाय? जैसे, 'वहंलिहो गौः', अभ्रंलिहो

९. कारण यह कि 'सर्व' शब्दके आगे 'सुप्' प्रत्यय नहीं है। बीचमें नकारसे व्यवधान होता है।

१०. तात्पर्य, 'मित् किसीका अवयव नहीं है' इस पक्षपर 'णत्व न होगा' यह दोष नहीं आता।

११ क्योंकि 'अरुर्द्विष०' (७।३।६७) से 'द्विषत्' और 'पर' शब्दोंको जो 'नुम्' आगम हुआ वह पूर्वका अवयव न होनेके कारण उस नुमागमका मकार 'पदके अन्तमें है' ऐसा नहीं कहा जा सकता।

ीभावश्च न सिध्यति । त्रपुणी जतुनी तुम्बुरुणी । नपुंसकादुत्तरस्यौङः शीभावो वर्तीति शीभावो न प्राप्नोति ॥ एवं तर्हि परादिः करिष्यते ।

परादौ गुणवृद्ध्यौत्त्वदीर्घनलोपानुस्वारशीभावेनकारप्रतिषेधः ॥ ५ ॥

यदि परादिर्गुणः प्रतिषेध्यः । त्रपुणे जतुने तुम्बुरुणे । घेर्ङिति [७-३-१११] इति गुणः प्राप्नोति । गुण ॥ वृद्धि । वृद्धिः प्रतिषेध्या । अतिसखीनि ब्राह्मणकुलानि । सख्युरसंबुद्धौ [७-१-९२] इति णित्त्वे ऽचो ञ्णिति [७-२-११५] इति वृद्धिः प्राप्नोति । वृद्धि ॥ । औत्त्व । औत्त्वं च प्रतिषेध्यम् ।

ाुः'। (तब मित् यदि किसीका भी अवयव न माना गया तो 'अनुस्वार नहीं ोगा' यह दोष कायम ही रहेगा ।

तथा 'शी' आदेश सिद्ध नहीं होगा। ("नपुंसकाच्च"—७।१।१९—त्रसे) नपुंसकलिंग शब्दके आगे प्रथमा और द्वितीया के द्विवचनप्रत्ययको जो 'शी' ादेश कहा है वह त्रपुणी, जतुनी, तुम्बुरुणी उदाहरणोंमें नहीं होगा।

ये दोष आते हैं तो 'मित्' परका आद्यावयव किया जायगा।

(वा. ५) यदि 'परका आद्यावयव किया गया तो गुण, वृद्धि और औत्त्वका प्रतिषेध करना चाहिये; तथा दीर्घ, नलोप और अनुस्वार सिद्ध न होंगे, और 'शी' आदेश करनेके समय 'न'कारका प्रतिषेध करना चाहिये।)

यदि ('मित्') 'पर'का आद्यावयव किया गया तो 'त्रपुणे' 'जतुने,' 'तुम्बुरुणे' उदाहरणोंमें 'घेर्ङिति' (७।३।१११)—से जो गुण[१३] प्राप्त होता है उसका निषेध करना चाहिये।

तथा 'अतिसखीनि ब्राह्मणकुलानि' यहाँ ('अतिसखि' शब्दके आगे आनेवाला 'शी' प्रत्यय) 'सख्युरसंबुद्धौ' (७।१।९२) सूत्रसे णित् समझा जानेके कारण 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) सूत्रसे जो वृद्धि प्राप्त होती है उसका निषेध करना चाहिये।

---

१२. 'त्रपु' शब्दके आगे 'औ' प्रत्यय करनेके बाद 'नपुंसकाच्च' (७।१।१९) से उस 'औ' प्रत्ययको 'शी' आदेश प्राप्त हुआ। परन्तु 'इकोचि॰' (७।१।७३) से जो 'नुम्' आदेश प्राप्त हुआ वह 'शी' आदेशकी अपेक्षा पर और नित्य होनेके कारण 'शी' आदेशके पहले होगा। बादमें उस नुमागमके नकारसे व्यवधान प्राप्त होनेके कारण 'शी' आदेश न होगा।

१३. 'त्रपु' आदि शब्दोंके आगे चतुर्थीका एकवचन 'ङे' प्रत्यय करनेके बाद 'इकोचि॰' (७।१।७३) से जो नुम् आगम हुआ वह 'त्रपु' का अवयव न होनेके कारण उपरान्त 'त्रपु-' को 'घि' संज्ञा (१।४।७) कायम है। और वह 'नुम्' आगम अगले प्रत्ययका अवयव होनेके कारण बीचमें व्यवधान नहीं होता और उससे गुण प्राप्त होता है।

त्रपुणि जतुनि तुम्बुरुणि । इदुद्भ्यामौदच्च घे [७ ३ ११७–११९] इत्यौत्त्वं प्राप्नोति । औत्त्व ॥ दीर्घ । दीर्घत्वं च न सिध्यति । कुण्डानि वनानि। नोपधाया सर्वनामस्थान इति दीर्घत्वं न प्राप्नोति । मा भूदेवम् । अतो दीर्घो यञि सुपि च [७ ३ १०१–१०२] इत्येव भविष्यति । इह तर्हि। अस्थीनि दधीनि प्रियसखीनि ब्राह्मणकुलानि । दीर्घ ॥ नलोप । नलोपश्च न सिध्यति । अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था । ता ता पिण्डानाम् । नलोपः प्रातिपदिकान्तस्येति नलोपो न प्राप्नोति । नलोप ॥ अनुस्वार । अनुस्वारश्च न सिध्यति द्विपतप परतप । मो ऽनुस्वारो हलीत्यनुस्वारो न प्राप्नोति । मा भूदेवम्। नश्चापदान्तस्य झलीत्येव भविष्यति । यस्तर्हि न झल्पर । वहलिंहो गौ । अभ्रलिंहो वायु । अनुस्वार ॥ शीभावेनकारप्रतिषेध । शीभावे नकार॰

तथा त्रपुणि, जतुनि, तुम्बरुणि उदाहरणोंमें 'इदुद्भ्याम,' 'औत,' 'अच्च घे' (७।३।११७–११९) इनमेंसे 'अच्च घे' (७।३।११९) इस विभक्तसूत्रसे (सप्तमी प्रत्ययको जो) औकार आदेश प्राप्त होता है उसका निषेध करना चाहिये।

तथा ('मित्' यदि 'पर'का आद्यावयव माना गया तो) दीर्घ नहीं होगा। 'कुण्डानि,' 'वनानि' उदाहरणोंमें 'नोपधाया –' (६।४।७)के आगे आनेवाले 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (६।४।८) सूत्रसे (उपधाको कहा हुआ) दीर्घ नहीं होता। उस सूत्रसे दीर्घ नहीं हुआ तो भी कुछ बाधा नहीं। 'अतो दीर्घो यञि' (७।३।१०१) के आगे आनेवाले 'सुपि च' (७।३।१०२) सूत्रसे वहाँ दीर्घ किया जाँयगा। तो फिर अस्थीनि, दधीनि, प्रियसखीनि ब्राह्मणकुलानि (उदाहरणोंमें 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ'—६।४।८—सूत्रसे जो दीर्घ होना है वह नहीं होता यह दोष आता ही है। और 'सुपि च' सूत्रसे तो केवल अकारको ही दीर्घ कहा है।)

तथा नलोप भी नहीं होगा। 'अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था', 'ता ता पिण्डानाम्' (इन वाक्योंके 'त्री' और 'ता' रूपोंमें) 'नलोप प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) सूत्रसे नकारका जो लोप होता है वह नहीं होगा।

तथा अनुस्वार भी सिद्ध नहीं होगा। अर्थात् 'द्विपतप', 'परतप' उदाहरणोंमें 'मोनुस्वार' (८।३।२३) सूत्रसे हल् आगे होनेपर जो अनुस्वार होता है वह नहीं होगा। परन्तु उस सूत्रसे अनुस्वार न हुआ तो कुछ आपत्ति नहीं। 'नश्चापदान्तस्य झलि' (८।३।२४) सूत्रसे वहा अनुस्वार होगा। तो फिर जहाँ झल् आगे नहीं वहाँ क्या प्रबन्ध किया जाय? उदा० 'वहलिंहो गौ', 'अभ्रलिंहो वायु'।

---

१४ क्योंकि 'मुम् आगम परका आद्यावयव होता है' यह पक्ष लिया गया है इसलिए नि यनादि 'सुप्' प्रत्यय होता है।

प्रतिषेधो वक्तव्यः । त्रपुणी जतुनी तुम्बुरुणी । सनुम्कस्य शीभावः प्राप्नोति । नैष दोषः । निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीत्येवं न भविष्यति । यस्तर्हि निर्दिश्यते तस्य न प्राप्नोति । कस्मात् । नुमा व्यवहितत्वात् । एवं तर्हि पूर्वान्तः करिष्यते।

पूर्वान्ते नपुंसकोपसर्जनह्रस्वत्वं द्विगुस्वरश्च ॥ ६ ॥

यदि पूर्वान्तः क्रियते नपुंसकोपसर्जनह्रस्वत्वं द्विगुस्वरश्च न सिध्यति । नपुंसकोपसर्जनह्रस्वत्वम् । आराशस्त्रिणी धानाशष्कुलिनी । निष्कौशाम्बिनी

तथा 'शी आदेश करनेके समय उस शी आदेशके स्थानीमें नकार न लिया जाय' ऐसा निषेध कहना चाहिये। (अन्यथा) 'त्रपुणी', 'जतुनी', 'तुम्बुरुणी' उदाहरणोंमें ('नुम्' यह अगले औप्रत्ययका आद्यावयव होनेके कारण उस) नुमागमके सहित (औप्रत्यय) को ('नपुंसकाच्च' — ७।१।१९ — सूत्रसे) 'शी' आदेश होने लगेगा। यह दोष नहीं आता है। क्योंकि 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' (प. शे. परि० १२) अर्थात् 'सूत्रमें जो प्रत्यय उच्चारित हो उसीको आदेश होते हैं।' इस परिभाषासे (नुमागमसहित औप्रत्ययको 'शी' आदेश) नहीं होगा। तो फिर (उस *परिभाषासे नकार अलग रखा गया तो उसके आगे*) जो औ उच्चारित है उसको भी 'शी' आदेश नहीं किया जायगा। क्यों? (बीचमें) उसी नकारसे व्यवधान आनेसे (वह 'औ' प्रत्यय नपुंसकलिंगयुक्त अंगके आगे नहीं आता)।

तो फिर (यदि ये दोष आते हैं तो 'मित्') पूर्वका अन्त्यावयव किया जायगा।

(वा. ६) यदि 'मित्' पूर्वका अन्त्यावयव किया गया तो नपुंसक-ह्रस्वत्व, उपसर्जनह्रस्वत्व और द्विगुस्वर (ये सिद्ध नहीं होंगे)।

'मित्' यदि पूर्वका अन्त्यावयव किया गया तो नपुंसकलिंगी शब्दको कहा हुआ ह्रस्व (१।२।४७), उपसर्जनशब्दको कहा हुआ ह्रस्व (१।२।४८) और द्विगुस्वर (६।२।२९) ये सिद्ध नहीं होंगे। नपुंसकलिंगी शब्द के उदाहरण हैं — *आराशस्त्रिणी, धानाशष्कुलिनी*। उपसर्जनके उदाहरण हैं — *निष्कौशाम्बिनी, निर्वाराण-*

---

१५. 'आराशस्त्री', 'धानाशष्कुली' समाहारद्वंद्व हैं। वैसे समाहार दो चार दिखाना है इसलिए समाहारद्वंद्वको यहाँ द्विवचन किया है। यहाँ अन्त्य ईकारको 'ह्रस्वो नपुंसके॰' (१।२।४७) से ह्रस्व प्राप्त हुआ है। 'निष्कौशाम्बी', 'निर्वाराणसी' ये 'निरादय: *क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या*' (२।२।१८ सौनाग वार्तिक) से पञ्चमी तत्पुरुष होके सामासिक शब्द हुए हैं। यहाँ अन्त्य ईकारको 'ह्रस्वो नपुंसके॰' (१।२।४७) और 'गोस्त्रियो॰' (१।२।४८) इन दोनों सूत्रोंसे ह्रस्व प्राप्त हुआ है। परन्तु उस ह्रस्वके पहले नित्यत्वके कारण 'नुम्' *आगम होगा*। तथा 'पञ्चारत्नि', 'दशारत्नि' सामासिक शब्द '*तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च*' (२।१।५१) और 'संख्यापूर्वो द्विगुः' (२।१।५२) सूत्रोंसे द्विगुसमास होके बने हैं। यहाँ 'इगन्तकाल॰' (६।२।२९) सूत्रसे इगन्त 'अरत्नि' पद आगे है इसलिए पूर्वपद

निर्वाराणसिनी । द्विगुस्वर । पञ्चारत्निनी दशारत्निनी । नुमि कृतेऽनन्त्यत्वादेते विधयो न प्राप्नुवन्ति ॥

न वा बहिरङ्गलक्षणत्वात् ॥ ७ ॥

न वैष दोष । किं कारणम् । बहिरङ्गलक्षणत्वात् । बहिरङ्गो नुमन्तरङ्गा एते विधय । असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ॥ द्विगुस्वरे भूयान्परिहारः । संघातभक्तो ऽसौ नोत्सहते ऽवयवस्येगन्तता विहन्तुमिति कृत्वा द्विगुस्वरो भविष्यति ॥

सिनी। द्विगुस्वरके उदाहरण ह — पञ्चारत्निनी, दशारत्निनी। (इन उदाहरणोंमें 'इकोचि विभक्तौ' — ७।१।७३ — सूत्रसे) नुम् आगम करनेके बाद (वह नुम् पूर्वका अन्त्यावयव होनेसे) पूर्वशब्द इगन्त न होनेके कारण (ह्रस्व और स्वर[16]) ये कार्य नहीं होंगे।

(वा ७) अथवा यह दोष नहीं आता है, क्योंकि 'नुम्' बहिरङ्ग है।

अथवा यह दोष नहीं आता है।

क्यों?

'बहिरङ्गलक्षणत्वात्' अर्थात् 'नुम्' बहिरङ्ग है और (ह्रस्व और स्वर) ये कार्य अन्तरङ्ग है। तथा 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' (प शे परि० ५०) अर्थात् अन्तरङ्गशास्त्र करते समय बहिरङ्गशास्त्र असिद्ध समझा जाय' यह तो परिभाषा ही है। (तब उस परिभाषासे उन दोषोंका परिहार होगा।) द्विगुस्वरके सबंधमें तो इससे अधिक अच्छा भिन्न ही दोषपरिहार है। (वह यों कि,) जो आगम समुदायका अवयव होता है वह (सहजतासे उस समुदायमेंके किसी अवयवके आगे आया तो केवल इसी कारण) उस अवयवके स्वरूपमें अर्थात् इगन्तस्वरूपमें बदल नहीं कर सकता। अत ('पञ्चारत्नि' सामासिक शब्दका जो 'अरत्नि' अवयव है वह उत्तरपद है। उसके इगन्तत्वका नुमागमसे विघात न[18] होनेके कारण) वहाँ द्विगुस्वर होगा।

'पञ्चन्' को प्रकृतिस्वर अर्थात् आदि उदात्त प्राप्त हुआ है। परन्तु उस स्वरके पूर्व नित्यत्वके कारण 'नुम्' आगम होगा।

१६ 'नुम्' आगम पूर्वका अन्त्यावयव होनेके कारण 'अरत्निन्' यह उत्तरपद समझा जायगा। और वह इगन्त न होनेसे स्वर न होगा।

१७ 'नुम्' आगमको अगले 'सुप्' प्रत्ययकी आवश्यकता होनेसे वह बहिरग होता है। और ह्रस्व और स्वरको अगले 'सुप्' प्रत्ययकी आवश्यकता न होनेसे अतरग होते हैं। तब उस अन्तरगकी दृष्टिसे बहिरग 'नुम्' आगम असिद्ध होनेसे उसके, पहलेही ह्रस्व और स्वर होंगे। इस तरह वहाँ कुछ भी दोष आता नहीं।

१८ 'पञ्चारत्नि' इस सपूर्ण शब्द का 'नुम्' अवयव होनेके कारण उस सपूर्ण सामासिक शब्द का पञ्चारत्निन्का इगन्तत्व जायगा। पर उत्तरपद केवल 'अरत्नि' ही होनेसे उसका इगन्तत्व कायम ही है।

एच इग्घ्रस्वादेशे ॥ १ । १ । ४८ ॥

किमर्थमिदमुच्यते ।

एच इक्सवर्णाकारनिवृत्त्यर्थम् ॥ १ ॥

एच इग्भवतीत्युच्यते सवर्णनिवृत्त्यर्थमकारनिवृत्त्यर्थं च । सवर्णनिवृत्त्यर्थं तावत् । एङो ह्रस्वशासनेष्वर्ध एकारो ऽर्ध ओकारो वा मा भूदिति ॥ आकारनिवृत्त्यर्थं च । इमावैचौ समाहारवर्णौ । मात्रावर्णस्य मात्रेवर्णोवर्णयोः । तयोर्ह्रस्वशासनेषु कदाचिदवर्णः स्यात्कदाचिदिवर्णोवर्णौ । मा कदाचिदवर्णं भूदित्येवमर्थमिदमुच्यते ॥ अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्हीति । दीर्घप्रसङ्गः । दीर्घा-

---

(सू. ४८) एच् (अर्थात् संयुक्त स्वर ए, ओ, ऐ, औ इन चार (वर्णों –) को जहाँ कहीं ह्रस्वत्व प्राप्त होगा वहाँ ह्रस्व इक् (अर्थात् इ, उ, ऋ, ऌ इनमेंसे ही जो कोई समुचित हो वह) किया जाय। (सिवा इनके अन्य कदापि न किया जाय।)

यह सूत्र किस लिए किया है?

(वा. १) एच्को इक् होता है वह सवर्णकी निवृत्तिके लिए और अकारकी निवृत्तिके लिए।

एच्को इक् होता है ऐसा जो यहाँ कहा है वह सवर्णकी निवृत्तिके लिए और अवर्णकी निवृत्तिके लिए कहा है। वहाँ सवर्णकी निवृत्तिका उपयोग यों है—एङ्को जहाँ ह्रस्व कहा हो वहाँ (उस एकार और ओकारके स्थानपर उनका सवर्ण) अर्ध एकार (अर्थात् एकमात्रायुक्त ह्रस्व एकार) और अर्ध ओकार (अर्थात् एकमात्रायुक्त ह्रस्व ओकार) ये आदेश न हों। अकारकी निवृत्तिका यों उपयोग है—ऐ और औ ये दो वर्ण वर्णसमुदायरूप हैं। ('ऐ' वर्णके उच्चारणमें 'अ इ' इन दो वर्णोंका आभास होता है, तथा 'औ' वर्णके उच्चारणमें 'अ उ' इन दो वर्णोंका आभास होता है। ऐ और औ इनमें प्रत्येककी दो मात्राएँ हैं।) उनमें एक मात्रा पहले 'अ' भागकी है और दूसरी मात्रा 'इ' वा 'उ' [illegible] है। अतः (ऐ और औको) जहाँ ह्रस्व कर्तव्य हो वहाँ कदाचित् 'अ' वर्ण आदेश होगा, कदाचित् 'इ' वर्ण और 'उ' वर्ण भी आदेश होंगे। उनमें इष्यमाण जो [illegible] है वह न होना चाहिये। इसलिए यह सूत्र किया है।

इस सूत्रका यह उपयोग है सही, पर—

पर क्या? आपका इस विषयमें और क्या कहना है?

(कहना यही है कि इस सूत्रसे 'इक् आदेश किये जाते' [illegible] जानेसे) वे इक् आदेश होते समय ही [illegible]।

क्यों?

स्त्विकः प्राप्नुवन्ति । किं कारणम् । स्थानेऽन्तरतमो भवतीति । ननु च ह्रस्वादेश इत्युच्यते तेन दीर्घा न भविष्यन्ति। विषयार्थमेतत्स्यात् । एचो ह्रस्वप्रसङ्ग इग्भवतीति ।

दीर्घप्रसङ्गस्तु निवर्तकत्वात् ॥ २ ॥

दीर्घाणां त्विकामप्रसङ्गः । किं कारणम् । निवर्तकत्वात् । नानेनेको निवर्त्यन्ते । किं तर्हि । अनिको निवर्त्यन्ते । सिद्धा ह्यत्र ह्रस्वा इकश्चानिकश्च तत्रानेनानिको निवर्त्यन्ते ॥

सवर्णनिवृत्त्यर्थेन तावन्नार्थः ।

('स्थानेऽन्तरतमः' —१।१।५०— परिभाषासूत्र है । इस सूत्रसे) द्विमात्र एचोंके स्थानमें होनेवाले इक् 'अन्तरतम' अर्थात् दीर्घ 'ई'–कार और दीर्घ 'ऊ'–कार होंगे ।

पर इस सूत्रमें 'ह्रस्व कर्तव्य होनेपर' ऐसा कहा है न ? तब दीर्घ इक् नहीं होंगे।

वह जो कहा है सो केवल स्थाननिर्देश है, अर्थात् एचोंको ह्रस्व कर्तव्य होनेपर वहीं उनको इक् आदेश किये जायँ । (इससे जहाँ ह्रस्व कर्तव्य न हो वहाँ यह सूत्र प्रवृत्त न होगा । पर जहाँ ह्रस्व कर्तव्य होनेसे यह सूत्र प्रवृत्त होगा वहाँ दीर्घ आदेश क्यों न किये जायँ यह समझमें नहीं आता ।)

(वा. २) दीर्घ इक् आदेश नहीं होंगे, क्योंकि यह परिभाषासूत्र केवल निवर्तक ही है।

दीर्घ इक् आदेश नहीं होंगे।

क्यों ?

यह परिभाषासूत्र केवल निवर्तक ही है' इसलिए । अर्थात् इस सूत्रसे (जो इक् आदेश किये जायँ ऐसा जो कहा है वे) इक् आदेश नये ही नहीं किये जाते । तो क्या किया जाता है ? इक्रहित स्वरोंकी निवृत्ति की जाती है। ह्रस्व आदेश (इस सूत्रसे भिन्न ह्रस्व कहनेवाले उन उन सूत्रोंसे) किये ही जाते है। पर (उन्हीं ह्रस्व कहनेवाले सूत्रोंसे 'ह्रस्व होता है' यही केवल कहा जानेके कारण) वे ह्रस्व इक् और उनसे भिन्न अनिक् दोनों प्रकारके प्राप्त होते है। उनमें (उन सूत्रोंसे) इक्के व्यतिरिक्त जो दूसरे ह्रस्व आदेश आते है उनकी (इस प्रकृतसूत्रसे) केवल निवृत्ति होती है। (तात्पर्य यह है कि, इस सूत्रसे पहले बताये हुए दो प्रकारके उपयोग हैं ऐसा सिद्ध होता है ।)

अब सवर्णकी निवृत्तिके लिए तो यह सूत्र किया ही न जाय।

१. अ. १ पा १ सू ४६ टि ५ देखिये।

सिद्धमेङः सस्थानत्वात् ॥ ३ ॥

सिद्धमेतत् । कथम् । एङः सस्थानत्वादिकारोकारौ भविष्यतो ऽर्ध एकारो ऽर्ध ओकारो वा न भविष्यति । ननु चैङः सस्थानतरावर्धैकारार्धौकारौ । न तौ स्तः । यदि हि तौ स्यातां तावेवायमुपदिशेत् । ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते । सुजाते ए अश्वसूनृते । अध्वर्यो ओ अद्रिभिः सुतम् । शुक्रं ते ए अन्यद्यजतं ते ए अन्यदिति । पार्षदकृतिरेषा तत्रभवतां नैव लोके नान्यस्मिन्वेदे ऽर्ध एकारो ऽर्ध ओकारो वास्ति ॥ अकार-

---

(वा. ३) एङ् स्वर (इ और उ) स्वरका समानस्थान होनेके कारण इष्ट सिद्ध होता है।

('ए' और 'ओ' को ह्रस्व कर्तव्य होनेपर उनके सवर्ण ह्रस्व ए, ओ न होके इक् ही ह्रस्व होंगे) यह अपनेआप ही सिद्ध होता है।

सो कैसे?

एङ् (ए, ओ) और इकार, उकार ये स्थानोंसे समान होनेके कारण (एङ्को ह्रस्व कर्तव्य होनेपर) वे इकार, उकार ही होंगे, आधा एकार, आधा ओकार न होंगे।

पर आधा एकार और आधा ओकार ये (इकार और उकारकी अपेक्षा) स्थानोंसे एङ्से अधिक समान है न? फिर वे क्यों न होंगे?

वैसे एकार और ओकार (भाषामें) है ही नहीं। यदि वे होते तो महेश्वरने ('एओङ्' सूत्रमें जिन दीर्घ एकारों और ओकारोंका उच्चारण किया है उनका उच्चारण न करके उनके बदले ह्रस्व अ इ उ के समान वैसे) एकमात्रायुक्त एकारों और ओकारोंका उच्चारण किया होता।

परन्तु सात्यमुग्रि और राणायनीय शाखाओंके सामवेदी 'सुजाते ए अश्वसूनृते,' 'अध्वर्यो ओ अद्रिभिः सुतम्,' 'शुक्र ते ए अन्यद्यजतं ते ए अन्यत्' इन वैदिक वाक्योंमें (जो एकार और ओकार है उसके आगे दूसरे एकार और ओकार उच्चारते है, अर्थात् वे) अर्धमात्रायुक्त ह्रस्व एकार और ओकार उच्चारते है उसका निपटारा क्या है?

वह उनकी सभाका निजी निर्णय है। (वह सर्वत्र लागू नहीं होता।) लोगोंमें वा वेदमें अन्यत्र कहीं भी वैसा आधा एकार वा आधा ओकार नहीं दीखता। (तात्पर्य

---

२. 'ए' के कंठ और तालु दो स्थान हैं तथा वे दोनों स्थान आधे 'ए-'कारके हैं, और इकारका केवल तालुस्थान है। उसी प्रकार 'ओ' के कंठ और ओष्ठ दो स्थान हैं, तथा वे दोनों स्थान आधे 'ओ'कारके है, और उकारका केवल एक ही ओष्ठस्थान है। तब एक स्थानसे जो समान रहता है उसकी अपेक्षा दो स्थानोंसे समान रहनेवाला अधिक समान है यह प्रसिद्ध ही है।

निवृत्त्यर्थेनापि नार्थः ।

ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वात् ॥ ४ ॥

ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वादवर्णो न भविष्यति । भूयसी मात्रेवर्णोवर्णयोरल्पीयस्यवर्णस्य । भूयस एव ग्रहणानि भविष्यन्ति । तद्यथा । ब्राह्मणग्राम आनीयतामित्युच्यते तत्र चावरतः पञ्चकारुकी भवति ॥

षष्ठी स्थानेयोगा ॥ १ । १ । ४९ ॥

किमिद स्थानेयोगेति । स्थाने योगो ऽस्याः सेयं स्थानेयोगा । सप्तम्य-

---

यह है कि, वैसे एकार और ओकार न होनेके लिए यह सूत्र न किया जाय।)

तथा अकारकी निवृत्तिके लिए भी यह सूत्र न किया जाय।

(वा. ४) 'ऐ' और 'औ' में अगला भाग बडा है, इसलिए अवर्ण ह्रस्व नहीं होगा।)

ऐ और औ में अगला (जो इवर्ण-जैसा और उवर्णजैसा) भाग (है वह अवर्ण-जैसे पूर्वभागकी अपेक्षा) बडा है, उससे ('उनको ह्रस्व किया जाय' ऐसा कहनेपर वह अगला भाग जैसे झट ध्यानमें आता है वैसे पूर्वभाग ध्यानमें नहीं आता; अतः उनको) अवर्ण ह्रस्व नहीं होगा। (ऐ और औमें) इ और उ इस अगले भागकी मात्रा (पूर्वभागकी अपेक्षा) अधिक है, (अर्थात् डेढ मात्रा है)। और (पूर्वभाग जो) अ (है उस) की मात्रा (उस उत्तरभागकी अपेक्षा) कम है (अर्थात् आधी है)। और जिसमें जिसका बहुतसा भाग है उसीके नामसे वह गिना जाता है। जैसे, 'ब्राह्मणोंके गावमें लाइये' ऐसा कहा जाता है, पर (जिस गांवमें बहुतसे ब्राह्मण रहते है वह गांव 'ब्राह्मणोंका गाव, समझा जाता है। किन्तु उसमें सभी ब्राह्मण ही रहते है सो बात नहीं। जहाँ गांव है) उस स्थानमें कमसे कम बढई लुहार इत्यादि पाच प्रकारके कारीगर रहते ही है।

(सू. ४९) (जहाँ षष्ठीप्रत्ययका अर्थ अमुक ही संबंध लिया जाय ऐसा निश्चय न हो वहाँ) स्थानसे जो संबंध रहता है वह उस षष्ठीप्रत्ययका अर्थ लिया जाय।

'स्थानेयोगा' यह क्या है ?

'स्थानमें है योग अर्थात् संबंध जिस षष्ठीका वह स्थानेयोगा' (इस अर्थका बहुव्रीहि समास करके यह सामासिक पद सूत्रमें उच्चारित है)। (समास यद्यपि है तो भी पाणिनिने 'स्थनेयोगा' ऐसा) पढा ही है इसलिए (समासके) सप्तमीप्रत्ययका लोप नहीं हुआ। अथवा 'स्थानके साथ है योग अर्थात् संबंध जिस (षष्ठी-) का वह

लोपो निपातनात् ॥ तृतीयाया वैत्वम् । स्थानेन योगो ऽस्याः सेयं स्थानेयोगा ॥

किमर्थं पुनरिदमुच्यते ।

षष्ठ्याः स्थानेयोगवचनं नियमार्थम् ॥ १ ॥

नियमार्थो ऽयमारम्भः । एकशतं षष्ठ्यर्था यावन्तो वा ते सर्वे षष्ठ्यामुच्चारितायां प्राप्नुवन्ति । इष्यते च व्याकरणे या षष्ठी सा स्थानेयोगैव स्यादिति तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीति षष्ठ्याः स्थानेयोगवचनं नियमार्थम् । एवमर्थमिदमुच्यते ॥ अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्हीति ।

अवयवषष्ठ्यादिष्वतिप्रसङ्गः शासो गोह इति ॥ २ ॥

अवयवषष्ठ्यादयस्तु न सिध्यन्ति । तत्र को दोषः । शास इदङ्हलोः

स्थानेयोगा, (इस अर्थका बहुव्रीहि समास किया जाय) और (पाणिनिने स्थानेयोगा ऐसा उच्चारण किया ही है इसलिए समासमेंके) तृतीया प्रत्ययको एकार आदेश हुआ है (ऐसा समझा जाय)।

पर यह सूत्र ही किसलिए किया जाय ?

(वा. १) षष्ठीके अर्थके संबंधमें कुछ नियम करनेके लिए यह 'स्थानेयोग'-सूत्र किया है।

(षष्ठीके अर्थके संबंधमें) नियम करनेके लिए यह सूत्र किया है। षष्ठीके एक सौ एक अर्थ हैं। तब षष्ठी-प्रत्यय दीख पड़नेपर उतने अर्थ ध्यानमें आते हैं। (अथवा उनमेंसे जितने अर्थ शब्दसे सुसंगत हैं उतने तो कमसे कम ध्यानमें आयेंगे ही।) और हमको तो यह इष्ट है कि व्याकरणमें जो षष्ठी दीखती है उसका केवल स्थानसे जो संबंध है वही अर्थ होना चाहिये। और यह बात तो विशेष प्रयत्नके बिना सिद्ध नहीं होती है। इसलिए षष्ठीके अर्थके संबंधमें कुछ नियम करनेके लिए यह 'स्थानेयोग-' सूत्र किया है। सारांश उपर्युक्त प्रयोजनसे यह सूत्र किया है।

यह उपयोग है सही।

तो फिर आपका क्या कहना है ?

(वा. २) अवयव-षष्ठ्यादिके विषयमें अतिव्याप्ति प्राप्त होगी; जैसे, 'शासः' 'गोहः' इत्यादि शब्दोंमें।

(हमारा कहना इतना ही है कि यह नियम किया गया तो) जहां (षष्ठीप्रत्ययके) अवयव आदि अर्थोंकी आवश्यकता हो वहाँ वे नहीं सिद्ध होंगे।

वैसा हो तो क्या दोष है ?

"शास इदङ्हलोः" (६।४।३४) सूत्रमें ('शासः' शब्दमें षष्ठीका 'अवयव' अर्थ नहीं सिद्ध होगा। उपर्युक्त नियमके अनुसार वहां 'उपधायाः' इस षष्ठीके समान 'शासः' इस षष्ठीका भी स्थानसे संबंध होगा। और उससे कहा हुआ इकार आदेश)

[६·४·२४] इति शासेश्चान्त्यस्य स्यादुपधामात्रस्य च । ऊदुपधाया गोहः [६·४·८९] इति गोहेश्चान्त्यस्य स्यादुपधामात्रस्य च ॥

अवयवषष्ठ्यादीनां चाप्राप्तिर्योगस्यासंदिग्धत्वात् ॥ ३ ॥

अवयवषष्ठ्यादीनां च नियमस्याप्राप्तिः । किं कारणम् । योगस्यासंदिग्धत्वात् । संदेहे नियमो न चावयवषष्ठ्यादिषु संदेहः । किं वक्तव्यमेतत् । न हि । कथमनुच्यमानं गंस्यते । लौकिको ऽयं दृष्टान्तः । तद्यथा । लोके कंचित्कश्चित्पृच्छति ग्रामान्तरं गमिष्यामि पन्थानं मे भवानुपदिशत्विति । स तस्मा आचष्टे । अमुष्मिन्नवकाशे हस्तदक्षिणो ग्रहीतव्यो ऽमुष्मिन्नवकाशे हस्तवाम इति ।

शास् धातुको अर्थात् उसके अन्त्यवर्णको और (अन्य किसी भी धातुकी) उपधाको करना पड़ेगा। वैसे ही " ऊदुपधाया गोहः " (६।४।८९) यहाँ भी ('उपधायाः' इस षष्ठीकी भाँति 'गोहः' शब्दमें षष्ठीका भी स्थानसे संबंध होगा। और उससे कहा हुआ ऊकार आदेश) गोहको अर्थात् उसके अन्त्यवर्णको और (अन्य किसी भी धातुकी) उपधाको करना पड़ेगा।

(वा. ३) अवयवषष्ठी–आदि स्थानोंमें (विशिष्ट) सूत्रकी असंदिग्धताके कारण प्रस्तुत नियमकी प्राप्ति नहीं होती।

अवयव–आदि संबंध ये षष्ठीके अर्थ जहाँ हैं वहाँ (प्रकृत सूत्रसे किया हुआ) यह नियम लागू नहीं होता।

क्यों ?

इस योगके विषयमें सन्देह नहीं इसलिए। नियम संशयके आगेकी सीढ़ी है, और यहाँ तो अवयवषष्ठी आदि स्थानोंमें (षष्ठीका अर्थ जो संबंध है उसके बारेमें) संदेह ही निर्माण नहीं होता।[1]

फिर क्या ('सन्देह हो तभी वहाँ नियम किया जाय) यह कहनेकी आवश्यकता है ?

(वह हेतुपूर्वक कहनेकी आवश्यकता) नहीं।

कहे बिना वह कैसे समझमें आ जायगा ?

लौकिक दृष्टान्तसे (वह ध्यानमें आ जायगा।) जैसे, लोगोंमें (दूसरे किसी गांव जानेवाला) कोई व्यक्ति अन्य किसी (जानकार) से पूछता है कि मुझे अमुक गाँव जाना है तो उस गाँवका रास्ता बताइये। तब वह उससे कहता है कि,—यहाँसे सीधे रास्तेसे अमुक अन्तर काटनेपर (उदा० दो मील जानेपर) दाहिने हात मुड़ना और

१. 'उपधायाः' संबंधी शब्द यहाँ है। 'उपधा' यह नाम एक विशिष्ट अवयवका अर्थात् उपान्त्य वर्णका है। तब उस अवयववाचक संबंधी शब्दके कारण अवयवके साथ जो अवयवीका संबंध है वही यहाँ षष्ठीप्रत्यय 'शास्–' का अर्थ होता है।

यस्तत्र तिर्यक्पथो भवति न तस्मिन्संदेह इति कृत्वा नासावुपदिश्यते । एवमिहापि संदेहे नियमो न चावयवषष्ठ्यादिपु संदेहः ॥

अथवा स्थाने ऽयोगा स्थानेयोगा । किमिदमयोगेति । अव्यक्तयोगायोगा ॥ अथवा योगवती योगा । का पुनर्योगवती । यस्या बहवो योगाः । कुत एतत् । भूम्नि हि मतुब्भवति ॥

आगे अमुक अन्तरके बाद (उदा० एक मील जानेपर) बाएँ हाथ घूमना । (उसके बाद वह निकला हुआ व्यक्ति दो मील होतेही रास्ता छोड़कर दाहिने हाथ नहीं मुड़ता, इतना ही नहीं तो) समयानुसार जहाँ वह रास्ता बाईं ओर मुड़ा हो, वहाँ संदेह न होनेके कारण 'रास्ता मुड़े तो भी रास्ता नहीं छोड़ता' ऐसा नहीं कहा जाता है तोभी वह रास्ता नहीं छोडता । (परन्तु जहां दो रास्ते निकलते हैं वहीं वह दाहिने हाथ मुड़ता है ।) वैसे ही इस शास्त्रोंमें भी जहाँ सन्देह निर्माण होता है वहीं नियम प्रवृत्त होता है । और 'शासः', 'गोहः' इत्यादि उदाहरणोंमें अवयव आदिसे सुसंगत षष्ठीका अर्थ निश्चित होनेके कारण सन्देह निर्माण होता ही नहीं । (अतः प्रकृतसूत्रसे किया हुआ नियम वहाँ लागू नहीं होता ।)

अथवा 'स्थानेयोगा' एक पद न समझकर 'स्थाने' और 'अयोगा' ये दो पद किये जायँ ।

'अयोगा' पदका अर्थ क्या है ?

अव्यक्तयोगा अयोगा (न और व्यक्त इन दो शब्दोंका नञ्तत्पुरुष करके बादमें उस 'अव्यक्त' पदका 'योग' शब्दसे बहुव्रीहि समास किया जाय। इससे 'जिसका संबंध अमुक है ऐसा स्पष्ट न हुआ हो उस षष्ठीका स्थानसे संबंध लगाया जाय' यह अर्थ होता है ।

अथवा 'अयोगा' यह पद न लेके 'योगा' यही पद लिया जाय। 'योगा' पदका अर्थ है 'योगवती'। ('योग है जिसका' इस अर्थमें 'योग' शब्दके आगे 'मतुप्' प्रत्ययके अर्थमें 'अच्' प्रत्यय—५।२।१२७—करके आगे स्त्रीलिंगी टाप्—४।१।४–प्रत्यय होके 'योगा' शब्द सिद्ध हुआ है ।)

योगवती (षष्ठी) कौनसी ?

जिसके बहुत संबंध होते हैं वह ।

'योगा' पदका यह अर्थ कैसे होता है ?

'मतुप्' प्रत्यय बहुत्वे' अर्थमें ही लगाया जाता है। (और 'अच्' प्रत्यय 'मतुप्–' के बदले प्रयुक्त किया जाता है ।)

---

२. अर्थात् षष्ठीके अर्थका निश्चय जहाँ नहीं होता वहाँ ।

३. 'तदस्या०' (५।२।९४) सूत्रपरके भाष्यमें 'भूमनिन्दा०' इत्यादि देखिये

विशिष्टा वा षष्ठी स्थानेयोगा ॥ ४ ॥

अथवा किंचिल्लिङ्गमासज्य वक्ष्यामीत्थलिङ्गा षष्ठी स्थानेयोगा भवतीति । न च तल्लिङ्गमवयवषष्ठ्यादिषु करिष्यते ॥ यद्येव शास इदङ्हलो शा हौ [६ ४ ३५] शासिग्रहण कर्तव्य स्थानेयोगार्थं लिङ्गमासङ्क्ष्यामीति । न कर्तव्यम् । यदेवाद पुरस्तादवयवषष्ठ्यर्थं प्रकृतमेतदुत्तरत्रानुवृत्त सत् स्थानेयोगार्थं भविष्यति । कथम् । अधिकारो नाम त्रिप्रकार । कश्चिदेकदेशस्थ सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति यथा प्रदीप सुप्रज्वलित सर्वं वेश्माभिज्वलयति । अपरो ऽधिकारो यथा रज्ज्वायसा वा बद्ध काष्ठमनु कृष्यते तद्वदनुकृष्यते चकारेण । अपरो ऽधिकार प्रतियोग तस्यानिर्देशार्थ इति

(वा ४) अथवा विशिष्ट षष्ठी 'स्थानेयोगा' षष्ठी होती है ।

अथवा (विशिष्ट स्थानपर षष्ठीप्रत्ययको) विशेष चिह्न किया जाय। और 'विशेष चिह्नकी जो षष्ठी हो उसका स्थानसे सबध लगाया जाय' ऐसा यहाँ पढा जाय। और जहाँ षष्ठीके अवयव आदि अर्थोंकी आवश्यकता हो वहाँ (अर्थात् शास, गोह इत्यादि उदाहरणोंमे षष्ठीप्रत्ययको) वह चिह्न न लगाया जाय।

अब 'शास इदङ्हलो' —६।४।३४— (इस सूत्रमें 'शास' इस षष्ठी प्रत्ययको वह चिह्न न लगाया जाय तो) उसके आगेके 'शा हौ' (६।४।३५) सूत्रमें 'शास' यह अलग पद फिरसे रखना चाहिये। क्योंकि वहाँ षष्ठीका स्थानसे सबध आवश्यक होनेसे उस चिह्नकी आवश्यकता ह।

('शा हौ' सूत्रमें 'शास' यह अलग पद) फिरसे रखनेकी आवश्यकता नहीं। पूर्वसूत्रमें अवयवसे सबध दिखानेवाला जो ('शास') पद रखा है वही ('शा हौ' इस) आगेके सूत्रमें अनुवृत्त होनेपर स्थानसे सबध दिखानेके लिए उपयुक्त होगा।

सो कैसे?

इस शास्त्रमें अधिकार तीन प्रकारका है।—(पहला प्रकार यह है कि) वह अधिकार स्वय एक ही स्थानपर रहकर सब शास्त्रको प्रकाशित करता है। जैसे, अच्छी तरह जलाया हुआ दिया (एक ही स्थानपर रखा हुआ होता है, पर वह) सारे घरको प्रकाशित करता है, (वैसे ही यह है)। दूसरे प्रकारका अधिकार यह है कि, जिस प्रकार रस्सीसे अथवा लोहेके तारसे बाँधकर लकडी खींची जाती है, उसी प्रकार (उत्तर सूत्रके) 'च' शब्दके बलपर (पूर्वसूत्रका पद) खींचा जाता है। तीसरे प्रकारका अधिकार यों है कि, (एक ही शब्द अनेक सूत्रोंमें उपयुक्त होता है, परन्तु वह)

४ पस्पशाह्निकके अन्तमें 'कल' आदि चिह्न कहे हैं उनमेंसे एकाध।

५. 'तस्मिन्निति॰' (१।१।६६) आदि परिभाषाएँ इस एकही स्थानपर हैं। पर उनका उपयोग सभी शास्त्रोंमें होता है।

योगे योग उपतिष्ठते। तद्यदैष पक्षो ऽधिकार प्रतियोग तस्यानिर्देशार्थ इति तदा हि यदेवाद पुरस्तादवयवषष्ठ्यर्थमेतदुत्तरत्रानुवृत्त सत् स्थानेयोगार्थं भविष्यति। सप्रत्ययमात्रमेतद्भवति। न ह्यनुच्चार्य शब्द लिङ्ग शक्यमासङ्क्तुम्। एव तर्ह्यादेशो तल्लिङ्ग करिष्यते तत्प्रकृतिमास्कन्त्स्यति ॥

यदि नियम क्रियते यत्रैका षष्ठ्यनेक च विशेष्य तत्र न सिध्यति। अङ्गस्य हल अण सम्प्रसारणस्येति। हलपि विशेष्यो ऽणपि विशेष्य सम्प्रसारणमपि विशेष्यम्। असति पुनर्नियमे कामचार एकया षष्ठ्यानेक विशेषयितुम्।

प्रत्येक सूत्रमें नहीं रखा जाता है, (प्रारभमें एक ही सूत्रमें रखा जाता है, और वहाँसे) आगेके प्रत्येक सूत्रमें (उच्चरित न होते हुए भी) उपस्थित होता है। (इन तीन प्रकारोंमेंसे) यह जो तीसरा प्रकार है कि, ('आरभमें एक सूत्रमें कोई एक शब्द रखके आगे) प्रत्येक सूत्रमें बिना उच्चारणके वह शब्द लेना', वह प्रकार ('शास' इस अधिकारके बारेमे लिया जानेसे) पूर्वसूत्रमें जो ('शास') पद अवयवसे सबध दिखानेके लिए रखा है वही ('शा हौ' इस) अगले सूत्रमें अनुवृत्त होनेपर स्थानके साथ सबध दिखानेके लिए काममें आयेगा'।

(उस तीसरे प्रकारसे 'शा हौ' सूत्रमें 'शास' शब्दका ही) ज्ञान मात्र होगा। (अर्थात् पूर्वसूत्रके अवयवसे सबध यह षष्ठीका अर्थ छोडकर केवल 'शास' पद यहाँ लिया जायगा)। परन्तु (वह लिया गया तो भी वहाँ) उस पदका उच्चारण न किया जानेके कारण स्थानसे जोडनेका चिह्न नहीं लगाया जायगा।

तो फिर ('शा हौ' सूत्रमें उच्चारित जो 'शा') आदेश (है उसी–) को वह चिह्न लगाया जायगा। (आदेशको उस चिह्नका कुछ उपयोग न होनेसे) वह चिह्न उस आदेशसे अपनी प्रकृतिकी ओर (अर्थात् 'शास' इस अनुवृत्त पदकी ओर) जायगा।

यदि ('षष्ठीका केवल स्थानसे ही सबध होता है' ऐसा) नियम किया गया तो जहा 'षष्ठी एक ही प्रकारकी और विशेष्य अनेक प्रकारके (होनेसे उन्हें प्रकारसे जोडना पडेगा' यह स्थिति प्राप्त होती है) वहाँ इष्ट अर्थ सिद्ध नहीं होगा। जैसे, "अङ्गस्य" (६।४।१) के आगेका "हल" (६।४।२) सूत्र। यहाँ 'अण' और 'सम्प्रसारणस्य' (ये दो पद अनुवृत्त होते हैं)। यहा ('अङ्गस्य' षष्ठीका स्थानसे सबध जोडनेसे 'दीर्घ' पद उसका विशेष्य होता ही है पर उसके अतिरिक्त उस षष्ठीका 'अवयव' अर्थ लेकर उसका) 'हल्' पद भी विशेष्य करना है, 'अण्' पद भी विशेष्य करना है, और 'सम्प्रसारण' पद भी विशेष्य करना है। ('षष्ठीका स्थानसे ही सबध जोडा जाय') यह नियम न हो तो अपनी इच्छाके अनुसार (षष्ठीप्रत्ययके अनेक अर्थ लेके) एक ही षष्ठी अनेक विशेष्योंका

तद्यथा। देवदत्तस्य पुत्रः पाणिः कम्बल इति। तस्मान्नार्थो नियमेन। ननु चोक्तमेकशतं षष्ठ्यर्था यावन्तो वा ते सर्वे षष्ठ्यामुच्चारितायां प्राप्नुवन्तीति। नैष दोषः। यद्यपि लोके बहवो ऽभिसंबन्धा आर्था यौना मौखाः स्रौवाश्च शब्दस्य तु शब्देन को ऽभिसंबन्धो भवितुमर्हत्यन्यदतः स्थानात्। शब्दस्यापि शब्देनानन्तरादयो ऽभिसंबन्धाः। अस्तेर्भूर्भवतीति संदेहः स्थाने ऽनन्तरे समीप इति। संदेहमात्रमेतद्भवति सर्वसंदेहेषु चेदमुपतिष्ठते व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणमिति। स्थान इति व्याख्यास्यामः॥ न तर्हीदानीमयं योगो वक्तव्यः।

विशेषण किया जा सकता है, जैसे, 'देवदत्तस्य पुत्रः पाणिः कम्बलः।' (यहाँ 'देवदत्तस्य' पद उस के षष्ठी प्रत्ययका 'जन्य' अर्थ लेकर 'पुत्र-' का, 'अवयव' अर्थ लेकर 'पाणि' का अर्थात् हाथका, और 'स्वामित्व' अर्थ लेकर 'कंबल'का विशेषण होता है, वैसे ही यह है।) तात्पर्य यह है कि, ('षष्ठीप्रत्ययसे स्थानसे ही संबंध होता है' ऐसा) नियम करनेसे कुछ भी लाभ नहीं दीखता।

पर अभी कहा है न कि 'षष्ठी प्रत्ययके एकसौ एक अर्थ हैं? तब षष्ठी प्रत्यय उच्चारित होते ही उतने अर्थ मनमें आते हैं अथवा उनमेंसे कमसे कम शब्दसे सुसगत अर्थ तो मनमें आयेंगे ही।' फिर यह नियम न हो तो 'षष्ठीप्रत्ययका अमुक ही अर्थ लिया जाय' यह कैसे निश्चित किया जायगा?

यह दोष नहीं आता। यद्यपि लोगोंमें (षष्ठी प्रत्ययके) बहुत संबंध मनमें आते हैं, जैसे, कहीं स्वामी और उसके स्वामित्वके पदार्थका संबंध (मनमें आता है), कहीं पिता और पुत्रका संबंध (मनमें आता है), कहीं गुरु-शिष्य-संबंध (ध्यानमें आता है), और कहीं यजमान और ऋत्विजका संबंध (ध्यानमें आता है), तो भी इस व्याकरणशास्त्रमें शब्दका शब्दके साथ स्थानके सिवा दूसरा कौनसा संबंध निर्माण होगा?

पर शब्दके भी अन्य शब्दके साथ 'अनन्तरत्व' आदि अनेक प्रकारके संबंध हो सकते हैं। उदा० 'अस्तेर्भूः' (२।४।५२) यहाँ सन्देह निर्माण होता है कि 'भू' यह 'अस्' धातुके स्थानमें होता है अथवा 'अस्' धातुके अनन्तर (अर्थात् संयुक्त) होता है अथवा 'अस्' धातुके समीप होता है।

यह तो केवल सन्देह ही होता है। सभी सन्देह-स्थलोंमें सन्देह निर्माण होते ही 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्' (प शे. परि० १) यह परिभाषा तुरन्त ध्यानमें आती है (अर्थात् सन्देह प्राप्त होते ही वहां विशिष्ट अर्थका निश्चय व्याख्यानसे किया जाय। कारण यह कि सन्देहके निमित्त शास्त्र निरर्थक होता है ऐसा कभी न समझा जाय।) अत. ('अस्तेर्भूः' यहाँ बभूव आदि प्रयोगोंमें 'अस' धातुके) स्थानपर ('भू' आदेश होता है) यह अर्थ निश्चित किया जायगा।

तो फिर यह प्रकृत सूत्र करनेकी आवश्यकता नहीं (ऐसा जीस पड़ता है)।

वक्तव्यश्च। किं प्रयोजनम्। षष्ठ्यन्तं स्थानेन यथा युज्येत यतः। षष्ठ्युच्चारिता। किं कृतं भवति। निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीत्येषा परिभाषा न कर्तव्या भवति ॥

स्थानेऽन्तरतमः ॥ १ । १ । ५० ॥

किमुदाहरणम्। इको यणचि [६·१·७७]। दध्यत्र। मध्वत्र। तालुस्थानस्य तालुस्थान ओष्ठस्थानस्यौष्ठस्थानो यथा स्यात्। नैतदस्ति। संख्यातानुदेशेनाप्येतत्सिद्धम् ॥ इदं तर्हि। तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः [३·४·१०१]

(सो बात नहीं।) प्रकृत सूत्र तो करना ही चाहिये।

फिर उसका उपयोग क्या है?

(उपयोग यह है कि 'आदेश कहनेवाले सूत्रमें) जिस शब्दके आगे षष्ठी-प्रत्यय लगाया हो केवल उसी षष्ठ्यन्त शब्दका (उदाहरणोंमें) स्थानसे संबंध होता है। (उसके नामपर उससे अधिकका स्थानसे संबंध नहीं होता है' ऐसा इस प्रकृत-सूत्रका अर्थ किया जाय।)

यह अर्थ करके क्या सिद्ध होता है?

"निर्दिश्य-[1]नस्यादेशा भवन्ति" (प. शे. परि. १२) यह अलग परिभाषा करनेकी आवश्यकता नहीं ऐसा सिद्ध होता है। (अर्थात् वह अर्थ इस सूत्रसे ही निकलता है।)

(सू. ५०) एक स्थानीको जब अनेक आदेश प्राप्त होते हैं तब (उन आदेशोंमेंसे उस स्थानीको) जो आदेश अधिकाधिक सदृश हो वही किया जाय।

इस सूत्रका क्या उदाहरण है?

दध्यत्र, मध्वत्र (ये इस सूत्रके उदाहरण हैं)। 'दध्यत्र'में 'इको यणचि' (६।१।७७) सूत्रसे (कहा हुआ यण् आदेश) तालुस्थानके इकारको तालुस्थानका यकार ही होता है, तथा 'मध्वत्र' में ओष्ठस्थानके उकारको ओष्ठस्थानका वकार ही होता है।

ये इस प्रकृतसूत्रके उदाहरण हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि "यथासंख्यमनुदेशः समानाम्" (१।३।१०) सूत्रसे ही ये उदाहरण सिद्ध होते हैं।

---

१. निर्दिश्यमान अर्थात् उच्चारित। आदेश कहनेवाले सूत्रमें षष्ठीप्रत्यय लगाकर जिस शब्दका उच्चारण किया है उसीको आदेश किये जायें। जैसे सुपद्। 'पादः पत्' (६।४।१३०) सूत्र 'अङ्गस्य' (६।४।१) अधिकारका होनेसे 'पाद्' शब्द अन्तमें स्थित अङ्गको 'पद्' आदेश होता है यह अर्थ यद्यपि उस सूत्रका हुआ तो भी सूत्रमें केवल 'पाद्' शब्दका ही उच्चारण किया जानेके कारण 'सुपाद्' शब्दके 'सु'को छोड़कर आगेके 'पाद' भागको ही 'पद्' आदेश होता है।

इत्येकार्थस्यैकार्थो द्व्यर्थस्य द्व्यर्थौ बह्वर्थस्य बह्वर्थो यथा स्यात्। ननु चैतदपि संख्यातानुदेशेनैव सिद्धम्॥ इदं तर्हि। अकः सवर्णे दीर्घः [६.१.१०१] इति दण्डाग्रम् क्षुपाग्रम् दधीन्द्रः मधूष्ट्र इति कण्ठस्थानयोः कण्ठस्थानस्तालुस्थानयोस्तालुस्थान ओष्ठस्थानयोरोष्ठस्थानो यथा स्यादिति॥ अथ स्थान इति वर्तमाने पुनः स्थानग्रहणं किमर्थम्। यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत एवान्तर्यं बलीयो यथा स्यात्। किं पुनस्तत्। चेता स्तोता। प्रमाणतो ऽकारो गुणः प्राप्नोति स्थानत एकारौकारौ। पुनः स्थानग्रहणादेकारौकारौ भवतः॥

तो फिर "तस्थस्थमिपां तांतंताम." (३।४।१०१) सूत्र लें। यहाँ 'एक' संख्याके बोधक ('मिप्' स्थानी–)को एक संख्याका बोधक ('अम्' यही आदेश) होना चाहिये। तथा 'दो' संख्याके बोधक ('तस्' और 'थस्–') को 'दो' संख्याके बोधक ('ताम्' और 'तम्' ये ही आदेश) होने चाहिये। 'बहुत' संख्याके बोधक ('थ' प्रत्यय–) को 'बहुत' संख्य बोधक ('त' यही आदेश) होना चाहिये।

ये उदाहरण भी 'यथासंख्य०' सूत्रसे ही सिद्ध होते है।

तो फिर "अकः सवर्णे दीर्घः" (६।१।१०१) सूत्र लें। (इससे कहा हुआ दीर्घ आदेश) 'दण्डाग्रम्', 'क्षुपाग्रम्' उदाहरणोंमें कण्ठस्थानके दो 'अ'कारोंको कण्ठस्थानका 'आ'कार ही होना चाहिये। तथा 'दधीन्द्रः' में तालुस्थानके दो इकारोंको तालुस्थान का 'ई'कार ही होना चाहिये। इसी प्रकार 'मधूष्ट्र' में ओष्ठस्थानके दो उकारोंको ओष्ठस्थानका 'ऊ'कार ही (एकादेश) होना चाहिये।

अब (पूर्वसूत्रमेंसे) 'स्थाने' शब्दकी अनुवृत्ति होती है तो फिरसे इस सूत्रमें 'स्थाने' शब्द किसलिए रखा गया है?

(पूर्वसूत्रमेंसे जो 'स्थान' शब्द अनुवृत्त होता है उसका अर्थ है 'प्रसङ्ग' अर्थात् शब्दके उच्चारणका काल, और यहाँ जो अलग 'स्थान' शब्द प्रयुक्त किया गया है उसका अर्थ है तालु, कण्ठ इत्यादि स्थान। इसका यह उपयोग है कि) जहाँ एक स्थानीका सादृश्य अनेक आदेशोंसे अनेक प्रकारसे होता है, उन स्थलोंमें तालु, कंठ आदि स्थानोंसे जो सादृश्य हो वह प्रबल समझा जाय। (अर्थात् स्थानीका सादृश्य तालु, कण्ठ इत्यादि स्थानोंसे जिस आदेशके साथ हो सके वही आदेश वहाँ होता है)।

वह उदाहरण कौनसा है?

चेता, स्तोता (ये वैसे उदाहरण हैं)। यहाँ (ह्रस्व इकारों और ह्रस्व उकारोंको गुण—७।३।८४—कर्तव्य है। ह्रस्वकी एक मात्रा है। तब उन एकमात्रायुक्त स्थानियोंके साथ) प्रमाणसे ह्रस्व 'अ'कार गुण प्राप्त होता है और स्थानोंसे 'ए'कार और 'ओ'कार प्राप्त होते हैं। फिरभी (तालु आदि) 'स्थान' शब्दके उच्चारणसे (प्राप्त हुआ सादृश्य प्रबल होनेके कारण 'चेता–' में तालुस्थानके इकारको तालु-

अथ तमब्ग्रहणं किमर्थम्। झयो होऽन्यतरस्याम् [८.४.६२] इत्यत्र सोष्मणः सोष्माण इति द्वितीयाः प्रसक्ता नादवतो नादवन्त इति तृतीयाः। तमब्ग्रहणाद्ये सोष्माणो नादवन्तश्च ते भवन्ति चतुर्थाः। वाग्घसति त्रिष्टुब्भसतीति ॥

किमर्थं पुनरिदमुच्यते।

स्थानिन एकत्वनिर्देशादनेकादेशनिर्देशाच सर्वप्रसङ्गस्तस्मात्स्थानेऽन्तरतमवचनम् ॥ १ ॥

स्थान्येकत्वेन निर्दिश्यते। अक इति। अनेकश्च पुनरादेशः प्रतिनिर्दिश्यते। दीर्घ इति। स्थानिन एकत्वनिर्देशादनेकादेशनिर्देशाच्च सर्वप्रसङ्गः। सर्वे

स्थानका) एकार गुण होता है, (तथा 'स्तोता-' में ओष्ठस्थानके उकारको ओष्ठस्थानका) ओकार गुण होता है।

अब इस सूत्रमें 'तमप्' प्रत्ययका उच्चारण किसलिए किया है?

"झयो होन्यतरस्याम्" (८।४।६२) सूत्र लें। (इससे हकारको पूर्वसवर्ण आदेश कहा है। हकारका पूर्ववर्ण जिस वर्गका हो उस वर्गके पांचों वर्ण उसके सवर्ण होते हैं।) हकार ऊष्मा है। वर्गका दूसरा वर्ण ऊष्मा है। तथा हकार नादप्रयत्नका है। अतः भिन्न भिन्न प्रकारसे दूसरा और तीसरा वर्ण हकारसे सदृश है, और इसीसे वे प्राप्त होते हैं। पर उनसे भी चौथा वर्ण अधिक सदृश है। क्योंकि वह ऊष्मा भी है और नादप्रयत्नका भी है, इसीसे चौथा ही होता है। 'वाग्घरिः' में 'हरिः' के हकारको घकार होता है। 'त्रिष्टुब् भसति' में 'हसति' के हकारको भकार होता है। (अतः जो आदेश अधिक सदृश हो वही होनेके लिए 'अतिशय' अर्थका 'तम' प्रत्यय 'अन्तर' शब्दमें लगाया है।)

पर यह सूत्र क्यों किया है?

(वा. १) ("अकः सवर्णे दीर्घः" आदि सूत्रोंमें) स्थानीका एकत्वसे निर्देश किया जानेसे और अनेक आदेश निर्दिष्ट किये जानेसे सभी आदेश प्राप्त होते हैं, अतः 'स्थानेऽन्तरतमः' यह प्रस्तुत सूत्र पढ़ना चाहिये।

('उपर्युक्त 'दण्डाग्रम्' आदि उदाहरणोंमें 'अकः सवर्णे दीर्घः'—६।१।१०१ —इत्यादि सूत्रोंसे दीर्घ कर्तव्य होनेपर उन स्थानोंपर प्रत्येक उदाहरणमें) 'अकः' जैसा एक-एक ही स्थानी निर्दिष्ट किया है। और उसको कहे हुए आदेश 'दीर्घ' शब्दसे अनेक निर्दिष्ट किये हैं। इस तरह स्थानीका एकत्वसे निर्देश है और आदेशका अनेकत्वसे निर्देश होनेके कारण 'सर्वप्रसङ्ग' प्राप्त होता है। अर्थात् सब स्थानोंमें सब

सर्वत्र प्राप्नुवन्ति। इष्यते चान्तरतमा एव स्युरिति तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यति तस्मात्स्थानेऽन्तरतम इति वचनं नियमार्थम्। एवमर्थमिदमुच्यते ॥ अस्ति प्रयोजनमेतत्। किं तर्हीति।

यथा पुनरियमन्तरतमनिर्वृत्तिः सा किं प्रकृतितो भवति। स्थानिन्यन्तरतमे षष्ठीति। आहोस्विदादेशतः। स्थाने प्राप्यमाणानामन्तरतम आदेशो भवतीति। कुतः पुनरियं विचारणा। उभयथापि तुल्या संहिता। स्थाने ऽन्तरतम उरणरपर

दीर्घ आदेश होंगे। और हमको तो यह इष्ट है कि जो अधिक सदृश हो सकें वेही होने चाहिये। तब यह बात उसके लिए कुछ विशेष प्रयत्न किये विना नहीं सिद्ध होगी। अतः "स्थानेऽन्तरतमः" यह प्रकृतसूत्र नियम करनेके लिए है। इसीलिए यह पढ़ा है।

यह उपयोग है सही।

फिर आपका क्या कहना है?

(हमारा कहना यह है कि) यहाँ अधिक सदृशता देखकर आदेश किया जाता है। पर यह चुनाव (निर्वृत्ति) क्या स्थानीके प्रति होता है, अर्थात् जिस आदेशको प्राप्त हुए अनेक स्थानियोंमेंसे जो अधिक सदृश हो सके उसीमें वह (विधिसूत्रकी) षष्ठी लगायी जाती है (और जिसमें वह षष्ठी लगायी जाय उसी स्थानीको वह आदेश होता है?) अथवा यह चुनाव क्या आदेशके प्रति होता है, अर्थात् जिस स्थानीको प्राप्त हुए अनेक आदेशोंमेंसे जो अधिक सदृश हो सके वही आदेश उस स्थानीको लगाया जाता है?

पर यहाँ यह विचार क्यों निर्माण होता है?

(यह विचार यों निर्माण होता है कि इस सूत्रमें 'अन्तरतमे' यह सप्तम्यन्त पद लिया गया तो 'अधिक सदृश स्थानी हो सके तो उसीके स्थानपर आदेश होता है' ऐसा सूत्रका अर्थ होता है, और स्थानियोंमेंसे चुनाव करना पड़ता है। तथा 'अन्तरतमः' यह प्रथमान्त पद लिया गया तो 'स्थानीसे जो अधिक सदृश आदेश हो सके वही होता है' यह सूत्रका अर्थ होता है, और आदेशोंमेंसे चुनाव करना पड़ता है।) दोनों प्रकारके पद लिए जायँ इस स्वरूपकी 'संहिता' यहाँ पढ़ी जाती है। अर्थात् 'स्थानेऽन्तरतमः और उरण् रपरः' दो सूत्रोंमें संधि होकर सूत्रपाठ यह बनाता है।

---

१. 'इको यणचि' से यण् अर्थात् य्, व्, र्, ल् आदेश कहे हैं। उनमेंसे प्रत्येक स्थानको जो उसके साथ अधिक समान हो ऐसा एक एक करके स्थानी चुना गया तो वे चुने हुए स्थानी ही 'इकः' शब्दसे लिये जायें। अतः 'इकः' षष्ठीका उसी स्थानीके साथ संबंध होता है, अतः उदाहरणमें उन्हीं स्थानियोंको 'यण्' आदेश होता है। जिस उदाहरणमें चुना हुआ स्थानी न हो उस उदाहरणमें 'यण्' आदेश कदापि न होगा।

इति ॥ किं चातः। यदि प्रकृतित इको यणचि [६-१-७७] यणां ये ऽन्तरतमा इकस्तत्र षष्ठी यत्र षष्ठी तत्रादेशा भवन्तीतीहैव स्यात्। दध्यत्र मध्वत्र। कुमार्यत्र ब्रह्मबन्ध्वर्थमित्यत्र न स्यात्। आदेशतः पुनरन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां सर्वत्र षष्ठी यत्र षष्ठी तत्रादेशा भवन्तीति सर्वत्र सिद्धं भवति ॥ तथेको गुणवृद्धी [१-१-३] गुणवृद्ध्योर्थे ऽन्तरतमा इकस्तत्र षष्ठी यत्र षष्ठी तत्रादेशा भवन्तीतीहैव स्यात्। नेता लविता नायकः लावकः। चेता स्तोता चायकः स्तावक इत्यत्र न स्यात्। आदेशतः पुनरन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां सर्वत्र षष्ठी यत्र

फिर इन दोनोंमें क्या भेद है ?

यदि स्थानियोंमेंसे चुनाव करना हो तो 'इको यणचि' (६।१।७७) सूत्रसे (कहे हुए) यण् आदेशोंके जो अधिक सदृश इक् हों (वेही 'इक्' शब्दसे लिये जायेंगे और) उन्हींमें 'इकः' षष्ठी लगेगी; और जिनमें षष्ठी लगेगी उन्हींको (उदाहरणोंमें 'यण्') आदेश होगा; अतः 'दध्यत्र', 'मध्वत्र' में ह्रस्व इकोंकोही यण्[२] होगा। 'कुमार्यत्र', 'ब्रह्मबन्ध्वर्थम्', में (दीर्घ इकोंको यण् नहीं होगा। आदेशोंमेंसे चुनाव करके उनमें जो अधिक सदृश हो वह किया जाय ऐसा अर्थ लेनेसे ('इक्' इस स्थानीका चुनाव न होनेके कारण) सभी इकोंमें षष्ठी लगती है, और जिनमें षष्ठी लगती है उनको आदेश होते ही है। इसीलिए (ह्रस्व, दीर्घ इत्यादि) सभी इकोंको 'यण्' सिद्ध होता है।

तथा 'इको गुणवृद्धी' (१।१।३) सूत्रसे गुण और वृद्धि आदेशोंको जो जिससे अधिक सदृश[३] इक् हों (वेही वहाँ 'इक्' शब्दसे लिये जायेंगे और) उन्हींमें वहाँ 'इकः' षष्ठी लगेगी। और जिनमें षष्ठी लगेगी उन्हींको (उदाहरणोंमें) (गुण और वृद्धि ये) आदेश होंगे (अर्थात् दीर्घको ही गुण और वृद्धि आदेश होंगे, ह्रस्वको नहीं)। अतः 'नेता', 'लविता' में (दीर्घ ईकारों और ऊकारोंको ए और ओ गुण) होंगे। 'चेता', 'स्तोता' में (ह्रस्व इकारों और उकारोंको ए और ओ गुण) न होंगे। तथा 'नायकः', 'लावकः' में (दीर्घ ईकारों और ऊकारोंको वृद्धि अर्थात् ऐ और औ आदेश) होंगे। 'चायकः', 'स्तावकः' में (ह्रस्व इकारों और उकारोंको ऐ और औ ये वृद्धि आदेश) नहीं होंगे। आदेशोंमेंसे (चुनाव करके उनमें) जो अधिक सदृश हो वही किया जाय ऐसा अर्थ लेनेसे ('इक्' स्थानीका

---

२. यणोंकी आधी मात्रा है। तब उनको दो मात्राओंके दीर्घ इकोंकी अपेक्षा एक मात्रायुक्त ह्रस्व इक् अधिक समीप हैं।

३. ए और ओ गुणसंज्ञक वर्ण और आ, ऐ, औ वृद्धिसंज्ञक वर्ण हैं। उनमेंसे प्रत्येक दो मात्राओंसे युक्त होनेके कारण उनको, दो मात्राओंके अर्थात् दीर्घ ई और ऊ ये इक् ह्रस्वोंकी अपेक्षा अधिक सदृश हैं।

षष्ठी तत्रादेशा भवन्तीति सर्वत्र सिद्धं भवति ॥ तथा ऋवर्णस्य गुणवृद्धिप्रसङ्गे गुणवृद्ध्योर्यदन्तरतममृवर्णं तत्र षष्ठी यत्र षष्ठी तत्रादेशा भवन्तीतीहैव स्यात्। कर्ता हर्ता आस्तारकः निपारकः। आस्तरिता निपरिता कारकः हारक इत्यत्र न स्यात्। आदेशतः पुनरन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां सर्वत्र षष्ठी यत्र षष्ठी तत्रादेशा भवन्तीति सर्वत्र सिद्ध भवति ॥ अथादेशतो ऽन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यामयं दोषः। वान्तो यि प्रत्यये [६ १ ७९]। स्थाननिर्देशः कर्तव्यः। ओकारौकारयोरिति वक्तव्यम्। एकारैकारयोर्मा भूदिति। प्रकृतितः पुनरन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां वान्तादेशस्यैषु यान्तरतमा प्रकृतिस्तत्र षष्ठी यत्र षष्ठी तत्रादेशा भवन्तीत्यन्तरेण

चुनाव न होनेके कारण) सभी इकोंमें षष्ठी लगती है; और जिनमें षष्ठी लगती है उनको आदेश होते ही है, इसलिए (ह्रस्व, दीर्घ इत्यादि) सभी इकोंको गुण और वृद्धि आदेश सिद्ध होते हैं। उसी प्रकार ऋकारको गुण (अर्थात् ह्रस्व अकार कर्तव्य हो) और वृद्धि (अर्थात् दीर्घ आकार कर्तव्य हो) तो गुणको अधिक सदृश स्थानी जो ह्रस्व ऋकार है और उस वृद्धिको अधिक सदृश स्थानी जो दीर्घ 'ॠ' कार है उसीमें वह षष्ठी लगेगी और उन्हींको वे (गुण और वृद्धि) आदेश होंगे, अर्थात् 'कर्ता', 'हर्ता' में ह्रस्व ऋकार होनेसे वहीं) गुण होगा और 'आस्तारकः' 'निपारकः' में (दीर्घ ॠकार होनेसे वहीं) वृद्धि होगी। 'आस्तरिता', 'निपरिता' में (दीर्घ ॠकारको) गुण नहीं होगा और 'कारकः'; 'हारकः' में (ह्रस्व ऋकारको) वृद्धि नहीं होगी। अब आदेशोंमेंसे (चुनाव करके उनमें) जो अधिक सदृश हो वही किया जाय ऐसा अर्थ लिया गया तो स्थानीका (अर्थात् ऋकारका चुनाव न होनेके कारण) सभी ऋकारोंमें षष्ठी लगती है, और जिसमें षष्ठी लगती है उसको आदेश होते ही हैं, इसलिए (ह्रस्व, दीर्घ इत्यादि) सभी ऋकारोंको गुण और वृद्धि आदेश सिद्ध होते हैं।

जब 'आदेशोंमेंसे (चुनाव करके उनमें) जो अधिक सदृश हो वही आदेश किया जाय' (यह पक्ष लिया गया) तो "वान्तो यि प्रत्यये" (६।१।७९) सूत्रमें दोष आता है। वहाँ 'ओकारों और औकारोंको ही वान्त आदेश होते हैं' ऐसा स्थानीका निर्देश करना चाहिये। कारण यह कि, एकारों और ऐकारोंको (वान्त आदेश) न होने चाहिये।[४] 'स्थानियोंमेंसे (चुनाव करके उनमें) जो अधिक सदृश हो उसीको आदेश किया जाय' (यह पक्ष लिया गया) तो वकारान्त आदेशको स्थानियोंमेंसे अर्थात् एचोंमेंसे जो अधिक सदृश हो उसीमें वह षष्ठी लगेगी, और जिसमें षष्ठी लगेगी उसीको आदेश होगा; अतः स्थानीका निर्देश किये बिना ही (इष्ट) सिद्ध होता है।

४. अव् और आव् वकारान्त आदेशोंमें ओष्ठ्यस्थानका वकार है और एचोंमेंसे ओ और औ के ओष्ठ्यस्थान हैं। तब वकारान्त आदेशोंको ओ और औ स्थानी अधिक सदृश होनेसे इन्हींको ये आदेश होंगे।

स्थानिनिर्देशो सिद्धं भवति । आदेशतो ऽप्यन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां न दोषः । कथम् । वान्तग्रहणं न करिष्यते । यि प्रत्यय एचो ऽयादयो भवन्तीत्येव । यदि न क्रियते चेयम् जेयमित्यत्रापि प्राप्नोति । क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे [६·१·८१] इत्येतन्नियमार्थं भविष्यति । क्षिज्योरेवैच इति । तयोस्तर्हि शक्यार्थादन्यत्रापि प्राप्नोति । क्षेयं पापम् जेयो वृषल इति । उभयतो नियमो विज्ञास्यते । क्षिज्योरेवैचः । अनयोश्च शक्यार्थ एवेति । इहापि तर्हि नियमान्न प्राप्नोति । लय्यम्

पर 'आदेशोंमेंसे (चुनाव करके उनमें) जो अधिक सदृश हो वही आदेश किया जाय इस पक्षमें भी दोष नहीं आता ।

सो कैसे ?

कारण यह कि सूत्रमें 'वान्तः' पद नहीं रखा जायगा । केवल 'यि प्रत्यये' (इतना ही सूत्र रहने दें) । (उसका अर्थ यह होता है कि) 'यकारादि प्रत्यय आगे होनेपर एचूको अयू आदि आदेश होते हैं ।' (अतः पूर्वसूत्रकी तरह इस सूत्रसे भी 'वान्त' आदेश ओकारों और औकारोंको ही होंगे ।)

पर 'वान्तः' पद न रखा गया तो (पूर्वसूत्रकी तरह यकारान्त आदेश भी इस सूत्रसे यकारादि प्रत्यय आगे रहनेपर होंगे तब) 'चेयम्', 'जेयम्' में एकारको 'अय्' आदेश होगा ।

(यह बात हो तो क्षय्य और जय्य में अय् आदेश 'यि प्रत्यये' सूत्रसे ही सिद्ध होनेसे) "क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे" (६।१।८१) सूत्र (व्यर्थ होता है, अतः वह) नियमार्थ होगा । वह नियम यह है कि "(यकारादि प्रत्यय आगे होनेपर 'यि प्रत्यये' सूत्रसे) यदि आदेश होगा तो क्षि और जि इन दो धातुओंके ही एचूको वह होगा ।" (तब 'चेयम्' में नहीं होता है ।)

तो फिर (क्षि और जि इन दो धातुओंके एचूको) शक्यार्थ न हो तो भी अय् आदेश होने लगेगा; जैसे, क्षेयं पापम्, जेयो वृषलः । (पाप बुरा होनेके कारण 'क्षय के योग्य है' यह 'क्षेयम्' का अर्थ है; पर 'शक्य' अर्थमें 'क्षय्यम्' का ही प्रयोग करना चाहिये । तथा 'वृषल 'जीतने योग्य है' यह 'जेयः' का अर्थ है, पर 'शक्य' अर्थमें 'जय्यः' का ही प्रयोग करना चाहिये ।)

(यह दोष नहीं प्राप्त होता; क्योंकि) दो प्रकारका नियम किया जा सकता है । (एक नियम यों कि) "('यि प्रत्यये' सूत्रसे आदेश करना हो तो) क्षि और जि इन दो धातुओंके ही एचूको किया जाय ।" (दूसरा यह कि) "(क्षि और जि) धातुओंके बारेमें (एचूको यदि आदेश करना हो तो) शक्यार्थ हो तभी किया जाय ।"

पव्यम् । अवश्यलाव्यम् अवश्यपाव्यमिति । तुल्यजातीयस्य नियमः । कश्च तुल्यजातीयः । यथाजातीयकः क्षिज्योरेच् । कथंजातीयकः क्षिज्योरेच् । एकारः । एवमपि रायमिच्छति रैयति अत्रापि प्राप्नोति । रायिश्छान्दसो दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति ॥ ऊदुपधाया गोहः [६·४·८९] । आदेशतो ऽन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यामुपधाग्रहणं कर्तव्यम् । प्रकृतितः पुनरन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यामूकारस्य गोहो यान्तरतमा प्रकृतिस्तत्र षष्ठी यत्र षष्ठी तत्रादेशा भवन्तीत्यन्तरेणोपधाग्रहणं

अब यदि नियम लिया गया तो 'लव्यम्', 'पव्यम्', 'अवश्यलाव्यम्', 'अवश्यपाव्यम्' उदाहरणोंमें (ओकारों और औकारोंको भी 'यि प्रत्यये' सूत्रसे) आदेश नहीं होंगे।

(यह दोष नहीं आता। क्योंकि) नियम सजातीय एचोंके ही बारेमें है।

सजातीय एच् कौनसा?

'क्षि' और 'जि' धातुओंका एच् जिस जातिका है उस जातिका।

'क्षि' और 'जि' धातुओंका एच् किस प्रकारका है?

एकार है। (तब ओकार और औकार इन एचोंके बारेमें नियम न होनेके कारण लव्यम् आदि उदाहरणोंमें 'यि प्रत्यये' सूत्रसे आदेश होनेमें कुछ बाधा नहीं।)

तो फिर (ऐकारके बारेमें नियम न होनेके कारण) 'रायमिच्छति रैयति' यहाँ ('यि प्रत्यये' सूत्रसे ऐकारको आय् आदेश) होने लगेगा।

(यह दोष नहीं आता। कारण यह कि) 'रै' शब्दके आगे 'क्यच्' प्रत्यय केवल वैदिक प्रयोगमें ही लगाया जाता है। और "वैदिक प्रयोगमें तो जितने कार्य किये हुए दीख पड़ते हैं उतने ही करनेके हैं।" (देखिये व्याडिपरिभाषापाठ — परिभाषा ६८)

'आदेशोंमेंसे (चुनाव करके उनमें) जो अधिक सदृश हो वही आदेश किया जाय' यह पक्ष लिया गया तो 'ऊदुपधाया गोहः' (६।४।८९) में (ओकारको ही आदेश होनेके लिए) 'उपधायाः' पद पढ़ना पड़ेगा। और 'स्थानियोंमेंसे (चुनाव करके उनमें) जो अधिक सदृश हो उसीको आदेश किया जाय' यह पक्ष लिया गया तो 'गोह'मेंसे ऊकारको जो वर्ण अधिक सदृश हो उसी स्थानीमें (अर्थात् ओकारमें)

---

५. 'रै' शब्दके आगे 'सुप आत्मनः क्यच्' (३।१।८) सूत्रसे 'क्यच् प्रत्यय करके, 'रैय' को धातुसंज्ञा (३।१।३२) करके, आगे 'लट्' प्रत्यय करके 'रैयति' क्रियापद बना है।

६. ऊकार और ओकारका ओष्ठ्यस्थान समान है। अतः ऊकार आदेशको गकार और हकार इन दो वर्णोंकी अपेक्षा 'गोह्'मेंका ओकार अधिक सदृश है।

सिद्धं भवति । आदेशतो ऽप्यन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां न दोषः । क्रियत एतन्न्यास एव ॥ रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः [८·२·४२]। आदेशतो ऽन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां तकारग्रहणं कर्तव्यम् । प्रकृतितः पुनरन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां नकारस्य निष्ठायां यान्तरतमा प्रकृतिस्तत्र षष्ठी यत्र षष्ठी तत्रादेशा भवन्तीत्यन्तरेण तकारग्रहणं सिद्धं भवति । आदेशतो ऽप्यन्तरतमनिर्वृत्तौ सत्यां न दोषः । क्रियत एतन्न्यास एव ॥

किं पुनरिदं निर्वर्तकम् । अन्तरतमा अनेन निर्वर्त्यन्ते । आहोस्वित्प्रतिपादकम् । अन्येन निर्वृत्तानामनेन प्रतिपत्तिः । कश्चात्र विशेषः ।

षष्ठी लगेगी, और जिसको षष्ठी लगती है उसीको आदेश होता है। (तब उपधाको ही आदेश होनेके कारण सूत्रमें) 'उपधायाः' पदका उच्चारण किये विना ही वह सिद्ध होगा।

'आदेशोंमेंसे (चुनाव करके उनमें) जो अधिक सदृश हो वही आदेश किया जाय' यह पक्ष लिया गया तो यहाँ दोष नहीं आता। कारण यह कि पाणिनिने मूल सूत्रमें 'उपधायाः' पद रखा ही है।

'आदेशोंमेंसे (चुनाव करके उनमें) जो अधिक सदृश हो वही आदेश किया जाय' यह पक्ष लिया गया तो "रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः" (८।२।४२) में (तकारको ही नकार आदेश होनेके लिए) 'तः' (अर्थात् तकारको) ऐसा पढ़ना पड़ेगा। और 'स्थानियोंमेंसे (चुनाव करके) जो अधिक सदृश हो उसीको आदेश किया जाय' यह पक्ष लिया गया तो (आदेशको अर्थात्) तकारको निष्ठाप्रत्ययोंमेंसे जो वर्ण अधिक सदृश हो उसी स्थानीमें (अर्थात् तकारमें) षष्ठी लगेगी, और जिसमें षष्ठी लगती है उसीको आदेश होता है। अतः (तकारको ही नकार आदेश होनेके कारण सूत्रमें) 'तः' पद रखे विना ही सिद्ध होगा।

'आदेशोंमेंसे (चुनाव करके उनमें) जो अधिक सदृश हो वही आदेश किया जाय' यह पक्ष लिया गया तो भी यहाँ दोष नहीं आता। कारण यह कि पाणिनिने मूल सूत्रमें 'तः' (पद) रखा है।

पर क्या यह सूत्र निर्वर्तक है? अर्थात् अधिक सदृश जो आदेश हों वे ही इस सूत्रसे नये ही किये जाते है? अथवा प्रतिपादक है? अर्थात् अन्यसूत्रोंसे किये जानेवालेमें जो अधिक सदृश हों केवल उन्हींको यह सूत्र संमति देता है?

इन दोनोंमें क्या भेद है?

---

७. नकार और तकार दोनों वर्ण दंतस्थानके हैं। अत नकार आदेशको निष्ठा प्रत्ययके अन्य अकार आदिकी अपेक्षा तकार ही अधिक सदृश है।

स्थानेऽन्तरतमनिर्वर्तके स्थानिनिवृत्तिः ॥ २ ॥

स्थानेऽन्तरतमनिर्वर्तके सर्वस्थानिनां निवृत्तिः प्राप्नोति। अस्यापि प्राप्नोति। दधि मधु। अस्तु। न कश्चिदन्य आदेशः प्रतिनिर्दिश्यते तत्रान्तर्यतो दधिशब्दस्य दधिशब्द एव मधुशब्दस्य मधुशब्द एवादेशो भविष्यति। यदि चैव कश्चिद्वैरूप्यं तत्र दोषः स्यात्। बिसं बिसं मुसलं मुसलमिति। इण्कोरिति षत्वं प्राप्नोति॥ अपि चेष्टा व्यवस्था न प्रकल्पेत। तद्यथा भ्राष्ट्रे तिलाः क्षिप्ता मुहूर्तमपि नावतिष्ठन्त एवमिमे वर्णा मुहूर्तमपि नावतिष्ठेरन्॥ अस्तु तर्हि प्रतिपादकम्।

(वा. २) यदि शब्दस्वरूपके उच्चारणके समय अधिक सदृश नया आदेश किया गया तो सभी शब्दोंकी निवृत्ति होने लगेगी।

यदि कहा गया कि शब्दस्वरूपके उच्चारणके समय (उस शब्दस्वरूपका उच्चारण न करके उसके स्थानमें) उससे अधिक सदृश नया आदेश किया जाय, तो (सभी शब्दोंका उच्चारण करनेकी आवश्यकता होनेसे) उन सभी शब्दोंकी निवृत्ति होने लगेगी; जैसे, दधि, मधु। (इन शब्दोंकी भी प्रकृतसूत्रसे निवृत्ति होगी।)

यदि होती है तो होने दे। उन्हें कुछ अन्य आदेश नहीं होगा। अधिक सदृश आदेश होगा अर्थात् दधिशब्दको दधिशब्द ही और मधुशब्दको मधुशब्द ही आदेश होगा। (और उनमेंसे प्रत्येक वर्णको होनेवाला आदेश वर्ण-आदेश होगा।)

(इस तरह शब्दस्वरूप सदृश ही रहा तो भी) यदि कहीं वैरूप्य (धर्ममें भेद) हुआ तो वहाँ दोष अवश्य आयेगा; जैसे, बिसं बिसम्, मुसलं मुसलम्। यहाँ (बिस शब्दको बिस शब्द ही आदेश हुआ और उसके वर्णोंको भिन्न भिन्न वर्ण आदेश हुए तो भी वहाँ 'स'कार आदेश होनेके कारण) "इण्कोः" (८।३।५७) इस अधिकारके 'आदेशप्रत्यययोः' (८।३।५९) से (उस 'स'कारको) 'ष'कार आदेश होने लगेगा।

और इष्ट व्यवस्था सिद्ध नहीं होगी। जैसे तप्त भाष्ट्र (मिट्टीके थाल) में रख गये तिल क्षणभर भी स्थिर नहीं रहते, वैसे ही ये वर्ण क्षणभर भी कहीं स्थिर नहीं रहेंगे[८]।

तो फिर यह सूत्र केवल समतिदर्शक ही रहने दें (अर्थात् उससे नये आदेश

---

८ क्योंकि वर्ण उसका अपना आदेश हुआ तो भी उस आदेशका फिरसे उच्चारण करनेका अवसर होनेसे, उस आदेशकी भी निवृत्ति होके फिरसे वही वर्ण आदेश होगा। उसको भी फिरसे आदेश होनेवाला है यह अनवस्था प्राप्त होती है। तब जो वर्ण आदेश किया जाता है वह फिरसे निवृत्त होनेके योग्य होनेसे साधुशब्दका स्वरूप नहीं कहा जा सकता।

अन्येन निर्वृत्तानामनेन प्रतिपत्तिः ।

निर्वृत्तप्रतिपत्तौ निर्वृत्तिः ॥ ३ ॥

निर्वृत्तप्रतिपत्तौ निर्वृत्तिर्न सिध्यति । सर्वे सर्वत्र प्राप्नुवन्ति । किं तर्ह्युच्यते निर्वृत्तिर्न सिध्यतीति । न साधीयो निर्वृत्तिः सिद्धा भवति । न ब्रूमो निर्वृत्तिर्न सिध्यतीति । किं तर्हि । इष्टा व्यवस्था न प्रकल्पेत न सर्वे सर्वत्रेष्यन्ते ॥ इदमिदानीं किमर्थं स्यात् ।

अनर्थकं च ॥ ४ ॥

अनर्थकमेतत्स्यात् । यो हि भुक्तवन्तं ब्रूयान्मा भुक्था इति किं तेन कृतं स्यात् ॥

उक्तं वा ॥ ५ ॥

न किये जायँ)। (केवल) अन्य सूत्रोंके द्वारा किये हुए आदेशोंमेंसे जो आदेश अधिक सदृश हों उनको प्रकृतसूत्रसे मान्यता दी जाय (और अन्य आदेश किये गये तो भी वे नहीं किये गये ऐसा समझा जाय)।

(वा. ३) किये हुए आदेशोंको मान्यता दी गयी तो आदेश नहीं होंगे ।

'(अन्य सूत्रोंसे) किये हुए आदेशोंको (प्रकृतसूत्रसे) मान्यता दी जाय' ऐसा हो तो आदेश नहीं होंगे। विविध सूत्रोंसे कहे हुए सभी आदेश सर्वत्र होंगे।

यदि सभी आदेश सर्वत्र होंगे तो आप क्यों कहते हैं कि 'आदेश न होंगे ?'

हमारा अभिप्राय यह है कि 'योग्य आदेश ही होने चाहिये यह बात सिद्ध नहीं होगी'। 'आदेश होंगे ही नहीं' ऐसा हम नहीं कहते।

तो आपका क्या कहना है ?

इष्ट व्यवस्था नहीं होगी, क्योंकि सभी आदेश सर्वत्र इष्ट नहीं है।

तो फिर (इन आदेशोंमेंसे अधिक सदृश आदेशोंको) इस सूत्रसे मान्यता देनेसे क्या लाभ होगा ?

(वा. ४) और (यह सूत्र) निरर्थक होगा।

यह प्रकृतसूत्र निरर्थक होगा। क्योंकि भोजन किये हुए व्यक्तिसे यदि कोई कहे कि 'भोजन मत करो' तो उसका क्या उपयोग है ?

(वा. ५) अथवा यह कहा गया है।

---

१ 'दधि अत्र' यहाँ इकारके य्, व्, र्, ल् चारों आदेश 'इको यणचि' (६।१।७७) से होंगे। उनमेंसे यकार इकारको अधिक सदृश है। उसके अतिरिक्त अन्य तीन व्, र्, ल् आदेशोंको प्रकृतसूत्रसे मान्यता न दी गयी तो भी उसका कुछ उपयोग न होगा। कारण यह कि 'इको यणचि' सूत्रसे जो कार्य हो चुका उसके बारेमें बादमें अमान्यता व्यक्त करके निषेध करना निरर्थक है।

किमुक्तम् । सिद्धं तु षष्ठ्यधिकारे वचनादिति । षष्ठ्यधिकारे ऽयं योगः कर्तव्यः । स्थाने ऽन्तरतमः षष्ठीनिर्दिष्टस्येति ॥

प्रत्यात्मवचनं च ॥ ६ ॥

प्रत्यात्ममिति च वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । यो यस्यान्तरतमः स तस्य स्थाने यथा स्यादन्यस्यान्तरतमो ऽन्यस्य स्थाने मा भूदिति ॥

प्रत्यात्मवचनमशिष्यं स्वभावसिद्धत्वात् ॥ ७ ॥

प्रत्यात्मवचनमशिष्यम् । किं कारणम् । स्वभावसिद्धत्वात् । स्वभावत एतत्सिद्धम् । तद्यथा । समाजेषु समाशेषु समवायेषु चास्यतामित्युक्ते न चोच्यते

(अथवा यह तो पहले ही—१।१।२—कहा गया है।)

क्या कहा गया है ?

'सिद्धं तु षष्ठ्यधिकारे वचनात्' (१।१।२ वा. १७) से यह पहले कहा गया है। षष्ठीके अधिकारमें यह सूत्र समझा जाय। अर्थात् जहाँ षष्ठीप्रत्ययका निर्देश किया गया हो वहाँ 'स्थानेऽन्तरतमः' यह प्रकृतसूत्र उपस्थित[10] होता है।

(वा. ६) और 'प्रत्यात्मम्' कहना चाहिये।

'प्रत्यात्मम्[11]' ऐसा यहाँ कहना चाहिये।

उसका क्या उपयोग है ?

जो आदेश जिस स्थानीसे अधिक सदृश हो वह आदेश उसी स्थानीको होना चाहिये। एक स्थानीसे जो आदेश अधिक सदृश हो वह दूसरे स्थानीको न होना चाहिये।

(वा. ७) प्रत्यात्मवचनकी आवश्यकता नहीं। क्योंकि यह बात स्वभावसिद्ध ही है।

यहाँ 'प्रत्यात्मम्' न कहना चाहिये।

(इसका) क्या कारण है ?

स्वभावसिद्ध होनेसे। यह विधान स्वभावसे ही सिद्ध होता है। जैसे जब किसी उत्सवमें लोग इकट्ठे होते हैं तब उन्हें 'समाजोंमें[12]', समाशोंमें और समवायोंमें जाकर बैठना'

---

१०. तब 'इको यणचि' यहाँ यह सूत्र उपस्थित होनेसे 'इक्के स्थानमें अन्तरतम अर्थात् अधिक सदृश यण् आदेश होता है' ऐसा अर्थ होता है। अत. 'दधि अत्र' यहाँ आदेश होनेके समय ही केवल एक ही य् आदेश होगा और, व् र्, ल् कदापि न होंगे।

११. प्रत्यात्मम् अर्थात् उसका अपनेको।

१२. समाज अर्थात् कुछ एक विचार करनेवाली सभा। समाश अर्थात् सहभोजन। समवाय अर्थात् कुछ एक कार्य करनेके लिए इकट्ठा हुआ मंडल। जो सदस्य हैं वे समाजमें आते हैं। जो निमंत्रित हैं वे भोजनके यहाँ जाते हैं। और जो कार्य करनेके लिए आये हैं वे समवायकी ओर जाते हैं।

प्रत्यात्ममिति प्रत्यात्म चासते ॥

अन्तरतमवचनं च ॥ ८ ॥

अन्तरतमवचन चाशिष्यम्। योगश्चाप्ययमशिष्यः। कुतः। स्वभावसिद्धत्वादेव। तद्यथा। समाजेषु समाशेषु समवायेषु चास्यतामित्युक्ते नैव कृशा कृशैः सहासते न पाण्टवा. पाण्डुभि*। येषामेव किंचिदर्थकृतमान्तर्यं तैरेव सहासते ॥ तथा गावो दिवसं चारितवत्यो यो यस्याः प्रसवो भवति तेन सह शेरते। तथा यान्येतानि गोयुक्तकानि सघुटकानि भवन्ति तान्यन्योन्य पश्यन्ति शब्द कुर्वन्ति॥ एव तावच्चेतनावत्सु। अचेतनेष्वपि। तद्यथा। लोटः क्षिप्तो बाहुवेग गत्वा नैव

यह कहनेपर जो जहाँ बैठनेवाला है वह वहीं जाकर बैठता है। 'वहाँ' 'प्रत्यात्मम्' कहना नहीं पडता।

(वा ८) और अन्तरतमवचन (की भी आवश्यकता नहीं।)

अन्तरतमवचन भी न करना चाहिये। (अर्थात् स्थानीसे अधिक सदृश जो आदेश हो वह किया जाय ऐसा कहनेवाला) यह प्रकृतसूत्र भी करनेकी आवश्यकता नहीं।

क्यों?

यह भी स्वभावसे ही सिद्ध होता है। उदा०, (किसी उत्सवमें जब लोग इकट्ठे होने लगते हैं तब) 'समाजोंमें, समाशोंमें और समवायोंमें जाकर बैठना' ऐसा (उन्हें) कहा गया तो यह निश्चित नहीं कि उनमेंसे जो शरीरसे कृश हो वे अपने समान अन्य कृश व्यक्तियोंके ही समीप जाकर बैठेंगे, और जो गोरे हों वे स्वसदृश गौरवर्ण व्यक्तियोंके ही पास जाकर बैठेंगे, तो उस उत्सव आदिमें (किये जानेवाले विविध कृत्योंमेंसे) कुछ कृत्य करनेमें जिनकी एकदूसरेकी सहायता हो सके वेही एक दूसरेके पास जाकर बैठते[13] हैं। वैसे ही दिनभर अरण्यमें इतस्तत सचार करनेवाली गायोंमेंसे जिसका जो पाडा हो उसीको पास लेकर वह रातको सोती है। तथा बैलोंकी जोडियाँ लगाकर जो सघुष्टक[14] बनाये जाते हैं उनमेंसे एक बैल दूसरेको न देखकर इधर उधर दृष्टि डालकर शब्द करने लगता है। यह व्यवहार चेतनामें होता है। पर अचेतन भी आत्मसदृश अन्यकी ओर ही दौडते हैं। जैसे मिट्टीका ढेला जोरसे फेंका जानेपर दूरीपर जाता है, पर अन्य किसी तिरछी दिशामें वा ऊपर आकाशमें न जाकर अन्तमें भूमिपर ही आ गिरता है, क्योंकि ढेला भूमिका ही विकार हानेके कारण भूमिसे ही

---

१३ तब स्थानीका जो अर्थ हो उसको जो आदश दिया गयेगा वही उसका आदेश होगा।

१४ चरस चलाते समय और हल जोतते समय बैलोंके गलेमें काठका कडा भटकाया जाता है उसे 'संघुष्टक' कहते हैं।

तिर्यग्गच्छति नोर्ध्वमारोहति पृथिवीविकारः पृथिवीमेव गच्छत्यान्तर्यतः। तथा या एता आन्तरिक्ष्यः सूक्ष्मा आपस्तासां विकारो धूमः स आकाशदेशे निवाते नैव तिर्यग्गच्छति नावागवरोहत्यब्विकारो ऽप एव गच्छत्यान्तर्यतः। तथा ज्योतिषो विकारो ऽर्चिराकाशदेशे निवाते सुप्रज्वालितो नैव तिर्यग्गच्छति नावागवरोहति ज्योतिषो विकारो ज्योतिरेव गच्छत्यान्तर्यतः॥

व्यञ्जनस्वरव्यतिक्रमे च तत्कालमसङ्गः॥ ९॥

व्यञ्जनव्यतिक्रमे स्वरव्यतिक्रमे च तत्कालता प्राप्नोति। व्यञ्जनव्यतिक्रमे। इष्टम् उप्तम्। आन्तर्यतो ऽर्धमात्रिकस्य व्यञ्जनस्यार्धमात्रिक इक् प्राप्नोति॥ नैव लोके न च वेदे ऽर्धमात्रिक इगस्ति। कस्तर्हि। मात्रिकः। यो ऽस्ति स भविष्यति॥ स्वरव्यतिक्रमे। दध्यत्र मध्वत्र कुमार्यत्र ब्रह्मबन्ध्वर्थमिति। आन्तर्यतो मात्रिकस्य

उसका सादृश्य है। तथा जलका विकार धुआँ वायुके वेगसे इधर उधर घूमता है, पर वायु न हो तो आकाशमें इधर उधर नहीं जाता है, नीचे भी नहीं गिरता है, तो स्वाभाविक गतिसे आत्मसदृश आकाशस्थ सूक्ष्मजलसे ही एकरूप होता है। तथा तेजका विकार जलाई हुई ज्वाला, वायु न हो तो आकाशमें आडी तिरछी नहीं जाती है, नीचेकी ओर भी नहीं झुकती है, तो स्वाभाविक गतिसे आत्मसदृश आकाशस्थ तेजमें ही विलीन हो जाती है। (उसी तरह शास्त्रमें स्थानी स्वसदृश आदेशकी ओर ही दौड़ेगा। तात्पर्य यह है कि प्रकृतसूत्र करनेकी आवश्यकता नहीं यह बात सिद्ध होती है।)

(वा. ९) व्यञ्जनका व्यतिक्रम तथा स्वरका व्यतिक्रम होनेपर तत्कालता प्राप्त होती है।

व्यञ्जनका व्यतिक्रम (अर्थात् व्यञ्जनको स्वर आदेश) और स्वरव्यतिक्रम (अर्थात् स्वरको व्यञ्जन आदेश) होनेपर वहाँ स्थानीको जितना ही काल जिसके उच्चारणमें लगता है उतना ही आदेशको लगेगा। व्यञ्जनके व्यतिक्रमका उदाहरण—इष्टम्, उप्तम्। यहाँ यज् धातुके यकारको इकार होता है (६।१।१५) तथा वप् धातुके वकारको उकार होता है। व्यञ्जन अर्धमात्रिक होनेके कारण उसके स्थानपर प्रकृत सूत्रसे उसके समान अर्धमात्रिक इकार तथा उकार होने लगेगा।

पर लोकमें और वेदमें कहीं भी अर्धमात्रिक इक् नहीं है।

फिर कमसे कम कितनी मात्राओंका है?

सबसे कम इक् ह्रस्व इक् है वह एक मात्राका है।

तो फिर जो है वही होगा।

स्वरके व्यतिक्रमका उदाहरण—दध्यत्र, मध्वत्र, कुमार्यर्थम्, ब्रह्मबन्ध्वर्थम्।

द्विमात्रिकस्यैको मात्रिको द्विमात्रिको वा यण् प्राप्नोति ॥ नैव लोके न च वेदे मात्रिको द्विमात्रिको वा यणस्ति। कस्तर्हि। अर्धमात्रिकः। यो ऽस्ति स भविष्यति ॥

अक्षु चानेकवर्णादेशेषु ॥ १० ॥

अक्षु चानेकवर्णादेशेषु तत्कालता प्राप्नोति। इदम इश् [५·३·३]। आन्तर्यतो ऽर्धतृतीयमात्रस्येदमः स्थाने ऽर्धतृतीयमात्रमिवर्णं प्राप्नोति ॥ नैष दोषः। भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेत्येवं न भविष्यति ॥

'स्थानीसे अधिक सदृश जो आदेश हो वही किया जाय' ऐसा प्रकृतसूत्रसे कहा जानेसे दध्यत्र, मध्वत्रमें एकमात्रायुक्त ह्रस्व इकारको और उकारको होनेवाला यण आदेश (६।१।७७) एकमात्रायुक्त होने लगेगा। तथा कुमार्यर्थम् में द्विमात्रायुक्त ईकारको और ऊकारको होनेवाला यण् आदेश द्विमात्रायुक्त होने लगेगा।

पर लोकमें और वेदमें कहीं भी एकमात्रायुक्त और द्विमात्रायुक्त यण् नहीं है।

फिर यण् कितनी मात्राओंका है?

अर्धमात्रायुक्त है?

तो फिर जो है वही होगा।

(वा. १०) अनेक वर्णोंको एक अच् आदेश जहाँ होता है (वहाँ तत्कालता प्राप्त होती है)

अनेक वर्णोंको एक अच् आदेश जहाँ होता है वहाँ अनेक वर्णोंके उच्चारणके लिए सभीको मिलकर जितना काल लगता है उतने कालमें उच्चरित होनेवाला अर्थात् उतनी मात्राओंका वह अच् आदेश प्रकृत सूत्रसे होने लगेगा; जैसे 'इदम इश्' (५।३।३)। 'इतः' उदाहरणमें इदम् शब्दके आगे तसिल् प्रत्यय (५।३।७), अत्व (७।२।१०२) और पररूप (६।१।९६) करनेके बाद 'इद' इसमें 'इद' को इश् आदेश होता है। इस स्थानीका इकार, दकार, अकार मिलकर उतनी अढाई मात्राएँ होती है।

गुणवृद्ध्येज्भावेषु च ॥ ११ ॥

गुणवृद्ध्येज्भावेषु च तत्कालता प्राप्नोति । खट्वा इन्द्रः खट्वेन्द्रः । खट्वा उदकं खट्वोदकम् । खट्वा ईषा खट्वेषा । खट्वा ऊढा खट्वोढा । खट्वा एलका खट्वैलका । खट्वा ओदनः खट्वौदनः । खट्वा ऐतिकायनः खट्वैतिकायनः । खट्वा औपगवः खट्वौपगव इति । आन्तर्यतस्त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशाः प्राप्नुवन्ति ॥ नैष दोषः । तपरे गुणवृद्धी । ननु च तः परो यस्मात्सो ऽयं तपरः । नेत्याह । तादपि परस्तपरः । यदि तादपि परस्तपर ऋदोरप् [३·३·७५] इहैव

(वा. ११) गुण और वृद्धि करना हो तथा एच् आदेश करना हो (तो तत्कालता प्राप्त होनी है।)

गुण और वृद्धि करना हो तथा एच् आदेश करना हो तो स्थानीकी जितकी मात्राएँ हों उतनी मात्राओंसे युक्त आदेश होने लगेगा। गुण और वृद्धिके उदाहरण— खट्वा इन्द्रः खट्वेन्द्रः, खट्वा उदकम्, खट्वोदकम्, खट्वा ईषा खट्वेषा, खट्वा ऊढा खट्वोढा, खट्वा एलका खट्वैलका, खट्वा ओदनः खट्वौदनः, खट्वा ऐतिकायनः खट्वैतिकायनः, खट्वा औपगवः खट्वौपगवः। इन उदाहरणोंमेंसे पहले चार उदाहरणोंमें दो वर्ण मिलकर उनको एक आदेश गुण (६।१।८७) हुआ है। अन्य चार उदाहरणोंमें दो वर्ण मिलकर उनको एक आदेश वृद्धि (६।१।८८) हुआ है। तथा इन आठ उदाहरणोंमेंसे पहले दो उदाहरणोंमें स्थानी दो वर्ण मिलकर तीन मात्राएँ होती हैं इसलिए वहाँ होनेवाला गुण तीन तीन मात्राओंसे युक्त होने लगेगा, और अगले छः उदाहरणोंमें स्थानी दो वर्ण मिलकर चार मात्राएँ होती हैं इसलिए वहाँ होनेवाले गुण और वृद्धि आदेश चार मात्राओंसे युक्त होंगे।

यह दोष नहीं आता। 'वृद्धिरादैच्' में आत् तकारके आगे ऐच् शब्दका उच्चारण किया है। तथा 'अदेङ्गुणः' यहाँ अत् तकारके आगे एङ् शब्दका उच्चारण किया है। अतः 'तपरस्तत्कालस्य' (१।१।७०) सूत्रसे दीर्घोंको ही अर्थात् दो मात्राओंके ही ए ओ को गुणसंज्ञा है और दो मात्राओंके ही ऐ औ को वृद्धिसंज्ञा है।

परन्तु 'तपर' शब्दका अर्थ 'त' जिसके आगे माना गया है ऐसा वर्ण न ?

यही केवल नहीं ऐसा हम कहते हैं। तकारके आगे होनेवाला वर्ण भी 'तपर-' रूप निर्दिष्ट किया जाता है।

यदि तकारके आगे होनेवाला वर्ण भी 'तपर' शब्दका अर्थ समझा गया तो 'ऋदोरप्' (३।३।७५) सूत्रसे यवः, स्तवः इत्यादि स्थलोंपर ही अप् प्रत्यय

---

१६. अ. १ पा. १ सू. १ वा. १३ महाभाष्य देखिये।

स्यात्। यवः स्तवः। लवः पव इत्यत्र न स्यात्। नैष तकारः। कस्तर्हि। दकारः। किं दकारे प्रयोजनम्। अथ किं तकारे। यद्यसंदेहार्थस्तकारो दकारोऽपि। अथ मुखसुखार्थस्तकारो दकारोऽपि॥ एज्मावे। कुर्वाते कुर्वाथे। आन्तर्यतो ऽर्धतृतीयमात्रस्य टिसंज्ञकस्यार्धतृतीयमात्र एः प्राप्नोति॥ नैव लोके न च वेदे ऽर्धतृतीयमात्र एरस्ति॥

ऋवर्णस्य गुणवृद्धिप्रसङ्गे ऽविशेषात्॥'१२॥

ऋवर्णस्य गुणवृद्धिप्रसङ्गे सर्वप्रसङ्गः। सर्वे गुणवृद्धिसंज्ञका ऋवर्णस्य स्थाने प्राप्नुवन्ति। किं कारणम्। अविशेषात्। न हि कश्चिद्विशेष उपादीयत

होगा। लवः, पवः इत्यादि स्थलोंपर अप् प्रत्यय नहीं होगा।

'ऋदोरप्' सूत्रमें तकारका उच्चारण ही नहीं किया है।

तो फिर किस वर्णका उच्चारण किया है?

दकारका उच्चारण किया है।

दकारके उच्चारणका क्या उपयोग है?

तकारके उच्चारणका भी क्या उपयोग है?

तकारके उच्चारणका उपयोग है अर्थके विषयमें सन्देह निर्माण न होने देना। तो दकारके उच्चारणका भी वही उपयोग है। और उच्चारण करते समय मुखसे सुखसे उच्चारण होना ही यदि तकारका उपयोग लिया तो दकारका भी वही उपयोग लिया जा सकता है।

एच् आदेशका उदाहरण है — कुर्वाते, कर्वाथे। यहाँ 'टित आत्मने० (३।४।७९) सूत्रसे जो एकार आदेश हुआ है वह, उसका स्थानी प्रत्ययका टिसंज्ञक' 'आम्' भाग अढाई मात्राओंका होनेके कारण, उसके समान अढाई मात्राओंका ही होने लगेगा।

पर लोकमें और वेदमें कहीं भी अढाई मात्राओंका एच् नहीं है। (अतः जो है वही होगा।)

(वा. १२) ऋकारको गुण और वृद्धि कर्तव्य होनेपर सर्वप्रसङ्ग प्राप्त होता है, क्योंकि उसमें कुछ विशेष नहीं दीखता।

ऋकारको गुण और वृद्धि कर्तव्य हो तो सर्वप्रसङ्ग प्राप्त होता है अर्थात् सब गुण और सब वृद्धियाँ होंगी। गुणसंज्ञक अ, ए, और ओ तथा वृद्धिसंज्ञक आ, ऐ और औ सभी ऋकारके बारेमें होने लगेंगे।

(इसका) क्या कारण है?

उसमें कुछ विशेष नहीं दीख पड़ता है इसलिए। 'ऋकारके स्थानमें अमुक प्रकारका ही गुण किया जाय और अमुक प्रकारकी वृद्धि की जाय' इस प्रकारक

एवंजातीयको गुणवृद्धिसंज्ञक ऋवर्णस्य स्थाने भवतीति। अनुपादीयमाने विशेषे सर्वप्रसङ्गः॥

न वा ऋवर्णस्य स्थाने रपरप्रसङ्गादवर्णस्यान्तर्यम्॥ १३॥

न वैष दोषः। किं कारणम्। ऋवर्णस्य स्थाने रपरप्रसङ्गात्। उः स्थानेऽण् प्रसज्यमान एव रपरो भवतीत्युच्यते तत्र ऋवर्णस्यान्तर्यतो रेफवतो रेफवानकार एवान्तरतमो भवति॥

सर्वादेशप्रसङ्गस्त्वनेकाल्त्वात्॥ १४॥

सर्वादेशस्तु गुणवृद्धिसंज्ञक ऋवर्णस्य प्राप्नोति। किं कारणम्। अनेकाल्त्वात्। अनेकाल्शित्सर्वस्य [१.१.५५] इति॥

न वानेकाल्त्वस्य तदाश्रयत्वादृवर्णादेशस्याविघातः॥ १५॥

कुछ भी विशेष नहीं किया गया है। और विशेष यदि नहीं कहा गया तो निःसंदेह सभी होंगे ही।

(वा १३) अथवा यह दोष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि ऋकारके स्थानमें होनेवाला अण् आदेश रपर होता है इसलिए 'अ' गुणरूप करना हो तो रपर होके 'अर्' होगा और वृद्धि 'आर्' होगी।

अथवा यह दोष नहीं आता।

(इसका) क्या कारण है?

ऋवर्णस्य स्थाने रपरप्रसङ्गात्' अर्थात् ऋकारके स्थानमें होनेवाला जो अण् आदेश है वह होते समय ही रपरके रूपमें होता है ऐसा अगले सूत्रसे कहा गया है। अतः अ गुणरूप करना हो तो वह रपर होके 'अर्' होगा और वृद्धि 'आर्' होगी। उस अर् तथा आर्में रेफ है और ऋकारके अन्तर्गत भी है। सादृश्यके कारण ऋकारके अर् और आर् ही गुण और वृद्धि क्रमसे होंगे।

(वा. १४) परन्तु (अर् और आर् आदेशोंमें) अनेक अल् होनेसे वे आदेश सबको होंगे।

परन्तु गुण और वृद्धिके रूपमें जो अर् और आर् आदेश ऋकारको कर्तव्य है वे केवल ऋकारको ही नहीं होंगे तो सबको अर्थात् ऋकारान्तको होंगे।

(उसका) क्या कारण है?

अर् और आर् आदेशोंमें अनेक अल् होनेके कारण 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' (१।१।५५) यह परिभाषा वहाँ प्रवृत्त होगी।

(वा. १५) अथवा यह दोष नहीं आता। क्योंकि 'आदेशका अनेकाल् बनना' यह बात 'उस आदेशके ऋकारके स्थानमें होने' पर आश्रित होनेके कारण बादमें उस स्थानीमें बदल नहीं किया जा सकता।

न वैष दोषः। किं कारणम्। अनेकाल्त्वस्य तदाश्रयत्वात्। यदायमुः स्थाने तदानेकाल्। अनेकाल्त्वस्य तदाश्रयत्वादृवर्णादेशस्य विघातो न भविष्यति। अथवानान्तर्यमेवैतयोरान्तर्यम्। एकस्याप्यन्तरतमा प्रकृतिर्नास्त्यपरस्याप्यन्तरतम आदेशो नास्ति। एतदेवैतयोरान्तर्यम्॥

संप्रयोगो वा नष्टाश्वदग्धरथवत्॥ १६॥

अथवा नष्टाश्वदग्धरथवत्संप्रयोगो भवति। तद्यथा। तवाश्वो नष्टो ममापि रथो दग्ध उभौ संप्रयुज्यावहा इति। एवमिहापि तवाप्यन्तरतमा प्रकृतिर्नास्ति ममाप्यन्तरतम आदेशो नास्त्यस्तु नौ संप्रयोग इति। विषम उपन्यासः। चेतना-

---

अथवा यह दोष नहीं आता।

(उसका) क्या कारण है?

'*अनेकाल्त्वस्य तदाश्रयत्वात्*' अर्थात् *अ तथा आ आदेश जब ऋकारके स्थानमें* होगा तभी उसको रेफ आगे लगाकर वह आदेश अनेकाल् होगा। इस तरह 'आदेश अनेकाल् बनना' यह बात 'वह आदेशके ऋकारके स्थानमें होने'पर अवलंबित होनेके कारण बादमें उन स्थानोंमें बदल नहीं किया जा सकता[१७]। अथवा स्थानी ऋकार और आदेश अकार इनका 'अनान्तर्य' अर्थात् 'स्वसदृश न प्राप्त होना' यही एक प्रकारका सादृश्य है। वह यों कि गुण और वृद्धि जो आदेश हैं उनमेंसे अ और आको स्वसदृश कण्ठस्थानका स्थानी इकोंमेंसे कोई भी नहीं प्राप्त होता। तथा स्थानियोंमेंसे ऋकारको स्वसदृश मूर्धस्थानका आदेश गुणवृद्धियोंमेंसे कोई भी नहीं प्राप्त होता। अतः 'अनान्तर्य' ही सादृश्य होनेके कारण 'अ-' कारको गुण 'अ-' कार ही होगा वृद्धि 'आ-' कार ही होगी।

(वा. १६) अथवा नष्टाश्व और दग्धरथके समान यहाँ ऋकार और अकारका संप्रयोग होगा।

अथवा नष्टाश्व और दग्धरथके समान यहाँ ऋकारका और अकारका आपसमें संबंध होगा। जैसे लोगोंमें एक दूसरेसे कहता है कि 'तुम्हारा घोड़ा नष्ट हुआ और मेरा रथ जल गया, अब हम आपसमें संबंध बना लेंगे, अर्थात् तुम्हारे रथमें मेरा घोड़ा जोड़के हम अपना काम चला लेंगे,' वैसे ही यहाँ भी ऋकार अकारसे कहता है कि 'तुम्हारे पास तुम्हारे समान स्थानी नहीं है और मेरे पास मेरे समान आदेश नहीं है, अतः हम आपसमें संबंध बना लेंगे।'

पर यह दृष्टान्त उचित नहीं। क्योंकि लोकमें सचेतन प्राणियोंमें सोचनेकी शक्ति होनेसे वे अपने बलके अनुसार अथवा प्रकरणके आधारपर उपर्युक्त प्रकारसे

---

१७. एक विशिष्ट प्रकारकी नींव जमाके घर बांधनेके बाद उस नींवके स्थानमें बदल नहीं किया जा सकता है।

वत्त्वर्थात्प्रकरणाद्वा लोके सम्प्रयोगो भवति वर्णाश्च पुनरचेतनास्तत्र किंकृत सम्प्रयोग । यद्यपि वर्णा अचेतना यस्त्वसौ प्रयुङ्क्ते स चेतनावान् ॥

एजवर्णयोरादेशे ऽवर्णं स्थानिनो ऽवर्णप्रधानत्वात् ॥ १७ ॥

एजवर्णयोरादेशे ऽवर्णं प्राप्नोति । खट्वैलका मालौपगव । किं कारणम् । स्थानिनो ऽवर्णप्रधानत्वात् । स्थानी ह्यत्रावर्णप्रधानः ॥

सिद्धं तूभयान्तर्यात् ॥ १८ ॥

सिद्धमेतत् । कथम् । उभयोर्यो ऽन्तरतमस्तेन भवितव्य न चावर्णमुभयोरन्तरतमम् ॥

आपसमें सबध बना ले सकेंगे । ऋकार आदि वर्ण तो अचेतन है । अत उनका सबध कैसे बना लिया जाय ?

यद्यपि वर्ण अचेतन है, फिर शब्दोंका प्रयोग करनेवाला मनुष्य तो सचेतन है न ? वह उन वर्णोंका सबध बना ले सकेगा ।

(वा १७) एच् और अवर्ण दोनोके स्थानमें होनेवाला जो वृद्धिरूप एकादेश है वह आकार होने लगेगा, क्योंकि स्थानियोंमें अवर्णोंका बाहुल्य है ।

अवर्ण और एच् दोनोंके स्थानमें होनेवाला जो वृद्धिरूप एकादेश (६।१।८८) है वह आकार होने लगेगा, जैसे खट्वैलका, मालौपगव ।

(उसका) क्या कारण है ?

कारण यह है कि 'आ, ऐ' अथवा 'आ, औ' इन स्थानियोंमें अवर्णोंका बाहुल्य है ।

(वा १८) यह सिद्ध होता है क्योंकि अवर्ण और एच् दोनोंमेंसे जो अधिक सदृश आदेश घटित होगा वही आदेश प्रकृतसूत्रसे होनेवाला है ?

यह सिद्ध होता है ?

सो कैसे ?

उभयान्तर्यात् अर्थात् अवर्ण और एच् इन दोनोंमेंसे जो अधिक सदृश आदेश मेल खायेगा वही आदेश प्रकृतसूत्रसे होनेवाला है । और अवर्ण दो स्थानियोंमेंसे एक स्थानीसे अधिक सदृश होते हुए भी केवल उसी कारणसे वह दो स्थानियोंसे सदृश नहीं हो सकता[१९] ।

---

[१८] दो स्थानियोंमेंसे पहला स्थानी अवर्ण है और दूसरा स्थानी जो अगला अच् है वह सन्ध्यक्षर होनेके कारण उसमेंभी अवर्ण है । अत स्थानियोंमें अवर्णोंका बाहुल्य है ।

[१९] तब दोनों स्थानियोंसे सदृश जो ऐकार और औकार है वे ही आदेश होते हैं ।

उरण् रपरः ॥ १।१।५१ ॥ (८५)

किमिदमुरण्रपरवचनमन्यनिवृत्त्यर्थम्। उः स्थाने ऽणेव भवति रपरश्चेति। आहोस्विद्रपरत्वमनेन विधीयते। उः स्थाने ऽण्चानण्च अणु रपर इति। कश्चात्र विशेषः।

उरण्रपरवचनमन्यनिवृत्त्यर्थं चेदुदात्तादिषु दोषः॥ १॥

उरण्रपरवचनमन्यनिवृत्त्यर्थं चेदुदात्तादिषु दोषो भवति। के पुनरुदात्तादयः। उदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकाः। कृतिः हृतिः। कृतम् हृतम्। मर्हतम् मर्हतम्।

(सू ५१) ऋकार के स्थानमें अण् आदेश करना हो तो पहले उस आदेश के आगे रेफ लगाकर वह रेफसहित आदेश ऋकार के स्थानमें किया जाय, और लृकार के स्थानमें अण् आदेश करना हो तो उसी तरह उसमें लकार जोडा जाय।

ऋकारके स्थानमें अण् रपर होता है ऐसा प्रकृतसूत्रसे क्यों कहा है? अणके सिवा अन्य आदेश न हो इसलिए वह कहा है। अतः ऋकार के स्थानमें आदेश करना हो तो अण् ही आदेश किया जाय और वह रपर किया जाय यह इस सूत्रका अर्थ समझा जाय? अथवा केवल 'रपर होता है' इतना ही इसमें कुछ नया कहा है, अर्थात् 'ऋकारके स्थानमें अण् आदेश हो वा अणके सिवा अन्य भी हो, पर उसमें जब अण् आदेश होगा तब वह केवल रपर ही किया जाय' ऐसा इस सूत्रका अर्थ समझा जाय?

इन दो अर्थोंमें क्या भेद?

(वा. १) अण् के सिवा दूसरा आदेश न हो इसलिए 'उरण् रपरः' सूत्र किया हो तो उदात्त आदि स्वरों के बारेमें दोष आता है।

ऋकारको अणके सिवा अन्य आदेश न हो इसलिए यदि 'उरण् रपरः' प्रकृतसूत्र बनाया हो तो उदात्त आदिके बारेमें दोष प्राप्त होता है।

उदात्त आदि फिर क्या है?

उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और अनुनासिक ये उदात्त आदि हैं, जैसे, कृति,

---

१ 'कृति' में 'कृ' धातुके आगे 'क्तिन्' (३।३।९४) प्रत्यय करनेके बाद 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (६।१।१९७) से ऋकारको उदात्त आदेश होता है वह 'स्थानेऽन्तरतमः' सूत्रसे ऋकारही होता है। परन्तु अब इस सूत्रसे 'अण्' ही होता है यह नियम किया जानेके कारण उदात्त अण् ही होगा। अर्थात् अ, इ, उ इनमेंसे कोई भी होगा, ऋ न होगा। 'कृतम्' में 'क्त' प्रत्ययका उदात्त (३।१।३) करनेके बाद 'अनुदात्तं पद०' (६।१।१५८) से ऋकारको अनुदात्त आदेश ऋकार ही होता है यह अकार इत्यादि कोई भी होगा। 'मर्हतम्' में 'नञ्विषयस्य' (६।२।८९) से 'म-' के मकारका उदात्त कायम करनेके बाद 'उदा

नॄँः पाहि । अस्तु तर्ह्युः स्थाने ऽण्चानण्च अण्तु रपर इति ।

य उः स्थाने स रपर इति चेद् गुणवृद्ध्योरवर्णाप्रतिपत्तिः ॥ २ ॥

य उः स्थाने स रपर इति चेद् गुणवृद्ध्योरवर्णस्याप्रतिपत्तिः । कर्ता हर्ता वार्षगण्यः । किं हि साधीय ऋवर्णस्यासवर्णे यदवर्णं स्यान्न पुनरेङैचौ। पूर्वस्मिन्नपि पक्ष एष दोषः। किं हि साधीयस्तत्राप्यृवर्णस्यासवर्णे यदवर्णं स्यान्न पुनरिवर्णोवर्णौ । अथ मतमेतदुः स्थाने ऽणश्चानणश्च प्रसङ्गे ऽणेव भवति रपरश्चेति

हृतिः, कृतं, हृतं, प्रकृत, प्रहृतं, नॄँः, पाहि ।

तो फिर ' ऋकारके स्थानमें आदेश अण् हो वा अण्के सिवा अन्य भी हो, पर उसमें जब अण् आदेश होगा तब वह केवल रपर किया जाय, ' यही इस सूत्रका अर्थ रहने दें।

(वा २) ऋकार के स्थानमें जो आदेश होगा वह रपर किया जाय यह अर्थ हो तो गुण और वृद्धि अवर्णरूप नहीं होगी ।

' ऋकारके स्थानमें जो अण् आदेश होगा वह रपर किया जाय ' इस प्रकारका इस सूत्रका अर्थ लिया जाय तो ' कर्ता, ' ' हर्ता ' में ऋकारको गुण ' अ '-कार ही होता है और ' वार्षगण्यः ' रूपमें ऋकारकी वृद्धि ' आ 'कार ही होती है वह नहीं होगी । अ, ए, ओ ये तीन गुणसंज्ञक वर्ण है और आ, ऐ, औ ये तीन वृद्धिसंज्ञक वर्ण है, इनमेंसे कोई भी ऋकारका सवर्ण नहीं है । फिर उनमें ऋकारका गुण अकार ही होता है, ए और ओ नहीं, तथा ऋकारकी वृद्धि आकार ही होती है, ऐ और औ नहीं इसका ठीक कारण क्या बताया जा सकता है ?

पर यह दोष पूर्वके पक्षपर भी आता है । उस पक्षमें भी गुणोंमेंसे और वृद्धियोंमेंसे ऋकारका सवर्ण कोई भी नहीं है, फिर उसमें ' अण् ' ही आदेश किया जाय इस विधानसे 'एच्' आदेश न हो । किन्तु अकारही क्यों किया जाय और इकार, उकार अण् होनेपर भी क्यों न किये जाये इसका उचित कारण क्या दिखाया जा सकता है ?

अब यदि यह मान लिया कि ऋकारके स्थानमें अण् अथवा उसके अतिरिक्त अन्य जो प्राप्त होंगे उनमेंसे अण् ही करना और वह रपर करना । तो इकार और उकार अण् होनेपर भी गुणवृद्धि कहनेवाले सूत्रसे वे प्राप्त न होनेके कारण वे नहीं होंगे और अकार ही होगा । (अतः दूसरे पक्षपर दिया हुआ दोष पहले पक्षपर नहीं आता

त्सादत्तु० ' (८।४।६६) से ऋकारको स्वरित आदेश ऋकार ही होता है वहाँ भी अकार इत्यादि होंगे । ' नॄन्-' के नकारको ' नॄन्पे ' (८।३।१०) से रुत्व करनेके बाद ' अत्रानुनासिक ० ' (८।३।२) से ऋकारको अनुनासिक आदेश होता है वह ऋ ही होता है । वहाँ भी प्रकृतसूत्रसे ' अण् ' ही अर्थात् अकार इत्यादि कोई भी होंगे ।

सिद्धा पूर्वस्मिन्पक्षे ऽवर्णस्य प्रतिपत्तिः। यत्तु तदुक्तमुदात्तादिषु दोषो भवतीतीह स दोषो जायते। न जायते। जायते स दोषः। कथम्। उदात्त इत्यनेनाणो ऽपि प्रतिनिर्दिश्यन्ते ऽनणो ऽपि। यद्यपि प्रतिनिर्दिश्यन्ते न तु प्राप्नुवन्ति। किं कारणम्। स्थाने ऽन्तरतमो भवतीति। कुतो नु खल्वेतद् द्वयोः परिभाषयो. सावकाशयोः समवस्थितयोः स्थाने ऽन्तरतम इत्युरण्रपर इति च स्थाने ऽन्तरतम इत्यनया परिभाषया व्यवस्था भविष्यति न पुनरुरण्रपर इति। अतः किम्। अत एव दोषो जायत उदात्तादिषु दोष इति॥ ये चाप्येत ऋवर्णस्य स्थाने प्रतिपदमादेशा उच्यन्ते तेषु रपरत्वं न प्राप्नोति। ऋत इद्धातोः [७ १ १००] उदोष्ठ्यपूर्वस्य [१ ० २] इति॥

है।) पर पहले पक्षपर उदात्त आदि स्वरोंके बारेमें जो दोष दिया है वह दोष इस दूसरे पक्षपर आता है वा नहीं (इसका विचार करना चाहिये)।

दूसरे पक्षपर भी वह दोष आयेगा ऐसा दिखाई देता है।

वह कैसे?

उदात्त शब्दसे केवल ऋकार ही लिया जाता है सो बात नहीं, तो उदात्त शब्दसे अ, इ, उ ये अण् तथा उनके अतिरिक्त ऋ आदि ये सभी अच् भी लिये जाते हैं।

किन्तु यद्यपि उदात्त शब्दसे अ, इ, उ इन अणोंका भी संग्रह होता है तो भी 'कृतं' आदि उदाहरणोंमें वे प्राप्त नहीं होते, (फिर दोष कैसे आयेगा)?

वे प्राप्त न होनेका कारण क्या है?

'स्थानेन्तरतमः' (१।१।५०) यह परिभाषा है न? (तब 'कृतं' आदि उदाहरणोंमें ऋकारके लिए ऋकार ही उदात्त प्राप्त होनेवाला है। इसलिए 'कृत' आदि स्थलोंमें दोष नहीं आयेगा।)

'स्थानेन्तरतमः' और 'उरण् रपरः' ये दोनों परिभाषाएं अन्यत्र स्वतन्त्रतया उपयुक्त होनेवाली हैं और 'कृतं' आदि उदाहरणोंमें अत्यंत समानरूपमें उपस्थित होती हैं, फिर भी उन दोनोंमेंसे 'स्थानेन्तरतमः' परिभाषासे ही यहाँ व्यवस्था की जायगी और 'उरण् रपरः' परिभाषासे यहाँ व्यवस्था न होगी इस प्रकारका वैषम्य क्यों किया जाय?

फिर इसमें क्या बिगड़ता है?

इतनाही हुआ है कि 'उरण्रपरः' परिभाषा 'कृत' आदि उदाहरणोंमें ली जानेसे 'उदात्त आदेश अण् होंगे' यह दोष दूसरे पक्षको भी प्राप्त होता है।

और 'ऋत इद्धातोः (७।१।१००)', 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (७।१।१०२) सूत्रसे इत्, उत् आदि वर्णोंके उच्चारण करके ऋकारको इत्, उत् आदि आदेश करे हैं वे रपर नहीं होंगे (यह दोष आता है। क्योंकि वहाँ अण् और इतर की प्राप्ति नहीं होती।)

सिद्धं तु प्रसङ्गे रपरत्वात् ॥ ३ ॥(८५)

सिद्धमेतत् । कथम् । प्रसङ्गे रपरत्वात् । उः स्थाने ऽण् प्रसज्यमान एव रपरो भवतीति । किं वक्तव्यमेतत् । न हि । कथमनुच्यमानं गंस्यते । स्थान इति वर्तते स्थानशब्दश्च प्रसङ्गवाची । यद्येवमादेशो ऽविशेषितो भवति । आदेशश्च विशेषितः । कथम् । द्वितीयं स्थानग्रहणं प्रकृतमनुवर्तते तत्रैवमभिसंबन्धः करिष्यते । उः स्थाने ऽण्स्थान इति । उः प्रसङ्गे ऽण्प्रसज्यमान एव रपरो भवति ॥

(वा. ३) ऋकार को अण् आदेश करनेका प्रसंग आने पर वह रपर होगा इसलिए यह सिद्ध होता है ।

यह सिद्ध होता है ।

कैसे ?

'प्रसङ्गे रपरत्वात्' अर्थात् ऋकारके स्थानमें अण् आदेश करनेका प्रसङ्ग आया कि उसी समय वह रपर होके उस रेफके साथ आदेश होता है इसलिए ।

तो फिर क्या 'प्रसङ्ग आने पर' यह पद सूत्रमें जानबूझकर (विशेष हेतुसे) रखा जाय ?

वैसा करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

सूत्रमें उस पदको रखे बिना वह अर्थ कैसे प्राप्त होगा ?

'स्थाने' पद पीछेसे अनुवृत्त होकर आता है । और 'स्थान' शब्दका अर्थ 'प्रसङ्ग' हो सकता है ।

इस प्रकार रपर करनेका समय दिखानेके लिए 'स्थान' शब्दका प्रयोग हुआ, तो 'ऋकारके-स्थानमें जो आदेश' इस तरह आदेशके प्रति जो 'स्थान' शब्द लगता है वह नहीं लगेगा ।

उसी तरह आदेशके प्रति लगाया जा सकता है ।

कैसे ?

पहले दूसरा एक जो 'स्थाने' शब्द है उसकी अनुवृत्ति करना पर्याप्त है । तब दो 'स्थाने' शब्द लेकर 'उः स्थाने अण् स्थाने' इस प्रकारका संबंध स्थापित किया जा सकता है, अर्थात् ऋकारके उच्चारणके समय ऋकारके बदले जिसका उच्चारण किया जाता है वह अण् प्रसंगावस्थामें ही रपर होता है यह अर्थ होगा ।

---

२ तब 'कर्ता' में ऋकारको गुण कर्तव्य हो तो 'अ, ए और ओ' ये तीन प्राप्त हुए ऐसा न कहकर 'अर्, ए और ओ' ये तीन प्राप्त हुए ऐसा समझना चाहिये । उस 'अर्' के रेफका मूर्धस्थान होनेके कारण मूर्धस्थानके ऋकारको 'अर्–' ही गुण 'स्थानेन्तरतम' परिभाषासे होता है इसलिए दोष नहीं आता ।

अथाण्ग्रहणं किमर्थं न ऋ रपर इत्येवोच्येत। ऋ रपर इतीयत्युच्यमाने क इदानीं रपरः स्यात्। य उः स्थाने भवति। कश्चोः स्थाने भवति। आदेशः।

आदेशो रपर इति चेद्रीरिविधिषु रपरप्रतिषेधः॥ ४॥

आदेशो रपर इति चेद्रीरिविधिषु रपरत्वस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। के पुना रीरिविधयः। अकङ्लोपानङनङ्रीङ्रिङादेशाः। अकङ्। सौधातकिः। लोपः। पैतृष्वसेयः। आनङ्। होतापोतारौ। अनङ्। कर्ता हर्ता। रीङ्। मात्रीयति पित्रीयति। रिङ्। क्रियते ह्रियते॥

उदात्तादिषु च॥ ५॥

किम्। रपरत्वस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। कृतिः हृतिः कृतम् हृतम्। प्रकृतम्

अब इस सूत्रमें 'अण्' शब्द किसलिए रखा गया है? उसकी आवश्यकता नहीं है। 'ऋ रपरः' अर्थात् 'ऋकारके स्थानमें रपर होता है' इतना ही सूत्र पर्याप्त है।

पर 'ऋकारके स्थानमें रपर होता है' इतना ही कहा तो कौन अब रपर होगा?

जो कोई ऋकारके स्थानमें प्राप्त होगा वह रपर होगा।

ऋकारके स्थानमें कौन प्राप्त होता है?

आदेश होता है।

(वा. ४) ऋकारका आदेश रपर होता है ऐसा हो तो रीरि-विधियों-के बारेमें प्रतिषेध करना चाहिये।

कोई भी आदेश रपर होता है ऐसा कहा तो रीरिविधि रपर हो जाएंगे। वहाँ 'वे रपर नहीं होते' इस प्रकारका निषेध बनाना चाहिये।

वे रीरिविधि कौनसे?

अकङ्, लोप, आनङ्, अनङ्, रीङ् और रिङ् ये आदेश 'रीरिविधि' है। 'सौधातकिः' रूपमें 'सुधातृ' शब्दके ऋकारको अकङ् आदेश (४।१।९७) हुआ है। 'पैतृष्वसेयः' रूपमें 'पितृष्वसृ' शब्दके अन्त्य ऋकारका लोप (४।१।१३३) हुआ है। 'होतापोतारौ'में 'होतृ'शब्दके ऋकारको आनङ् आदेश (६।३।२५) हुआ है। 'कर्ता', 'हर्ता'में 'कर्तृ' और 'हर्तृ' शब्दोंके ऋकारको अनङ् आदेश (७।१।९४) हुआ है। 'मात्रीयति', 'पित्रीयति' में 'मातृ' और 'पितृ' शब्दोंके ऋकारको 'रीङ्' आदेश (७।४।२७) हुआ है। 'क्रियते,' 'ह्रियते'में 'कृ' और 'हृ' धातुओंके ऋकारको 'रिङ्' आदेश (७।४।२८) हुआ है।

(वा. ५) उदात्त आदिके बारेमें भी प्रतिषेध करना चाहिये।

उदात्त आदि स्थानमें क्या होता है?

उदात्त आदि जो आदेश होते है वे रपर नहीं होते इस प्रकारका निषेध

प्रहृतम् । नॄः पाहि ॥ तस्मादण्ग्रहणं कर्तव्यम् ॥

एकादेशस्योपसंख्यानम् ॥ ६ ॥

एकादेशस्योपसंख्यानं कर्तव्यम् । खट्वर्श्यः मालर्श्यः । किं पुनः कारणं न सिध्यति । उः स्थाने ऽण्प्रसज्यमान एव रपरो भवतीत्युच्यते न चायमुरेव स्थाने ऽण् शिष्यते । किं तर्हि । उश्चान्यस्य च ॥ अवयवग्रहणात्सिद्धम् । यदत्र ऋवर्णं तदाश्रयं रपरत्वं भविष्यति । तद्यथा । माषा न भोक्तव्या इत्युक्ते मिश्रा अपि न भुज्यन्ते ।

अवयवग्रहणात्सिद्धमिति चेदादेशे रान्तप्रतिषेधः ॥ ७ ॥

अवयवग्रहणात्सिद्धमिति चेदादेशे रान्तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । होता-

---

कहना चाहिये। जैसे, कृतिः, हृतिः, कृतम, हृतम, प्रकृतम, प्रहृतम, नॄः पाहि। सारांश इस सूत्रमें 'अण्' शब्द रखना चाहिये।

(वा. ६) एकादेशके बारेमें भी रपरत्व कहना चाहिये।

ऋकार और दूसरा वर्ण इन दोनोंके स्थानमें होनेवाला जो एक एक–आदेश है वह रपर होता है ऐसा कहा जाय; जैसे, खट्वा ऋश्यः, खट्वर्श्यः, माला ऋश्यः मालर्श्यः।

पर यहाँ रपर न होनेका कारण क्या है?

कारण यह है कि ऋकारके स्थानमें होनेवाला अण् आदेश रपर होता है ऐसा कहा गया है। और खट्वर्श्यः आदि उदाहरणोंमें जो एक आदेश अण् हुआ है वह एक अकारके स्थानमें नहीं हुआ है, तो ऋकार और दूसरा 'खट्वा–' शब्दका आकार इन दो वर्णोंके स्थानोंमें वह हुआ है।

'अवयवग्रहणात्सिद्धम्' अर्थात् 'आ और ऋ' इन स्थानियोंमेंसे ऋकार होनेके कारण आदेश रपर होनेमें कुछ आपत्ति नहीं दिखाई देती। जैसे 'उरद न खाना' ऐसा कहा जाता है तब उरद और मूँग मिलाकर बनाये हुए लड्डु आदि पदार्थोंका भी भक्षण नहीं किया जाता है, क्योंकि उनमें उरद मिलाये है।

(वा. ७) ऋकार अवयव होनेसे इष्ट सिद्ध होता है ऐसा कहा तो आदेशके बारेमे रपरत्वका निषेध करना चाहिए।

'आ ऋ' इन स्थानियोंमेंसे एक भाग ऋकार होनेके कारण उस स्थानीको होनेवाला आदेश रपर होता है ऐसा कहा तो जिस आदेशका एक भाग अण् है वह आदेश भी रपर होने लगेगा उसका प्रतिषेध कहना चाहिये। उदाहरणके लिये

---

३. 'खट्वा ऋश्य' यहाँ 'आ और ऋ' इन दो वर्णोंका समुदाय ऋकारान्त होनेके कारण वहाँ उन दोनोंके स्थानमें होनेवाला एकादेश गुण (६।१।८७) 'अ' रपर होगा।

पोतारौ। यथैवोऽश्चान्यस्य च स्थाने ऽण्रपरो भवत्येवं य उः स्थाने ऽण्चानण् च सो ऽपि रपरः स्यात्॥ यदि पुनर्ऋवर्णान्तस्य स्थानिनो रपरत्वमुच्येत। खट्वर्श्यः मालर्श्यः। नैवं शक्यम्। इह हि दोषः स्यात्। कर्ता हर्ता। किरति गिरति। ऋवर्णान्तस्येत्युच्यते न चैतद्वर्णान्तम्। ननु चैतदपि व्यपदेशिवद्भावेन ऋवर्णान्तम्। अर्थवता व्यपदेशिवद्भावो न चैषो ऽर्थवान्। तस्मान्नैवं शक्यम्॥ न चेदेवमुपसंख्यानं कर्तव्यम्। इह च रपरत्वस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। मातुः पितुरिति॥ उभयं न वक्तव्यम्। कथम्। इह यो द्वयोः षष्ठीनिर्दिष्टयोः प्रसङ्गे भवति

होतापोतारौ। जैसे 'खट्वर्श्यः' में ऋकार और दूसरा वर्ण 'खट्वा' में का आकार इन दोनोंके स्थानमें होनेवाला अण् आदेश रपर होता है, वैसे ही 'होतापोतारौ' में 'होतृ' के ऋकारके स्थानमें होनेवाला जो अण् है और दूसरा वर्ण जो नकार है दोनों मिलकर होनेवाला 'आन्' आदेश (६।३।२५) ही रपर होने लगेगा।

अब यदि ऋकारान्तके स्थानमें होनेवाला जो अण् आदेश है वह रपर होता है ऐसा सूत्रका अर्थ करके खट्वर्श्यः, मालर्श्यः उदाहरण सिद्ध करता हो तो वह बात शक्य नहीं है। कारण यह कि उस प्रकारका अर्थ किया गया तो कर्ता, हर्ता, किरति, गिरति इत्यादि स्थलोंमें एकमात्रायुक्त ऋकारको आदेश होनेसे वहाँ रपर नहीं होगा। क्योंकि ऋकारान्तके स्थानमें होनेवाला रपर होता है ऐसा कहा है। यहाँ तो केवल ऋकारको ही आदेश नहीं होता। एकमात्रायुक्त ऋवर्णको 'ऋकारान्त' नहीं कहा जाता है।

पर व्यपदेशिवद्भाव[४] किया गया तो एकमात्रायुक्त ऋकारको ऋकारान्त कहा जा सकता है। (वैसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि) व्यपदेशिवद्भाव अर्थयुक्त शब्दस्वरूपके बारेमें लिया जा सकता है। और कर्ता, हर्ता इत्यादि उदाहरणोंमें कृ और हृके ऋकारको कुछभी अर्थ नहीं है। तात्पर्य यह है कि 'ऋकारान्तको होनेवाला अण् रपर होता है' इस प्रकारका अर्थ करना शक्य नहीं है। और वह अर्थ न किया गया तो खट्वर्श्यः आदि उदाहरणोंमें आदेश रपर होनेके लिए 'स्थानीका एक भाग ऋ हो तो भी यहाँ आदेश रपर किया जाय' यह विधान करना चाहिये। और 'मातुः,' 'पितुः' में 'ऋत उत्' (६।१।१११) सूत्रसे होनेवाला उकार एकादेश 'ऋ अ' स्थानोंमेंसे एक भाग ऋकार है इसलिए रपर होने लगेगा इसका भी निषेध करना चाहिये।

ये दोनों कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

तो फिर 'खट्वर्श्यः' में आदेश रपर कैसे होगा?

इस प्रकार होगा कि जिस सूत्रमें दो स्थानियोंका, प्रत्येकमें अलग अलग षष्ठीप्रत्यय लगाकर, पृथक् निर्देश करके उन दोनोंको एक ही आदेश कहा जाता है वहाँ उन दो स्थानियोंमेंसे किसी एक स्थानीका वह आदेश है ऐसा कहा जा

---

४. 'व्यपदेशिवद्भाव' का अर्थ पीछे देखिये (१।१।२१)।

लभते ऽसावन्यतरतो व्यपदेशम्। तद्यथा। देवदत्तस्य पुत्रः देवदत्तायाः पुत्र इति॥ कथं मातुः पितुरिति। अस्त्वत्र रपरत्वम्। का रूपसिद्धिः। रात्सस्य [८.२.२४] इति सकारस्य लोपो रेफस्य विसर्जनीयः। नैवं शक्यम्। इह हि मातुः करोति पितुः करोतीत्यप्रत्ययविसर्जनीयस्येति षत्वं प्रसज्येत। अप्रत्ययविसर्जनीयस्येत्युच्यते प्रत्ययविसर्जनीयश्चायम्। लुप्यते ऽत्र प्रत्ययो रात्सस्येति। एवं तर्हि भ्रातुष्पुत्रग्रहणं ज्ञापकमेकादेशनिमित्तात्षत्वप्रतिषेधस्य। यदयं कस्कादिषु भ्रातुष्पुत्रशब्दं पठति तज्ज्ञापयत्याचार्यो नैकादेशनिमित्तात्षत्वं भवतीति॥

सकता है। जैसे लोकमें देवदत्त नामका पिता हो, और माताका नाम देवदत्ता हो, तो इन दोनोंके पुत्रको 'देवदत्तका पुत्र' कहते है और 'देवदत्ताका पुत्र' भी कहते हैं। वैसेही 'खट्वर्श्यः' में 'आद् गुणः' (६।१।८७) सूत्रसे होनेवाला 'अ' आदेश ऋकारके स्थानमें होनेवाला है ऐसा अनायास (सहजमें) कहा जा सकता है। तब रपर होनेमें कुछ भी आपत्ति नहीं है।

तो फिर 'मातुः', 'पितुः' में भी 'ऋत उत्' (६।१।१११) सूत्रसे होनेवाला उकार एकादेश रपर होने लगेगा।

रपर होता है तो होने दें। इसमें कुछ प्रत्यवाय नहीं।

फिर 'मातुः', 'पितुः' रूप कैसे सिद्ध होंगे?

रपर हुआ तो भी उस रेफके अगले सकारोंका 'रात्सस्य' (८।२।२४) सूत्रसे लोप होगा और उस रेफका विसर्ग (८।३।१५) करनेसे उन रूपोंकी सिद्धि होगी।

इस प्रकार रूपसिद्धि शक्य नहीं है। उस पद्धतिसे रूपसिद्धि की गयी तो 'मातुः करोति', 'पितुः करोति' में उस विसर्गको 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' (८।३।४१) सूत्रसे षत्व होने लगेगा।

पर उस सूत्रमें 'प्रत्ययका विसर्ग न हो' ऐसा कहा है न? और यह विसर्ग तो प्रत्ययका है।

जिस सकारको रुत्व और विसर्ग होके प्रत्ययका विसर्ग होगा उस सकारका ही उकारादेश रपर होनेसे 'रात्सस्य' (८।२।२४) से लोप हुआ है।

तो फिर 'एकादेश कहनेवाले शास्त्रसे किया हुआ जो वर्ण है उसके अगले विसर्गको षत्व नहीं होता' इसके बारेमें 'भ्रातुष्पुत्र' शब्द ज्ञापक लिया जानेसे यह दोष नहीं आयेगा। आचार्य पाणिनि कस्कादि गणमें (८।३।४८) भ्रातुष्पुत्र शब्दका पाठ षत्वके लिए करते हैं तो इससे ज्ञापित करता है कि 'एकादेश कहनेवाले शास्त्रका किया हुआ जो वर्ण है उसके आगेके विसर्गको षत्व नहीं होता है।'

किं पुनरयं पूर्वान्त आहोस्वित्परादिराहोस्विदभक्तः। कथं चायं पूर्वान्तः स्यात्कथं वा परादिः कथं वाभक्तः। यद्यन्त इति वर्तते ततः पूर्वान्तः। अथादिरिति वर्तते ततः परादिः। अथोभयं निवृत्तं ततोऽभक्तः। कश्चात्र विशेषः।

अभक्ते दीर्घलत्वयगभ्यस्तस्वरहलादिशेषविसर्जनीयप्रतिषेधः प्रत्ययाव्यवस्था च॥ ८॥

यद्यभक्तो दीर्घत्वं न प्राप्नोति। गीः पूः। रेफवकारान्तस्य धातोरिति दीर्घत्वं न प्राप्नोति। किं पुनः कारणं रेफवकाराभ्यां धातुर्विशेष्यते न पुनः पदं

फिर प्रकृतसूत्रसे अण् आदेशके आगे लगाया जानेवाला रेफ क्या पूर्वका अन्त्यावयव होता है, अथवा परका आद्यावयव होता है अथवा दोनोंका अवयव न होते हुए बीचमें अलग ही रहता है?

(यह प्रश्न कैसे उपस्थित होता है?) पूर्वका अन्त्यावयव कैसे होगा? अथवा परका आद्यावयव कैसे होगा? अथवा 'वह बीचमें अलग रहता है' ऐसा कैसे कहा जा सकता है?

यदि इस प्रकृतसूत्रमें 'आद्यन्तौ०' इस सूत्रसे 'अन्त' शब्दकी अनुवृत्ति प्राप्त हुई तो यह रेफ पूर्वका अन्त्यावयव होता है ऐसा कहा जा सकता है। तथा 'आदि' शब्दकी अनुवृत्ति प्राप्त हुई तो यह रेफ परका आद्यावयव होता है ऐसा कहा जा सकता है। और दोनों भी शब्दोंकी अनुवृत्ति नहीं आयी तो 'बीचमें अलग रहता है' ऐसा कहा जा सकता है।

फिर इन पक्षोंमें क्या भेद होता है?

(वा. ८) यह रेफ जो बीचमें अलग रहता है तो दीर्घ, लत्व, यक्स्वर, अभ्यस्तस्वर और हलादिशेष इनकी सिद्धी नहीं होगी, विसर्ग का निषेध कहना चाहिये और प्रत्यय के बारेमें ठीक व्यवस्था नहीं होगी।

यदि यह रेफ किसीका भी अवयव न होकर अलग ही रहा तो दीर्घ नहीं होगा। रेफान्त तथा वकारान्त धातुओंमें उपधासंज्ञक इक्को कहा हुआ जो दीर्घ आदेश (८।२।७२) है वह 'गीः।' और 'पूः' में नहीं होगा।

पर उस सूत्रमें रेफान्त और वकारान्त ये पद धातुके ही विशेषण क्यों किये

---

५. 'गॄ' धातुके आगे 'क्विप्' प्रत्यय करनेके बाद उस 'ॠ' कारको 'ॠत इद्धातोः' (७।१।१००) से ह्रस्व इकार आदेश होता है वह प्रकृतसूत्रसे रपर होके गिर् रेफान्त धातु होता है, इसलिए उसको दीर्घ होता है। रेफ अलग रहा तो धातु 'गि' इकारान्त ही होगी और दीर्घ न होगी। 'पॄ' धातुके आगे क्विप् ' प्रत्यय करनेके बाद 'उदोष्ठ्य०' (७।१।१०२) से ॠकारको ह्रस्व उकार आदेश होता है वह रपर होकर 'पुर्' रेफान्त धातु होती है, वहाँ भी वैसा ही समझा जाय।

विशेष्यते रेफवकारान्तस्य पदस्येति। नैवं शक्यम्। इहापि प्रसज्येत। अग्नि-र्वायुरिति। एवं तर्हि रेफवकाराभ्यां पदं विशेषयिष्यामो धातुनेक् रेफवकारान्तस्य पदस्येको धातोरिति। एवमपि प्रियं ग्रामणि कुलमस्य प्रियग्रामाणिः प्रियसेनानिः अत्रापि प्राप्नोति। तस्माद्धातुरेव विशेष्यते धातौ च विशेष्यमाण इह दीर्घत्वं न प्राप्नोति। गीः पूः। दीर्घ॥ लत्व। लत्वं च न सिध्यति। निजेगिल्यते। ग्रो यङि [८ २·२०] इति लत्वं न प्राप्नोति॥ नैष दोषः। ग्र इत्यनन्तरयोगैषा

जायँ? 'रेफान्त और वकारान्त जो पद' ऐसा पदका विशेषण क्यों नहीं किया जाता है? (पदका विशेषण किया तो 'गीः' 'पूः' में दोष नहीं आयेगा।)

पदका विशेषण करना शक्य नहीं। वैसा किया तो 'अग्निः'[६], 'वायुः' में भी इक्को दीर्घ होने लगेगा।

तो फिर 'रेफान्त' और 'वकारान्त' ये पदके विशेषण होने दें। 'धातु' को इक्का विशेषण बनाकर धातुका अवयव जो इक् है उसको दीर्घ आदेश होता है ऐसा कहा तो 'अग्निः', 'वायुः' में दीर्घ नहीं होगा।

'अग्निः', 'वायुः' में दोष नहीं आया तो भी 'प्रियग्रामणि कुलम्' में 'प्रिय है ग्रामणी अर्थात् गाँवको ले जानेवाला (गाँवका स्वामी, प्रमुख) जिसका वह प्रियग्रामणिः' तथा प्रियसेनानि.' में दीर्घ आदेश होने लगेगा इस प्रकारका दोष आता ही है। (क्योंकि यहाँ इकार 'नी' धातुका अवयव है। अतः 'रेफान्त' तथा 'वकारान्त' यह विशेषण धातुका ही करना चाहिये। और वैसा वह धातुका विशेषण किया तो 'गीः', 'पूः', में दीर्घ नहीं होगा, यह दोष कायम ही रहता है। तथा प्रकृतसूत्रसे अण्को जोडा हुआ रेफ अलग रहा तो लत्व सिद्ध नहीं होगा। 'निजेगिल्यते' रूपमें 'ग्रो यङि' (८।२।२०) सूत्रसे उस रेफको लत्व नहीं होगा[७]।

यह दोष नहीं आता। कारण यह कि 'गृः' यह षष्ठी 'अनन्तर' अर्थात् 'समीपका' इस अर्थकी ओर जाती है। अतः 'गॄ' धातुका अवयव जो रेफ ऐसा अर्थ नहीं होता है, तो 'गॄ' धातुके समीपका जो रेफ है उसको लत्व होता है यह अर्थ होगा।

६ 'अग्नि' शब्दके आगे प्रथमा एकवचन 'सु' प्रत्यय लगाकर, उसको रुत्व (८।२।६६) करनेके बाद रेफान्त 'अग्निर्' पदके इक्को दीर्घ होके उसके बाद विसर्ग होगा, और 'अग्नी' यह विचित्र रूप बनेगा।

७ 'गॄ' धातुके आगे 'यङ्' प्रत्यय करके ऋकारको इकार आदेश (७।१।१००) होता है वह रपर होके 'गिर्' हुआ है। यह रेफ अलग होनेके कारण 'गॄ' धातुका अवयव नहीं इसलिए उस रेफको लत्व (८।२।२०) न होगा।

षष्ठी। एवमपि स्वर्जेगिल्यत इत्यत्रापि प्राप्नोति। एवं तर्हि यङानन्तर्यं विशेषयिष्यामः। अथवा ग्र इति पञ्चमी। लत्व॥ यक्स्वर। यक्स्वरश्च न सिध्यति। गीर्यते स्वयमेव। पूर्यते स्वयमेव। अचः कर्तृयकि [६·१·१९५] इत्येष स्वरो न प्राप्नोति रेफेण व्यवहितत्वात्॥ नैष दोषः। स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवदिति नास्ति व्यवधानम्। यक्स्वर॥ अभ्यस्तस्वर। अभ्यस्तस्वरश्च न सिध्यति। मा हि स्म ते पिपरुः। मा हि स्म ते बिभरुः। अभ्यस्तानामादिरुदात्तो भवत्यजादौ लसार्वधातुक इत्येष स्वरो न प्राप्नोति रेफेण व्यवहितत्वात्॥ नैष दोषः। स्वर-

---

वैसा अर्थ किया तो भी अन्यत्र दोष आता है। 'स्वर्जेगिल्यते' रूपमें 'गॄ' धातुके पासका स्वर अव्ययका जो रेफ है उसको भी लत्व होने लगेगा।

तो फिर 'गॄ' धातुके पासका जो रेफ है उसको 'यङि' विशेषण हम देते हैं। ('स्वर्जेगिल्यते' रूपमें यङ् आगे होनेके कारण 'स्वर' अव्ययके रेफको लत्व नहीं होगा।) अथवा 'ग्रो यङि' सूत्रमें 'ग्रः' को षष्ठी न समझकर पंचमी ली जाय। (इससे 'ग' धातुके आगे जो रेफ है उसको यङ् आगे होनेपर लत्व नहीं होगा, यह अर्थ किया जाय तो कहीं भी दोष निर्माण नहीं होता।) वैस ही प्रकृतसूत्रसे अण् को लगा जानेवाला रेफ अलग रहा तो यक्स्वर सिद्ध नहीं होगा। 'गीर्यते स्वयमेव', 'पूर्यते स्वयमेव' इन उदाहरणोंमें 'अचः कर्तृयकि' (६।१।१९५) सूत्रसे यक् आगे होनेपर धातुको कहा हुआ उदात्त स्वर नहीं होगा। कारण यह कि धातु और यक् प्रत्यय इन दोनोंमें रेफसे व्यवधान होता है।

यह दोष नहीं आता। क्योंकि 'स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्' अर्थात् "स्वरविधि कर्तव्य हो तो व्यञ्जन नहींके बराबर समझा जाय" इस परिभाषासे वहाँ 'रेफसे व्यवधान नहीं होता' ऐसा समझा जायगा। तथा प्रकृतसूत्रसे जोड़ा जानेवाला रेफ अलग रहा तो अभ्यस्तस्वर सिद्ध नहीं होगा। 'अजादि लसार्वधातुक आगे हो तो अभ्यस्तका आदि उदात्त होता है' (६।२।८९) इस प्रकार जो स्वर कहा है वह 'मा हि स्म ते पिपरुः', 'मा हि स्म ते बिभरुः' में नहीं होगा। क्योंकि अभ्यस्त और अगला अजादि लसार्वधातुक उस प्रत्यय इन दोनोंमें रेफसे व्यवधान होता है।

यह दोष नहीं प्राप्त होता। कारण यह कि 'स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्' परिभाषासे वहाँ 'रेफसे व्यवधान नहीं है' ऐसा समझा जायगा। तथा प्रकृत सूत्रसे

---

८. 'पॄ' धातुके आगे लङ्, प्रथम पुरुष एकवचन, 'झि' प्रत्यय, उसको 'जुस्' आदेश (३।४।१०८), शप्, श्लु, द्वित्व, अभ्यासको इत्व (७।४।७७) और 'जुसि च' (७।३।८३) से गुण, ये कार्य यहाँ हुए हैं। 'मा' का योग होनेके कारण 'अट्' आगम नहीं हुआ (६।४।७४)। यहाँ 'पिपर्' को अभ्यस्तसंज्ञा (६।१।५) हुई है। 'रेफ' यदि अलग रहेगा तो 'पिप' अभ्यस्त समझा जायगा। यही 'बिभरुः' में समझा जाय।

विधौ व्यञ्जनमविद्यमानवदिति नास्ति व्यवधानम् । अभ्यस्तस्वर ॥ हलादिशेष । हलादिशेषश्च न सिध्यति । ववृते ववृधे । अभ्यासस्येति हलादिशेषो न प्राप्नोति । हलादिशेष ॥ विसर्जनीय । विसर्जनीयस्य च प्रतिषेधो वक्तव्यः । नार्कुटः नार्पत्यः । खरवसानयोर्विसर्जनीयः [८·३·१५] इति विसर्जनीयः प्राप्नोति । विसर्जनीय ॥ प्रत्ययाव्यवस्था च । प्रत्यये व्यवस्था न प्रकल्पते । किरतः गिरतः । रेफो ऽन्यभक्तः प्रत्ययोऽपि तत्र व्यवस्था न प्रकल्पते ॥ एवं तर्हि पूर्वान्तः करिष्यते ।

पूर्वान्ते वेवधारणं विसर्जनीयप्रतिषेधो यक्स्वरश्च ॥ ९ ॥

जोडा जानेवाला रेफ अलग रहा तो उसके संबंधमें 'हलादिः शेषः' (७।४।६०) की प्रवृत्ति नहीं होगी। 'अभ्यासमें केवल आदि हल् रहता है और अन्य हलोंका लोप होता है' इस प्रकारका उस सूत्रसे 'ववृते', 'ववृधे' रूपोंमें प्रकृतसूत्रसे जोड़े हुए रेफका जो लोप होता है वह नहीं होगा। तथा प्रकृतसूत्रसे जोड़ा जानेवाला रेफ अलग रहा तो विसर्गका निषेध कहना चाहिये। अन्यथा नार्कुटः', 'नार्पत्यः' (रूपोंमें) उस रेफको 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (८।३।१५) सूत्रसे विसर्ग होने लगेगा। तथा प्रकृतसूत्रसे जोड़ा जानेवाला रेफ अलग रहा तो 'प्रत्ययाव्यवस्था च' अर्थात् विकरण प्रत्ययको व्यवस्था नहीं लगेगी. 'किरतः', 'गिरतः' रूपोंमें प्रकृतसूत्रसे जोड़ा जानेवाला रेफ भी अलग ही रहेगा, और बीचमें होनेवाला 'श' (अ) यह विकरणप्रत्यय (३।१।७७) भी अलग ही रहेगा। तब उन दोनोंमेंसे धातुके पासका कौन है और उसके परका (दूरका) कौन है इस प्रकारकी व्यवस्था निश्चित नहीं होगी। क्योंकि दोनोंको भी समानरूपसे 'पर' करना है।

इस प्रकारके दोष आते हैं तो फिर प्रकृत सूत्रसे जोडा जानेवाला रेफ पूर्वका अन्त्यावयव समझा जाय।

(वा. ९) यदि रेफ पूर्वका अन्त्यावयव हो तो 'रु'को होनेवाले विसर्ग के बारेमें नियम करना चाहिये और उसी प्रकार विसर्गका प्रतिषेध करना चाहिये तथा 'यक्' को उदात्त स्वर कहना चाहिये।

९. कारण यह कि वह रेफ अलग रहनेके कारण 'वह अभ्यासका रेफ है' ऐसा नहीं कहा जा सकता।

१०. 'नृ' शब्दका 'कुटी' शब्दके साथ षष्ठीतत्पुरुष करके आगे 'तत्र भवः' (४।३।५३) से 'अण्' प्रत्यय हुआ है। 'नृपति' शब्दके आगे 'ण्य' प्रत्यय (४।१।८५) हुआ है। 'नृ' शब्दके आगेका 'षष्ठी' प्रत्यय समासके कारण लुप्त हुआ है। उसको प्रत्ययलक्षण (१।१।६२) करके 'सुप्तिङन्तं०' (१।४।१४) से पदसंज्ञा 'नार्' को होती है। रेफ यद्यपि अलग है तो भी 'सुप्' प्रत्यय जिसके आगे लगाया उस तदादिसमुदायको वह कही है।

यदि पूर्वान्तो रोरवधारणं कर्तव्यम्। रोः सुपि [८·३·१६]। रोरेव सुपि नान्यस्य रेफस्य। सर्पिष्षु धनुष्षु। इह मा भूत्। गीर्षु पूर्षु॥ परादावपि सत्यवधारणं कर्तव्यं चतुर्ष्वित्येवमर्थम्॥ विसर्जनीयप्रतिषेधः। विसर्जनीयस्य च प्रतिषेधो वक्तव्यः। नार्कुटः नार्पत्यः। खरवसानयोर्विसर्जनीयः [८·३·१५] इति विसर्जनीयः प्राप्नोति॥ परादावपि विसर्जनीयस्य प्रतिषेधो वक्तव्यो नार्कलिपिरित्येवमर्थम्। कल्पिपदसंघातभक्तो ऽसौ नोत्सहते ऽवयवस्य पदान्ततां विहन्तुमिति कृत्वा विसर्जनीयः प्राप्नोति॥ यक्स्वरः। यक्स्वरश्च न सिध्यति। गीर्यते स्वय-

---

यदि प्रकृत सूत्रसे जोड़ा जानेवाला रेफ पूर्वका अन्त्यावयव होता है ऐसा समझा जाय तो 'गीर्षु', 'पूर्षु' रूपोंमें उस रेफको विसर्ग (८।३।१५) होने लगेगा। वह न हो इसलिए 'रोः सुपि' (८।३।१६) सूत्रसे रुके संबंधसे विसर्गका नियम करना चाहिये। वह यह है कि सप्तमी बहुवचन सुप्प्रत्यय आगे होनेपर यदि पिछले रेफको विसर्ग प्राप्त हुआ तो रुका जो रेफ हो वह उसीको किया जाय; उदा० 'सर्पिःषु,' 'धनुःषु'; अर्थात् 'गीर्षु,', 'पूर्षु' में वह नहीं होगा।

पर प्रकृत सूत्रसे जोड़ा जानेवाला रेफ परका आद्यावयव होता है ऐसा समझा तो भी यह नियम करना ही चाहिये। क्योंकि उस पक्षमें 'गीर्षु' में दोष नहीं आया तो भी 'चतुर्षु' में रेफको विसर्ग होने लगेगा इस प्रकारका दोष आता ही है। (तात्पर्य यह है कि 'पूर्वका अन्त्यावयव होता है' इस पक्षपर 'गीर्षु' यह दोष दिखाना ठीक नहीं है।) 'विसर्जनीयप्रतिषेधः' अर्थात् प्रकृतसूत्रसे जोड़ा जानेवाला रेफ पूर्वका अन्त्यावयव होता है ऐसा समझा तो विसर्गका निषेध कहना चाहिये। अन्यथा 'नार्कुटः', 'नार्पत्यः' रूपोंमें उस रेफको 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (८।३।१५) सूत्रसे विसर्ग होने लगेगा।

पर प्रकृत सूत्रसे जोड़ा जानेवाला रेफ परका आद्यावयव होता है यह पक्ष लिया गया तो भी यह विसर्गका निषेध कहना ही चाहिये। कारण यह कि उस पक्षमें 'नार्कुटः' रूपमें दोष न आया तो भी 'नार्कल्पिः' रूपमें रेफको विसर्ग होने लगेगा यह दोष प्राप्त होता ही है। क्योंकि 'पर' का अर्थात् 'कल्पि' इस शब्दस्वरूपका आद्यावयव यद्यपि रेफ हुआ तो भी वह उसके कल्पप्रत्ययका अवयव न होनेके कारण कल्पप्रत्ययके निमित्तसे जो पिछला भाग पदके रूपमें समझा जाता है (१।४।१७) उस पदका वह रेफ अन्त्यावयव नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकेगा (सारांश, 'पूर्वका अन्त्यावयव होता है इस पक्ष पर 'नार्कुटः' रूपमें भी दोष दीखाना ठीक नहीं।

'यक्स्वरः' अर्थात् 'प्रकृतसूत्रसे' जोड़ा जानेवाला रेफ पूर्वका अन्त्यावयव होता है ऐसा समझा गया तो 'यक्' स्वर सिद्ध नहीं होगा। 'गीर्यते स्वयमेव',

मेव। पूर्यते स्वयमेव। अचः कर्तृयकि [६·१·१९५] इत्येष स्वरो न प्राप्नोति। नैष दोषः। उपदेश इति वर्तते॥ अथवा पुनरस्तु परादिः।

परादावकारलोपौत्वपुक्प्रतिषेधश्चङ्युपधाह्रस्वत्वमिटो ऽव्यवस्थाभ्यासलोपो ऽभ्यस्ततादिस्वरो दार्घत्वं च । १० ॥

यदि परादिरकारलोपः प्रतिषेध्यः। कर्ता हर्ता। अतो लोप आर्धधातुक इत्यकारलोपः प्राप्नोति॥ नैष दोषः। उपदेश इति वर्तते। यद्युपदेश इति वर्तते धिनुतः कृणुतः अत्र लोपो न प्राप्नोति। नोपदेशग्रहणेन प्रकृतिरभिसंबध्यते। किं

'पूर्यते स्वयमेव' उदाहरणोंमें 'अचः कर्तृयकि' (६।१।१९५) सूत्रसे अजन्त धातुको कहा हुआ उदात्त स्वर नहीं होगा। (कारण यह कि 'गीर्'में रेफ पूर्वका अन्त्यावयव होनेसे धातुके अन्तमें अच् नहीं है)

यह दोष नहीं प्राप्त होता। कारण यह कि 'अचः कर्तृयकि' (६।१।१९५) सूत्रमें 'तास्यनुदात्तेत्०' (६।१।१८६) सूत्रसे 'उपदेशे' पदकी अनुवृत्ति आती है। (तब 'गीर्' में धातुके अन्तमें अच् न हुआ, तो भी मूळ उपदेशमें 'गॄ' धातुके अन्तमें अच् होनेसे स्वर होनेमें कुछ बाधा नहीं आती। सारांश, यह दिखता है कि 'रेफ पूर्वका अन्त्यावयव होता है' यह पक्ष निर्दिष्ट है।)

अथवा 'यह रेफ परका आद्यावयव होता है' यह पक्ष लिया जाय।

(वा. १०) रेफ यदि परका आद्यावयव समझा गया तो अकारके लोपका निषेध करना चाहिये, औकार आदेशका लोप करना चाहिये, पुगागमका निषेध करना चाहिये, चङ् प्रत्यय आगे होनेपर उपधाको ह्रस्व आदेश नहीं होगा। इट् आगमकी व्यवस्था नहीं होगी, अभ्यासका लोप कहना चाहिये, अभ्यस्त स्वर सिद्ध नहीं होगा, तादि स्वर सिद्ध नहीं होगा और दीर्घ नहीं होगा।

प्रकृत सूत्रसे जोड़ा जानेवाला रेफ यदि परका आद्यावयव समझा गया, तो अकारके लोपका निषेध करना चाहिये। अन्यथा 'कर्ता' और 'हर्ता' में रेफ अगले आर्धधातुक प्रत्ययका अवयव होनेके कारण वह आर्धधातुक प्रत्यय आगे है इसलिए क और ह में ह्रस्व अकारका 'अतो लोपः' (६।४।४८) सूत्रसे लोप होने लगेगा।

यह दोष नहीं आता है। कारण यह कि उस सूत्रमें 'अनुदात्तोपदेश०' (६।४।३७) सूत्रसे उपदेशे पदकी अनुवृत्ति होती है। (अतः कृ और हृ धातुओंको गुणसे—७।३।८४—प्राप्त हुआ अकार मूल उपदेशमें न होनेसे उसका लोप नहीं होगा।)

पर यदि वहाँ 'उपदेशे' पदकी अनुवृत्ति की गयी तो 'धिनुतः' 'कृणुतः' रूपोंमें 'धिन्विकृण्व्योर च' (३।१।८०) सूत्रसे आये हुए अकारका लोप नहीं होगा।

तर्हि। आर्धधातुकमभिसंबध्यते। आर्धधातुकोपदेशे यदकारान्तमिति। अकारलोप॥ औत्व। औत्वं च प्रतिषेध्यम्। चकार जहार। आत औ णलः [७·१·३४] इत्यौत्वं प्राप्नोति॥ नैष दोषः। निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीत्येवं न भविष्यति। यस्तर्हि निर्दिश्यते तस्य कस्मान्न भवति। रेफेण व्यवहितत्वात्। औत्व॥ पुक्प्रतिषेधः। पुक् च प्रतिषेध्यः। कारयति हारयति। आतां पुगिति पुक् प्राप्नोति। पुक्प्रतिषेधः॥ चङ्युपधाह्रस्वत्वम्। चङ्युपधाह्रस्वत्वं च न सिध्यति। अचीकरत् अजीहरत्। णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः [७·४·१] इति ह्रस्वत्वं न प्राप्नोति। चङ्युपधाह्रस्वत्वम्॥ इटो ऽव्यवस्था। इटश्च व्यवस्था न प्रकल्पते। आस्तरिता

'उपदेशे' पदका धातुसे संबंध न करके 'आर्धधातुके' पदसे किया जाय॥ इससे 'आर्धधातुक प्रत्ययके उपदेशमें जो ह्रस्व अकारान्त' यह अर्थ होगा ('धिन्विकृण्व्यो०' सूत्रसे धातुको अकार आदेश और उ प्रत्यय कहा गया है, इसलिये 'उ' इस आर्धधातुक प्रत्ययके प्रयोगमें 'धिन' यह अकारान्त है ही। अतः वहाँ लोप होगा।) तथा रेफको परका आद्यावयव समझा गया तो औकार आदेशका निषेध करना चाहिये। अन्यथा 'चकार', 'जहार' में रेफ णल् प्रत्ययका अवयव हुआ है इसलिए उस 'र' प्रत्ययको 'आत औ णलः' (७।१।३४) सूत्रसे औकार आदेश होने लगेगा।

यह दोष नहीं आता। 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' परिभाषासे 'र'को औकार आदेश नहीं होता। (कारण यह कि सूत्रमें 'णलः' यह निर्देश किया है रेफसहित नहीं किया है।)

तो फिर सूत्रमें जिसका निर्देश किया है उसको, अर्थात् रेफके अगले अकारको, क्यों नहीं होता है?

आकारान्त धातु और वह 'अ' प्रत्यय इन दोनोंमें रेफका व्यवधान होता है इसलिए उसको औकार आदेश नहीं होता। तथा रेफ 'पर'का आद्यावयव हुआ तो चङ् प्रत्यय आगे होनेपर उपधाको ह्रस्व नहीं होगा; उदा० 'अचीकरत्', 'अजीहरत्' रूपोंमें 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' (७।४।१) सूत्रसे जो कार और हारकी उपधाको अर्थात् आकारको ह्रस्व हुआ है वह नहीं होगा[१२]। 'इटोऽव्यवस्था' अर्थात् रेफ 'पर'का आद्यावयव हुआ तो इट् आगमकी व्यवस्था नहीं होगी। 'आस्तरिता', 'निपरिता' में प्रकृतसूत्रसे जोडा जानेवाला रेफ भी अगले प्रत्ययका

---

११. इस परिभाषाका अर्थ पीछे देखिये (१।१।४९ टि ६)।

१२ कारण यह कि 'रेफ' अगले 'णिच्' प्रत्ययका आद्यावयव हुआ है इसलिए पिछले धातुके अन्तमें आकार है, धातुकी उपधाको नहीं।

निपरिता। इडपि परादी रेफोऽपि। तत्र व्यवस्था न प्रकल्पते। इटो ऽव्यवस्था॥ अभ्यासलोपः। अभ्यासलोपश्च वक्तव्यः। ववृते ववृधे। अभ्यासस्येति हलादिशेषो न प्राप्नोति। अभ्यासलोपः॥ अभ्यस्तस्वर। अभ्यस्तस्वरश्च न सिध्यति। मा हि स्म ते पिप्रुरुः। मा हि स्म ते बिभ्रुरुः। अभ्यस्तानामादिरुदात्तो भवत्यजादौ लसार्वधातुक इत्येष स्वरो न प्राप्नोति। अभ्यस्तस्वर॥ तादिस्वर। तादिस्वरश्च न सिध्यति। प्रकर्ता प्रकर्तुम्। प्रहर्ता प्रहर्तुम्। तादौ च निति कृत्यतौ [६·२·५०] इत्येष स्वरो न प्राप्नोति॥ नैष दोषः। उक्तमेतत्। कृदुपदेशे वा ताद्यर्थमिडर्थमिति। तादिस्वर॥ दीर्घत्वम्। दीर्घत्वं च न सिध्यति। गीः पूः। रेफवकारान्तस्य धातोरिति दीर्घत्वं न प्राप्नोति॥

आद्यावयव होगा और इट् आगम (७।२।३५) भी अगले प्रत्ययका आद्यावयव होगा। अतः उन दोनोंमें प्रत्ययके समीप कौन होगा और उसके इस ओर कौन होगा यह व्यवस्था निश्चित नहीं होगी। क्योंकि दोनोंको समानरूपसे परके आद्यावयव बनाना है। '**अभ्यासलोपः**' अर्थात् रेफ परका आद्यावयव हुआ तो अभ्यासके उस रेफका लोप होता है ऐसा कहना चाहिये। कारण यह कि 'ववृते', 'ववृधे' में परका आद्यावयव हुए रेफकी अभ्यासमें गणना न होनेसे 'हलादिः शेषः' (७।४।६०) सूत्रसे उस रेफका लोप नहीं होगा।

अभ्यस्तस्वर:—अर्थात् रेफ परका आद्यावयव हुआ तो अभ्यस्त स्वर सिद्ध नहीं होगा। अजादि 'लसार्वधातुक आगे होनेपर अभ्यस्तोंका आदि उदात्त होता है।' (६।१।८९) इस प्रकारका जो अभ्यस्तको स्वर कहा गया है वह 'मा हि स्म ते पिप्रुरुः', 'मा हि स्म ते बिभ्रुरुः' में नहीं होगा। (कारण यह कि रेफ परका आद्यावयव होनेसे उस् जितना प्रत्यय होता है और वह तो अजादि नहीं है।) **तादि स्वरः**—रेफ परका आद्यावयव हुआ तो तादि स्वर सिद्ध नहीं होगा। 'प्रकर्ता', 'प्रकर्तुम्' में 'तादौ' च निति कृत्यतौ' (६।२।५०) से तकारादि कृत्प्रत्यय आगे रखा जानेपर 'प्र' आदि गतिसंज्ञकको कहा हुआ प्रकृतिस्वर नहीं होगा। (कारण यह कि कृत्प्रत्यय रेफादि होता है।)

यह दोष नहीं आता। कारण, वार्तिककारोंने 'तादौ च०' (६।२।५०) सूत्रपर 'कृदुपदेशे वा ताद्यर्थमिडर्थम्' ऐसा कहा ही है। (तब रेफ परका आद्यावयव होनेके कारण यद्यपि प्रत्यय रेफादि हुआ तो भी मूल उपदेशमें तकारादि होनेसे स्वर होगा।) दीर्घत्वं च। दीर्घ रेफ परका आद्यावयव हुआ तो दीर्घ नहीं होगा। रेफान्त और वकारान्त धातुओंमें उपधासंज्ञक इक्को कहा हुआ जो दीर्घ है (८।२।७६) वह 'गीः', 'पूः' में नहीं होगा। (कारण यह कि धातु रेफान्त नहीं है।)

अलो ऽन्त्यस्य ॥ १ । १ । ५२ ॥

किमिदमल्ग्रहणमन्त्यविशेषणमाहोस्विदादेशविशेषणम् । किं चातः । यद्यन्त्यविशेषणमादेशो ऽविशेषितो भवति । तत्र को दोषः । अनेकाल्प्यादेशो- ऽन्त्यस्य प्रसज्येत ॥ यदि पुनरलन्त्यस्येत्युच्येत । तत्रायमप्यर्थो ऽनेकाल्शित्सर्वस्य [१·१·५५] इत्येतन्न वक्तव्यं भवति । इदं नियमार्थं भविष्यति । अलेवान्त्यस्य भवति नान्य इति । एवमप्यन्त्यो ऽविशेषितो भवति । तत्र को दोषः । वाक्यस्यापि

(सू. ५२) षष्ठी-प्रत्ययका निर्देश करके जो आदेश कहा हो वह जिसको कहा हो उन सभीके स्थानमें न करके उनमेंसे केवल अन्त्य वर्णको करना चाहिये ॥ १.१.५२ ॥

इस सूत्रमें 'अलः' जो कहा है वह षष्ठीका एकवचन लेके 'अन्त्यस्य' का विशेषण किया जाय अथवा प्रथमाका बहुवचन लेके आदेशका विशेषण किया जाय ?

इन दोनोंमें क्या भेद है ?

यदि 'अन्त्यस्य'का विशेषण किया गया तो वह आदेशका विशेषण नहीं है।

फिर वैसा हुआ तो दोष क्या है ?

दोष यह है कि यद्यपि अनेकाल् हुआ तो भी वह अन्त्य अल्को होगा। (वह न होनेके लिए 'अनेकाल्शित्सर्वस्य'–१।१।५५–सूत्रमें 'अनेकाल्' शब्द रखना पड़ेगा।) परन्तु यहाँ 'अतः' को आदेशका विशेषण करके अत्-रूपी जो आदेश है वह अन्त्यको होता है ऐसा कहा जानेसे 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' सूत्रमें 'अनेकाल्' शब्द रखनेकी आवश्यकता नहीं है यह बात सिद्ध होती है। कारण यह कि यहाँ 'अल्' आदेशका विशेषण होनेके कारण 'अल्-रूपी जो आदेश है वही अन्त्यको होता है, उसके अतिरिक्त दूसरा अर्थात् अनेकाल् जो आदेश है वह अन्त्यको नहीं होगा' यह नियम अवश्य सिद्ध होता है।

यह बात सच है, किन्तु अन्त्यका 'अल्' विशेषण नष्ट होगा उसका परिणाम क्या होगा ?

'अतः' अन्त्यका विशेषण नहीं हुआ तो उसमें दोष क्या है ?

अन्त्य वाक्यको अथवा अन्त्य पदको[१] भी आदेश होने लगेगा। (अतः

---

१ 'रामैः' में 'भिस्' प्रत्ययको जो 'ऐस्' आदेश होता है (७।१।९) वह 'भिस्–' के अन्त्य 'अल्–'का अर्थात् अन्त्य सकारको ही होगा, और 'रामैः' रूप सिद्ध न होगा।

२ 'स्वनडुद्भ्याम्' यहाँ 'स्वनडुह्' शब्दके अन्त्य 'अल्' को अर्थात् हकारको दकार आदेश (८।२।७२) होता है वह 'स्वनडुह्' शब्दके अन्त्य पदको अर्थात् 'अनडुह्' को होने लगेगा।

पदस्याप्यन्त्यस्य प्रसज्येत ॥ यदि खल्वप्येषो ऽभिप्रायस्तन्न क्रियेतेत्यन्त्यविशेषणे ऽपि सति तन्न करिष्यते। कथम्। ङिच्चालो ऽन्त्यस्येत्येतन्नियमार्थं भविष्यति। ङिदेवानेकालन्त्यस्य भवति नान्य इति ॥

किमर्थं पुनरिदमुच्यते।

अलो ऽन्त्यस्येति स्थाने विज्ञातस्यानुसंहारः ॥ १ ॥

अलो ऽन्त्यस्येत्युच्यते स्थाने विज्ञातस्यानुसंहारः क्रियते स्थाने प्रसक्तस्य ॥

इतरथा ह्यनिष्टप्रसङ्गः ॥ २ ॥

'अलः' को अन्त्यका विशेषण करना ही चाहिये।) और 'अलः' को आदेशका विशेषण करनेमें जो कुछ लाभ जान पडता हो कि 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' सूत्रमें 'अनेकाल्' शब्द रखनेकी आवश्यकता नहीं है, वह लाभ 'अलः' को अन्त्यका विशेषण किया तो भी प्राप्त होता है।

सो कैसे?

आदेशका 'अलः' विशेषण न होनेसे यदि प्रकृत सूत्रसे 'अनेकाल्' आदेश भी स्थानीके अन्त्य अल्को होगा तो अनङ् (७।१।९३) इत्यादि अनेकाल् आदेश स्थानीके अन्त्य अल्को होनेके लिए जो 'ङिच्च' (१।१।५२) सूत्र आगे दिया है वह व्यर्थ होके नियमार्थ होगा। वह नियम यों कि 'अनेकाल् आदेश यदि स्थानिके अन्त्य अल्को करना हो तो उनमेंसे जो आदेश ङित् हो वही किया जाय, अन्य अनेकाल् आदेश अन्त्य अल्को न किये जायँ।' तव ङित्के सिवा अन्य अनेकाल् आदेश जिसको कहे हों उसीको अर्थात् सर्व स्थानीको होंगे। अतः 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' सूत्रमें 'अनेकाल्' शब्द रखनेकी आवश्यकता नहीं है।

अब यह सूत्र किसलिए किया है?

(वा. १) अन्त्य अल्के स्थानमें आदेश किया जाय यह जो कहा है वह अन्त्य अल्के स्थानमें प्रसक्त होता है। अतः वह अन्त्य अल्के स्थानमें करना चाहिये।

'अन्त्य अल्को किया जाय' ऐसा जो यहाँ कहा है वह 'षष्ठी स्थानेयोगा' (१।१।४९) परिभाषासे षष्ठीका स्थानसे संबंध जोडा जानेसे किसी शब्दके स्थानमें जो आदेश प्रसक्त होता है उसीका अनुसंहार है (अर्थात् वह आदेश उस शब्दके अन्त्य-अल्के स्थानमें किया जाय)।

(वा. २) उपर्युक्त न माना जाय तो अनिष्ट बात होगी।

इतरथा ह्यनिष्टं प्रसज्येत । टित्किन्मितोऽप्यन्त्यस्य स्युः ॥ यदि पुनरयं योगशेषो विज्ञायेत ।

योगशेषे च ॥ ३ ॥

किम् । अनिष्टं प्रसज्येत । टित्किन्मितोऽप्यन्त्यस्य स्युः ॥ तस्मात्सुष्ठूच्यते ऽलो ऽन्त्यस्येति स्थाने विज्ञातस्यानुसंहार इतरथा ह्यनिष्टप्रसङ्ग इति ॥

'जिसका स्थानसे संबंध जोड़ा गया है उस षष्ठीके स्थानमें ही यह सूत्र प्रवृत्त होता है' ऐसा न माना गया तो अनिष्ट प्राप्त होगा । अर्थात् टित्, कित् और मित् जो आगम हैं वे भी जिसको कहे हों उसके अन्त्य अल्को होंगे।

उसी प्रकार यह प्रकृतसूत्र 'षष्ठी स्थानेयोगा' सूत्रका परिशिष्ट है ऐसा माना गया तो—

(वा. ३) प्रकृतसूत्र 'षष्ठी स्थानेयोगा' सूत्रका परिशिष्ट माना जाय तो भी अनिष्ट बात होगी ।

तो क्या ? अनिष्ट प्राप्त होगा अर्थात् टित्, कित् और मित् जो आगम हैं वे भी जिसको कहे हों उसके अन्त्य अल्को होंगे। अतः वार्तिककारोंने जो कहा है वह ठीक है कि '*अलोन्त्यस्येति स्थाने विज्ञातस्यानुसंहारः इतरथा ह्यनिष्टप्रसङ्गः।*'

---

३. 'अभूत्' आदि रूपोंमें धातुको कहा हुआ 'अट्' आगम (६।४।७१) 'भू' का आद्यावयव न होके 'भू' के अन्त्य 'अल्' का अर्थात् ऊकारका आद्यावयव होने लगेगा ।

४. 'षष्ठी स्थानेयोगा' यहाँ षष्ठीके संबंधमें दो कार्य कहे हैं। एक षष्ठीका स्थानोंसे संबंध जोड़ना' और दूसरा 'अन्त्य अल्के प्रति षष्ठीका उपयोग करना'। उनमेंसे पहला वहाँ कहा है। दूसरा जो नहीं कहा था वह यहाँ कहा है। यह परिशेषपक्ष है। अनुसंहारपक्ष यह है कि 'षष्ठीके संबंधमें एक ही कार्य कहना था वह पहले कहा है, वहाँ कहा हुआ जो स्थानसे संबंध है उसके बारेमें उस संबंधका अन्त्य अल्की ओर उपयोग किया जाय यह कार्य यहाँ कहा है। अनुसंहारपक्षमें दोके संबंधमें दो कार्य कहे जाते हैं, उसकी अपेक्षा 'एकके ही संबंधमें दो कार्य कहना' इस परिशेषपक्षमें लाघव है। यह लाघव यद्यपि है तो भी उस पक्षमें दोष आता है। कारण यह कि एकके संबंधमें जो दो कार्य कहे हैं उनमेंसे एकाध स्थानमें एकाध न लिया गया तो भी वहाँ दूसरा लेनेमें बाधा नहीं। उससे 'टित्' इत्यादि आगम अन्त्य अल्को होने लगेंगे। अनुसंहारपक्षमें यह दोष नहीं आता। क्योंकि जहाँ आगम रहे हैं वहाँ षष्ठीका स्थानसे संबंध नहीं जोड़ा है। इससे 'उस संबंधका अन्त्य अल्की ओर उपयोग करना' यह कार्य नहीं लिया जा सकता।

डिच्च ॥ १ । १ । ५३ ॥

तातङन्त्यस्य स्थाने कस्मान्न भवति । ङिच्चालो ऽन्त्यस्येति प्राप्नोति ।

तातङि ङित्करणस्य सावकाशत्वाद्वि-तिषेधात्सर्वादेशः ॥ १ ॥

तातङि ङित्करणं सावकाशम् । कोऽवकाशः । गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थो ङकारः । तातङि ङित्करणस्य सावकाशत्वाद्विप्रतिषेधात्सर्वादेशो भविष्यति ॥ प्रयोजन नाम तद्वक य यन्नियोगतः स्यात् । यदि चायं नियोगतः सर्वादेशः

(सू ५३) पष्ठी प्रत्ययका निर्देश करके जो ङित् आदेश कहा हो यह जिसको कहा हो उन सभीके स्थानमें न करके उनमें से केवल अन्त्यवर्णको किया जाय ॥ १.१.५३ ॥

तु और हि को कहा हुआ जो तातङ् आदेश (७।१।३५) है वह उनके अन्त्य वर्णके स्थानमें क्यों नहीं होता? तातङ् ङित् होनेके कारण प्रकृत सूत्रसे अन्त्य वर्णको प्राप्त होता है।

(वा १) 'तातङ्' आदेशमें ङित्करणका अन्यत्र उपयोग होनेसे 'ङिच्च' इस प्रकृत परिभाषासूत्रका बाध करके 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' परिभाषा सूत्रसे सर्वादेश होगा।

तातङ् जो ङित् किया है उसका अन्य स्थानपर उपयोग होता है।

वह उपयोग कौनसा?

गुणका और वृद्धिका निषेध (१।१।५) होनेके लिए तातङ् आदेशको ङकार लगाया गया है। इस प्रकार तातङ्के ङकारका उपयोग होनेके कारण 'ङिच्च' इस प्रकृत परिभाषासे 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' (१।१।५५) परिभाषा समानरूपसे विरोध करके परत्वके कारण (१।४।२) प्रकृत परिभाषाका बाध करता है इसलिए तातङ् सभीके स्थानपर होता है, अन्त्य वर्णको नहीं होता।

पर उपयोग दिखाना हो तो केवल कुछ गृहीतके आधारपर नहीं दिखाना है, प्रत्युत विधिके अनुसार दिखाना चाहिये। अब यदि 'कुरुतात्,' 'मृष्टात्' रूपोंमें

१ 'कुरुतात्' में गुणका (७।३।८४) निषेध (१।१।५) हुआ है, और 'मृष्टात्' में वृद्धिका (७।२।११४) निषेध हुआ है।

२ यद्यपि 'ङिच' परिभाषा 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' परिभाषाका अपवाद है और इसीलिए 'अनङ्' (७।१।९३), 'आनङ्' (६।३।२५) इत्यादि आदेश अनेकाल् होते हुए भी सर्वको नहीं होते, तो भी यहाँ तातङ्के ङकारका 'गुणका और वृद्धिका निषेध' यह उपयोग होनेके कारण उस ङकारके बलपर रची हुई प्रकृतपरिभाषा 'ङिच' दुर्बल होती है। अत. यहाँ दोनोंकी समानता होती है।

स्याच्चेत एतत्प्रयोजनं स्यात्। कुतो नु खल्वेतन्ङित्करणादयं सर्वादेशो भविष्यति न पुनरन्त्यस्य स्यादिति॥ एवं तर्हि एतदेव ज्ञापयति न तातङन्त्यस्य स्थाने भवतीति यदेतं ङितं करोति। इतरथा हि लोट एरुप्रकरण एव ब्रूयात्तिह्योस्तादाशिष्यन्यतरस्यामिति॥

आदेः परस्य॥ १।१।५४॥

अलोऽन्त्यस्यादेः परस्यानेकाल्शित्सर्वस्येत्यपवादविप्रतिषेधात्सर्वादेशः॥ १॥

तातङ् आदेश जो 'तु' और 'हि' इन सभीके स्थानमें किया है वह 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' परिभाषाके अनुसार ही सभीके स्थानपर किया हो तो उस तातङ् के ङकारका 'गुणका और वृद्धिका निषेध होना' यह उपयोग उचित है ऐसा कहा जा सकता है। पर पहले यहाँ यह निश्चय किसके अनुसार किया गया कि 'गुणका और वृद्धिका निषेध' यह उपयोग होनेके लिए 'कुरुतात्', 'मृष्टात्' रूपोंमें तातङ् सर्वादेश ही होगा, प्रकृत परिभाषासे अन्त्य अल्को नहीं होगा? तात्पर्य यह है कि तातङ्के ङकारका योग्य उपयोग अन्यत्र न होनेके कारण प्रकृत सूत्र तातङ्के स्थानमें भी 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' परिभाषासूत्रका अपवादही होगा। (तब 'तातङ् सर्वादेश होता है' इसका अन्य कुछ कारण कहना चाहिये।)

तो फिर वह कारण यों बताया जा सकता है कि, जबकि आचार्य पाणिनीने तातङ् आदेशको ङकार जोड़ा है उसीसे वे ज्ञापित करते हैं कि तातङ् अन्त्य वर्णको नहीं होता है, वह सर्वादेश ही होता है। अन्यथा अर्थात् 'तातङ् आदेशको ङकार जोड़ा जानेसे वह अन्त्यवर्णको ही होना चाहिये' इस प्रकारका उद्देश पाणिनीका होता तो ङकार जोड़े बिना ही काम सध जाता। वह यों कि, लोट् प्रत्ययको इकारको उकार आदेश कहनेवाला जो 'एरुः' (३।४।८६) सूत्र है उसी प्रकरणमें उसीके आगे 'तिह्योस्तादाशिष्यन्यतरस्याम्' सूत्र किया जाय। (वहाँ 'एः' पदकी अनुवृत्ति करनेसे इकारको ही तात् आदेश होगा।)

(सू. ५४) पंचमीका निर्देश करके उसके आगे परको जो आदेश कहा, हो वह उसके आदिको अर्थात् पहले वर्णको किया जाय॥ १.१.५४॥

(वा. १) 'अलोन्त्यस्य' सूत्रके 'आदेः परस्य' तथा 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' ये दोनों अपवाद हैं। इन अपवादोंमें यदि विरोध हो तो 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' से सर्वादेश होगा।

अलोऽन्त्यस्येत्युत्सर्गः। तस्यादेः परस्यानेकाल्शित्सर्वस्येत्यपवादौ। अपवादविप्रतिषेधात्तु सर्वादेशो भविष्यति। आदेः परस्येत्यस्यावकाशः। द्व्यन्तरुपसर्गेभ्यो ऽप ईत् [६·३·९७] द्वीपम् अन्तरीपम्। अनेकाल्शित्सर्वस्येत्यस्यावकाशः अस्तेर्भूः [२·४·५२] भविता भवितुम्। इहोभयं प्राप्नोति। अतो भिस ऐस् [७·१·९]। अनेकाल्शित्सर्वस्येत्येतद्भवति विप्रतिषेधेन ॥ शित्सर्वस्येत्यस्यावकाशः। इदम इश् [५·३·३] इतः इह। आदेः परस्येत्यस्यावकाशः। स एव। इहोभयं प्राप्नोति। अष्टाभ्य औश् [७·१·२१]। शित्सर्वस्येत्येतद्भवति विप्रतिषेधेन ॥

अनेकाल्शित्सर्वस्य ॥ १ । १ । ५५ ॥

(वा. १) 'अलोऽन्त्यस्य' यह सामान्य नियम है। उसके 'आदेः परस्य' और 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' ये दो अपवाद है। उन दो अपवादोंमें जहाँ जहाँ परस्पर-विरोध निर्माण होगा वहाँ वहाँ परत्वके कारण सर्वादेश ही होता है। 'आदेः परस्य' परिभाषाके 'द्वीपम्', 'अन्तरीपम्' में स्वतंत्र अवकाश मिलता है। यहाँ 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' (६।३।९७) सूत्रसे द्वि, अन्तर और उपसर्ग इनके आगेके 'अप्' शब्दको कहा हुआ ईकार आदेश 'आदेः परस्य' परिभाषासे अप् शब्दके आदिको अर्थात् अकारको होता है। 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' परिभाषाको 'भविता', 'भवितुम्' में स्वतंत्र अवकाश मिलता है। यहाँ 'अस्तेर्भूः' (२।४।५२) सूत्रसे 'अस्' धातुको कहा हुआ 'भू' आदेश 'अस्' इस सर्वको होता है। 'रामैः' आदि उदाहरणोंमें 'अतो भिस ऐस्' (७।१।९) सूत्रसे भिस् प्रत्ययको ऐस् आदेश कर्तव्य हो तो वे दोनों परिभाषाएँ उपस्थित होती हैं। उनमेंसे 'आदेः परस्य' का 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' परिभाषा परत्वसे (१।४।२) बाध करती है। तथा 'शित् आदेश सर्वको होता है' ऐसा जो 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' परिभाषासे कहा गया है उसको 'इतः', 'इह' में स्वतंत्र अवकाश प्राप्त होता है। यहाँ 'इदम इश्' (५।३।३) सूत्रसे 'इदम्' शब्दको कहा हुआ 'इश्' आदेश 'इदम्' इस सर्वको होता है। 'आदेः परस्य' परिभाषाको 'द्वीपम्', 'अन्तरीपम्' में स्वतंत्र अवकाश मिलता है यह अभी बताया गया है। 'अष्टौ' उदाहरणमें 'अष्टाभ्य औश्' (७।१।२१) सूत्रसे 'जस्' प्रत्ययको 'औश्' आदेश कर्तव्य हो तो ये दोनों परिभाषाएँ उपस्थित होती हैं। उनमेंसे 'आदेः परस्य' का 'शित्सर्वस्य' परिभाषा परत्वके कारण बाध करती है।

(सू. ५५) जिस आदेशमें अल् अर्थात् वर्ण अनेक हैं और जिस आदेशमें इत्संज्ञक शकार लगाया गया है वह आदेश जिसके बारेमें कहा हो उन सबको किया जाय ॥ १.१.५५ ॥

शित्सर्वस्येति किमुदाहरणम् । इदम इश् [५·३·३] इतः इह । नैतदस्ति प्रयोजनम् । शित्करणादेवात्र सर्वादेशो भविष्यति । इदं तर्हि । अष्टाभ्य औश् [७·१·२१] । ननु चात्रापि शित्करणादेव सर्वादेशो भविष्यति । इदं तर्हि । जसः शी [७·१·१७] । जश्शसोः शिः [७·१·२०] । ननु चात्रापि शित्करणादेव सर्वादेशो भविष्यति । अस्त्यन्याच्छित्करणे प्रयोजनम् । किम् ।

शित् अर्थात् इत्संज्ञक शकार जिसको जोड़ा गया है इस प्रकारका आदेश सभीके स्थानमें होता है ऐसा जो यहाँ कहा है उसका उदाहरण क्या है ?

'इदम इश्' (५।३।३) सूत्रसे 'इदम्' शब्दको कहा हुआ 'इश्' आदेश शित् होनेके कारण 'इतः', और 'इह' उदाहरणोंमें 'इदम्' जितने सर्वके स्थानमें होता है ।

यह शित्का उदाहरण समुचित नहीं है। कारण यह कि यहाँ जो 'इश्' आदेशका इत्संज्ञक शकार जोड़ा है उससे इस आदेशको अनेकाल् समझके ही सर्वादेश होगा।

तो फिर यह उदाहरण लीजिये। 'अष्टाभ्य औश्' (७।१।२१) सूत्रसे अष्टन् शब्दके आगेके 'जस्', और 'शस्' प्रत्ययोंको कहा हुआ 'औश्' आदेश शित् होनेके कारण इस उदाहरणमें पूरेके 'जस्', और पूरेके 'शस्' स्थानोंपर होता है।

पर यहाँ भी 'औश्' आदेशको पहले जैसे अनेकाल् समझके ही सर्वादेश होगा।

तो फिर ये उदाहरण लीजिये। 'जसः शी' (७।१।१७) सूत्रसे जस् प्रत्ययको कहा हुआ 'शी' आदेश शित् होनेके कारण 'सर्वे' उदाहरणमें 'जस्' इस सभीके स्थानपर होता है। तथा 'जश्शसोः शिः' (७।१।२०) सूत्रसे 'जस्' और 'शस्' प्रत्ययोंको कहा हुआ 'शि' आदेश शित् होनेसे 'ज्ञानानि' उदाहरणमें 'जस्' और 'शस्' इन सबोंके स्थानमें होता है।

पर यहाँ भी 'शी' और 'शि' आदेशोंको पहले जैसे अनेकाल् समझके सर्वादेश होंगे।

'शी' और 'शि' इन आदेशोंके शकारका अन्यत्र उपयोग होनेके कारण

---

१. 'इदम्' शब्दके आगे 'तस्' प्रत्यय (५।३।७) और 'ह' प्रत्यय (५।३।११) लगाये जायँ तो संपूर्ण 'इदम्' शब्दको 'इश्' आदेश होके 'इतः' और 'इह' अव्यय बनते हैं।

२. इत्संज्ञक शकारका लोप (१।३।९) होनेके कारण आदेश करते समय एक इकार ही होनेवाला है। तब यद्यपि उसको अनेकाल् नहीं कहा जा सकता तोभी उस शकारका अन्यत्र कोई उपयोग न होनेके कारण वह व्यर्थ होगा। तब उसके बलपर पहले शकार था उसका स्मरण करके आदेश अनेकाल् है ऐसा समझा जा सकता है।

३. तब 'शी' और 'शि' के शकारको वैयर्थ्य प्राप्त न होनेके कारण पूर्वके शकारका स्मरण करके 'आदेश अनेकाल् है' ऐसा नहीं समझा जा सकता।

विशेषणार्थः। क विशेषणार्थेनार्थः। शि सर्वनामस्थानम् [१·१·४२] विभाषा ङिश्योः [६·४·१३६] इति॥ शित्सर्वस्येति शक्यमकर्तुम्। कथम्। अन्त्यस्यायं स्थाने भवन्न प्रत्ययः स्यात्। असत्यां प्रत्ययसंज्ञायामित्संज्ञा न स्यात्। असत्यामित्संज्ञायां लोपो न स्यात्। असति लोपे ऽनेकाल्। यदानेकाल् तदा

'उस शकारसे ये आदेश अनेकाल् हैं' ऐसा नहीं समझा जा सकेगा।

वह उपयोग कौनसा है?

विशेषणके लिए वह सकार अन्यत्र उपयुक्त होता है।

कहाँ विशेषणके लिए उसका उपयोग होता है?

'शि सर्वनामस्थानम्' (१।१।४२), 'विभाषा ङिश्योः' (६।४।१३६) इन स्थानोंपर।

तो भी इस सूत्रमें 'शित् आदेश सर्वके स्थानमें होता है' यह बात अलग कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

सो कैसे?

इस तरह कि 'शी' और '।शि' उदाहरणमें आदेश किये जाते हैं तो वे शुद्ध (वास्तवमें) अनेकाल् होनेके कारण सहजमें ही सर्वादेश होंगे। कारण यह कि यदि यह सर्वादेश न होके अन्त्यको होगा तो उसको प्रत्यय ही नहीं कहा जा सकता है। और प्रत्यय संज्ञा न हुई तो शकारको इत्-संज्ञा (१।३।८) न होगी। इत्-संज्ञा न हुई तो उसका लोप न होगा। और लोप न होनेसे आदेश करते समय शुद्ध अनेकाल् ही होते है। तब यह अनेकाल् यदि इस स्वरूपका है तो वह सर्वादेश

---

४. यहाँ 'शि' यह इत्संज्ञक शकारसहित निर्देश किया जानेसे 'इत्संज्ञक शकार जिसको लगाया है वह' यह इकारको विशेषण लगानेके समान होता है। यदि 'जश्शसोः शि.' यहाँ आदेशको शकार नहीं लगाया तो 'शि सर्वनामस्थानम्' यहाँ भी शकारका उच्चारण नहीं किया जा सकता। और किसी भी इकारको सर्वनामस्थानसंज्ञा होने लगेगी यह दोष आता है। 'जसः शी' से कहे हुए 'शी' आदेशके विषयमें भी यही समझा जाय।

५. इश् आदेश अथवा ओश् आदेशके शकारको इत्संज्ञा और लोप होनेके बाद वह आदेश अनेकाल् नहीं तो भी वहाँ शकार व्यर्थ होता है, इसलिए उसके बलपर पहले प्राप्त हुए शकारका स्मरण करके वह आदेश जिस प्रकार अनेकाल् समझा जाता है वैसे शी नहीं समझा जाता। कारण यह कि यहाँ सर्वादेश करनेके पहले शकारको इत्संज्ञा और लोपकी प्राप्ति ही नहीं है।

६. 'जस्' के सकारको 'शी' आदेश हुआ तो स्थानिवद्भावसे 'शी और जिस नहीं कहा जा सकता। कारण यह कि स्थानी जो सकार है वह प्रत्ययका भारेमें कहा हो। प्रत्यय नहीं।

सर्वादेशः । यदा सर्वादेशस्तदा प्रत्ययः । यदा प्रत्ययस्तदेत्संज्ञा । यदेत्संज्ञा तदा लोपः ॥ एवं तर्हि सिद्धे सति यच्छित्सर्वस्येत्याह तज्ज्ञापयत्याचार्यो ऽस्त्येषा परिभाषा नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वं भवतीति । किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम् । तत्रासरूपसर्वादेशदाप्प्रतिषेधेषु पृथक्त्वनिर्देशो ऽनाकारान्तत्वादित्युक्तं तन्न वक्तव्यं भवतीति ॥

इति श्रीभगवत्पतञ्जलिविरचिते व्याकरणमहाभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमे पादे सप्तममाह्निकम् ॥

होगा ही । सर्वादेश होनेके कारण स्थानिवद्भावसे (१।१।५६) उसको प्रत्ययसंज्ञा होगी, प्रत्ययसंज्ञा होनेसे शकारको इत्-संज्ञा होगी, और इत्-संज्ञा होनेसे लोप होगा । (तब इस तरह 'सर्वे' 'ज्ञानानि' इत्यादि उदाहरण प्रकृतसूत्रमें 'शित्' शब्दके विना भी सिद्ध हो जानेसे 'शित्' शब्द निरर्थक है ।)

तो फिर इस रीतिसे सिद्धि होते हुए भी जब कि ये आचार्य पाणिनि प्रकृत सूत्रमें 'शित् आदेश सर्वके स्थानमें होता है' ऐसा सहेतुक कहते हैं उससे वह 'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वं भवति' इस स्वरूपकी परिभाषा ज्ञापित करते है, अर्थात् 'किसी स्थानपर प्रत्यय, आदेश, धातु इत्यादिका स्वरूप वर्णोंसे संभव हो तो उसको निश्चित करनेके कार्यमें इत्संज्ञक वर्णोंकी सहायता बिलकुल न ली जाय, यह ध्यानमें रखके ही 'शी' आदि अनेकाल् न होनेके कारण सर्वादेश नहीं होंगे । अतः प्रकृत-सूत्रमें पाणिनिने सहेतुक कहा है कि 'शि' आदेश सर्वके स्थानमें होता है ।

इस ज्ञापकका क्या उपयोग है ?

उपयोग यों है कि 'तस्य लोपः' सूत्रपर वार्तिककारोंने 'तत्रासरूपसर्वादेश-दाप्प्रतिषेधे पृथक्त्वनिर्देशोऽनाकारान्तत्वात्' (१।३।९ वा. १०) जो कहा है वह न कहना चाहिये । (इस ज्ञापकसे ही वह बात सिद्ध होती है ।)

इस प्रकार श्रीभगवान् पतञ्जलिके रचे हुए व्याकरणमहाभाष्यके पहले अध्यायके पहले पादका सातवाँ आह्निक समाप्त हुआ ।

स्थानिवद्भावनामकम्—अष्टममाह्निकम्

स्थानिवद्भावाह्निक [अ १ पा १ आ ८]

[**स्थानिवद्भावका स्वरूपविवेचन** — इस आह्निकमें स्थानिवद्भावनामक व्याकरणशास्त्रके महत्त्वपूर्ण अतिदेशका विवरण किया है। 'लोगोंमें जिस प्रकार गुरुपुत्र गुरुके समान समझा जाय यह भावनारूढ अतिदेश है उसी प्रकार आदेशको स्थानीके समान समझना इस प्रकारका जो अतिदेश है वह स्थानिवद्भाव है' इस स्वरूपकी स्थानिवद्भावकी व्याख्या की है। गुरुके समान गुरुपुत्र समझा जाय यह न्याय लोगोंमें प्रसृत होनेसे यद्यपि लौकिक न्यायके बलपर ही आदेश स्थानीके समान समझा गया जाय तो भी शास्त्रमें 'स्व रूप शब्दस्य०' (सू १।१।६८) सूत्रसे सर्वत्र स्वरूपविधि कही जानेसे यहाँ 'स्थानिवदादेशो०' (सू १।१।५६) सूत्रसे कार्यातिदेशके लिए हेतुपूर्वक स्थानिवद्भाव कहा है ऐसी बात यद्यपि हो तो भी 'युष्मदस्मदोरनादेशे' (७।२।८६) सूत्रका 'अनादेशे' शब्द और 'अदो जग्धिर्ल्यप् ति किति' (२।४।३६) सूत्रका 'ल्यप्' शब्द सूत्रोंमें आवश्यक न होते हुए भी रखे जानेसे 'आदेश स्थानीके समान समझा जाय, केवल अल्विधिके सबधमें वैसा न समझा जाय' यह तत्त्व सिद्ध होता है और उससे भी प्रस्तुत सूत्रकी आवश्यकता नहीं है। तथापि यहाँ भाष्यकारने यह कहा है कि स्पष्ट प्रतिपत्तिके लिए प्रस्तुत सूत्र किया है। यह 'स्थानीके समान' स्वरूपका अतिदेश सामान्यरीतिसे तथा विशेषरीतिसे भी होना है। जब विशेषातिदेश लिया जाता है तब स्थानीके अल वर्णके अल्त्वसे ही होनेवाली विधियोंका 'अनल्विधौ' पदसे निषेध होता है। इस स्थानिवद्भावके बारेमें 'एक विभागमें विकृत हुआ आदेश भी मूल प्रकृतिके समान समझा जाय' यह कहना इष्ट है ऐसा कहा है और उसके सबधमें भारद्वाजीय वैयाकरणोंका वार्तिकपाठ देकर भाष्यकारने उनका मत दिया है, और 'अवयव समुदायके अन्तर्गत रहता है' (एकदेशविकृतमनन्यवत्) इस लौकिक न्यायसे इस प्रकारका आदेश यद्यपि स्थानिवद्भावके लिए स्वीकार किया तो भी 'अल्विधि' शब्द 'विधिसूत्रोंमें स्पष्टतया अल्का उच्चारण करके उसको कहा हुआ कार्य' इस अर्थमें लेना चाहिये यह इशारा भी दिया है। इस स्थानिवद्भावरूप आदेशके स्वीकारसे शब्दके नित्यत्वमें बाधा नहीं आती। यह बात इस लौकिकन्यायसे स्पष्ट की है कि 'उपाध्यायके स्थानमें शिष्य आया है ऐसा कहनेसे

उपाध्याय वहाँ पहले आया ही होगा ऐसा नहीं' तथा, बुद्धिविपरिणाम अर्थात् अमुकके स्थानमें अमुक समझा जाय इस लौकिक न्यायसे भी अमुक शब्दके स्थानमें अमुक समझा जाय ऐसा कहा जानेके कारण स्थानिवद्भाव शब्दनित्यत्वको बाधक नहीं होता। तदनन्तर, सामान्य नियमको हटाकर जब अपवादविधि होती है तब अपवादविधि की जानेपर शास्त्रसिद्ध शब्दको स्थानिवद्भावातिदेशसे सामान्यविधिके अनुसार सिद्ध होनेवाले शब्दके समान माना गया तो प्राप्त होनेवाले अनेक दोष वार्तिककारोंने बताये हैं और भाष्यकारने उनका निराकरण किया है।

'अनल्विधौ' इस स्थानिवद्भावनिषेधका प्रतिप्रसव—

'अचः परस्मिन्०' (सू. ५७) सूत्र, पिछले सूत्रमें अल्विधिके बारेमें स्थानिवद्भाव नहीं होता है ऐसा जो कहा है, उसका अपवादरूप किया है। इस सूत्रके प्रत्येक पदकी उपयुक्तता बताकर 'पूर्वविधौ' पदके दो अर्थ करके भाष्यकारने कहा है कि 'आदेशसे पूर्व' या 'निमित्तसे पूर्व' इनमेंसे किसीको भी कार्य करना हो तो स्थानिवद्भाव होता है; साथ ही साथ निमित्तसे पूर्वको कार्य होनेके विषयमें 'पट्व्या' यह मूर्धाभिषिक्त उदाहरण दिया है। तदनन्तर "स्तोष्याम्यहं पादिकं०" श्लोकमें 'पादिकं', 'औदवाहिं' इत्यादि उदाहरण दिये हैं। 'पट्व्या' उदाहरण 'अन्तरङ्ग'—परिभाषासे सिद्ध किया जाने योग्य है, और 'अन्तरङ्ग'—परिभाषाका स्वीकार अवश्य करना ही चाहिये। लोगोंमें भी मनुष्य प्रातःकालमें उठकर अपने मुखमार्जनादि कार्य करता है और तत्पश्चात् इष्टमित्रोंके कार्यमें लगता है। शास्त्रमें भी प्रातिपदिक पहले सामान्य अर्थ बताता है, उससे तदर्थयुक्त व्यक्तिकी कल्पना की जाती है, पदार्थ व्यक्त होनेपर उसका लिंग और संख्या समझमें आते हैं, और लिंग और संख्या इन दोनोंका योग हो जानेपर ही उस पदार्थका बाह्य अर्थोंसे संबंध ध्यानमें आता है। यहाँ भाष्यकारने प्रातिपदिकके अर्थके सामान्य (जाति), व्यक्ति, लिंग, संख्या और कारक इन पाँच अंगोंका निर्देश बडी चतुरतासे किया है। भाष्यकारके पश्चात् जो वैयाकरण हुए वे इन पाँच अंगोंका ही स्वार्थ, द्रव्य, लिंग, संख्या और कारक इन शब्दोंसे प्रातिपदिकार्थके रूपमें उल्लेख करने लगे। अन्तमें भाष्यकारने कहा है कि 'स्थानिवद्भाव' का अर्थ आदेशको स्थानीके समान समझना अथवा आदेश असिद्ध होता है ऐसा मानना इस विषयमें विचार करके 'आदेश असिद्ध होता है' के बदले 'शास्त्र असिद्ध होता है' इस स्वरूपका वार्तिककारका कहा हुआ शास्त्रातिदेशपक्ष स्वीकार किया जाय जिससे शास्त्र असिद्ध समझा जानेसे 'स्थानी गया नहीं और आदेश आया नहीं' इस प्रकारकी भावना निर्माण होके स्थानीके निमित्तसे कार्य हो सकेगा और, आदेशके निमित्तसे प्राप्त हुआ कार्य न होगा ये दोनों कार्य सिद्ध होंगे।

रूपस्थानिवद्भाव—

'न पदान्तद्विर्वचन॰' (सू ५८) सूत्रसे पदान्तविधि, द्विर्वचनविधि आदि दस प्रकारकी विधियाँ कही हैं और बताया गया है कि वे विधियाँ कर्तव्य हों तो पिछले सूत्रसे प्राप्त हुआ स्थानिवद्भाव नहीं होता। इस प्रस्तुत सूत्रका 'विधि' शब्द 'विधीयते सः' अर्थात् 'कार्य' अर्थमें कर्मसाधन विधि शब्द लिया जाय अथवा 'विधान' अर्थमें भावसाधन विधि शब्द लिया जाँय इसके बारेमें विचार करके भाष्यकारने कहा है कि भावसाधन विधि शब्द लेना उचित है। स्वर, दीर्घ और यलोपके बारेमें इस सूत्रसे स्थानिवद्भावका निषेध कहा जानेसे कुछ उदाहरणोंमें कठिनाई प्राप्त होती है और इससे वार्तिककारोंने कहा है कि लोपरूप अजादेशको स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा स्पष्ट विधान किया जाय, पर सिवा उस विधानके भी काम चल सकता है ऐसा भाष्यकारने दिखाया है। अन्तमें, 'निपादीका कार्य करना हो तो स्थानिवद्भाव नहीं होता' (पूर्वत्रासिद्धे च न स्थानिवत् पा. सू. १।१।५८ वा. ३) ऐसा अधिक कहनेकी आवश्यकता है, क्योंकि 'इससे यद्यपि कुछ थोड़ेसे फुटकर दोष आयँ तो भी उपयोग बहुत हैं' इस प्रकारका जो विधान वार्तिककारोंने किया है उसका भाष्यकारने स्वीकार किया है। 'द्विर्वचनेचि' (सू ५९) सूत्रके अर्थका विवेचन करते समय स्थानिवद्भाव प्रकरणके इस सूत्रसे यहाँ रूपातिदेश लेना चाहिये ऐसा सूत्रमेंके 'अचि' पदसे ज्ञापित होता है और उससे 'नड्वलोदक पादरोग.', 'आयुर्घृतम्' इत्यादि उदाहरणोंके समान 'द्विर्वचन अर्थात् द्विर्वचनका निमित्त' ऐसा अर्थ करके 'द्वित्वनिमित्त अच् आगे होनेपर पहले अच्को हुए आदेशको स्थानीका रूप प्राप्त होता है' यह सूत्रका अर्थ समझा जाय ऐसा वार्तिककारोंने प्रतिपादन किया है। तथापि कुछ उदाहरणोंमें जैसे णिजन्तके आगे सन् प्रत्यय किया जानेपर द्वित्वनिमित्त अच् आगे न होनेसे रूपातिदेश नहीं हो सकेगा और उससे उस स्थानमें इष्ट रूपकी सिद्धिके लिए साधारण स्थानिवद्भाव विशेष हेतुसे कहना पड़ेगा यह कठिनाई दिखाकर 'ओ. पुयण्ज्यपरे' (७।४।८०) सूत्रसे 'सामान्य स्थानिवद्भाव भी द्विर्वचनेचि सूत्रसे होता है' ऐसा सूचित किया गया है यह भी यहाँ वार्तिककारोंने कहा है और इस सूत्रसे दोनों प्रकारका स्थानिवद्भाव होना है ऐसा प्रतिपादन किया है। अन्तमें, इस सूत्रके विवक्षित उदाहरण साधनेके लिए 'द्विर्वचनं यणयावादेशा॰' (पा. सू. ६।१।१२ वा. ९) यह स्वतंत्र वार्तिकवचन उपयुक्त होनेसे इस सूत्रकी बिलकुल आवश्यकता नहीं इस मतका भाष्यकारने विवेचन किया है, और प्रस्तुत सूत्र रखा जाय तथा उसकी सहायताके लिए 'ओः पुयण्ज्यपरे' (७।४।८०) सूत्र लिया जाय जिससे सभी इष्टरूपोंकी सिद्धि होगी ऐसा कहकर यह स्थानिवद्भावाधिक समाप्त किया है।]

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ ॥ १।१।५६ ॥

वत्करणं किमर्थम् । स्थान्यादेशोऽनल्विधावितीयत्युच्यमाने संज्ञाधिकारोऽयं तत्र स्थान्यादेशस्य संज्ञा स्यात् । तत्र को दोषः । आङो यमहन आत्मनेपदं भवतीति वधेरेव स्याद्धन्तेर्न स्यात् । वत्करणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति । स्थानिकार्यमादेशोऽतिदिश्यते गुरुवद् गुरुपुत्र इति यथा ॥ अथादेशग्रहणं किमर्थम् । स्थानिवदनल्विधावितीयत्युच्यमाने क इदानीं स्थानिवत्स्यात् । यः स्थाने भवति । कश्च स्थाने भवति । आदेशः । इदं तर्हि प्रयोजनमादेशमात्रं

आदेशको स्थानीके समान समझा जाय । पर स्थानियोंमेंसे एक वर्णके निमित्तसे प्राप्त होनेवाला कार्य करना हो तो आदेशको स्थानीके समान न समझा जाय । (१।१।५६)

(सू. ५६) *इस सूत्रमें 'वत्' शब्द किसलिये रखा गया है ?*

'स्थान्यादेशोऽनल्विधौ' इतना ही सूत्र किया तो यह संज्ञाका अधिकार चालू होनेके कारण 'आदेशकी स्थानी संज्ञा होती है' ऐसा अर्थ होगा।

वैसा अर्थ होनेपर दोष कौनसा है ?

दोष यह है कि 'आङो यमहनः' (१।३।२८) सूत्रसे बताया हुआ आत्मनेपद 'वध' आदेशको ही होगा, 'हन्' स्थानीको नहीं होगा[1] । अब इस सूत्रमें वत् शब्द रखा गया तब तो यह दोष नहीं आता । क्योंकि स्थानीका कार्य आदेशके स्थानपर किया जाय ऐसा केवल अतिदेश इस सूत्रसे किया गया है । जैसे लोगोंमें गुरुपुत्रके प्रति गुरुकी तरह बर्ताव किया जाय ऐसा अतिदेश किया जाता है[2] उसी प्रकार यहाँ समझा जाय ।

अब इस सूत्रमें आदेश शब्द किसलिये रखा गया है ?

आदेश शब्द न रखकर 'स्थानिवदनल्विधौ' इतना ही सूत्र किया गया तो स्थानीकी तरह कौन होगा ऐसा समझा जाय ?

जो स्थानीके स्थानपर हो वही स्थानीकी तरह समझा जायेगा ।

स्थानीके स्थानपर कौन होता है ?

आदेश होता है ।

---

१. 'हन्' स्थानीको 'वध' आदेश (२।४।४२) कहा है। अब यदि प्रस्तुतसूत्रसे 'वध' की 'हन्' संज्ञा हुई तो 'आहते' स्थानमें 'वध' न होनेसे आत्मनेपद न होगा। जिस प्रकार 'घु' संज्ञाशब्दका (१।१।२०) उच्चारण करके कहा हुआ कार्य (६।४।६६) 'दा' और 'धा'-को ही होता है, 'घु' धातुको नहीं होता, उसी प्रकार यह बात है।

२. 'स्थानीका कार्य प्रत्यक्ष स्थानीको न किया जाय' यह अर्थ अतिदेशसे नहीं निकलता। गुरुका कार्य गुरुको भी होता है और गुरुपुत्रको भी होता है।

स्थानिवद्यथा स्यात्। एकदेशविकृतस्योपसंख्यानं चोदयिष्यति तन्न वक्तव्यं भवति॥ अथ विधिग्रहणं किमर्थम्। सर्वविभक्त्यन्तः समासो यथा विज्ञायेत। अलः परस्य विधिरल्विधिः। अलो विधिरल्विधिः। अलि विधिरल्विधिः। अला विधिरल्विधिरिति। नैतदस्ति प्रयोजनम्। प्रातिपदिकनिर्देशोऽयम्। प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति न कांचित्प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति। तत्र प्रातिपदिकार्थे निर्दिष्टे यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा साश्रयितव्या॥ इदं तर्हि प्रयोजनमुत्तरपदलोपो यथा विज्ञायेत। अलमाश्रयते ऽलाश्रयः। अलाश्रयो विधिरल्विधिरिति।

तो फिर 'आदेश[३]' शब्दका उपयोग यह समझा जाय कि जितने आदेश हैं, चाहे वे प्रत्यक्ष हों या आनुमानिक हों, उन सबको स्थानिवद्भाव होना चाहिये। वैसा होनेपर 'एकदेशविकृतस्योपसंख्यानम्' (१।१।५६ वा. ९) ऐसा जो वार्तिककारोंने बताया है उसकी आवश्यकता नहीं है।

अब इस सूत्रमें विधि शब्द किसलिये रखा गया है?

विधि शब्द रखा है इसलिये इस स्थानपर 'अल्विधि' समास सब विभक्तियोंसे लिया जा सकता है। सो इस तरह है—अल्से आगे होनेवालेको जो विधि होती है वह अल्विधि है। वैसे ही अल्के स्थानमें होनेवाली विधि भी अल्विधि ही है। वैसे ही अल् आगे होनेपर जो विधि होती है वह भी अल्विधि ही है। वैसे ही अल्के योगसे होनेवाली विधि भी अल्विधि ही है।

यह जो विधि शब्दका उपयोग दिखाया है सो ठीक नहीं है। क्योंकि अल् प्रातिपदिकका ही केवल यहाँ हम निर्देश कर रहे है। उसमें विशेष विभक्ति नहीं लगाते। और इस तरहके जो केवल प्रातिपदिकके ही निर्देश किये होते हैं वे अर्थतंत्र होते हैं अर्थात् उस प्रातिपदिकके अर्थोंको ही वहाँ मुख्यत्व होता है। किसी भी विभक्त्यर्थको वहाँ मुख्यत्व नहीं होता है। इस रीतिसे केवल प्रातिपदिकका ही अर्थ मनमें आनेपर आगे वहाँ उसके संबंधमें जो जो विभक्त्यर्थ लेनेके विषयमें बुद्धि उत्पन्न होगी उस विभक्त्यर्थ वहाँ लिया जायगा।

तो फिर विधि शब्दका दूसरा उपयोग हम दिखाते हैं। सो इस तरह है कि उत्तरपदका लोप होकर अल्विधि शब्द यहाँ तैयार हुआ है। यह विधि शब्द रखनेसे मालूम होता है सो इस तरह:—अल्का आश्रय करनेवाला सो अलाश्रय है और अलाश्रय जैसी जो विधि है सो अल्विधि है। (इस तरह समास किया है इसलिये

---

३. 'पचतु' रूपमें इकारको उकार आदेश प्रत्यक्षरूपसे कहा है (३।४।८६), और उससे 'ति' को 'तु' आदेश कल्पितरूप होता है। इसीको काल्पनिक अथवा आनुमानिक आदेश कहते हैं। इस आनुमानिक आदेशको स्थानिवद्भावसे तिङ् समझते हैं और उससे 'पचतु'-को पदसंज्ञा (१।४।१४) होती है।

यत्र प्राधान्येनालाश्रीयते तत्रैव प्रतिषेधः स्यात्। यत्र विशेषणत्वेनालाश्रीयते तत्र प्रतिषेधो न स्यात्। किं प्रयोजनम्। प्रदीव्य प्रसीव्येति वलादिलक्षण इण्मा भूदिति ॥

किमर्थं पुनरिदमुच्यते।

स्थान्यादेशपृथक्त्वादादेशे स्थानिवदनुदेशो गुरुवद् गुरुपुत्र इति यथा ॥१॥

अन्यः स्थान्यन्य आदेशः। स्थान्यादेशपृथक्त्वादेतस्मात्कारणात्स्थानिकार्यमादेशे न प्राप्नोति। तत्र को दोषः। आङो यमहन आत्मनेपदं भवतीति हन्तेरेव स्याद्वधेर्न स्यात्। इष्यते च वधेरपि स्यादिति तच्चान्तरेण यत्नं न

अल्का आश्रय किसी भी तरहका हो तो भी उसको अल्विधि कहा जा सकता है। और उस स्थानपर भी अनल्विधौ यह स्थानिवद्भावका निषेध किया जा सकता है। नहीं तो) जिस स्थानपर मुख्यतया अल्का आश्रयण होगा उसी स्थानपर वह निषेध होगा। और जिस स्थानपर गौणत्वसे अल्का आश्रयण किया हो वहाँ वह निषेध नहीं होगा।

जिस स्थानपर गौणत्वसे अल्का आश्रयण होगा उस स्थानपर अनल्विधौ यह निषेध होता है ऐसा कहनेका उपयोग क्या है?

प्रदीव्य, प्रसीव्य इन उदाहरणोंमें वलादि प्रत्ययको बताया हुआ इडागम (७।२।३५) न हो यह उसका उपयोग है।

परंतु पहले यह सूत्र ही किमलिये किया गया है?

(वा. १) स्थानी और आदेश भिन्न होनेसे आदेश स्थानीके जैसा होता है इस प्रकारका अतिदेश इस सूत्रसे किया है। उदाहरणार्थ, गुरुकी तरह गुरुपुत्र होता है।

यह सूत्र इसलिए किया है कि स्थानी भिन्न है और आदेश भिन्न है इस तरह स्थानी और आदेश इन दोनोंमें भेद है, इस कारण आदेशके स्थानपर स्थानीका कार्य प्राप्त नहीं होता।

अगर वैसा प्राप्त नहीं हुआ तो कौनसा दोष आता है?

यह दोष आता है कि 'आङो यमहनः' (१।३।२८) सूत्रमें बताया हुआ आत्मनेपद हन् धातुको ही होगा, हन् धातुका जो वध आदेश है उसे नहीं होगा और उस वधके लिये भी आवश्यक इष्ट है। इसलिये उसके लिये कोई प्रयत्न किये विना वह

---

४. 'प्रदीव्य' में 'क्त्वा' को 'ल्यप्' आदेश (७।१।३७) हुआ है। यहाँ 'क्त्वा' स्थानी अल् नहीं है। अतः 'य' आदेश स्थानीके समान वलादि समझा जायगा। पर स्थानिवद्भावसे वलादि है ऐसा समझा जाता है। उसमें 'वल्' विशेषण है, इसीसे ही 'इट्' आगमको 'अल्विधि' कहा जाता है। इसलिए स्थानिवद्भाव नहीं होता और इट् आगम भी नहीं होता

सिध्यति। तस्मात्स्थानिवदनुदेशः। एवमर्थमिदमुच्यते। गुरुवद् गुरुपुत्र इति यथा। तद्यथा। गुरुवदस्मिन्गुरुपुत्रे वर्तितव्यमिति गुरौ यत्कार्यं तद् गुरुपुत्रेऽतिदिश्यते। एवमिहापि स्थानिकार्यमादेशेऽतिदिश्यते॥ नैतदस्ति प्रयोजनम्। लोकत एतत्सिद्धम्। तद्यथा। लोके यो यस्य प्रसङ्गे भवति लभतेऽसौ तत्कार्याणि। तद्यथा। उपाध्यायस्य शिष्यो याज्यकुलानि गत्वाग्रासनादीनि लभते। यद्यपि तावल्लोक एष दृष्टान्तो दृष्टान्तस्यापि तु पुरुषारम्भो निवर्तको भवति। अस्ति चेह कश्चित्पुरुषारम्भः। अस्तीत्याह। कः। स्वरूपविधिर्नाम। हन्तेरात्मनेपदमुच्यमानं हन्तेरेव स्याद्वधेर्न स्यात्॥ एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति स्थानिवदादेशो भवतीति यदयं युष्मदस्मदोरनादेशे [७.२.८६] इत्यादेशप्रतिषेधं शास्ति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्। युष्मदस्मदोर्विभक्तौ कार्यमुच्यमानं कः

सिद्ध नहीं होगा, अतः यहाँ 'आदेश स्थानी की तरह होता है' ऐसा अतिदेश किया है। इसलिये ही यह सूत्र किया है। जिस तरह लोगोंमें गुरुका पुत्र आनेपर उससे गुरुकी तरह आचरण किया जाय ऐसा कहनेपर गुरुके लिये जो कार्य किया जाता है वही गुरुपुत्रके लिये भी किया जाता है, उसी तरह इस शास्त्रमें भी आदेशके स्थानपर स्थानीका कार्य किया जाता है।

परंतु इस सूत्रका यह उपयोग उचित नहीं जँचता; क्योंकि यह बात लोगोंसे ही सिद्ध होती है; जैसे लोगोंमें जिसके बदले जो जाता है उसे उसके लाभ प्राप्त होते हैं। जैसे उपाध्यायके बदले शिष्यके यज्ञशालामें जानेपर उसे उपाध्यायकी तरह अग्रासन दिया जाता है।

यद्यपि लोगोंमें यह दृष्टान्त है तो भी उस दृष्टान्तके विरुद्ध मनुष्यने एकाध बात जान बूझकर कही हो तो उस स्थानपर वह दृष्टान्त लागू नहीं होता।

तो फिर वैसी कोई बात क्या यहाँ जान बूझकर कही गयी है?

है ऐसा हम विश्वासपूर्वक कहते हैं।

सो कौनसी?

'स्वरूपविधि' (१।१।६८) शास्त्रमें प्रसिद्ध ही है, वही वह बात है। अतः हन् धातुको बताया हुआ आत्मनेपद हन् धातुकोही होगा, उसका जो वध आदेश है उसे नहीं होगा। इसलिये स्थानिवत् यह प्रस्तुतसूत्र किया है।

तो भी यह सूत्र करनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि आचार्य पाणिनि 'युष्मदस्मदोरनादेशे' (७।२।८६) इस सूत्रसे विभक्ति आगे होनेपर बताये हुए आत्वका विभक्तिको आदेश करनेपर निषेध बताते हैं उससे वे ऐसा सूचित (ज्ञापित) करते हैं कि आदेश स्थानीकी तरह माना जाता है।

यह ज्ञापक कैसे ठीक बैठता है?

प्रसङ्गो यदादेशे स्यात् । पश्यति त्वाचार्यः स्थानिवदादेशो भवतीत्यत आदेशे प्रतिषेधं शास्ति ॥ इदं तर्हि प्रयोजनम् । अनल्विधाविति प्रतिषेधं वक्ष्यामीति । इह मा भूत् । द्यौः पन्थाः स इति ॥ एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयत्यल्विधौ स्थानिवद्भावो न भवतीति यदयमदो जग्धिर्ल्यप्ति किति [२.४ ३६] इति ति कितीत्येव सिद्धे ल्यब्ग्रहणं करोति ॥ तस्मान्नार्थो ऽनेन योगेन ॥

इस तरह कि युष्मद्, अस्मद् इन शब्दोंको विभक्ति आगे होनेपर बताया हुआ आत्वस्वरूप जो कार्य है वह उस विभक्तिको आदेश होनेपर भी होगा सो कैसे संभव होगा ? अतः इसपरसे आचार्य पाणिनिके मनमें ऐसा दिखाई देता है कि आदेश स्थानीकी तरह होता है। और ऐसा गृहीत मानकर ही आदेश करनेपर भी आत्व होगा इसलिये वे उसका निषेध बताते है। तात्पर्य ज्ञापकसे सिद्ध होनेके कारण उसके लिये यह प्रत्यक्ष सूत्र करनेकी आवश्यकता नहीं है।

तो फिर उसका उपयोग हम दूसरे प्रकारसे बताते है। सो इस तरह है कि अनल्विधौ यह अल्विधि कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भावका निषेध बताना है। क्योंकि द्यौः, पन्थाः, सः, इन स्थानपर स्थानिवद्भाव नहीं होना चाहिये। अतः वह निषेध किसका सो जाननेके लिये ' स्थानिवदादेशः ' ऐसा यहाँ कहना चाहिये।

यह उपयोग भी ठीक नहीं जँचता। क्योंकि आचार्य पाणिनि 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति' (२।४।३६) सूत्रमें ' तकारादि कित् प्रत्यय आगे होनेपर ' ऐसा जो कहा गया है उसीसे ल्यप् आदेश करनेपर काम चल जानेपर भी पुनः जान बूझकर ल्यपि ऐसा कहते हैं, अतः वे ऐसा ज्ञापित करते है कि अल्विधि कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता । तात्पर्य अनल्विधौ निषेध किसका सो जाननेके लिये भी इस सूत्रका कुछ उपयोग नहीं है ऐसा दीखता है इसके सिवा ज्ञापकसे सिद्धि होते हुए भी स्पष्ट मालूम होनेके लिये ऐसा सूत्र किया यह गृहीत माना जाय तो अनल्विधौ इस निषेधकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती ।

---

५ ' दिव् ' शब्दके आगे ' सु ' प्रत्यय लगानेके बाद ' दिव् ' शब्दके ' व 'कारको जो औकार आदेश हुआ है (७।१।८४) वह स्थानिवद्भावसे ' व 'कारके समान ' हल् ' समझा गया तो आगेके ' सु ' प्रत्ययका लोप (६।१।६८) होगा। तथा ' पन्थाः ' रूपमें ' पथिन् ' शब्दके नकारको जो ' आ 'कार आदेश प्राप्त हुआ है (७।१।८५) वह नकारके समान ' हल् ' समझा गया तो वही दोष आयेगा। ' सः ' रूपमें भी ' तद् ' शब्दके दकारको जो अकार आदेश (७।२।१०२) हुआ है वह स्थानीके समान ' हल् ' समझा गया तो वही दोष प्राप्त होगा।

६ कारण यह कि ' क्त्वा ' स्थानीको जो ' य '-आदेश हुआ है (७।१।३७) वह स्थानीके समान ' तकारादि कित् ' समझा जाता है।

आरभ्यमाणे ऽप्येतस्मिन्योगे

अल्विधौ प्रतिषेधे ऽविशेषणे ऽप्राप्तिस्तस्यादर्शनात् ॥ २ ॥

अल्विधौ प्रतिषेधे ऽसत्यपि विशेषणे समाश्रीयमाणेऽसति तस्मिन्विशेषणे ऽप्राप्तिर्विधेः । प्रदीव्य प्रसीव्य । किं कारणम् । तस्यादर्शनात् । वलादेरित्युच्यते न चात्र वलादिं पश्यामः ॥ ननु चैवमर्थ एवायं यत्नः क्रियते ऽन्यस्य कार्यमुच्यमानमन्यस्य यथा स्यादिति । सत्यमेवमर्थो न तु प्राप्नोति । किं कारणम् ।

सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः ॥ ३ ॥

सामान्ये ह्यतिदिश्यमाने विशेषो नातिदिष्टो भवति । तद्यथा । ब्राह्मणवदस्मिन्क्षत्रिये वर्तितव्यमिति सामान्यं यद् ब्राह्मणकार्यं तत्क्षत्रिये ऽतिदिश्यते

अब यह सूत्र किया तो भी ।

(वा. २) 'अल्विधि कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता' यह निषेध नहीं किया तोभी इडागम कहनेवाले सूत्रमें बताया हुवा 'वलादि' विशेषण 'प्रदीव्य' 'प्रसीव्य' इत्यादि उदाहरणोंमें न दिखाई देनेके कारण इडागमकी प्राप्ति नहीं होती ।

'अल्विधि कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता' यह निषेध नहीं किया तोभी इडागम कहनेवाले शास्त्रमें वलादि जो विशेषण आर्धधातुक प्रत्ययको लगाया है वह 'प्रदीव्य' 'प्रसीव्य' इन उदाहरणोंमें न होनेके कारण इडागमकी प्राप्ति नहीं होती ।

क्यों भला ?

वह विशेषण नहीं दिखाई देता इसलिये । 'वलादेः' ऐसा विशेषण वहाँ दिया है, और प्रदीव्य, प्रसीव्य इन स्थानोंपर तो वलादि प्रत्यय नहीं दिखाई देता ।

परंतु इसीलिये यह स्थानिवत् सूत्र किया है न, कि जिससे एकको बताया हुआ कार्य दूसरेको अर्थात् उसके आदेशको किया जा सके ?

इसलिये यह प्रयत्न किया गया है सही, परंतु प्रदीव्य, प्रसीव्य इन स्थानोंपर उसका उपयोग नहीं होता ।

क्यों भला ?

(वा. ३) सामान्य बातका अतिदेश करनेपर विशेष बातका अतिदेश नहीं होता ।

सामान्य बातका अतिदेश करनेपर विशेष बातका अतिदेश नहीं होता ।

सामान्य बातका अतिदेश करनेपर विशेष बातका अतिदेश नहीं होता; जैसे लोगोंमें 'इस क्षत्रियके प्रति ब्राह्मणके जैसा आचरण किया जाय' ऐसा कहनेपर ब्राह्मणका जो सामान्य कार्य है उसका क्षत्रियके स्थानपर अतिदेश होता है,

यद्विशिष्टं माठरे कौण्डिन्ये वा न तदतिदिश्यते। एवमिहापि सामान्यं यत्प्रत्ययकार्यं तदतिदिश्यते यद्विशिष्टं वलादेरिति न तदतिदिश्यते॥ यद्येवमग्रहीत् इट ईटि [८.२.२८] इति सिचो लोपो न प्राप्नोति। अनाल्विधाविति पुनरुच्यमान इहापि प्रतिषेधो भविष्यति। प्रदीव्य प्रसीव्येति। विशिष्टं ह्येषो ऽल्माश्रयते वलं नाम। इह च प्रतिषेधो न भविष्यति। अग्रहीदिति। विशिष्टं ह्येषो ऽनल्माश्रयत इटं नाम॥ यदि तर्हि सामान्यमप्यतिदिश्यते विशेषश्च।

सत्याश्रये विधिरिष्टः॥ ४॥

सति च वलादित्व इटा भवितव्यम्। अरुदिताम् अरुदितम् अरुदित। किमतो यत्सति भवितव्यम्।

परंतु माठर नामक अथवा कौडिण्य नामक ब्राह्मणका जो विशेष कार्य है उसका अतिदेश नहीं होता, उसी प्रकार इस शास्त्रमें भी ल्यप् आदेश करनेपर क्त्वा प्रत्ययको जो सामान्य कार्य है उसका अतिदेश होगा, परंतु जो वलादि जैसा विशेष कार्य है उसका अतिदेश नहीं होगा।

अगर यह बात है तो फिर अग्रहीत् उदाहरणमें 'इट ईटि' (८।२।२८) सूत्रसे सिच्का लोप नहीं होगा। अब शास्त्रमें विशेष कार्यका भी अतिदेश होता है ऐसा गृहीत मानकर अनल्विधौ यह निषेध यहाँ किया है ऐसा कहा जानेपर 'प्रदीव्य' 'प्रसीव्य' आदि उदाहरणोंमें निषेध होगा। क्यों कि इडागम बतानेवाले शास्त्रमें वल ऐसा विशेषतः अल्का आश्रयण किया है। और अग्रहीत् स्थानपर अनल्विधौ निषेध नहीं होगा। क्योंकि 'इट ईटि' शास्त्रमें इट् ऐसा विशिष्ट अनल्का अर्थात् अल्समुदायका आश्रयण किया है।

तात्पर्य, सामान्यका भी अतिदेश होता है और विशेषका भी अतिदेश होता है ऐसा सिद्ध होता है तो भी—

(वा. ४) आश्रय उपलब्ध हो तो ही विधि इष्ट है।

अरुदिताम्, अरुदितम् इन उदाहरणोंमें वलादि प्रत्यय हो तभी इडागम होगा न?

जी हाँ! वलादि प्रत्यय होगा तभी इडागम होगा। फिर आगे क्या?

---

७. 'अग्रहीत्' रूपमें 'इट्' आगमको दीर्घ (७।२।१७) करनेके बाद उस दीर्घ ईकारको स्थानिवद्भावसे 'इट्' समझके 'सिच्' प्रत्ययका लोप (८।२।२८) होता है। यदि विशेष कार्यका अतिदेश नहीं होता तो वह दीर्घ ईकार इट् नहीं समझा जायगा।

८. 'अनादेशे' (८।३।८६) और 'स्थग्रहण' (२।४।३६) शास्त्रोंसे स्थानिवद्भाव और उसका निषेध सिद्ध होनेपर भी उसी अर्थका यह प्रकृतसूत्र फिरसे किया है उससे इस शास्त्रमें विशेष कार्यका भी अतिदेश होता है ऐसा समझा जा सकता है।

प्रतिषेधस्तु प्राप्नोत्यल्विधित्वात् ॥ ५ ॥

प्रतिषेधस्तु प्राप्नोति । किं कारणम् । अल्विधित्वात् । अल्विधिरयं भवति तत्रानल्विधाविति प्रतिषेधः प्राप्नोति ॥

न वानुदेशिकस्य प्रतिषेधादितरेण भावः ॥ ६ ॥

न वैष दोषः । किं कारणम् । आनुदेशिकस्य प्रतिषेधात् । अस्त्वत्रानुदेशिकस्य वलादित्वस्य प्रतिषेधः स्वाश्रयमत्र वलादित्वं भविष्यति । नैतद्विवदामहे वलादिर्न वलादिरिति । किं तर्हि । स्थानिवद्भावात्सार्वधातुकत्वमेषितव्यं तत्रानल्विधाविति प्रतिषेधः प्राप्नोति ॥

किं पुनरादेशिन्यल्याश्रीयमाणे प्रतिषेधो भवत्याहोस्विदविशेषेणादेश आदेशिनि च । कश्चात्र विशेषः ।

(वा. ५) आगे यह कि अल्विधि होनेसे निषेध प्राप्त होता है ।

आगे यह कि 'अनल्विधौ' यह निषेध आता है ।

क्यों भला ?

अल्विधि है इसलिये । इडागम वलादि प्रत्ययको बताया जानेके कारण अल्विधि होती है । अतः अनल्विधौ निषेध वहाँ प्राप्त होता है ।

(वा. ६) अथवा, यह दोष नहीं आता । अतिदेशिक (वलादित्व-) के निषेधसे इतर अर्थात् आदेशका वलादित्व लेकर इट् आगम होगा—

यह दोष नहीं आता ।

क्यों भला ?

आतिदेशिकका निषेध है इसलिये ।

इस स्थानपर, ताम्, तम् आदि आदेशपर अतिदेशसे प्राप्त होनेवाला जो वलादित्व है उसका निषेध होने दीजिये; आदेशोंका स्वयंका जो वलादित्व है वह लेकर इट् आगम होगा ।

यहाँ प्रत्यय वलादि है या नहीं इस बारेमें हमारा वाद नहीं है । केवल स्थानिवद्भावसे यहाँ जो सार्वधातुकत्व धर्म लाना है वह लाते समय 'अनल्विधौ' ऐसा निषेध होने लगेगा ।

परंतु क्या, उस स्थानपर स्थानीके ही 'अल्' के आश्रयसे प्राप्त होनेवाली विधि होगी तभी वहाँ 'अनल्विधौ' यह निषेध होता है । अथवा वैसा विशेष कुछ न मानते हुए स्थानी के अथवा आदेश के 'अल्' के आश्रयसे प्राप्त होनेवाली विधि होगी तो वहाँ स्थानिवद्भावका निषेध होता है ।

इन दोनोंमें क्या फर्क क्या ?

आदेश्यल्विधिप्रतिषेधे कुरुवधपिवां गुणवृद्धिप्रतिषेधः ॥ ७ ॥

आदेश्यल्विधिप्रतिषेधे कुरुवधपिवां गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधो वक्तव्यः। कुर्वित्यत्र स्थानिवद्भावादङ्गसंज्ञा स्वाश्रयं च लघूपधत्वं तत्र लघूपधगुणः प्राप्नोति। वधकमित्यत्र स्थानिवद्भावादङ्गसंज्ञा स्वाश्रयं चादुपधत्वं तत्र वृद्धिः प्राप्नोति। पिबेत्यत्र स्थानिवद्भावादङ्गसंज्ञा स्वाश्रयं च लघूपधत्वं तत्र गुणः प्राप्नोति॥ अस्तु तर्ह्यविशेषेणादेश आदेशिनि च।

आदेश्यादेश इति चेत्सुप्तिङ्कृदतिदिष्टेषूपसंख्यानम् ॥ ८ ॥

आदेश्यादेश इति चेत्सुप्तिङ्कृदतिदिष्टेषूपसंख्यानं कर्तव्यम्। सुप्। वृक्षाय

(वा. ७) स्थानीके अल् का आश्रय लेकर प्राप्त होनेवाली विधिका निषेध होता है तो कुरु, वध्, और पिव् के गुण और वृद्धिका प्रतिषेध करना पड़ेगा।

स्थानीके अल्के आश्र से प्राप्त होनेवाली विधि होगी तभी वहाँ स्थानिवद्भावका निषेध होता है ऐसा माना जाय तो कुरु, वध्, पिव्, इन स्थानोंपर गुण और वृद्धि नहीं होती ऐसा कहना होगा।

बात यह है कि 'कुरु' उदाहरणमें कुर आदेशको स्थानिवद्भावसे अंगसंज्ञा होगी और वह आदेश स्वय ही लघूपध है अतः वहाँ लघूपधगुण (७।३।८६) होने लगेगा। वैसे ही वधकः उदाहरणमें वध् आदेशको स्थानिवद्भावसे अंगसंज्ञा है और वह आदेश स्वयं ही अदुपध है अर्थात् उसकी उपधाको ह्रस्व अकार है अतः वहाँ 'अत उपधायाः' (७।२।११६) सूत्रसे वृद्धि प्राप्त होती है। वैसे ही पिबति स्थानपर पिव् आदेशको स्थानिवद्भावसे अंगसंज्ञा है और वह आदेश स्वयं ही लघूपध है अतः यहाँ लघूपधगुण (७।३।८६) प्राप्त होने लगेगा।

ऐसे दोष आते हैं तो फिर चाहे अल् आदेशका हो चाहे स्थानीका हो, दोनों स्थानोंपर अनल्विधौ निषेध आने दीजिये।

(वा. ८) अल स्थानीका हो या आदेशका हो दोनों स्थानोंपर 'अनल्विधौ' निषेध होता है, तो सुप्, तिङ् और कृदतिदिष्ट इन स्थानोंपर स्थानिवद्भाव कहना पड़ेगा।

अल् यह स्थानीका हो या आदेश का हो, दोनों स्थानोंपर अनल्विधौ स्थानिवद्भावका निषेध होता है ऐसा माना जाय तो सुप तिङ् और कृदतिदिष्ट इन स्थानोंपर स्थानिवद्भाव होता है ऐसा कहना पड़ेगा। इसमेंसे सुप्का उदाहरण वृक्षाय,

---

१. उपधाको लघु चाहिये अथवा उपधाको ह्रस्व अकार चाहिये ऐसा अल्का आश्रयण यद्यपि गुण और वृद्धि विधियोंमें है तथापि वह अल् यहाँ आदेशमें ही प्राप्त होनेके कारण स्थानिवद्भावका निषेध न होगा।

प्लक्षाय। स्थानिवद्भावात्सुप्संज्ञा स्वाश्रयं च यञादित्वं तत्र प्रतिषेधः प्राप्नोति। सुप्॥ तिङ्। अरुदिताम् अरुदितम् अरुदित। स्थानिवद्भावात्सार्वधातुकसंज्ञा स्वाश्रयं च वलादित्वं तत्र प्रतिषेधः प्राप्नोति। तिङ्॥ कृदतिदिष्टम्। भुवनम् सुवनम् धुवनम्। स्थानिवद्भावात्प्रत्ययसंज्ञा स्वाश्रयं चाजादित्वं तत्र प्रतिषेधः प्राप्नोति॥ किं पुनरत्र ज्यायः। आदेशिन्यल्याश्रीयमाणे प्रतिषेध इत्येतदेव ज्यायः। कुत एतत्। तथा ह्ययं विशिष्टं स्थानिकार्यमादेशेऽतिदिशति गुरुवद् गुरुपुत्र इति यथा। तद्यथा। गुरुवदस्मिन्गुरुपुत्रे वर्तितव्यमन्यत्रोच्छिष्टभोजनात्पादोपसंग्रहणाच्चेति। यदि च गुरुपुत्रोऽपि गुरुर्भवति तदपि कर्तव्यं भवति॥ अस्तु तर्ह्यादेशिन्यल्याश्रीयमाणे प्रतिषेधः। ननु चोक्तमादेश्यल्विधिप्रतिषेधे कुरुवधपिबां गुणवृद्धिप्रतिषेध इति। नैष दोषः। करोतौ तपरकरणनिर्देशात्सिद्धम्। पिबिरदन्तः। वधकमिति

प्लक्षाय। इन स्थानोंपर स्थानिवद्भावसे य आदेश सुप् समझा जाता है और वह आदेश स्वतः यञादि होनेके कारण वहाँ 'सुपि च' (७।३।१०२) दीर्घ होता है। वह दीर्घ कर्तव्य होनेपर अनल्विधौ निषेध होने लगेगा। तिङ्का उदाहरण— अरुदिताम्, अरुदितम्, अरुदित। इन उदाहरणोंमें ताम्, तम् और त इन आदेशोंको स्थानिवद्भावसे सार्वधातुक संज्ञा है, और वे स्वयं वलादि हैं। इससे वहाँ 'रुदादिभ्यः सार्व०' (७।२।७६) इस सूत्रसे इडागम होता है। वह जब कर्तव्य है तब 'अनल्विधौ' निषेध होने लगेगा कृदतिदिष्टके उदाहरण भुवनम्, सुवनम्, धुवनम्। इन स्थानोंपर कृत् प्रत्ययके 'अन्' आदेशको स्थानिवद्भावसे प्रत्ययसंज्ञा है और वह आदेश स्वयं ही अजादि है इसलिये वहाँ 'अचि श्नुधातु०' (६।४।७७) सूत्रसे उवङ् होता है। वह कर्तव्य होनेपर अनल्विधौ निषेध होने लगेगा।

परंतु इन दो पक्षोंमें अच्छा पक्ष कौनसा?

स्थानीके ही अल्के आश्रयसे प्राप्त होनेवाली विधि हो तभी वहाँ अनल्विधौ निषेध आता है यही पक्ष अच्छा है।

सो कैसे?

सो ऐसे कि जिस प्रकार लोगोंमें गुरुपुत्रके स्थानपर गुरुकी तरह वर्ताव किया जाय, केवल उसकी जूठन न खायी जाय, पैर न सहलाये जायँ, ऐसा कहनेपर भी अगर वह गुरुपुत्र स्वयं गुरु ही होगा तो जूठन खाना, पैर सहलाना भी वहाँ किया ही जाता है।

तो फिर स्थानीके ही अल्के आश्रयसे प्राप्त होनेवाली विधि हो तो उस स्थानपर ही 'अनल्विधौ' यह स्थानिवद्भावका निषेध होता है सो वैसा ही रहने दे।

परंतु ऐसा गृहीत माना जाय तो कुरु, वधू, पिब् आदिको गुण और वृद्धि नहीं होती ऐसा कहना होगा, ऐसा अभी बताया गया है न?

यह दोष नहीं आता। 'कुरु' स्थानपर 'अत उत०' (६।४।११०) सूत्रमें उत

नायं ण्वुल् अन्यो ऽयमकशब्दः किदौणादिको रुचक इति यथा ॥

✓ एकदेशविकृतस्योपसंख्यानम् ॥ ९ ॥

एकदेशविकृतस्योपसंख्यानं कर्तव्यम्। किं प्रयोजनम्। पचतु पचन्तु। तिङ्ग्रहणेन ग्रहणं यथा स्यात् ॥

एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्सिद्धम् ॥ १० ॥

एकदेशविकृतमनन्यवद्भवतीति तिङ्ग्रहणेन ग्रहणं भविष्यति। तद्यथा।

ऐसा तपरकरण किया है, अतः वहाँ गुण नहीं होगा। 'पिवति' स्थानपर पिव् यह मूलतः पिब इस तरह अकारान्त है इससे वहाँ भी गुण नहीं होगा। 'वधकः' स्थानपर ण्वुल् प्रत्यय किया है ऐसा न माना जाय। तो अलग ही यहाँ औणादिक 'अक' ऐसा कित् प्रत्यय किया है। रुचकः उदाहरणमें जैसा किया है वैसा ही यहाँ भी किया है। अतः वहाँ वृद्धि नहीं होगी।

(वा. ९) एकदेशको विकार होनेपर वह विकृत शब्द मूलप्रकृतिकी तरह समझा जाय ऐसा वचन कहना चाहिये।

एकदेशको विकार होनेपर वह विकृत शब्द मूल प्रकृतिकी तरह ही समझा जाय ऐसा कहना चाहिये।

इसका क्या उपयोग है ?

पचतु, पचन्तु स्थानोंपर तु और अन्तु इन विकृत शब्दस्वरूपोंका मूल प्रकृतिकी तरह तिङ् शब्दसे ग्रहण होना चाहिये।

(ऐसा वचन करनेकी आवश्यकता नहीं।)

(वा. १०) एकदेशका विकार होनेपर वह विकृत स्वरूप मूलप्रकृतिसे भिन्न मानना न जानेसे इष्टरूपकी सिद्धि होती है।

एकदेशको विकार होनेपर वह विकृत स्वरूप मूल प्रकृतिकी अपेक्षा भिन्न प्रकृतिका माना ही नहीं जाता। अतः अर्थात् ही तिङ् शब्दसे उनका ग्रहण होगा। जैसे लोगोंमें कुत्तेका कान या पूँछ टूटी हो वहाँ वह अलग याने घोडा या गधा नहीं माना जाता, कुत्ता ही माना जाता है।

---

१०. 'अतः' शब्दमें ह्रस्व अकार स्थानी होनेसे वहाँ उसको उसके समान (१।१।५०) ह्रस्व ही उकार आदेश होगा। तब उस कार्यमें तपरकरण 'उत्'-का उपयोग नहीं होता। इसलिए यह कल्पना कि उस तपरकरणके बलपर उस उकार आदेशको बादमें प्राप्त होनेवाला गुण नहीं होता।

११ 'पिब' के अकारको अगले शप् प्रत्ययके साथ जो पररूप (६।१।९७) आदेश हुआ है उसको अगेके सूत्रसे (१।१।५७) स्थानिवद्भाव होनेसे गुण नहीं होता।

१२. नहीं तो पदसंज्ञा (१।४।१४) न होगी। यहाँ इकारको जो उकार आदेश (३।४।८६) हुआ है वह विकार है।

श्वा कर्णे वा पुच्छे वा छिन्ने श्वैव भवति नाश्वो न गर्दभ इति ॥

अनित्यविज्ञानं तु तस्मादुपसंख्यानम् ॥ ११ ॥

अनित्यविज्ञानं तु भवति । नित्याः शब्दाः । नित्येषु नाम शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः । तत्र स एवायं विकृतश्चेत्येतन्नित्येषु नोपपद्यते । तस्मादुपसंख्यानं कर्तव्यम् ॥

भारद्वाजीयाः पठन्ति ॥ एकदेशविकृतेषूपसंख्यानम् ॥ एकदेशविकृतेषूपसंख्यानं कर्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । पचतु पचन्तु । तिङ्ग्रहणेन ग्रहणं यथा स्यात् । किं च कारणं न स्यात् ॥ अनादेशत्वात् ॥ आदेशः स्थानिवदित्युच्यते न चेम आदेशाः ॥ रूपान्यत्वाच्च ॥ अन्यत्खल्वपि रूपं पचतीत्यन्यत्पचत्विति ।

(वा. ११) यदि विकृतस्वरूप मूलस्वरूपसे भिन्न न माना जाय तो शब्द अनित्य है ऐसा सिद्ध होगा । अतः 'विकृत शब्द मूलप्रकृतिकी तरह समझा जाय' ऐसा वचन करना आवश्यक है ।

इस तरह सिद्ध होगा सही । परंतु शब्द अनित्य है यही इसमें सिद्ध होता है । और शब्द तो नित्य हैं । इन नित्य शब्दोंके जो वर्ण है वे एक ही स्वरूपमें नित्य रहनेवाले और न हिलनेवाले ऐसे ही होने चाहिये । उनको नाश अथवा उत्पत्तिमें विकार बिलकुल नहीं होने चाहिये । अतः वही यह शब्द है और विकृत भी है यह बात नित्य शब्दके संबंधमें ठीक नहीं बैठती, अतः वैसा यहाँ स्वतंत्र वचन करना चाहिये ।

यहाँ भारद्वाजीय ऐसा कहते हैं—एकदेशविकृतेषूपसंख्यानम् । एकदेशको विकार होनेपर वह विकृत शब्द मूल प्रकृतिकी तरह समझा जाय ऐसा कहना चाहिये ।

इसका क्या उपयोग है ?

पचतु, पचन्तु इन स्थानोंपर तु और अन्तु इन विकृत शब्दस्वरूपोंका मूल प्रकृतिकी तरह तिङ् शब्दसे ग्रहण होना चाहिये ।

फिर क्यों भला तिङ् शब्दसे उसका ग्रहण नहीं होगा ?

अनादेशत्वात् । क्योंकि वे आदेश नहीं है । आदेशको स्थानिवद्भाव होता है ऐसा यहाँ बताया है और तु, अन्तु तो आदेश[१२] नहीं हैं ।

रूपान्यत्वाच्च । और उकार आदेश होनेके कारण उनका स्वरूप तो अलग दिखाई देता है । पचति यहाँ 'ति' ऐसा तिङ्का स्वरूप अलग दिखाई देता है । वैसा

---

१२ कारण यह कि 'एरुः' (३।४।८६) सूत्रसे इकारको उकार आदेश कहा है । 'ति' को 'तु' आदेश नहीं कहा है ।

इमेऽप्यादेशाः। कथम्। आदिश्यते यः स आदेश इमे चाप्यादिश्यन्ते ॥ आदेशः स्थानिवदिति चेन्नानाश्रितत्वात् ॥ आदेशः स्थानिवदिति चेत्तन्न। किं कारणम्। अनाश्रितत्वात्। योऽत्रादेशो नासावाश्रीयते यश्चाश्रीयते नासावादेशः। नैतन्मन्तव्यं समुदाय आश्रीयमाणे ऽवयवो नाश्रीयत इति। अभ्यन्तरो हि समुदायस्यावयवः। तद्यथा। वृक्षः प्रचलन्सहावयवैः प्रचलति ॥ आश्रय इति चेदल्विधिप्रसङ्गः ॥ आश्रय इति चेदल्विधिरयं भवति तत्रानल्विधाविति प्रतिषेधः प्राप्नोति। नैष दोषः। नैवं सति कश्चिदप्यनल्विधिः स्यात्। उच्यते चेदमनल्विधाविति तत्र प्रकर्षगतिर्विज्ञास्यते साधीयो योऽल्विधिरिति। कश्च साधीयः। यत्र

पचतु यहाँ 'तु' यह नहीं दिखाई देता। इसलिये भी तु अन्तु इनका तिङ् शब्दसे ग्रहण नहीं होगा।

इमेऽप्यादेशाः। परंतु पचतु पचन्तु इन स्थानोंपर भी आदेशही हुए हैं न ?

सो कैसे ?

जो नया बताया जाता है उसीको आदेश कहते हैं और पचतु, पचन्तु इन स्थानोंपरके उकार नवीन ही किये हैं।

आदेशः स्थानिवदिति चेन्नानाश्रितत्वात्। इन आदेशोंको स्थानिवद्भावसे तिङ् कहा जा सकेगा, ऐसा कहें तो वैसा नहीं है।

सो क्यों ?

क्यों कि उसका आश्रयण नहीं किया है; अर्थात् पचतु, पचन्तु इन स्थानोंपर जो उकार आदेश है उसका 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१।४।१४) इस सूत्रमें आश्रयण नहीं किया है। और उस सूत्रमें जिनका याने 'तु' इस समुदायका तिङ् स्वरूपसे आश्रयण किया है वह आदेश नहीं होता।

परंतु ऐसा न माना जाय कि जिस स्थानपर समुदायका आश्रयण किया हो उस स्थानपर उस समुदायके अवयवोंका आश्रयण नहीं किया जाता। क्योंकि अवयव समुदायके पेटमें ही होता है; जैसे लोगोंमें पेड़ हिलनेपर उसकी टहनियाँ भी हिलने ही लगती हैं।

आश्रय इति चेदल्विधिप्रसङ्गः। इसी तरहसे 'तु'मेंसे जो उकार आदेश है उसका 'सुप्तिङन्तं पदम्' यहाँ आश्रयण किया है ऐसा कहें तो 'सुप्तिङन्तम्' यह विधि अल्विधि होगी। और अनल्विधौ यह स्थानिवद्भावका निषेध होने लगेगा।

यह दोष नहीं आता। क्योंकि इस तरह कोई भी विधि अनल्विधि होगी ही नहीं। और पाणिनिने तो यहाँ 'अनल्विधौ' ऐसा कहा है। अतः अर्थात् ही अल्विधि इस शब्दके अर्थमें कुछ विशेष है ऐसा कहना पड़ता है। जो अच्छी अल्विधि है वही अल्विधि है।

प्राधान्येनाल्लाश्रीयते। यत्र नान्तरीयको ऽल्लाश्रीयते नासावल्विधिरिति॥ अथवो-क्तमादेशग्रहणस्य प्रयोजनमादेशमात्रं स्थानिवद्यथा स्यादिति॥

अनुपपन्नं स्थान्यादेशत्वं नित्यत्वात्॥ १२॥

स्थान्यादेश इत्येतन्नित्येषु शब्देषु नोपपद्यते। किं कारणम्। नित्यत्वात्। स्थानी हि नाम यो भूत्वा न भवति। आदेशो हि नाम यो ऽभूत्वा भवति। एतच्च नित्येषु शब्देषु नोपपद्यते यत्सतो नाम विनाशः स्यादसतो वा प्रादुर्भाव इति॥

सिद्धं तु यथा लौकिकवैदिकेष्वभूतपूर्वेऽपि स्थानशब्दप्रयोगात्॥ १३॥

सिद्धमेतत्। कथम्। यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेष्वभूतपूर्वेऽपि स्थान-शब्दो वर्तते। लोके तावदुपाध्यायस्य स्थाने शिष्य इत्युच्यते न च तत्रोपाध्यायो

अच्छी अल्विधि कैसे पहचानी जाय?

जिस विधिमें अल्का प्रत्यक्ष आश्रयण किया जाता है वही अच्छी अल्विधि है और जिस विधिमें प्रमुखतः समुदायका आश्रयण करनेकी आवश्यकता होनेके कारण विवशतासे उनके अलोंका आश्रयण किया जाता है वह अच्छी अल्विधि नहीं है। इसके अतिरिक्त इस सूत्रके आदेश शब्दका उपयोग बताया ही गया है (पृष्ठ ५०६) कि प्रत्यक्ष हो या आनुमानिक हो जो भी आदेश है उस सबको स्थानिवद्भाव होता है।

(वा. १२) शब्द नित्य होनेसे स्थान्यादेशभाव उचित नहीं होता।

शब्द अगर नित्य हैं तो फिर यह स्थानी है और वह आदेश है यह कहना ही उचित नहीं है।

क्यों भला?

क्योंकि शब्द नित्य हैं। जो पहले होकर बादमें नष्ट होता है उसे स्थानी कहते हैं। और जो पहले न होकर बादमें पैदा होता है उसे आदेश कहते हैं। शब्द अगर नित्य हैं तो होनेवालेका नाश होता है और न होनेवालेकी उत्पत्ति होती है ऐसा कैसे कहा जा सकता है?

(वा. १३) स्थान्यादेशभाव अलबत्त सिद्ध होता है। लोगोंमें और वेदोंमें एकाध वस्तु पहले वहाँ न होकर भी उसके संबंधमें 'स्थान' शब्दका प्रयोग किया जाता है।

शब्द नित्य हों तो भी यह स्थानी और यह आदेश यह कहना ठीक बैठता है।

सो कैसे?

जिस प्रकार लोगोंमें और वेदोंमें एकाध वस्तु पहले वहाँ न होकर भी उसके

भूतपूर्वो भवति । वेदेऽपि सोमस्य स्थाने पूतीकतृणान्यभिषुणुयादित्युच्यते न च तत्र सोमो भूतपूर्वो भवति ॥

कार्यविपरिणामाद्वा सिद्धम् ॥ १४ ॥

अथवा कार्यविपरिणामात्सिद्धमेतत् । किमिदं कार्यविपरिणामादिति । कार्या बुद्धिः सा विपरिणम्यते । ननु च कार्याविपरिणामादिति भवितव्यम् । सन्ति चैव ह्यौत्तरपदिकानि ह्रस्वत्वानि । अपि च बुद्धिः संप्रत्यय इत्यनर्थान्तरम् । कार्या बुद्धिः कार्यः संप्रत्ययः कार्यस्य संप्रत्ययस्य विपरिणामः कार्यविपरिणामः कार्यविपरिणामादिति ॥ परिहारान्तरमेवेदं मत्वा पठितं कथं चेदं परिहारान्तरं

सत्त्वमें स्थान शब्दका प्रयोग किया हुआ दिखाई देता है। देखिये, लोगोंमें उपाध्यायके स्थानपर शिष्य आया है ऐसा कहते हैं। परंतु वहाँ उपाध्याय पहले आया हुआ ही होता है सो बात नहीं। वेदोंमें भी सोमके स्थानपर पूतीक नामके तृणका कंडन किया जाय ऐसा कहा है, परंतु वहाँ पूतीक नामके तृणका कंडन करनेके पहले सोम लाया ही होता है सो बात नहीं।

(वा. १४) बुद्धिके विपरिणामसे भी यह सिद्ध होता है।

अथवा कार्यविपरिणामके कारण यह सिद्ध होता है। अर्थात् 'शब्द अनित्य होंगे' ऐसा दोष नहीं आता।

'कार्यविपरिणामात्' इससे क्या समझा जाय?

कार्या अर्थात् बुद्धि। उसका विपरिणाम होता है। अर्थात् केवल एक प्रकारकी बुद्धि नष्ट होकर दूसरे प्रकारकी बुद्धि पैदा होती है। वहाँ न कोई शब्द नष्ट होता है, न पैदा होता है।

परंतु इस अर्थका शब्द 'कार्याविपरिणामात्' ऐसा होना चाहिये।

उत्तरपदके कारण पूर्वपदको ह्रस्व बतानेवाले शास्त्र हैं ही न? अर्थात् 'कार्या' इसके अंतिम 'आ'कारको 'ङ्यापो॰' (६।३।६३) इस सूत्रके सहयोगसे ह्रस्व बना है।

इसके सिवा बुद्धि, संप्रत्यय, ये पर्यायशब्द हैं। अतः बुद्धिशब्दको विशेषण देनेपर 'कार्या' ऐसा कहना पडता है और संप्रत्यय शब्दको विशेषण देनेपर 'कार्य' ऐसा कहा जा सकता है। उस कार्यका अर्थात् संप्रत्ययका जो विपरिणाम है सो कार्यविपरिणाम है।

शब्दको अनित्यत्व आयेगा इस आक्षेप का एक उत्तर 'वस्तु पहले न होकर भी उसके सत्त्वमें स्थानशब्द उपयोगमें आता है' इस तरह देकर, इस आक्षेपका दूसरा उत्तर 'कार्यविपरिणामाद्वा' इस तरह दिया हुआ है ऐसा दिखाई देता है। परंतु यह

स्यात्। यदि भूतपूर्वे स्थानशब्दो वर्तते। भूतपूर्वे चापि स्थानशब्दो वर्तते। कथम्। बुद्ध्या। तद्यथा। कश्चित्कस्मैचिदुपदिशति प्राचीनं ग्रामादाम्रा इति। तस्य सर्वत्राम्रबुद्धिः प्रसक्ता। ततः पश्चादाह ये क्षीरिणोऽवरोहवन्तः पृथुपर्णास्ते न्यग्रोधा इति। स तत्राम्रबुद्ध्या न्यग्रोधबुद्धिं प्रतिपद्यते। स ततः पश्यति बुद्ध्याम्राश्चापकृष्यमाणान्न्यग्रोधाश्चाधीयमानान्। नित्या एव च स्वस्मिन्विषय आम्रा नित्याश्च न्यग्रोधा बुद्धिस्त्वस्य विपरिणम्यते। एवमिहाप्यस्तिरस्मा अविशेषेणोपदिष्टः। तस्य सर्वत्रास्तिबुद्धिः प्रसक्ता। सोऽस्तेर्भूर्भवतीत्यस्तिबुद्ध्या भवतिबुद्धिं प्रतिपद्यते। स ततः पश्यति बुद्ध्यास्तिं चापकृष्यमाणं भवतिं चाधीयमानम्। नित्य एव च स्वस्मिन्विषयेऽस्तिर्नित्यो भवतिर्बुद्धिस्त्वस्य विपरिणम्यते॥

उत्तर दूसरा कैसे हो सकता है? अब अगर पहले वर्तमान वस्तुके विषयमें स्थानशब्द उपयोगमें आये तब तो यह दूसरा उत्तर ठीक होगा।

अगर यह बात है तो फिर पहले वर्तमान वस्तुके सम्बन्धमें भी स्थानशब्द उपयोगमें आता है।

सो कैसे?

बुद्धिके विषयमें। जैसे लोगोंमें कोई एक दूसरेसे यह कहता है कि इस गाँवके पूर्वकी ओर जितने पेड है वे सब आमके है, इससे सभी पेडोंके विषयमें यह जानकारी प्राप्त होती है कि ये आमके पेड है। उसके बाद वह बादमें यह कहता है कि जिन पेडोंमें गोंद होता है और जिन पेडोंको नीचे बरोहियाँ निकल आती है और जिनके पत्ते बडे होते हैं उन्हें बडके पेड माना जाय। इस वाक्यसे इस प्रकारके पेडोंके विषयमें प्राप्त आम्रका ज्ञान नष्ट होकर उसके स्थानपर बड है, इस प्रकारका ज्ञान होता है। इससे मनमें यह आता है कि आम्रवृक्ष दूर हटकर उनके स्थानपर वटवृक्ष स्थापित किये गये। वस्तुत देखा जाय तो अपने अपने स्थानपर आमके पेड और बडके पेड स्थायी रूपमें ही हैं। केवल उनके ज्ञानमें अदलबदल होता है। इस तरह शास्त्रमें भी 'है' इस अर्थमें 'अस्' साधारण धातु बताया गया। उससे उस अर्थकी सब क्रियाओंमें 'अस्' धातुकी बुद्धि प्रसक्त होती है। उसके पश्चात् 'अस्तेर्भूः' (२।४।५२) इस शास्त्रसे पहले प्राप्त 'अस्' बुद्धि नष्ट होकर उसके स्थानपर यह 'भू' है ऐसी बुद्धि होती है। उससे ऐसा मनमें आता है कि 'अस्' धातु दूर हटकर उसके स्थानपर 'भू' धातु आ गया। वस्तुत. अपने अपने स्थानपर अस् धातु और भू धातु स्थायी रूपमें ही हैं। केवल उनकी बुद्धिमें अदलबदल होता है।

---

१४ कारण यह कि उस स्थानपर पहले 'अस्' शब्द आया है ऐसा जो लगता है वह भ्रम है। वहाँ 'अस्' शब्द नहीं आता है, केवल 'अस्'-बुद्धि आयी है। और वह बुद्धि जाकर 'भू' बुद्धि आती है।

अपवादप्रसङ्गस्तु स्थानिवत्त्वात् ॥ १५ ॥

अपवाद उत्सर्गकृतं च प्राप्नोति । कर्मण्यण् [३·२·१] आतोऽनुपसर्गे कः [३] इति के ऽप्यणि कृतं प्राप्नोति । किं कारणम् । स्थानिवत्त्वात् ॥

उक्तं वा ॥ १६ ॥

किमुक्तम् । विप्रयेण तु नानालिङ्गकरणात्सिद्धमिति ॥ अथवा

सिद्धं तु षष्ठीनिर्दिष्टस्य स्थानिवद्वचनात् ॥ १७ ॥

सिद्धमेतत् । कथम् । षष्ठीनिर्दिष्टस्यादेशः स्थानिवदिति वक्तव्यम् ।

(वा. १५) और अपवादकोभी 'आदेश' कहना पड़ेगा । क्योंकि वह उत्सर्ग अर्थात् स्थानी जैसा होता है ।

केवल बुद्धिमें अदलबदल होनेसे वह आदेश माना गया तो अपवाद भी आदेश ही है ऐसा मानकर उसके स्थानपर स्थानिवद्भावसे उत्सर्गका कार्य प्राप्त होता है; उदा० 'कर्मण्यण्' (३।२।१) इस सूत्रसे बताया हुआ 'अण्' उत्सर्ग है। 'आतोनुपसर्गे कः' (३।२।३) इससे बताया हुआ 'क' प्रत्यय उसका अपवाद है। वह 'क' प्रत्यय किया हो उस स्थानपर भी अण् प्रत्ययका कार्य प्राप्त होता है। [१५]

क्यों भला?

क्योंकि स्थानिवद्भाव होता है।

(वा. १६) अथवा यह पहले बताया ही गया है।

क्या बताया ही गया है?

'विप्रयेण तु नानालिङ्गकरणात् सिद्धम्' ऐसा पहले माहे० सू. १ वा. ९ पृ. ३९ में बताया ही गया है।

अथवा

(वा. १७) षष्ठी विभक्तिका उच्चारण करके बताये हुए आदेशको स्थानिवद्भाव होता है ऐसा कहा जाय तो इष्ट सिद्ध होता है।

यह सिद्ध होता है।

सो कैसे?

षष्ठी विभक्तिका उच्चारण करके जो आदेश बताया गया है उसीको स्थानिवद्भाव होता है ऐसा कहा जाय, (जिससे अपवादको स्थानिवद्भावसे उत्सर्गका कार्य नहीं होगा)।

---

१५ 'गां ददातीति गोदः' यहाँ 'दा' धातुके आगे प्रथमतः 'अण्' प्रत्ययकी बुद्धि होके तदनंतर 'क' प्रत्ययकी बुद्धि हुई है। तब यहाँ 'क' प्रत्यय स्थानिवद्भावसे 'अण्' प्रत्यय समझा गया तो स्त्रीलिंगी 'ङीप्' प्रत्यय (४।१।१५) होने लगेगा।

तत्तर्हि षष्ठीनिर्दिष्टग्रहणं कर्तव्यम् । न कर्तव्यम् । प्रकृतमनुवर्तते । क्व प्रकृतम् । षष्ठी स्थानेयोगा [१·१·४९] इति ॥ अथवाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नापवाद उत्सर्गकृतं भवतीति यदयं श्यनादीनां कांश्चिच्छितः करोति । श्यन् श्नम् श्ना शः श्नुरिति ॥

तस्य दोषस्तयादेश उभयप्रतिषेधः ॥ १८ ॥

तस्यैतस्य लक्षणस्य दोषः । तयादेश उभयप्रतिषेधो वक्तव्यः । उभये देवमनुष्याः । तयपो ग्रहणेन ग्रहणाज्जसि विभाषा प्राप्नोति ॥ नैष दोषः । अयच्प्रत्ययान्तरम् । यदि प्रत्ययान्तरमुभयीतीकारो न प्राप्नोति । मा भूदेवम् ।

तो फिर 'षष्ठी विभक्तिका उच्चारण करके बताया हुआ' इस तरह आदेशका विशेषण देनेके लिये सूत्रमें वैसा कहना चाहिये।

वैसा कहनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पीछेसे षष्ठी शब्दकी अनुवृत्ति यहाँ आती है।

पीछे 'षष्ठी' पद किसी सूत्रमें है ?

'षष्ठी स्थानेयोगा' (१।१।४९) इस सूत्रमें है।

अथवा यह आचार्य पाणिनि शप् इस शकारेत्संज्ञक प्रत्ययके श्यन्, श्नम्, श्ना, श, श्नु आदि जो अपवादस्वरूप प्रत्यय है उनमें शकार इत्संज्ञक जोड़ते हैं उससे वे यह ज्ञापित करते है कि अपवादके स्थानपर उत्सर्गका कार्य स्थानिवद्भावसे नहीं होता।

(वा. १८) इस स्थानिवद्भावसे तयप् आदेशके बारेमें दोष आता है इसलिये 'उभय' शब्दके बारेमें स्थानिवद्भावका निषेध कहना चाहिये।

यह स्थानिवद्भाव लेनेपर दोष आता है इसलिये उभय शब्दमें तयप् प्रत्ययके स्थानपर बना हुआ जो अयच् आदेश है उसको स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा कहा जाय। उदा० 'उभये देवमनुष्याः' यहाँ तयप् प्रत्ययके स्थानपर बना हुआ जो अयच् आदेश है (५।२।४४) उसे स्थानिवद्भाव हुआ तो वह तयप् प्रत्यय है ऐसा माना जायगा। और आगे जस् प्रत्यय करनेपर 'प्रथमचरम०' (१।१।३३) इस सूत्रसे सर्वनामसंज्ञा विकल्पसे होने लगेगी।

यह दोष नहीं आता। 'उभादुदात्तो नित्यम्' (५।२।४४) सूत्रसे उभ-शब्दसे किये हुए तयप् प्रत्ययके स्थानपर जो अयच् बनाया गया है वह अयच् तयप्के स्थानपर न करके स्वतंत्र प्रत्यय ही किया जाय।

अगर यह स्वतंत्र प्रत्यय माना गया तो 'उभयी' इस उदाहरणमें मूल तयप् प्रत्यय न किये जानेके कारण 'टिड्ढाणञ्०' (४।१।१५) इस सूत्रसे स्त्रीप्रत्यय ईकार नहीं होगा।

'उभयी' इस स्थानपर तयप् प्रत्यय नहीं है इसलिये स्त्रीप्रत्यय ईकार न हुआ

मात्रजित्येवं भविष्यति । कथम् । मात्रजिति नेदं प्रत्ययग्रहणम् । किं तर्हि । प्रत्याहारग्रहणम् । क संनिविष्टाना प्रत्याहारः । मात्रशब्दात्प्रभृत्यायचश्चकारात् । यदि प्रत्याहारग्रहणं कति तिष्ठन्ति अत्रापि प्राप्नोति । अत इति वर्तते । एवमपि तैलमात्रा घृतमात्रा अत्रापि प्राप्नोति । सदृशस्याप्यसंनिविष्टस्य न भवति प्रत्याहार-ग्रहणेन ग्रहणम् ॥

जात्याख्यायां वचनातिदेशे स्थानिवद्भावप्रतिषेधः ॥ १९ ॥

जात्याख्यायां वचनातिदेशे स्थानिवद्भावस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । व्रीहिभ्य आगत इत्यत्र घेर्ङिति [७ ३.१११] इति गुणः प्राप्नोति ॥ नैष दोषः ।

तो भी कोई बाधा नहीं । वहाँ मात्रच् होनेके कारण उसी सूत्रसे ईकार किया जा सकेगा।

सो कैसे ?

'टिड्ढाणञ् ०' इस सूत्रमें 'मात्रच्' ऐसा जो कहा है वह मात्रच् इस प्रत्ययका उच्चारण किया है ऐसा नहीं मानना चाहिये । बल्कि 'मात्रच' यह प्रत्याहारका उच्चारण किया गया है ।

मात्रच् यह प्रत्याहार कहाँसे कहाँतक समझा जाय ?

'मात्र' (५।२।३७) शब्दसे 'अयच्' (५।२।४३) प्रत्ययके 'च'कारतक ।

अगर मात्रच् प्रत्याहार लिया गया तो कति तिष्ठन्ति इस उदाहरणमें भी स्त्रीप्रत्यय ईकारप्राप्ति आती है ।

परन्तु उस सूत्रमें 'अतः' ऐसी अनुवृत्ति है, इससे कति इस स्थानपर दोष नहीं है।

तो भी तैलमात्रा, घृतमात्रा आदि स्थानोंपर मात्र शब्द होनेके कारण 'टिड्ढाणञ्०' सूत्रसे ईकार होने लगेगा ।[17]

तैलमात्रा उदाहरणका 'मात्र' शब्द स्वरूपसे ठेठ मात्र हो तो भी वह इस प्रत्याहारमें नहीं पाया जाता, अतः दोष नहीं आता ।

(वा. १९) 'जात्याख्यायामेकस्मिन्०' सूत्रसे जो बहुवचनका आदेश किया है उसे स्थानिवद्भावका निषेध कहना चाहिये ।

'जात्याख्यायाम्०' (१।२।५८) इस सूत्रसे जातिकी आख्या होनेपर जो एकवचनको बहुवचन आदेश बनाया है उसे स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा निषेध करना चाहिये । नहीं तो व्रीहिभ्यः आगतः इस स्थानपर व्रीहिशब्दके आगेके 'ङसि' इस पंचमीके एकवचन प्रत्ययको जो बहुवचन 'भ्यस्' ऐसा आदेश हुआ है वह

---

१६ इसलिए अकारान्त शब्दके आगे ही 'ङीप्' प्रत्यय उस सूत्रसे होता है।

१७ यद्यपि 'टिड्ढाणञ्०' (४।१।१५) सूत्रमें 'मात्रच्' का उच्चारण है तो भी वह चकार 'अयच्' प्रत्ययके प्रत्याहारके लिए सूत्रमें उच्चारित होनेसे चकार इत्संज्ञक न हो तो भी 'मात्र' शब्दके आगे 'ङीप्' प्रत्यय होगा

उक्तमेतत् । अर्थातिदेशात्सिद्धमिति ॥

ङ्याब्ग्रहणेऽदीर्घः ॥ २० ॥

ङ्याब्ग्रहणेऽदीर्घ आदेशो न स्थानिवदिति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । निष्कौशाम्बिः अतिखट्वः । ङ्याब्ग्रहणेन ग्रहणात्सुलोपो मा भूदिति । ननु च दीर्घादित्युच्यते । तन्न वक्तव्यं भवति । किं पुनरत्र ज्यायः । स्थानिवत्प्रतिषेध एव ज्यायान् । इदमपि सिद्धं भवति । अतिखट्वाय अतिमालाय । याडापः

स्थानिवद्भावसे ङित् है ऐसा मानकर पीछेके इकारको 'घेर्ङिति' (७।३।१११) सूत्रसे गुण होने लगेगा।

यह दोष नहीं आता, क्योंकि 'अर्थातिदेशात् सिद्धम्' ऐसा पीछे (१।२।५८ वा. २) बताया गया है।[१८]

(वा. २०) 'ङी' और 'आप्का उच्चारण करके बताये हुए कार्यके बारेमें 'ङी' और 'आप्' स्थानपर जो दीर्घभिन्न आदेश होता है उसे **स्थानिवद्भावका निषेध कहना चाहिये।**

ङी और आप् का उच्चारण करके बताया हुआ कार्य कर्तव्य होनेपर ङी आप् के स्थानपर जो दीर्घभिन्न अर्थात् ह्रस्व आदेश हुआ है उसे स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा कहा जाय।

इसका क्या उपयोग है?

उपयोग यह कि निष्कौशाम्बिः, अतिखट्वः इन उदाहरणोंमें ङी और आप् इनके स्थानपर बना हुआ जो ह्रस्व आदेश (१।२।४८) है वह स्थानिवद्भावसे ङी और आप् है ऐसा मानकर 'हल्ङ्याप्०' (६।१।६८) इस सूत्रसे आगेके सुप्रत्ययका लोप होने लगेगा, वह न हो।

परंतु उस सूत्रमें 'दीर्घात्' ऐसा कहा गया है न?

स्थानिवद्भावका निषेध करनेपर 'दीर्घात्' कहनेकी आवश्यकता नहीं।

फिर यहाँ स्थानिवद्भावका निषेध किया जाय या उस सूत्रमें दीर्घात् ऐसा कहा जाय, इन दोनोंमें अच्छा कौनसा है?

यहां स्थानिवद्भावका निषेध करना ही अच्छा है। क्योंकि उसका दूसरे स्थानपर भी उपयोग होता है। सो ऐसे कि अतिखट्वाय, अतिमालाय इन उदाहरणोंमें स्थानिवद्भावका निषेध होनेके कारण 'याडापः' (७।३।११३) सूत्रसे याट् आगम नहीं होता।

---

[१८] तब यहाँ 'इञ्' प्रत्यय करके उसके स्थानमें 'ष्यङ्' आदेश करना है ऐसा न समझा जाय। तो 'औदि' शब्दके आगे आरंभमें ही 'ष्यङ्' प्रत्यय किया है।

[७.३.११३] इति याण्न भवति । अथेदानीमसत्यपि स्थानिवद्भावे दीर्घत्वे कृते पिचासौ भूतपूर्व इति कृत्वा याडाप इति याट् कस्मान्न भवति । लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवेति । ननु चेदानीं सत्यपि स्थानिवद्भाव एतया परिभाषया शक्यमिहोपस्थातुम् । नेत्याह । न हीदानीं क्वचिदपि स्थानिवद्भावः स्यात् ॥ तर्हि वक्तव्यम् । न वक्तव्यम् । प्रश्लिष्टनिर्देशात्सिद्धम् । प्रश्लिष्टनिर्देशोऽयम् । ङी ई ईकारान्तात् आ आप् आकारान्तादिति ॥

आहिभुवोरीट्प्रतिषेधः ॥ २१ ॥

आहिभुवोरीटः प्रतिषेधो वक्तव्यः । आत्थ अभूत् । अस्तिब्रूग्रहणेन ग्रहणा-

---

परंतु अब इन उदाहरणोंमें स्थानिवद्भाव न हुआ तोभी ' सुपि च '(७।३।१०२) यह दीर्घ करनेपर अब वह ' आ '-कार प्रत्यक्ष होकर पहलेका इत्संज्ञक ' प ' कार है इसलिये वह ' आप् ' है ऐसा गृहीत मानकर ' याट् ' आगम प्राप्त हुआ है वह क्यों नहीं होता ?

" लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् " परिभाषासे नहीं होता ।

तो फिर यहाँ स्थानिवद्भाव हुआ तोभी क्या आपत्ति है ? स्थानिवद्भावका निषेध करनेकी आवश्यकता नहीं है । क्योंकि 'लक्षणप्रतिपदोक्त०' परिभाषा यहाँ आती ही है, अत: उसीसे काम चल जायगा ।

उस परिभाषासे काम नहीं चलेगा ऐसा हमारा कहना है । क्योंकि स्थानिवद्भाव करके जो कार्य करना है उन सब स्थानोंपर अगर ' लक्षणप्रतिपदोक्तयोः० ' परिभाषा आये तो ऐसा होगा कि स्थानिवद्भावका कहीं भी उपयोग नहीं है ।[२०]

तो फिर तात्पर्य ' ङ्याप्ग्रहणेऽदीर्घः ' वचन करना चाहिये ऐसा दिखाई देता है।

वैसा वचन करनेकी आवश्यकता नहीं है । प्रश्लिष्टनिर्देशसे सिद्ध होता है । ङी ई आ आप् ऐसा प्रश्लेषसे निर्देश किया हुआ है । इससे ईकारान्त जो ङी प्रत्यय और आकारान्त जो आप् प्रत्यय ऐसा अर्थ होनेके कारण निष्कौशाम्बिः आदि उदाहरणोंमें दोष नहीं आता ।

(वा. २१) 'आह' और 'भू' आदेश करनेपर जो 'ईट्' आगम स्थानिवद्भावसे प्राप्त होता है वह कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भावका निषेध करना चाहिये ।

' ब्रू ' और ' अस् ' धातुओंको क्रमसे आह (३।४।८४) और भू (२।४।५२) आदेश करनेपर स्थानिवद्भावसे जो ईट् आगम प्राप्त होता है वह कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा कहा जाय । नहीं तो आत्थ उदाहरणमें आह आदेश

---

१९. इस परिभाषाका अर्थ पीछे (सू. १।१।१२, टिप्पणी ३) देखिए ।

२०. सब स्थानिवद्भावके बलपर वहाँ ' लक्षणप्रतिपदोक्त ' परिभाषा नहीं आती ।

दीट् प्राप्नोति ॥ आहेस्तावन्न वक्तव्यः । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नाहेरीड् भवतीति यदयमाहस्थः [८·२·३५] इति झलादिप्रकरणे थत्वं शास्ति । नैतदस्ति ज्ञापकम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् । किम् । भूतपूर्वगतिर्यथा विज्ञायेत । झलादिर्यो भूतपूर्व इति । यद्येव थवचनमनर्थकं स्यात् । आथिमेवाय-मुच्चारयेत् । ब्रुवः पञ्चानामादित आथो ब्रुव इति । भवतेश्चापि न वक्तव्यः । अस्तिसिचो ऽपृक्ते [७·३·९६] इति द्विसकारको निर्देशः । अस्तेः सकारान्तादिति ॥

स्थानिवद्भावसे ब्रू है ऐसा मानकर 'ब्रुव ईट्' (७।३।९३) सूत्रसे ईट् आगम होने लगेगा। वैसे ही अभूत् उदाहरणमें भू आदेश स्थानिवद्भावसे अस् धातु है ऐसा मानकर 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' (७।३।९६) सूत्रसे ईट् आगम होने लगेगा।

आह् आदेशके संबंधमें स्थानिवद्भावका निषेध करना आवश्यक नहीं है। क्योंकि ये आचार्य पाणिनि 'आहस्थः' (८।२।३५) इस सूत्रसे आह् इस आदेशके हकारको झलादि प्रत्यय आगे होनेपर थकार आदेश बताते हैं, इससे वे ऐसा ज्ञापित करते हैं कि आह् आदेश करनेपर 'ब्रुव ईट्' इस सूत्रसे ईट् आगम नहीं होता।

परंतु यह ज्ञापक ठीक नहीं बैठता। क्योंकि ईट् आगम हुआ तो भी 'आहस्थः' इस सूत्रका उपयोग दूसरे प्रकारसे संभव होता है।

सो कैसे?

सो ऐसे कि भूतपूर्वगति यहाँ ली जायगी। अर्थात् जो प्रत्यय पहले झलादि था वह अब झलादि न होनेपर भी 'आहस्थः' से थकार आदेश किया जा सकेगा।

अगर यही बात है तो 'आहस्थः' सूत्र ही व्यर्थ जायगा। क्योंकि भूतपूर्वगतिसे सभी स्थानोंपर थकार आदेश प्राप्त होनेके कारण 'ब्रुवः पञ्चानामादित आथो ब्रुवः' (३।४।८४) ऐसा आथ् आदेशही बना दिया होता।

भू धातुके संबंधमें भी स्थानिवद्भावका निषेध बतानेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' (७।३।९६) इस सूत्रमें दो सकारोंका उच्चारण किया है इससे सकारान्त जो अस् धातु ऐसा अर्थ होनेके कारण अभूत् स्थानपर ईट् आगम नहीं होगा।

---

२१ णल्, अतुस्, उस्, थल् और अथुस् ये पाँचों प्रत्यय मूलतः झलादि तिप्, तस्, झि, सिप् और थस् होनेके कारण उन सभी स्थानोंपर थकार आदेशकी प्राप्ति होती है।

२२. 'भू' आदेश स्थानिवद्भावसे 'अस्' धातु है ऐसा समझा जायगा, पर सकारान्त है ऐसा स्थानिवद्भावसे नहीं समझा जायगा। कारण यह कि 'अनल्विधौ' पदसे स्थानिवद्भावका निषेध होता है।

वध्यादेशे वृद्धितत्त्वप्रतिषेधः ॥ २२ ॥

वध्यादेशे वृद्धितत्त्वयोः प्रतिषेधो वक्तव्यः। वधकं पुष्करमिति। स्थानिवद्भावाद् वृद्धितत्वे प्राप्नुतः॥ नैष दोषः। उक्तमेतत्। नायं ण्वुल् अन्यो ऽयमकशब्दः किदौणादिको रुचक इति यथा॥

इड्विधिश्च ॥ २३ ॥

इड्विधेयः। आवधिषीट। एकाच उपदेशे ऽनुदात्तात् [७·२·१०] इति प्रतिषेधः प्राप्नोति॥ नैषः दोषः। आद्युदात्तनिपातनं करिष्यते। स निपातनस्वरः प्रकृतिस्वरस्य बाधको भविष्यति। एवमप्युपदेशिवद्भावो वक्तव्यः। यथैव हि निपातनस्वरः प्रकृतिस्वरं बाधत एवं प्रत्ययस्वरमपि बाधेत। आवधिषीटेति।

(वा. २२) 'हन् धातुको 'वध' आदेश करनेपर स्थानिवद्भावसे प्राप्त वृद्धि और 'त्'– आदेश का प्रतिषेध करना चाहिये।

'हन्' धातुको 'वध' आदेश करनेपर स्थानिवद्भावसे वृद्धि और तकारादेश प्राप्त होते हैं उनका निषेध करना चाहिये। नहीं तो वधकम् पुष्करम् आदि उदाहरणोंमें हन् धातुको वध आदेश करनेपर स्थानिवद्भावसे वध् अंग है और हन् धातु है ऐसा मानकर 'अत उपधायाः' (७।२।११६) सूत्रसे वृद्धि प्राप्त होती है और 'हनस्तोऽचिण्णलोः' (७।३।३२) इस सूत्रसे तकारादेश प्राप्त होता है सो होने लगेगा।

यह दोष नहीं आता। क्योंकि वधक शब्दका जो अक प्रत्यय है वह ण्वुल् प्रत्यय नहीं, तो रुचक शब्दकी तरह यह अलग ही अक ऐसा कित् प्रत्यय औणादिक है ऐसा पहले बतायाही है (पृ. ५१५)।

(वा. २३) तथा इडागमका भी विधान करना चाहिये।

इडागमका विधान करना चाहिये। नहीं तो आवधिषीष्ट उदाहरणमें हन् धातुको वध आदेश करनेपर वध् स्थानिवद्भावसे अंग है ऐसा मानकर 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (७।२।१०) सूत्रसे इडागमका निषेध होने लगेगा।

यह दोष नहीं आता। क्योंकि वध आदेश आद्युदात्त स्वरका उच्चारित जाना पर्याप्त है। वह जान बूझकर उच्चारित आद्युदात्त स्वर मूलप्रकृति हन् धातुके अनुदात्त स्वरका बाधक होगा।

इस तरह आद्युदात्त स्वरका निपातन किया तो भी वध आदेश मूल उपदेशमें ही होता है ऐसा विशेषतया कहना चाहिये। नहीं तो आवधिषीष्ट उदाहरणमें वह वध का आद्युदात्त स्वर जिस तरह हन् के अनुदात्त स्वरका बाध करता है वैसे ही आगेके प्रत्ययके उदात्त स्वरका भी बाध करेगा।

---

२१. तब 'वध' आदेश 'हन्' स्थानीके समान अनुदात्त न होनेके कारण 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' से इडागमका निषेध नहीं होता।

नैष दोषः। आर्धधातुकीयाः सामान्येन भवन्त्यनवस्थितेषु प्रत्ययेषु। तत्रार्धधातुकसामान्ये वधिभावे कृते सतिशिष्टत्वात्प्रत्ययस्वरो भविष्यति।

आकारान्तान्नुक्पुक्प्रतिषेधः ॥ २४ ॥

आकारान्तान्नुक्पुकोः प्रतिषेधो वक्तव्यः। विलापयति भापयते। लीभीग्रहणेन ग्रहणान्नुक्पुकौ प्राप्नुतः॥ लीभियोः प्रश्लिष्टनिर्देशात्सिद्धम्। लीभियोः प्रश्लिष्टनिर्देशोऽयम्। लीं ई ईकारान्तस्य भी ई ईकारान्तस्य चेति॥

लोडादेशे शाभावजभावधित्वहिलोपैत्त्वप्रतिषेधः ॥ २५ ॥

लोडादेश एषा प्रतिषेधो वक्तव्यः। शिष्टात् हतात् भिन्तात् कुरुतात् स्तात्॥ लोडादेशे कृते शाभावो जभावो धित्वं हिलोप एत्त्वमित्येते विधयः

यह दोष नहीं आता। क्योंकि 'आर्धधातुके' (२।४।३५) इस अधिकारमें बताये हुए जो आदेश हैं वे सामान्यतः आगे प्रत्यय करनेके पहले ही होते हैं। अतः कोई भी आर्धधातुक प्रत्यय आगे करना है इतनी ही संदिग्ध बात मनमें लेकर प्रारंभमें ही हन् धातुको वध् आदेश करनेपर पीछेसे बने हुए प्रत्ययका स्वर अंतिम होनेके कारण कायम रहेगा।

(वा. २४) तथा 'आ'कारान्त धातुओंके आगे होनार 'नुक्' और 'पुक्' आगमका प्रतिषेध करना चाहिये।

आकारान्तको नुक् और पुक् आगम नहीं होते, ऐसा प्रतिषेध कहना चाहिये। नहीं तो विलापयति भापयते आदि उदाहरणोंमें ली और भी धातुओंको आत्व (६।१।५१ और ६।१।५६) करनेपर स्थानिवद्भावसे वे ली और भी धातु हैं ऐसा मानकर नुक् (६।२।२९) और पुक् (६।३।४०) ये आगम होने लगेंगे।

नुक् और पुक् बतानेवाले सूत्रमें ली और भीके आगे प्रश्लेषसे ईकार अधिक उच्चारित किया गया है। ली ई और भी ई। अतः ईकारान्त जो ली धातु है उसको नुक् आगम होता है और ईकारान्त जो भी धातु है उसको पुक् आगम होता है, ऐसा अर्थ होनेके कारण कुछ भी दोष नहीं आता।

(वा. २५) लोट्-प्रत्ययको तातङ् आदेश होनेपर जो 'शा'–आदि आदेश प्राप्त होते हैं उनका निषेध करना चाहिये।

लोट्को तातङ् आदेश करनेपर जो 'शा'–आदि आदेश प्राप्त होते हैं उनका निषेध करना चाहिये। नहीं तो शिष्टात्, हतात्, भिन्तात्, कुरुतात् और स्तात् उदाहरणोंमें लोट्के स्थानपर बना हुआ जो हि आदेश है उसको तातङ् आदेश करनेपर वह तातङ् आदेश स्थानिवद्भावसे 'हि' है ऐसा मानकर 'शा' आदेश (६।४।३५) 'ज' आदेश (६।४।३६) 'धि' आदेश (६।४।१०१), 'हि' प्रत्ययका लोप (६।४।१०६) और 'ए' कार आदेश (६।४।११९), ये विधियाँ होने लगेंगी।

प्राप्नुवन्ति ॥ नैष दोषः । इदमिह संप्रधार्यम् । लोडादेशः क्रियतामेते विधय इति किमत्र कर्तव्यम् । परत्वाल्लोडादेशः । अथेदानीं लोडादेशे कृते पुनःप्रसङ्गविज्ञानात्कस्मादेते विधयो न भवन्ति । सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेवेति कृत्वा ॥

त्रयादेशे स्रन्तप्रतिषेधः ॥ २६ ॥

त्रयादेशे स्रन्तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । तिसृणाम् । तिसृभावे कृते त्रेस्त्रयः [७·१·५३] इति त्रयादेशः प्राप्नोति ॥ नैष दोषः । इदमिह संप्रधार्यम् । तिसृभावः क्रियतां त्रयादेश इति किमत्र कर्तव्यम् । परत्वात्तिसृभावः । अथेदानीं तिसृभावे कृते पुनःप्रसङ्गविज्ञानात्त्रयादेशः कस्मान्न भवति । सकृद्गतौ विप्रतिषेधे

यह दोष नहीं आता । पहले यहाँ यह विचार उत्पन्न होना है कि यह तातङ् आदेश पहले किया जाय या शा आदेश आदि विधियाँ पहले की जायें ।

तो फिर अब आपका कहना क्या है ?

हमारा कहना यह है कि शा आदेश आदिकी अपेक्षा परत्वसे लोट् प्रत्ययको तातङ् आदेश पहले किया जाय ।

तो फिर अब वह तातङ् आदेश करनेपर स्थानिवद्भावसे शा आदि आदेशोंकी पुनः प्राप्ति आनेके कारण वे विधि क्यों नहीं होते हैं ?

"सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेव" अर्थात् 'दो कार्योंकी एक स्थानपर एक साथ प्राप्ति आकर उन दोनों में बराबरीके नाते विरोध उत्पन्न होनेपर परत्वके कारण 'जो बाध होता है वह स्थायी स्वरूपकाही बाध माना जाता है, अर्थात् पुनः प्राप्ति आनेपर भी वह कार्य नहीं होता' यह परिभाषासे 'शा' आदि आदेश पुनः प्राप्त होनेपर भी नहीं होंगे ।

(वा. २६) 'सृ' अंतमें होनेवाले 'तिसृ' को 'त्रय' आदेश कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भावका प्रतिषेध कहा जाय ।

सृ अंतमें होनेवाले तिसृको त्रय आदेश कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा कहा जाय । नहीं तो तिसृणाम् उदाहरणमें तिसृ आदेश (७।२।९९) करनेपर वह स्थानिवद्भावसे त्रि शब्द है ऐसा मानकर 'त्रेस्त्रयः' (७।१।५३) सूत्रसे त्रय आदेश प्राप्त होता है ।

यह दोष नहीं आता । यहाँ यह विचार उत्पन्न होता है कि यह तिसृ आदेश त्रि शब्दको पहले किया जाय या त्रय आदेश पहले किया जाय ।

तो फिर अब आपका कहना क्या है ?

हमारा कहना यह है कि त्रय आदेशकी अपेक्षा तिसृ आदेश परत्वके कारण पहले किया जाय ।

तो फिर अब वह तिसृ आदेश करनेपर स्थानिवद्भावसे त्रय आदेशकी पुनः

यद्बाधित तद्बाधितमेवेति ॥

आम्विधौ च ॥ २७ ॥

आम्विधौ च सन्तस्य प्रतिषेधो वक्तव्य । चतस्रस्तिष्ठन्ति । चतसृभावे कृते चतुरनडुहोरामुदात्त. [७ १ ९८] इत्याम्प्राप्नोति ॥ नैष दोष । इदमिह सप्रधार्यम् । चतसृभाव् क्रियता चतुरनडुहोरामुदात्त इत्यामिति किमत्र कर्तव्यम् । परत्वाच्चतसृभा.व । अथेदानीं चतसृभावे कृते पुन प्रसङ्गविज्ञानादाम्कस्मान्न भवति । सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेवेति ॥

स्वरे वस्वादेशे ॥ २८ ॥

स्वरे वस्वादेशे प्रतिषेधो वक्तव्य । विदुष पश्य । शतुरनुमो नद्यजादी

प्राप्ति आनेके कारण वह आदेश क्यों नहीं होता ?

' सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधित तद्बाधितमेव ' परिभाषासे नहीं होता।

(वा २७) तथा आम् आगम कर्तव्य होनेपर भी ' चतसृ ' आदेशको स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा कहा जाय ।

स्र अतमें होनेवाले चतसृको आम् आगम कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा कहा जाय । नहीं तो चतस्रस्तिष्ठन्ति उदाहरणमें चतुर शब्दको चतसृ आदेश (७।२।९९) करनेपर वह स्थानिवद्भावसे चतुर शब्द है ऐसा मानकर ' चतुरनडुहोरामुदात्त ' (७।१।९८) सूत्रसे आम् आगम प्राप्त होता है।

यह दोष नहीं आता । पहले यहाँ यह विचार उत्पन्न होता है कि यह चतुर शब्दका ' चतसृ ' आदेश पहले किया जाय या ' चतुरनडुहोराम् उदात्त ' सूत्रसे ' आम् ' आगम पहले किया जाय ।

तो फिर अब आपका कहना क्या है ?

हमारा कहना यह है कि ' आम् ' आगमकी अपेक्षा परत्वके कारण ' चतसृ ' आदेश पहले किया जाय ।

फिर अब वह चतसृ आदेश करनेपर स्थानिवद्भावसे आम् आगमकी पुन. प्राप्ति आनेके कारण वह आगम क्यों नहीं होता ?

' सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधित तद्बाधितमेव ' परिभाषासे नहीं होता ।

(वा २८) ' वसु ' आदेश करनेपर स्वर कर्तव्य हो तब स्थानिवद्भावका प्रतिषेध किया जाय ।

शतृप्रत्ययको वसु आदेश (७।१।३६) करनेपर स्वर कर्तव्य हो तब उसे स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा माना जाय । नहीं तो ' विदुष पश्य ' उदाहरणमें ' वसु ' आदेश स्थानिवद्भावसे ' शतृ ' प्रत्यय है ऐसा मानकर ' शतुरनुमो नद्यजादी ' (६।१।१७३) सूत्रसे ' विद्वस् ' इस अतोदात्त शब्दके आगेके ' शस् ' प्रत्ययको

अन्तोदात्तादित्येष स्वरः प्राप्नोति ॥ नैष दोषः । अनुम इति प्रतिषेधो भविष्यति । अनुम इत्युच्यते न चात्र नुमं पश्यामः । अनुम इति नेदमागमग्रहणम् । किं तर्हि । प्रत्याहारग्रहणम् । क्व संनिविष्टानां प्रत्याहारः । उकारात्प्रभृत्या नुमो मकारात् । यदि प्रत्याहारग्रहणं लुनता पुनता अत्रापि प्राप्नोति । अनुम्ग्रहणेन न शत्रन्तं विशेष्यते । किं तर्हि । शतैव विशेष्यते शता यो ऽनुम्क इति । अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम् । आगमग्रहणे हि सतीह प्रसज्येत । मुञ्चतां मुञ्चत इति ॥

गोः पूर्वणित्त्वात्त्वस्वरेषु ॥ २९ ॥

उदात्त स्वर प्राप्त होता है ।

यह दोष नहीं आता । क्योंकि उसका ' अनुमः ' निषेध होगा ।

परंतु ' अनुमः ' अर्थात् नुम् न हो ऐसा वहाँ कहा गया है । और विदुषः यहाँ तो नुम् आगम बना हुआ कहीं भी नहीं दिखाई देता । अतः यह निषेध कैसे होगा ?

' अनुमः ' में नुम् आगमका ग्रहण किया ऐसा न माना जाय ।

तो फिर क्या माना जाय ?

वहाँ ' उम् ' प्रत्याहारका ग्रहण किया है[24] ।

यह ' उम् ' प्रत्याहार कहाँसे कहाँतक समझा जाय ?

' तनादिकृञ्भ्य उः ' (३।१।७९) सूत्रके उकारसे ' इदितो नुम् धातोः ' (७।१।५८) सूत्रके नुम् आगमके मकारतक ' उम् ' प्रत्याहार[25] है ।

अगर ऐसा उम् प्रत्याहार वहाँ लिया तो ' लुनता ', ' पुनता ', आदि स्थानोंपर ' अनुमः ' निषेध होगा । क्योंकि उम् प्रत्याहारका ' श्ना ' (३।१।८१) प्रत्यय वहाँ हुआ है ।

' अनुमः ' शतृप्रत्ययान्त अंगका विशेषण न माना जाय, तो ' शतृ ' प्रत्ययका ही विशेषण है । अर्थात् ' उम् ' प्रत्याहारसे कोई भी शतृप्रत्ययमें न हो, शतृप्रत्ययके पीछे अंगमें हो तो चल सकेगा । और ऐसा अवश्य मानना ही चाहिये । नहीं तो ' अनुमः ' में नुम् आगमका ग्रहण किया तो भी ' मुञ्चता ' और ' मुञ्चते ' आदि स्थानोंपर अनुमः निषेध होने लगेगा ।

(वा. २९) ' गो ' शब्दको बताया हुआ पूर्वरूप, णित्व, आत्व और स्वर ये विधियाँ कर्तव्य होनेपर ' गो ' शब्दके आदेशोंको स्थानिवद्भावका प्रतिषेध कहा जाय ।

२४. सूत्रमें जो ' अनुम ' पद कहा है वहाँ वह ' नञ् ' का ' नुम् ' शब्दके साथ तत्पुरुषसमास नहीं किया, तो ' उम् ' शब्दके साथ किया है ।

२५. उस ' उम् ' प्रत्याहारमें ' वतु ' आदेश (७।१।३६) पाया जानेके कारण ' अनुमः ' यह निषेध आता है, इसलिए प्रत्ययको उदात्त स्वर नहीं होगा ।

गोः पूर्वणित्त्वात्वस्वरेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः। चित्रग्वग्रम् शबलग्वग्रम्। सर्वत्र विभाषा गोः [६.१.१२२] इति विभाषा पूर्वत्वं प्राप्नोति॥ नैष दोषः। एङ इति वर्तते तत्रानल्विधाविति प्रतिषेधो भविष्यति। एवमपि हे चित्रगो अग्रम् अत्र प्राप्नोति॥ णित्वम्। चित्रगुः चित्रगू चित्रगवः। गोतो णित् [७.१.९०] इति णित्त्वं प्राप्नोति॥ आत्वम्। चित्रगुं पश्य। शबलगुं पश्य। आ ओत इत्यात्वं प्राप्नोति॥ नैष दोषः। तपरकरणात्सिद्धम्। तपरकरणसामर्थ्याण्णित्त्वात्वे न भविष्यतः॥ स्वर। बहुगुमान्। न गोश्वन्साववर्ण [६.१.१८२]

'गो' शब्दको बताया हुवा जो पूर्वरूप णित्त्व, आत्त्व और स्वर ये विधियाँ हैं वे कर्तव्य होनेपर 'गो' शब्दके स्थानमें बने हुए आदेशोंको स्थानिवद्भाव नहीं होता, ऐसा कहा जाय। उदाहरण–चित्रग्वग्रम् शबलग्वग्रम्। यहाँ चित्रगु, शबलगु इस तरह गो शब्दको ह्रस्व (१।२।४८) करनेपर उसे स्थानिवद्भाव करके यह गो शब्द है ऐसा मानकर 'सर्वत्र विभाषा गोः' (६।१।१२२) सूत्रसे विकल्पसे पूर्वरूप प्राप्त होता है।

यह दोष नहीं आता। क्योंकि इस पूर्वरूप बतानेवाले सूत्रमें 'एङः' पदकी अनुवृत्ति होती है और स्थानिवद्भावसे एङन्त गो शब्द नहीं माना जा सकता। क्योंकि अनल्विधौ ऐसा स्थानिवद्भावका निषेध है।

तो भी 'हे चित्रगो अग्रम्' स्थानपर स्थानिवद्भावसे पूर्वरूप होगा यह दोष आता ही है। वैसे ही चित्रगुः, चित्रगू, चित्रगवः, आदि उदाहरणोंमें स्थानिवद्भावसे 'गो' शब्द है ऐसा मानकर 'गोतो णित्' (७।१।९०) सूत्रसे णित्व प्राप्त होता है। वैसे ही चित्रगुं पश्य, शबलगुं पश्य, आदि उदाहरणोंमें स्थानिवद्भावसे 'गो' शब्द है ऐसा मानकर (आगोतोम् शसोः ६।१।९३) आत्व प्राप्त होता है।

ये दोनों दोष नहीं आते। तपरकरणके कारण इष्ट सिद्ध होता है। गोत ऐसा तपरकरण करनेके कारण गोशब्दको ह्रस्व करनेपर णित्व और आत्व ये विधियाँ नहीं होंगी।[२७]

बहुगुमान् उदाहरणमें गोशब्दको ह्रस्व करनेपर स्थानिवद्भावसे वह गोशब्द है ऐसा मानकर 'न गोश्वन्साववर्ण०' (६।१।१८२) सूत्रसे मतुप् प्रत्ययके उदात्त स्वरका निषेध प्राप्त होता है।[२८]

---

२६. कारण यह कि वहाँ गुण (७।३।१०८) होनेके बाद एङन्त साक्षात् ही होनेके कारण स्थानिवद्भावसे एङन्त समझनेकी आवश्यकता नहीं है, इसलिए 'अनल्विधौ' निषेध प्राप्त नहीं होता।

२७. तपरकरण किया जानेके कारण ओकार कायम हो वहीं णित्व और आत्व होंगे।

२८. तब यह निषेध कहना चाहिए कि वहाँ स्थानिवद्भाव नहीं होता।

इति प्रतिषेधः प्राप्नोति ॥

करोतिपिब्योः प्रतिषेधः ॥ ३० ॥

करोतिपिब्योः प्रतिषेधो वक्तव्यः । कुरु पिबेति । स्थानिवद्भावाल्लघूपधगुणः प्राप्नोति ॥

उक्तं वा ॥ ३१ ॥

किमुक्तम् । करोतौ तपरकरणनिर्देशात्सिद्धं पिबिरदन्त इति ॥

अचः परस्मिन्पूर्वविधौ ॥ १।१।५७ ॥

अच इति किमर्थम् । प्रश्नः । विश्नः । ऊत्वा । आक्राट्यम् । आगत्य ॥ प्रश्नः विश्न इत्यत्र छकारस्य शकारः परनिमित्तकः । तस्य स्थानिवद्भावाच्छे च [६.१.७३] इति तुक्प्राप्नोति । अच इति वचनान्न भवति । नैतदस्ति

(वा. ३०) 'करोति' और 'पिबति' के बारेमें स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा कहा जाय।

'करोति' और 'पिबति' के बारेमें स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा कहा जाय। नहीं तो 'कुरु' उदाहरणमें उत्व करनेपर और 'पिबति' उदाहरणमें पिब् आदेश करनेपर स्थानिवद्भावसे अग है ऐसा मानकर लघूपधगुण (७।३।८६) होने लगेगा।

(वा. ३१) अथवा इसके संबधमें पहले बताया गया है।

अथवा इसके सबधमें पहले बताया ही गया है।

वह क्या बताया है?

करोतौ तपरकरणनिर्देशात् सिद्धम् पिबिरदन्तः। (पृष्ठ ५१४ पं. १०)

(सू. ५७) परके निमित्तसे अच्के स्थानमें जो आदेश हुआ है उसके स्थानमें अच् होनेपर उसके पूर्व जो वर्ण हुआ है उसको कार्य करना हो तो स्थानिवद्भाव होता है। (१।१।५७)

इस सूत्रमें 'अचः' पद किसलिए रखा गया है?

प्रश्नः, विश्नः, ऊत्वा, स्यूत्वा, आक्राट्यम, आगत्य, ये उदाहरण सिद्ध करनेके लिये रखा गया है। प्रश्नः, विश्नः, इन उदाहरणोंमें छकारको जो श आदेश (६।४।१९) बना हुआ है वह आगेके प्रत्ययके निमित्त हुआ है। वह शकार स्थानिवद्भावसे छकार है ऐसा मानकर 'छे च' (६।१।७३) सूत्रसे तुक् आगम प्राप्त होता है। प्रकृत सूत्रमें अचः कहनेपर यहाँ स्थानिवद्भाव नहीं होता। क्योंकि यह शकार आदेश अच्के स्थानपर नहीं हुआ है।

प्रयोजनम्। क्रियमाणे ऽपि वा अज्ग्रहणे ऽवश्यमत्र तुगभावे यत्नः कर्तव्यः। अन्तरङ्गत्वाद्धि तुक्प्राप्नोति॥ इदं तर्हि। द्यूत्वा स्यूत्वा। वकारस्य ऊठ् परनिमित्तकः। तस्य स्थानिवद्भावादचीति यणादेशो न प्राप्नोति। अच इति वचनाद्भवति। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। स्वाश्रयमत्राच्त्वं भविष्यति। अथवा यो ऽत्रादेशो नासावाश्रीयते यश्चाश्रीयते नासावादेशः। इदं तर्हि प्रयोजनम्। आक्राष्टाम्। सिचो लोपः परनिमित्तकः। तस्य स्थानिवद्भावात्षढोः कः सि [८-२-४१] इति कत्वं प्राप्नोति। अच इति वचनान्न भवति। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। वक्ष्यत्येतत्। पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवदिति॥ इदं तर्हि प्रयोजनम्। आगत्य अभिगत्य। अनुनासिकलोपः परनिमित्तकः। तस्य स्थानिवद्भावाद्

'अचः' पदका उपयोग ठीक नहीं है। क्योंकि 'अचः' शब्द यहाँ रखा जाय तो भी वहाँ तुक् आगम न होनेके लिये कुछ न कुछ प्रयत्न अवश्य करना ही चाहिये। नहीं तो शकार आदेश करनेके पहले ही अंतरंगत्वके कारण तुक् आगम होने लगेगा।

तो फिर 'अचः' शब्दका दूसरा उपयोग द्यूत्वा, स्यूत्वा, यह लीजिये। इन स्थानोंपर 'व' कारको पर वर्णके निमित्त बना हुआ 'ऊठ्' आदेश (६।४।१९) स्थानिवद्भावसे 'व'कार है ऐसा माना जाय तो अच् आगे होनेपर बताया हुआ यण् आदेश नहीं होगा। अब इस सूत्रमें 'अचः' कहनेपर स्थानिवद्भाव न होनेके कारण यण् होगा।

यह भी 'अचः' का उपयोग नहीं है। क्योंकि ऊ आदेश स्थानिवद्भावसे वकार समझा गया तो भी स्वतः अच् होनेके कारण यण् किया जा सकेगा। अथवा इस स्थानपर आदेश जो ऊठ् है वह यण्के लिये निमित्तके रूपमें नहीं लिया गया है। और तो उसका ऊकार अच्के रूपमें यण्को निमित्त माना जाता है वह आदेश ही नहीं है।

तो फिर 'अचः' का उपयोग 'आक्राष्टाम्' लीजिये। इस स्थानपर परवर्णके निमित्त बना हुआ सिच्का लोप (८।२।२६) स्थानिवद्भावसे 'स'कार है ऐसा मानकर उसके पीछेके 'ष' कारको 'षढोः कः सि' (८।२।४१) सूत्रसे 'क'कार आदेश होने लगेगा। 'अचः' ऐसा इस सूत्रमें कहनेपर यहाँ स्थानिवद्भाव नहीं होता।

यह भी अचः का उपयोग नहीं है। क्योंकि 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' (१।१।५८ वा. २) ऐसा वार्तिककार आगे कहनेवाले हैं।

तो फिर आगत्य, अभिगत्य, ये उदाहरण लीजिये। इन स्थानोंपर परके निमित्तसे बना हुआ अनुनासिकका अर्थात् मकारका लोप (६।४।३७) है उसको

ह्रस्वस्येति तुग्न प्राप्नोति । अच इति वचनाद्भवति ॥

अथ परस्मिन्निति किमर्थम् । युवजानिः । द्विपदिका । वैयाघ्रपद्यः । आदीध्ये ॥ युवजानिः वधूजानिरिति जायाया निङ् [५·४·१३४] न परनिमित्तकः । तस्य स्थानिवद्भावाद्वलीति यलोपो न प्राप्नोति । परस्मिन्निति वचनाद्भवति । नैतदस्ति प्रयोजनम् । स्वाश्रयमत्र वल्त्वं भविष्यति । अथवा योऽत्रादेशो नासावाश्रीयते यश्चाश्रीयते नासावादेशः ॥ इदं तर्हि प्रयोजनम् । द्विपदिका त्रिपदिका । पादस्य लोपो न परनिमित्तकः । तस्य स्थानिवद्भावात्पद्भावो न प्राप्नोति । परस्मिन्निति वचनाद्भवति । एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । पुनर्लोपवचनसामर्थ्यात्स्थानिवद्भावो न भविष्यति ॥ इदं तर्हि प्रयोजनम् ।

स्थानिवद्भाव हुआ तो बीचमें मकार है ऐसा मानकर 'ह्रस्वस्य०' (६।१।७२) सूत्रसे तुक् आगम नहीं होगा । अचः ऐसा यहाँ कहनेपर स्थानिवद्भाव न होनेके कारण तुक् आगम किया जा सकता है।

अब इस सूत्रमें 'परस्मिन्' किस लिये कहा गया है ?

युवजानिः, वधजानिः, द्विपदिका, वैयाघ्रपद्यः, आदीध्ये आदि उदाहरण सिद्ध करनेके लिये कहा गया है । इनमेंसे युवजानिः वधूजानिः आदि उदाहरणोंमें 'जायाया निङ्' (५।४।१३४) सूत्रसे बना हुआ आदेश परके निमित्त नहीं हुआ है अगर उसे स्थानिवद्भावका होगा तो वल् आगे होनेपर बताया हुआ यकारका लोप (६।१।६६) नहीं होगा । यहाँ 'परस्मिन्' ऐसा कहनेपर स्थानिवद्भाव न होनेके कारण यकारका लोप किया जा सकता है।

यह 'परस्मिन्'का उपयोग संभव नहीं होता । क्योंकि स्थानिवद्भाव होनेपर भी निङ् आदेशका नकार स्वतः वल् होनेके कारण उसके निमित्तसे यकारका लोप किया जा सकेगा । अथवा, यहाँ जो निङ् आदेश है वह यलोपको निमित्तके रूपमें नहीं गिना गया है । और उसका वल् नकार जो यलोपका निमित्त माना जाता है वह आदेश ही नहीं है ।

तो फिर, द्विपदिका, त्रिपदिका यह 'परस्मिन्' का उपयोग लीजिये । यहाँ पादके अकारका जो लोप (५।४।१) बना हुआ है वह परके निमित्तसे नहीं। अगर उसे स्थानिवद्भाव होगा तो यह पाद् इस तरह दकारान्त नहीं है ऐसा मानकर पद् आदेश (६।४।१३०) नहीं होगा । 'परस्मिन्' ऐसा यहाँ कहनेपर स्थानिवद्भाव न होनेके कारण पद् आदेश किया जा सकता है ।

यह भी परस्मिन्का उपयोग संभव नहीं होता। क्योंकि 'यस्येति च' (६।४।१४८) से लोप होकर भी जब कि 'पादशतस्य०' (५।४।१) से पुनः लोप बताया गया है तब उसकी सामर्थ्यके कारण स्थानिवद्भाव नहीं होगा ।

वैयाघ्रपद्यः। ननु चात्रापि पुनर्लोपवचनसामर्थ्यादेव न भविष्यति। अस्ति ह्यन्यत्पुनर्लोपवचने प्रयोजनम्। किम्। यत्र भसंज्ञा न। व्याघ्रपात् श्येनपादिति॥ इदं चाप्युदाहरणम्। आदीध्ये आवेव्ये। इकारस्यैकारो न परनिमित्तकः। तस्य स्थानिवद्भावाद्यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः [७·४·५३] इति लोपः प्राप्नोति। परस्मिन्निति वचनान्न भवति॥

अथ पूर्वविधाविति किमर्थम्। हे गौः। बाभ्रवीयाः। नैधेयः॥ हे गौरित्यौकारः परनिमित्तकः। तस्य स्थानिवद्भावादेङ्ह्रस्वात्संबुद्धेः [६·१·६९] इति लोपः प्राप्नोति। पूर्वविधाविति वचनान्न भवति। नैतदस्ति प्रयोजनम्। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न संबुद्धिलोपे स्थानिवद्भावो भवतीति यदयमेङ्ह्रस्वात्संबुद्धेरित्येङ्ग्रहणं करोति। नैतदस्ति ज्ञापकम्। गोऽर्थमेतत्स्यात्। यत्तर्हि प्रत्याहारग्रहणं

तो फिर 'वैयाघ्रपद्यः' यह उपयोग लीजिए।

यहाँ भी जब कि पुनः लोप बताया गया है तब उसकी सामर्थ्यके कारण स्थानिवद्भाव नहीं होगा।

यह जो पुनः लोप बताया है उसका दूसरे स्थानपर उपयोग हो रहा है।

सो कौनसा?

जिस स्थानपर भ-संज्ञा न होनेके कारण 'यस्येति च' से लोप नहीं होता उस स्थानपर अर्थात्, व्याघ्रपात, श्येनपात, यहाँ लोप होना चाहिये।

आदीध्ये, आवेव्ये भी 'परस्मिन्' के प्रत्युदाहरण है। इन स्थानोंपर इकारका जो एकार (३।४।७९) हुआ है वह परके निमित्त नहीं हुआ है। अगर उसे स्थानिवद्भाव होगा तो वह इकार है ऐसा मानकर 'यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः' (७।४।५३) सूत्रसे धातुके ईकारका लोप होने लगेगा। यहाँ परस्मिन् कहनेपर स्थानिवद्भाव न होनेके कारण वह लोप नहीं होता।

अब इस सूत्रमें 'पूर्वविधौ' क्यों कहा गया है?

हे गौः, बाभ्रवीयाः, नैधेयः, ये उदाहरण सिद्ध होनेके लिये कहा गया है। हे गौः स्थानपर गोशब्दके ओकारको वृद्धिसे जो औकार आदेश हुआ है (७।२।११५) वह परके निमित्तसे हुआ है, उसे स्थानिवद्भाव हुआ तो वह एङ् है ऐसा मानकर 'एङ्ह्रस्वात् संबुद्धेः' (६।१।६९) सूत्रसे आगेके संबुद्धिप्रत्ययका लोप होने लगेगा। 'पूर्वविधौ' ऐसा यहाँ कहनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता और लोप भी नहीं होता।

यह 'पूर्वविधौ' का उपयोग है ऐसा नहीं दिखाई देता। क्योंकि ये आचार्य पाणिनि 'एङ्ह्रस्वात् संबुद्धेः' सूत्रमें एङ् शब्द रखते हैं। इससे वे ऐसा ज्ञापित करते हैं कि संबुद्धिप्रत्ययका लोप कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता।

---

१ 'हे हरे,' 'हे विष्णो' यहाँ आगेके 'संबुद्धि'-प्रत्ययका लोप होनेके लिए एङ्ग्रहण किया है। परंतु यदि गुणको (७।३।१०८) स्थानिवद्भाव हुआ तो 'एङ्' न होनेसे लोप न होगा, इसलिए एङ्ग्रहण निरर्थक होता है।

करोति। इतरथा ह्योहृस्वादित्येव ब्रूयात्॥ इदं तर्हि प्रयोजनम्। बाभ्रवीयाः माधवीयाः। वान्तादेशः परनिमित्तकः। तस्य स्थानिवद्भावाद्धलस्तद्धितस्य [६.४.१५०] इति यलोपो न प्राप्नोति। पूर्वविधाविति वचनाद्भवति। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। स्वाश्रयमत्र हल्त्वं भविष्यति। अथवा यो ऽत्रादेशो नासावाश्रीयते यश्चाश्रीयते नासावादेशः॥ इदं तर्हि प्रयोजनम्। नैधेयः। आकारलोपः परनिमित्तकः। तस्य स्थानिवद्भावाद् द्व्यज्लक्षणो ढग्न प्राप्नोति। पूर्वविधाविति वचनाद्भवति॥

अथ विधिग्रहणं किमर्थम्। सर्वविभक्त्यन्तः समासो यथा विज्ञायेत।

यह ज्ञापक ठीक नहीं बैठता। क्योंकि गोशब्दके लिये उस सूत्रमें एङ् शब्द आवश्यक है ऐसा भी कहा जा सकता है।

तो फिर 'ओहृस्वात्०' कहना है सो न कहकर जो 'एङ्' प्रत्याहारशब्द उच्चारित किया है, उससे 'संबुद्धिका लोप कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता' यह बात ज्ञापित होगी।

तो फिर 'पूर्वविधौ' शब्दका उपयोग 'बाभ्रवीयाः', 'माधवीयाः' लीजिये। इन स्थानोंपर 'अव्' यह वकारान्त आदेश (६।१।७९) परके निमित्त हुआ है। उसको स्थानिवद्भाव हुआ तो वह 'ओ'कार है ऐसा मानकर 'हलस्तद्धितस्य' (६।४।१५०) सूत्रसे अपत्यप्रत्ययके यकारका लोप नहीं होगा। 'पूर्वविधौ' ऐसा यहाँ कहनेपर स्थानिवद्भाव न होनेके कारण यकारका लोप किया जा सकेगा।

यह भी 'पूर्वविधौ' का सही उपयोग नहीं दिखाई देता। स्थानिवद्भाव होनेपर भी 'अव्' आदेशका वकार स्वयं हल् होनेके कारण उसके निमित्त यकारका लोप किया जा सकेगा; अथवा, इस स्थानपर जो अव् आदेश है वह यलोपका निमित्त नहीं गिना गया है और उसका जो वकार हलके नाते यलोपको निमित्त माना जाता है वह आदेशही नहीं है।

तो फिर 'पूर्वविधौ' का उपयोग 'नैधेयः' लीजिये। इस स्थानपर निधिशब्दके 'धा' धातुके 'आ'कारका लोप (६।४।६४) आगेके किप्रत्ययके (३।३।९२) निमित्त बना हुआ है। उसे स्थानिवद्भाव हुआ तो निधि शब्द द्व्यच्क न होनेके कारण द्व्यच्को मानकर बताया हुआ ढक् प्रत्यय (४।१।१२२) नहीं होगा। यहाँ 'पूर्वविधौ' ऐसा कहनेपर स्थानिवद्भाव न होनेके कारण ढक् प्रत्यय किया जा सकेगा।

अब इस सूत्रमें 'विधि' शब्द किस लिये रखा गया है?

---

१. 'बाभ्रव', 'माधव' इन शब्द(४।१।१०५) प्रत्ययान्त शब्दोंके आगे 'छ' प्रत्यय (४।२।११४) हुआ है।

पूर्वस्य विधिः पूर्वविधिः। पूर्वस्माद्विधिः पूर्वविधिरिति। कानि पुनः पूर्वस्माद्विधौ स्थानिवद्भावस्य प्रयोजनानि। बेभिदिता। माथितिकः। अपीपचन्। बेभिदिता चेच्छिदितेत्यकारलोपे कृत एकाज्लक्षण इट्प्रतिषेधः प्राप्नोति। स्थानिवद्भावान्न भवति॥ माथितिक इत्यकारलोपे कृते तान्तात्क इति कादेशः प्राप्नोति। स्थानिवद्भावान्न भवति॥ अपीपचन्नित्येकादेशे कृते ऽभ्यस्ताज्झेर्जुस्भवतीति जुस्भावः प्राप्नोति। स्थानिवद्भावान्न भवति॥ नैतानि सन्ति प्रयोजनानि। कुतः।

सर्वविभक्तियोंसे समास होना चाहिये इसलिये 'विधि' शब्द रखा है। वह ऐसा कि पूर्वको होनेवाली जो विधि है वह भी पूर्वविधि और पूर्वसे आगेवालेको होनेवाली जो विधि है वह भी पूर्वविधि है, इस तरह पूर्वविधि शब्दके दोनों अर्थ लेना संभव होना चाहिये।

परंतु पूर्वसे आगेवालेको होनेवाली जो विधि है वह कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव होता है इस अर्थके उदाहरण कौनसे हैं?

बेभिदिता[3], चेच्छिदिता, माथितिकः, अपीपचन्[4], ये उस अर्थके उदाहरण हैं। बेभिदिता, चेच्छिदिता इन स्थानोंपर यङ्के अकारका लोप होनेपर बेभिद्, चेच्छिद् यह पीछेका भाग उपदेशमें एकाच् होनेके कारण इडागमका निषेध (७।२।१०) होने लगेगा। अकारके लोपको (६।४।४८) स्थानिवद्भाव होनेपर अकारसे व्यवधान होनेके कारण इडागमका निषेध नहीं होता। माथितिकः स्थानपर मथित, शब्दसे ठक् प्रत्यय (४।४।५०) करके मथित शब्दके अकारका लोप (६।४।१४८) होनेपर तकारान्तके आगे ठक्प्रत्यय होनेके कारण उसे क आदेश (७।३।५१) होने लगेगा। अकारके लोपको स्थानिवद्भाव करनेपर तकारान्त अंग नहीं है इसलिये क आदेश नहीं होता। अपीपचन् स्थानपर अपीपच्+अ+अन् स्थितिमें दो आकारोंको पररूप एकादेश (६।१।९७) करनेके बाद 'अभ्यस्तसे पर झिप्रत्ययको जुस् आदेश होता है।' (३।४।१०९) इस तरह बताया हुआ जुस् आदेश होने लगेगा। पररूपको स्थानिवद्भाव होनेपर बीचमें चङ् प्रत्ययसे व्यवधान आनेके कारण जुस् आदेश नहीं होता।

यह जो विधिशब्दका उपयोग बताया है वह ठीक नहीं है। क्योंकि 'पूर्व'

---

३. 'बेभिद्य', 'चेच्छिद्य' इन यङ्-प्रत्ययान्त धातुओंके आगे 'तृच्' प्रत्यय (३।१।१३३) किया है।

४. 'पच्' धातुको 'णिच्' प्रत्यय, आगे 'लुङ्' प्रत्यय, उसको 'झि' आदेश, 'अन्त्' आदेश (७।१।३), बीचमें 'चङ्' प्रत्यय (३।१।४८), द्वित्व (६।१।११), सन्वद्भाव (७।४।९३), अभ्यासको इत्व (७।४।७९) और दीर्घ (७।४।९४) आदि कार्य यहाँ हुए हैं।

प्रातिपदिकनिर्देशो ऽयं प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति न कांचित्प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति । तत्र प्रातिपदिकार्थे निर्दिष्टे यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा साश्रयितव्या ॥ इदं तर्हि प्रयोजनं विधिमात्रे स्थानिवद्यथा स्यादनाश्रीयमाणायामपि प्रकृतौ । वाय्वोः अध्वर्य्वोः लोपो व्योर्वलि [६·१·६६] इति यलोपो मा भूदिति ॥ अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्हीति ।,

अपरविधाविति तु वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । स्वविधावपि स्थानिवद्भावो यथा स्यात् । कानि पुनः स्वविधौ स्थानिवद्भावस्य प्रयोजनानि । आयन् आसन् ।

प्रातिपदिकका ही केवल हम यहाँ निर्देश कर रहे है। उसमें विशेष ऐसी कोई विभक्ति नहीं लगाते। और इस तरहके जो केवल प्रातिपदिकके ही निर्देश किये होते हैं वे अर्थतंत्र होते हैं अर्थात् इस प्रातिपदिकके अर्थको ही वहाँ मुख्यत्व होता है। किसी भी विभक्त्यर्थको वहाँ महत्त्व नहीं होता। इस तरह केवल प्रातिपदिकका ही अर्थ मनमें आनेपर आगे वहाँ उसके संबंधमें जो जो विभक्त्यर्थ लेनेके विषयमें बुद्धि उत्पन्न होगी सो सो विभक्त्यर्थ वहाँ लिया जायँगा।

तो फिर विधिशब्दका दूसरा उपयोग हम दिखाते हैं। वह यह है कि किसी भी प्रकारकी विधि कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव होना चाहिये। फिर उस विधिमें स्थानीका आश्रयण नहीं किया तो भी कोई आपत्ति नहीं है; उदा० – वाय्वोः, अध्वर्य्वोः, इन स्थानोंपर 'लोपो व्योर्वलि' (६।१।६६) सूत्रसे यकारका लोप न हो इसलिये यण्को स्थानिवद्भाव होनेकी आवश्यकता है। और लोप बतानेवाली विधिमें तो यण्के स्थानीका अर्थात् उकारका आश्रयण नहीं किया है।

यह उपयोग रहने दीजिये।

तो फिर अब आपका कहना क्या है?

हमारा कहना यह है कि 'पूर्वविधौ' शब्दके बदले 'अपरविधौ' कहना चाहिये।

ऐसा कहनेसे उपयोग क्या है?

आदेशको स्वतः कार्य कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव होना चाहिये यही उसका उपयोग है।

परंतु आदेशको स्वयं कार्य कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव होना चाहिये इसके उदाहरण कौनसे हैं?

---

५. तब 'विधि' शब्द न हुआ तो भी पूर्वके आगे अगलेको कार्य करते समय स्थानिवद्भाव होके उपर्युक्त उदाहरण सिद्ध होंगे।

धिन्वन्ति कृण्वन्ति । दध्यत्र मध्वत्र । चक्रतुः चक्रुः ॥ इह तावदायन् आसन्निती-णस्त्योर्यण्लोपयोः कृतयोरनजादित्वादाडजादीनाम् [६·४·७२] इत्याण्न प्राप्नोति । स्थानिवद्भावाद्भवति ॥ धिन्वन्ति कृण्वन्तीति यणादेशे कृते वलादि-लक्षण इट् प्राप्नोति । स्थानिवद्भावान्न भवति ॥ दध्यत्र मध्वत्रेति यणादेशे कृते संयोगान्तलोपः प्राप्नोति । स्थानिवद्भावान्न भवति ॥ चक्रतुः चक्रुरित्यत्र यणादेशे कृते ऽनच्त्वाद् द्विर्वचनं न प्राप्नोति । स्थानिवद्भावाद्भवति ॥ यदि तर्हि स्वविधा-वपि स्थानिवद्भावो भवति द्वाभ्याम् देयम् लवनम् अत्रापि प्राप्नोति । द्वाभ्यामित्य-त्रात्वस्य स्थानिवद्भावादीर्घत्वं न प्राप्नोति । देयमितीत्वस्य स्थानिवद्भावाद्गुणो न प्राप्नोति । लवनमिति गुणस्य स्थानिवद्भावादवादेशो न प्राप्नोति ॥ नैष दोषः ।

आयन्, आसन्, धिन्वन्ति, कृण्वन्ति, दध्यत्र, मध्वत्र, चक्रतुः, चक्रुः । इन उदाहरणोंमें आयन् उदाहरणमें[६] इण् धातुको यण् (६।४।८१) करनेपर और आसन् उदाहरणमें अस् धातुके आकारका लोप (६।४।१११) करनेपर धातु अजादि नहीं है इसलिये 'आडजादीनाम्' (६।४।७२) सूत्रसे आट् आगम नहीं होगा । वह यण् और लोपको स्थानिवद्भाव करनेपर किया जा सकेगा । धिन्वन्ति, कृण्वन्ति, स्थानों-पर 'उ'प्रत्ययको यण् आदेश (६।१।७७) करनेपर वह वलादि प्रत्यय होनेके कारण उसे इट् आगम (७।२।३५) होने लगेगा । वह यणको स्थानिवद्भाव करनेके कारण नहीं होता है । दध्यत्र, मध्वत्र इन स्थानोंपर यण् आदेश (६।१।७७) करनेपर 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) सूत्रसे उस यणका लोप प्राप्त होता है वह यणको स्थानिवद्भाव करनेके कारण नहीं होता । चक्रतुः, चक्रुः इन स्थानोंपर ऋकारको यण आदेश करनेपर धातुमें अच् नहीं है इसलिये धातुको द्वित्व (६।१।८) नहीं होगा वह यणको स्थानिवद्भाव करनेके कारण होता है ।

परंतु अगर इस तरह आदेश को स्वयंको कार्य कर्तव्य होनेपर भी स्थानिवद्भाव होगा तो द्वाभ्याम्, देयम्, लवनम्, इन स्थानोंपर भी स्थानिवद्भाव होने लगेगा । द्वाभ्याम् स्थानपर इकार को बना हुआ जो अकार आदेश (७।२।१०२) है उसे स्थानिवद्भाव हुआ तो उसे दीर्घ (७।३।१०२) नहीं होगा । देयम् स्थानपर आकारको बना हुआ जो इकार आदेश है (६।४।६५) उसे स्थानिवद्भाव हुआ तो उसे गुण (७।३।८४) नहीं होगा । लवनम् स्थानपर धातुके उकारको बना हुआ जो गुण है (७।३।८४) उसे स्थानिवद्भाव हुआ तो उसे अव् आदेश (६।१।७८) नहीं होगा ।

६. यहाँ 'इण्' और 'अस्' धातुओंके आगे 'लङ्' प्रत्यय, उसको 'झि' आदेश, 'अन्त्' आदेश (७।१।३), 'शप्' प्रत्ययका लुक् (२।४।७२) करनेके बाद।

७. धिन्व्, और कृण्व् धातुओंके आगे 'लट्' प्रत्यय, उसको 'झि' आदेश, 'अन्त्' आदेश, बीचमें विकरण 'उ' प्रत्यय, और धातुके 'व'-कारको 'अ'-कार आदेश (३।१।८०) और 'अ'कारका लोप (६।४।४८) करनेके बाद।

स्वाश्रया अत्रैते विधयो भविष्यन्ति ॥ तर्त्तार्हि वक्तव्यमपरविधाविति । न वक्तव्यम् । पूर्वविधावित्येव सिद्धम् । कथम् । न पूर्वग्रहणेनादेशो ऽभिसंबध्यते । अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भवति । कुतः पूर्वस्य । आदेशादिति । किं तर्हि । निमित्तमभिसंबध्यते । अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भवति । कुतः पूर्वस्य । निमित्तादिति । अथ निमित्ते ऽभिसंबध्यमाने यत्तदस्य योगस्य मूर्धाभिषिक्तमुदाहरणं तदपि संगृहीतं भवति । किं पुनस्तत् ।

ये दोष नहीं आते । यद्यपि इन स्थानोंपर स्थानिवद्भावसे आदेशको स्थानीकी-तरह माना गया तोभी उस आदेशको स्वयंके स्वरूपपर निर्भर ये कार्य होंगे ।

तो फिर यह दिखाई देता है कि यहाँ ' अपरविधौ ' ऐसा कहना चाहिये ।

वैसा कहना आवश्यक नहीं है । क्योंकि ' पूर्वविधौ ' कहनेसे ही वह सिद्ध *होता है ।*

सो कैसे ?

सो ऐसे कि परके निमित्त बना हुआ जो अच्के स्थानपरका आदेश है उसे, पूर्वको विधि कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव होता है, वह पूर्व किसकी अपेक्षा तो आदेशकी अपेक्षा, ऐसा पूर्व शब्दके साथ आदेशका संबंध हम नहीं जोड़ते हैं ।

तो फिर पूर्व शब्दके साथ किसका संबंध जोड़ते ?

परके निमित्त बना हुआ जो अच्के स्थानपरका आदेश है उसे पूर्वको विधि कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव होता है । फिर पूर्व किसकी अपेक्षा तो निमित्तकी अपेक्षा, इस तरह पूर्व शब्दके साथ निमित्तका संबंध हम जोड़ते हैं । अब इस तरह पूर्व शब्दके साथ निमित्तका संबंध जोड़नेपर इस सूत्रका यह जो मुख्य उदाहरण है उसका भी संग्रह होता है ?

वह कौनसा उदाहरण है ?

पट्व्या, मृद्व्या यही वह उदाहरण है ।

---

८. ' आदेशको अपनेको कार्य करते समय स्थानिवद्भाव होता है ' ऐसा समझा गया तो ' द्वाभ्याम् ' आदि जो दोष दिखाये गये वे प्राप्त नहीं होते, और ' आयन् '-आदि उस अर्थके उपयोग है इसलिए ।

९. तब आदेशको अपनेको कार्य करते समय इस प्रकृतसूत्रसे स्थानिवद्भाव सहजमें ही होगा, कारण यह कि आदेश निमित्तकी अपेक्षा पूर्व है ।

१०. ' पटु ' शब्दके आगे ' ङीप् ' प्रत्यय (४।१।४४) लगाकर आगे तृतीया एक-वचनका ' टा ' प्रत्यय किया है । वहाँ ' टा ' प्रत्ययके निमित्तसे ईकारको जो ' यण् ' आदेश (६।१।७७) हुआ है उसको स्थानिवद्भाव होनेके कारण वह ' अच् ' आगे है ऐसा समझकर पिछले उकारको यण् होता है ।

पट्व्या मृद्व्येति । बाढं संगृहीतम् । ननु चेकारयणा व्यवहितत्वान्नासौ निमित्तात्पूर्वो भवति । व्यवहिते ऽपि पूर्वशब्दो वर्तते । तद्यथा । पूर्वं मथुरायाः पाटलिपुत्रमिति ॥ अथवा पुनरस्त्वादेश एवाभिसंबध्यते । कथं यानि स्वविधौ स्थानिवद्भावस्य प्रयोजनानि । नैतानि सन्ति । इह तावदायन् आसन् धिन्वन्ति कृण्वन्तीति । अयं विधिशब्दो ऽस्त्येव कर्मसाधनो विधीयते विधिरिति । अस्ति भावसाधनो विधानं विधिरिति । तत्र कर्मसाधनस्य विधिशब्दस्योपादाने न सर्वमिष्टं संगृहीतमिति कृत्वा भावसाधनस्य विधिशब्दस्योपादानं विज्ञास्यते । पूर्वस्य विधानं प्रति पूर्वस्य भावं प्रति पूर्वः स्यादिति स्थानिवद्भवतीत्येवमाड् भविष्यतीट् च न

इसका संग्रह होता है सही, परंतु ईकारके स्थानपर बना हुआ जो यण् है उससे व्यवधान आनेके कारण पटुका उकार निमित्तकी अपेक्षा पूर्व है ऐसा नहीं कहा जा सकता।

यह आक्षेप ठीक नहीं है। क्योंकि व्यवधान होनेपर भी पूर्वशब्दका प्रयोग किया हुआ दिखाई देता है, उदा०—पाटलिपुत्र शहर मथुराके पूर्व है ऐसा कहते हैं।

अथवा पूर्व शब्दके साथ आदेशका ही संबंध रहने दीजिये।

परंतु आदेशका पूर्वशब्दके साथ संबंध जोड़ा गया तो आदेशको स्वयंको विधि कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव होता है इसके जो उदाहरण दिखाये गये हैं उनका क्या ?

उदाहरण सिद्ध करनेके लिये वैसा अर्थ लेना आवश्यक नहीं है। उनमेंसे आयन्, आसन्, धिन्वन्ति, कृण्वन्ति ये उदाहरण दूसरे प्रकारसे सिद्ध होते हैं। वे ऐसे कि विधि शब्द धा धातुको कर्म अर्थमें 'कि' प्रत्यय (३।३।९२) लगकर सिद्ध हुआ है। जिसका विधान किया जाता है उसे विधि कहते हैं; उसी तरह वही 'कि' प्रत्यय उसी सूत्रसे भावके अर्थमें करके भी विधि शब्द सिद्ध किया जा सकता है। अर्थात् विधानको ही विधि कहा जा सकता है। इसमें कर्मके अर्थमें 'कि' प्रत्यय करके सिद्ध किया हुआ विधि शब्द यहाँ लेनेपर सब इष्ट उदाहरण सिद्ध नहीं किये जा सकते, इसीलिये भावके अर्थमें 'कि' प्रत्यय करके सिद्ध किया हुआ विधि शब्द यहाँ लिया गया है ऐसा मालूम होता है। पूर्वका विधान कर्तव्य होनेपर अर्थात् पूर्वका अस्तित्व जब रखना होता है, याने जो.करनेपर आदेशकी अपेक्षा पूर्व होगा वह कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव होता है ऐसा अर्थ होते ही आयन्, आसन् आदि उदाहरणोंमें स्थानिवद्भावको आट् आगम किया जा सकेगा। वैसेही धिन्वन्ति, कृण्वन्ति आदि उदाहरणोंमें इट् आगम स्थानिवद्भावसे नहीं होगा। दध्यत्र, मध्वत्र, चक्रतुः, चक्रुः ये उदाहरण

भविष्यति ॥ दध्यत्र मध्वत्र चक्रतुः चक्रुरिति परिहारं वक्ष्यति ॥

कानि पुनरस्य योगस्य प्रयोजनानि ।

स्तोष्याम्यहं पादिकमौदवाहिं ततः श्वोभूते शातनीं पातनीं च ।
नेतारावागच्छतं धारणिं रावणिं च ततः पश्चात्स्रंस्यते ध्वंस्यते च ॥

इह तावत्पादिकम् औदवाहिम् शातनीम् पातनीम् धारणिम् रावणिमित्यकारलोपे कृते पद्भाव ऊठल्लोपटिलोप इत्येते विधयः प्राप्नुवन्ति । स्थानिवद्भावान्न भवन्ति । स्रंस्यते ध्वंस्यते । णिलोपे कृते ऽनिदितां हल उपधायाः क्ङिति

सिद्ध करनेका उपाय आगे बतलाया जायेगा[११] ।

और कौनसे इस सूत्रके उदाहरण हैं ।

(श्लोकवार्तिक) बताता हूँ, सुनिये । पादिकम्, औदवाहिम् ये उदाहरण हैं । हे श्वोभूते शातनीम्, पातनीम् ये भी उदाहरण हैं। शिष्यो आइये । धारणिम्, रावणिम्, वैसे ही स्रंस्यते ध्वंस्यते ये भी इस सूत्रके उदाहरण हैं ।

वे ऐसे कि पादिकम्, औदवाहिम्, शातनीम्, पातनीम्, धारणिम्, रावणिम्, आदि स्थानोंपर पाद, उदवाह, शातन, पातन, धारण, रावण, आदि प्रातिपदिकोंके अंतिम अकारका लोप (६।४।१४८) करनेपर पद् आदेश (६।४।१३०) ऊठ् आदेश (६।४।१३२), ह्रस्व अकारका लोप (६।४।१३४) और 'टि' का लोप (६।४।१४४), ये विधियाँ प्राप्त होतीं हैं। परंतु अकारके लोपको स्थानिवद्भाव होकर व्यवधान आनेके कारण ये विधियाँ नहीं होतीं । वैसे ही 'स्रंस्यते', 'ध्वंस्यते' आदि स्थानोंपर णिच् प्रत्ययका लोप (६।४।५१) करनेपर 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (६।४।२४) सूत्रसे नकारका लोप प्राप्त होता है, परंतु णिच्के लोपको

---

११. 'दध्यत्र' आदि स्थानोंपर 'यण: प्रतिषेधः' वार्तिकसे संयोगान्तलोप नहीं होता । 'चक्रतु.' आदि उदाहरण 'द्विर्वचनेऽचि' (१।१।५९) सूत्रसे सध जायेंगे ।

१२ 'पादिक' शब्दमें 'पाद' शब्दके आगे 'ठन्' (५।२।११५) अथवा 'ठञ्' (४।४।२) प्रत्यय लगाया है। 'उदक-'शब्दपूर्वक 'वह्' धातुके आगे 'अण्' प्रत्यय (३।२।१), वृद्धि (७।२।११६) और 'उदक' शब्दको 'उद' आदेश (६।३।५७) होके 'उदवाह' शब्द सिद्ध होता है। 'उदवाह', 'धारण' और 'रावण' शब्दोंके आगे 'इञ्' प्रत्यय (४।१।९५) किया है। 'धृ' और 'रु' धातुओंके आगे 'णिच्' (३।१।२६) लगाकर 'धारि' और 'रावि' इन 'णिच्'-प्रत्ययान्त धातुओंके आगे ल्युट् प्रत्यय, 'णिच्'-का लोप (६।४।५१) और णत्व (८।४।२) होके 'धारण' और 'रावण' शब्द सिद्ध होते हैं। 'शातन' और 'पातन' शब्दोंके आगे ङीप् (४।१।४१) प्रत्यय लगाया है। इन दो स्थलोंपर 'अन्' के अकारका लोप प्राप्त होता है। 'धारणि' और 'रावणि' में णत्व असिद्ध (८।२।१) होनेसे नकारान्त है ऐसा समझकर 'टी-'का लोप प्राप्त होता है।

[६·४·२४] इति नलोपः प्राप्नोति। स्थानिवद्भावान्न भवति॥ नैतानि सन्ति प्रयोजनानि। असिद्धवदत्रा भात्[६·४·२२] इत्यनेनाप्येतानि सिद्धानि॥ इदं तर्हि प्रयोजनम्। याज्यते वाप्यते। णिलोपे कृते यजादीनां किति [६·१·१५] इति संप्रसारणं प्राप्नोति॥ स्थानिवद्भावान्न भवति। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। यजादिभिरत्र कितं विशेषयिष्यामो यजादीनां यः किदिति। कश्च यजादीनां कित्। यजादिभ्यो यो विहित इति। न चायं यजादिभ्यो विहितः॥ इदं तर्हि प्रयोजनम्। पट्व्या मृद्व्येति। परस्य यणादेशे कृते पूर्वस्य न प्राप्नोतीकारयणा

स्थानिवद्भाव होकर व्यवधान आनेके कारण वह नहीं होता।

ये इस सूत्रके उदाहरण ठीक नहीं हैं। क्योंकि 'असिद्धवदत्रा भात्' (६।४।२२) से भी ये सिद्ध होते हैं।

तो फिर इस प्रकृतसूत्रके उदाहरण याज्यते, वाप्यते लीजिये। इन स्थानोंपर णिच् प्रत्ययका लोप करनेपर 'वचिस्वपियजादीनां किति' (६।१।१५) सूत्रसे संप्रसारण प्राप्त होता है। परंतु णिच्के लोपको स्थानिवद्भाव होकर व्यवधान आनेके कारण वह नहीं होता।

ये भी प्रकृतसूत्रके उदाहरण ठीक नहीं हैं। क्योंकि 'वचिस्वपि०' सूत्रमें यजादि कित्का विशेषण किया जाय जिससे यज् आदि धातुओंका जो कित् प्रत्यय है वह आगे होनेपर संप्रसारण होता है ऐसा अर्थ होगा।

यज् आदि धातुओंका कित् प्रत्यय है सो कैसे जाना जाय?

यदि कित् प्रत्यय यज् आदि धातुओंसे किया हो तो यज् आदि धातुओंका है ऐसा समझा जाय। याज्यते, वाप्यते, इन उदाहरणोंमें यक् यह कित् प्रत्यय याजि और वापि इन णिच्–प्रत्ययान्त धातुओंसे किया होनेके कारण, यज् आदि धातुओंसे किया हुआ नहीं है; अतः यहाँ संप्रसारण होगा ही नहीं।

तो फिर इस सूत्रके पट्व्या, मृद्व्या, ये उदाहरण लीजिये। पट्व्या उदाहरणमें पटु, ई, आ ऐसी स्थिति होनेपर अगले ईकारको 'इको यणचि' (६।१।७७) से यण् आदेश करनेपर पीछेके उकारको उससे यण् नहीं होगा। क्योंकि ईकारको होनेवाले यणादेशसे व्यवधान आता है। परंतु उस ईकारको किये हुए यणादेशको स्थानिवद्भाव करनेके कारण वही अच् आगे है ऐसा मानकर पीछेके उकारको यण् किया जा सकता है।

---

१३. यज् और वप् धातुओंमें णिच् प्रत्यय लगाकर आगे कर्मणि 'लट्' प्रत्यय और बीचमें 'यक्' प्रत्यय (३।१।६७) विकरण हुआ है।

१४. पटु और मृदु शब्दोंमें ङीप् (४।१।४४) प्रत्यय लगाकर आगे तृतीया एकवचन 'टा' प्रत्यय किया है।

व्यवहितत्वात्। स्थानिवद्भावाद्भवति। किं पुनः कारणं परस्य तावद्भवति न पुनः पूर्वस्य। नित्यत्वात्। नित्यः परयणादेशः कृते ऽपि पूर्वयणादेशे प्राप्नोत्यकृते ऽपि प्राप्नोति। नित्यत्वात्परयणादेशे कृते पूर्वस्य न प्राप्नोति। स्थानिवद्भावाद्भवति॥ एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। असिद्धं बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षण इत्यसिद्धत्वाद्बहिरङ्गलक्षणस्य परयणादेशस्यान्तरङ्गलक्षणः पूर्वयणादेशो भविष्यति। अवश्यं चैषा परिभाषाश्रयित या स्वरार्थम्। कर्त्र्यो हर्त्र्येत्युदात्तयणो हल्पूर्वात् [६ १ १७४] इत्येष स्वरो यथा स्यात्। अनेनापि सिद्धः स्वरः। कथम्।

आरभ्यमाणे नित्योऽसौ

आरभ्यमाणे त्वस्मिन्योगे नित्यः पूर्वयणादेशः। कृते ऽपि परयणादेशे

परतु यहाँ पहले आगेके ईकारको ही यण् होता है और पीछेके उकारको प्रथम नहीं होता इसका कारण क्या है?

आगेके ईकारके स्थानपर होनेवाला यण् नित्य है इसलिये वह पहले होता है। परयणादेश यह पूर्वयणादेश करनेपरभी प्राप्त होता है और पूर्वयणादेश भी करनेके पूर्व भी प्राप्त होता है इसलिये परयणादेश नित्य है। अतः नित्य होनेके कारण वह परयणादेश प्रथम करनेपर पहलेके उकारको यण् प्राप्त नहीं होता। परंतु परयणादेशको स्थानिवद्भाव करनेपर पूर्वयणादेश किया जा सकता है।

यह भी स्थानिवद्भावका उदाहरण ठीक नहीं प्रतीत होता। क्योंकि 'अतरग शास्त्र कर्तव्य होनेपर बहिरगशास्त्र असिद्ध होता है' इस परिभाषासे बहिरग जो परयणादेश है वह असिद्ध होनेके कारण अंतरग जो पूर्वयणादेश है वही प्रथमतः होगा। और, यह परिभाषा तो करनी ही चाहिये क्योंकि कर्त्र्यो, हर्त्र्यो आदि स्थानोंपर स्वर होनेके लिये उसकी आवश्यकता है। इस स्थानपर 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' (६।१।१७४) सूत्रसे बताया हुआ स्वर होना चाहिये।

परतु यह परिभाषा नहीं ली तो भी स्थानिवद्भावसे भी वह स्वर सिद्ध होता है?

सो कैसे?

सो ऐसे कि स्थानिवद्भाव लेनेपर पूर्वयणादेश नित्य होता है। क्योंकि परयणादेश प्रथम किया तो भी स्थानिवद्भावसे पूर्वयणादेश प्राप्त होता है और परयणादेश

---

१५ 'कर्तृ' शब्दको ङीप् प्रत्यय (४।१।५) लगाकर आगे तृतीया-एकवचन 'टा' प्रत्यय किया है। ङीप् प्रत्यय अनुदात्त (३।१।४) है। प्रथमतः उदात्त ऋकारको यण् आदेश किया जानेसे उस उदात्त यणके अगले अनुदात्त ङीप् प्रत्ययको उदात्त (६।१।१७४) होता है। और बादमें उस उदात्त ईकारको यण् आदेश हुआ तो उस उदात्त यणके अगले अनुदात्त (३।१।४) 'टा'-प्रत्ययको फिरसे उसी सूत्रसे उदात्त होता है।

प्राप्नोत्यकृते ऽपि ॥ परयणादेशो ऽपि नित्यः। कृते ऽपि पूर्वयणादेशे प्राप्नोत्यकृतेऽपि।

परश्चासौ व्यवस्थया।

व्यवस्थया चासौ परः॥

युगपत्संभवो नास्ति

न चास्ति यौगपद्येन संभवः॥ कथं च सिध्यति।

बहिरङ्गेण सिध्यति॥

असिद्धं बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षण इत्यनेन सिध्यति॥ एवं तर्हि यो ऽत्रोदात्तयणतदाश्रयः स्वरो भविष्यति। ईकारयणा व्यवहितत्वान्न प्राप्नोति। स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवद्भवतीति नास्ति व्यवधानम्। सा तर्ह्येषा परिभाषा

करनेके पूर्वभी प्राप्त होता है।

परयणादेश भी नित्य है क्योंकि वह भी पूर्वयणादेश करनेपर भी प्राप्त होता है और पूर्वयणादेश करनेके पूर्व भी प्राप्त होता है।

इसके सिवा, उदाहरणमें क्रम देखनेपर वह पर भी है।

और दोनों यणादेश तो एकसाथ नहीं किये जा सकते। फिर पट्व्या आदि उदाहरण कैसे सिद्ध होंगे?

'अंतरंगशास्त्र कर्तव्य होनेपर बहिरंगशास्त्र असिद्ध होता है।' इस परिभाषासे ही ये उदाहरण सिद्ध होते हैं।

तो फिर 'कर्त्र्या' उदाहरणमें उदात्त ऋकारके स्थानपर यण् बना हुआ है। उस निमित्तही आगेके विभक्ति-प्रत्ययको स्वर किया जा सकेगा।

वैसा स्वर नहीं किया जा सकेगा। क्योंकि बीचमें ईकारको बना हुआ जो यण् है उससे व्यवधान आता है।

परंतु 'स्वरविधि कर्तव्य होनेपर व्यंजन नहींके बराबर माना जाय' यह परिभाषा होनेके कारण कर्त्र्या स्थानपर यकारसे व्यवधान है ऐसा नहीं कहा जा सकेगा।

---

१६. तब पूर्वयणादेश पहले किया गया तो अंतरंगपरिभाषाके बिना ही यह उदाहरण सिद्ध होगा ऐसा अभिप्राय है।

१७. अतः अंतरंगपरिभाषाके बिना अन्य किसी भी तरह पूर्वयणादेश प्रथमतः नहीं किया जा सकता।

१८. अभिप्राय यह है कि अंतरंग परिभाषा यद्यपि नहीं ली और पूर्वयणादेश पहले नहीं हुआ, परयणादेश होनेके बाद ही पूर्वयणादेश हुआ, तो वह रेफ उदात्त यण् होनेके कारण उसके निमित्त एकदम 'टा' प्रत्ययको उदात्त होगा।

कर्तव्या। ननु चेयमपि कर्तव्यासिद्धं बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षण इति। बहुप्रयोजनैषा परिभाषा। अवश्यमेषा कर्तव्या। सा चाप्येषा लोकतः सिद्धा। कथम्। प्रत्यङ्गवर्ती लोको लक्ष्यते। तद्यथा। पुरुषो ऽयं प्रातरुत्थाय यान्यस्य प्रतिशरीरं कार्याणि तानि तावत्करोति ततः सुहृदां ततः संबन्धिनाम्। प्रातिपदिकं चाप्युपदिष्टं सामान्यभूते ऽर्थे वर्तते। सामान्ये वर्तमानस्य व्यक्तिरुपजायते। व्यक्तस्य सतो लिङ्गसंख्याभ्यामन्वितस्य बाह्येनार्थेन योगो भवति। यथैव चानुपूर्व्यार्थानां प्रादुर्भावस्तथैव शब्दानामपि तद्वत्कार्यैरपि भवितव्यम्॥ इमानि तर्हि प्रयोजनानि। पट्यति अवधीत् बहुखट्वकः॥ पट्यति लघयतीति टिलोपे

तो फिर 'स्वरविधि कर्तव्य होनेपर व्यंजन नहींके बराबर है' ऐसी परिभाषा करनी चाहिये।

'अतरंगशास्त्र कर्तव्य होनेपर बहिरंगशास्त्र असिद्ध होता है' यह परिभाषा आपको करनी चाहिये न ?

'अंतरंगशास्त्र कर्तव्य होनेपर बहिरंगशास्त्र असिद्ध होता है' इस परिभाषाके उपयोग बहुत हैं। उसके लिये वह अवश्य करनी ही चाहिये। इसके अतिरिक्त, वह परिभाषा लोकव्यवहारसे भी सिद्ध होती है।

सो कैसे ?

पासवालेको पहले देखनेकी लोगोंकी पद्धति दिखाई देती है, जैसे, मनुष्य सुबह उठनेपर स्वयंके शरीरके कार्य है वे सबसे पहले करता है, बादमें मित्रोंके कार्य करता है, और उसके बाद फिर अन्य संबंधी लोगोंके कार्य करता है। वैसे ही बोलते समय भी प्रातिपदिक सुननेपर पहले उससे सामान्य अर्थ मनमें आता है। वैसा सामान्य अर्थ मनमें आनेपर उस सामान्य अर्थसे युक्त व्यक्ति मनमें आता है। उसके बाद उस व्यक्तिका लिंग और संख्यासे जो संबंध है वह मनमें आता है। और उसके बाद उस व्यक्तिका दूसरे पदार्थ से जो संबंध है वह मनमें आता है। और बादमें जिस क्रमसे ये अर्थ मनमें आते है उसी क्रमसे उस अर्थको दिखानेवाले शब्दसे संबंध होता है। और कार्य भी उसी क्रमसे होते रहते हैं।

तो फिर इस सूत्रके ये उदाहरण लीजिये-पट्यति, लघयति, अवधीत, बहुखट्वकः। पट्यति, लघयति इन उदाहरणोंमें पटु, लघु, इन शब्दोंसे णिच् प्रत्यय करके

---

१९ तब अंतरंगपरिभाषा नहीं ली तो यह परिभाषा लेनी पड़ी। इसमें कुछ भी लाभ नहीं दीख पड़ता ऐसा अभिप्राय है।

२० 'इस प्रकार तुम और हम समान ही है, तो फिर अंतरंगपरिभाषा लेनेके बारेमें तुम्हारा इतना आग्रह क्यों ?' ऐसा अभिप्राय है।

कृते ऽत उपधायाः [७·२·११६] इति वृद्धिः प्राप्नोति। स्थानिवद्भावात् भवति ॥ अवधीदित्यकारलोपे कृते ऽतो हलादेर्लघोः [७·२·७] इति विभाषा वृद्धिः प्राप्नोति। स्थानिवद्भावान्न भवति ॥ बहुखट्वक इत्यापो ऽन्यतरस्याम् [७·४·१५] इति ह्रस्वत्वे कृते ह्रस्वान्ते ऽन्त्यात्पूर्वम् [६·२·१७४] इत्येष स्वरः प्राप्नोति। स्थानिवद्भावान्न भवति ॥

इह वैयाकरणः सौवश्व इति य्वोः स्थानिवद्भावादायावौ प्राप्नुतस्तयोः प्रतिषेधो वक्तव्यः।

अचः पूर्वविज्ञानादैचोः सिद्धम् ॥ १ ॥

यो ऽनादिष्टादचः पूर्वस्तस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भाव आदिष्टाच्चैषो ऽचः

टिलोप (६।४।१५५) करनेपर 'अन उपधायाः' (७।२।११६) सूत्रसे वृद्धि प्राप्त होती है। परंतु प्रकृतसूत्रसे टिलोपको स्थानिवद्भाव करनेके कारण नहीं होती। वैसे ही अवधीत् उदाहरणमें वधके अकारका लोप (६।४।४८) करनेपर 'अतो हलादेर्लघोः' (७।२।७) सूत्रसे विकल्पसे वृद्धि प्राप्त होती है। परतु अकारलोपको स्थानिवद्भाव करनेके कारण नहीं होती। बहुखट्वकः उदाहरणमें खट्वा शब्दके अकारको 'आपोन्यतरस्याम्' (७।४।१५) सूत्रसे ह्रस्व करनेपर 'ह्रस्वान्तेऽन्त्यात्पूर्वम्' (६।२।१७४) सूत्रसे उदात्त स्वर प्राप्त होता है, परंतु प्रकृत सूत्रसे ह्रस्वको स्थानिवद्भाव करनेके कारण नहीं होता।

अब वैयाकरणः, सौवश्वः, उदाहरणोंमें 'इको यणचि' (६।१।७७) सूत्रसे यण् आदेश करनेपर उन यकारवकारोंको स्थानिवद्भावसे अच् आगे है ऐसा समझकर आय्, और आव् (६।१।७८) ये आदेश प्राप्त होते है उनका निषेध बताना चाहिये।

(वा. १) स्थानिभूत 'अच्-से पूर्ववर्णके कार्य कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव होता है ऐसा माननेपर ऐ और औ को आय् और आव् आदेश न होकर रूपसिद्धि होती है।

जो स्थानिभूत अच्से पूर्व होगा उसे कार्य कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव होता है ऐसा माननेपर ऐ और औ को आय् और आव् आदेश न होकर रूप सिद्ध होंगे। क्योंकि,

२१ वि और आ उपसर्गपूर्वक 'कृ'-धातुके आगे 'ल्युट्' प्रत्यय (३।३।११३), 'अन' आदेश (७।१।१), ऋकारको गुण (७।३।८४) और 'वि-' के इकारको यकार आदेश (६।१।७७) होके 'व्याकरण' शब्द सिद्ध होता है। उसके आगे 'अण्' प्रत्यय (४।२।५५) होके यकारके पीछे ऐ आगम (७।३।३) हुआ है। 'सु अश्व' में उकारको वकार आदेश (६।१।७७) होके 'स्वश्व' शब्द सिद्ध हुआ है। उसके आगे 'अण्' प्रत्यय (४।३।१२०) होके वकारके पीछे 'औ' आगम हुआ है।

पूर्वः। किं वक्तव्यमेतत्। न हि। कथमनुच्यमानं गंस्यते। अच इति पञ्चमी। अचः पूर्वस्य। यद्येवमादेशोऽविशेषितो भवति। आदेशश्च विशेषितः। कथम्। न ब्रूमो यत्षष्ठीनिर्दिष्टमज्ग्रहणं तत्पञ्चमीनिर्दिष्टं कर्तव्यमिति। किं तर्ह्यन्यत्कर्तव्यम्। अन्यच्च न कर्तव्यम्। यदेवादः षष्ठीनिर्दिष्टमज्ग्रहणं तस्य दिक्शब्दैर्योगे पञ्चमी भवति। अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भवति। कुतः पूर्वस्य। अच इति। तद्यथा। आदेशः प्रथमानिर्दिष्टः। तस्य दिक्शब्दैर्योगे पञ्चमी भवति। अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भवति। कुतः

ये ऐकार और औकार स्थानिभूत अच्से पूर्व नहीं हैं। आदेशकी अपेक्षा पूर्व हैं।

परंतु ऐसा क्या विशेषण कहना आवश्यक है?

नहीं।

फिर ऐसा नहीं बताया गया तो कैसे ज्ञात होगा?

'अचः' यह पंचमी लेकर अर्थात् अच्से पूर्व ऐसा अर्थ होगा।

परंतु अगर 'अचः' को पंचमी मानकर उसका अन्वय पूर्वके साथ *किया तो* आदेशके साथ उसका अन्वय नहीं है, ऐसा होगा।

आदेशके साथ भी उसका *अन्वय किया जा सकेगा।*

सो कैसे?

सो ऐसे कि 'अचः' पद *जो षष्ठी प्रत्यय लगाकर उच्चारित किया गया है* वह पंचमी प्रत्यय लगाकर उच्चारित किया जाय ऐसा हमारा कहना नहीं है।

तो फिर क्या पंचमी *प्रत्यय लगाकर* 'अचः' ऐसा दूसरा पद *उच्चारित किया* जाय ऐसा आपका कहना है?

वैसाभी दूसरा उच्चारित नहीं करना है। जो सूत्रमें *षष्ठी प्रत्यय लगाकर* उच्चारित *किया है और जिसका* आदेशके साथ संबंध *बन गया है* उसीको पूर्व इस *दिक्-शब्दको* अवधिकी आकांक्षा आनेपर पंचमी लगाकर पूर्वशब्दके साथ संबंध जोड़ा जा सकेगा। सो ऐसे कि परके निमित्त बना हुआ अच्के स्थानका जो आदेश है उसे स्थानिवद्भाव *होता है, पूर्वको विधि कर्तव्य होनेपर वह पूर्व किसकी अपेक्षा ऐसी आकांक्षा आनेपर* स्थानिभूत अच्की अपेक्षा पूर्व ऐसा अर्थातही गृहीत माना जा सकता है। जिस प्रकार आदेश यह पद प्रथमाविभक्तिमें उच्चारित किया जाकरभी 'पूर्व' इस दिक्-शब्दको अवधिकी आकांक्षा आनेपर उस *आदेशको* पंचमी *लगाकर 'पूर्व'के साथ आपने कभी* संबंध दिखाया था वह ऐसा कि परके निमित्त बना हुआ अच्के स्थान का आदेश है

---

२२. कारण यह कि यणके 'वि–' का जो इकार और 'गु'–का जो उकार है उनको 'यण्' करनेके पहले ये ऐकार और औकार आगम नहीं हुए थे।

पूर्वस्य । आदेशादिति ॥

तत्रादेशलक्षणप्रतिषेधः ॥ २ ॥

तत्रादेशलक्षणं कार्यं प्राप्नोति तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । वाय्वोः अध्वर्वोः । लोपो व्योर्वलि [६·१·६६] इति यलोपः प्राप्नोति ॥ असिद्धवचनात्सिद्धम् । अजादेशः परनिमित्तकः पूर्वस्य विधिं प्रत्यसिद्धो भवतीति वक्तव्यम् ।

असिद्धवचनात्सिद्धमिति चेदुत्सर्गलक्षणानामनुदेशः ॥ ३ ॥

असिद्धवचनात्सिद्धमिति चेदुत्सर्गलक्षणानामनुदेशः कर्तव्यः । पट्व्या मृद्व्येति ॥ ननु चैतदप्यसिद्धवचनात्सिद्धम् ।

उसे स्थानिवद्भाव होता है, पूर्वको विधि कर्तव्य होनेपर । वह पूर्व किसकी अपेक्षा ऐसी आकांक्षा आनेपर आदेशकी अपेक्षा पूर्व ऐसा अर्थात् गृहीत माना था उसी तरह यह है ।

(वा. २) तोभी आदेशके निमित्त जो कार्य प्राप्त होता है उसका निषेध कहना चाहिये ।

ऐसा स्थानिवद्भाव हुआ तो भी आदेशके निमित्त जो कार्य प्राप्त होता है उसका निषेध बताना चाहिये; उदा० – वाय्वोः, अध्वर्वोः, यहाँ आदेश जो 'व'कार है उसके निमित्तसे 'लोपो व्योर्वलि' (६।१।६६) इस सूत्रसे 'य'कारका लोप होने लगेगा ।

परके निमित्तसे अच्के स्थानमें जो आदेश हुआ है वह पूर्वको विधि कर्तव्य होनेपर असिद्ध होता है ऐसा माना जाय ।

(वा. ३) (अच्के स्थानका आदेश पूर्वको विधि कर्तव्य होनेपर) असिद्ध होता है ऐसा कहनेसे इष्टसिद्धि होती है ऐसा माना जाय तो उत्सर्गके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले कार्यका अतिदेश करना होगा ।

परके निमित्तसे बना हुआ जो अच्के स्थानका आदेश है वह पूर्वको विधि कर्तव्य होनेपर असिद्ध होता है ऐसा करनेसे वाय्वोः, अध्वर्वोः ये उदाहरण सिद्ध होते हैं ऐसा कहा जाय तो स्थानीके निमित्तसे प्राप्त होनेवाले जो कार्य हैं उनका अतिदेश करना होगा । उदा० पट्व्या, मृद्व्या ।

परंतु आदेश असिद्ध होता है ऐसा कहनेसे पट्व्या, मृद्व्या, ये उदाहरण भी सिद्ध होंगे ।

---

२३. 'वैयाकरणः, सौवश्वः यहाँ स्थानिवद्भावसे आय्, आव् आदेश होंगे' यह आशंका करते समय शंकाकारने यह समझ रखा था कि वे ऐकार और औकार, यकार और वकार आदेशोंको अपेक्षा पूर्व हैं ।

२४. कारण यह कि आदेशको स्थानिवद्भाव किया तो भी यह अर्थ निष्पन्न नहीं होता कि 'उस आदेशके अपने स्वरूपपर अवलंबित होनेवाला कार्य नहीं होगा' ।

असिद्धवचनात्सिद्धमिति चेन्नान्यस्यासिद्धवचनादन्यस्य भावः ॥ ४ ॥

असिद्धवचनात्सिद्धमिति चेत्तन्न । किं कारणम् । नान्यस्यासिद्धवचनादन्यस्य भावः । न ह्यन्यस्यासिद्धत्वादन्यस्य प्रादुर्भावो भवति । न हि देवदत्तस्य हन्तरि हते देवदत्तस्य प्रादुर्भावो भवति ॥

तस्मात्स्थानिवद्वचनमसिद्धत्वं च ॥ ५ ॥

तस्मात्स्थानिवद्भावो वक्तव्यो ऽसिद्धत्वं च । पट्व्या मृद्व्येत्यत्र स्थानिवद्भावः । वाय्योः अध्वर्य्वोरित्यसिद्धत्वम् ॥

उक्तं वा ॥ ६ ॥

किमुक्तम् । स्थानिवद्वचनानर्थक्यं शास्त्रासिद्धत्वादिति । विषम उपन्यासः ।

(वा. ४) आदेश असिद्ध होता है ऐसा कहनेसे पट्व्या, मृद्व्या आदिकी सिद्धि होती है ऐसा कहा जाय तो बताना पड़ेगा कि एकको असिद्ध कहनेसे दूसरेकी उत्पत्ति नहीं होती।

आदेश असिद्ध होता है ऐसा कहनेसे पट्व्या, मृद्व्या, ये उदाहरण सिद्ध होंगे ऐसा नहीं कहा जा सकता।

क्यों भला ?

क्योंकि एकको असिद्ध कहनेसे दूसरेकी उत्पत्ति नहीं होती; जैसे लोगोंमें देवदत्तको मारनेवालेको मारनेपर देवदत्त सजीव नहीं होती।

(वा. ५) अतः स्थानिवद्भाव कहना चाहिये और असिद्धत्वभी कहना चाहिये।

तात्पर्य, प्रकृत सूत्रमें आदेशको स्थानिवद्भाव होता है ऐसा कहना चाहिये और आदेश असिद्ध होता है ऐसा भी कहना चाहिये। पट्व्या, मृद्व्या इनके लिये स्थानिवद्भाव बताना चाहिये और वाय्वोः, अध्वर्य्वोः, इनके लिये असिद्धत्व बताना चाहिये।

(वा. ६) अथवा यह वार्तिककारोंने बताया ही है।

वह क्या बताया है ?

स्थानिवद्वचनानर्थक्यं शास्त्रासिद्धत्वात् (६।१।८६ वा. ५), अर्थात् 'स्थानिवत्' ऐसा कहनेकी आवश्यकता नहीं है। कार्य असिद्ध होता है ऐसा अर्थ न लेता शास्त्र

---

२५. जब 'पट्व्या' में ईकारको हटाकर उसके स्थानमें जो यकार आदेश हुआ है वह प्रकृतसूत्रमें असिद्ध समझा गया तो भी उसके द्वारा हटाया गया जो ईकार है उसका उद्गम नहीं होता। अतः उस ईकारके निमित्त पिछले उकारको यण् आदेश नहीं किया जा सकता।

युक्तं तत्र यदेकादेशशास्त्रं तुक्शास्त्रे ऽसिद्धं स्यात्। अन्यदन्यस्मिन्। इह पुनरयुक्तम्। कथं हि तदेव नाम तस्मिन्नसिद्धं स्यात्। तदेव चापि तस्मिन्नसिद्धं भवति। वक्ष्यति ह्याचार्यः। चिणो लुकि तग्रहणानर्थक्यं संघातस्याप्रत्ययत्वात्तलोपस्य चासिद्धत्वादिति। चिणो लुक् चिणो लुक्येवासिद्धो भवति॥

काममतिदिश्यतां वा सच्चासच्चापि नेह भारो ऽस्ति।
कल्प्यो हि वाक्यशेषो वाक्यं वक्तर्यधीनं हि॥

अथवा वतिनिर्देशो ऽयं कामचारश्च वतिनिर्देशे वाक्यशेषं समर्थयितुम्।

असिद्ध होता है ऐसा अर्थ लेनेसे सब उदाहरण सिद्ध होते है[26]।

'पट्व्या' यहाँ यह दृष्टान्त ठीक लागू नहीं होता। क्योंकि एक आदेशशास्त्रको दूसरे तुक्शास्त्रकी दृष्टिसे असिद्ध कहना यह वहाँ योग्यही है। एक शास्त्र दूसरेकी दृष्टिसे असिद्ध हो सकेगा। परंतु यहाँ वैसा कहना ठीक नहीं होगा। पट्व्या मृद्व्या, इन स्थानोंपर यणशास्त्रकी दृष्टिसे वही यण् शास्त्र भला कैसे असिद्ध होगा[27]?

उसी शास्त्रकी दृष्टिसे वही शास्त्रभी असिद्ध होता है। क्योंकि आचार्य वार्तिककार आगे ऐसा कहनेवाले है–चिणो लुकि तग्रहणानर्थक्यम्। संघातस्याप्रत्ययत्वात् तलोपस्य चासिद्धत्वात् (६।४।१०४ वा. १)। वहाँ 'चिणो लुक्' यह शास्त्र उसी चिणोलुक्शास्त्रकी दृष्टिसे असिद्धही होता है[28]।

(श्लोकवार्तिक) अथवा यहाँ सत्, असत्, चाहे जैसा अतिदेश कीजिये। यहाँ हमारा कोई दबाव नहीं है। वाक्य वक्ताके अधीन होता है; वहाँ वाक्यशेष चाहे जैसा अपनी इच्छाकी तरह किया जा सकता है।

अथवा यहाँ 'स्थानिवत्' ऐसा स्थानि–शब्दके आगे 'वति' प्रत्यय लगाया है। और ऐसा 'वति' प्रत्यय जिस स्थानपर लगाया हो उस स्थानपर उस जैसा जो लेना है

---

२६. शास्त्र असिद्ध समझा गया तो वहाँ 'स्थानी नहीं गया और आदेश नहीं आया' यह भावना हो जानेसे 'स्थानीके निमित्त कार्य करना, और आदेशके निमित्त आया हुआ कार्य न करना' ये दोनों बातें आप-ही आप सिद्ध होती है।

२७. कारण यह कि यह नहीं समझा जाता कि आप ही अपनेको असिद्ध होता है।

२८. 'पटु इ आ' यहाँ उकारको वकार करनेवाला 'इको यणचि' शास्त्र भिन्न है और वहीं इकारको यकार करनेवाला 'इको यणचि' शास्त्र भिन्न है' यह कल्पना की गयी तो 'इको यणचि' की दृष्टिसे 'इको यणचि' शास्त्र असिद्ध है ऐसा कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि, असिद्ध कहनेसे 'स्थानीका कार्य होना और आदेशका कार्य न होना' ये दोनों बातें सिद्ध होती हैं ऐसा निश्चय होता है।

२९. 'स्थानीका कार्य होना और आदेशका कार्य न होना' ये दोनों 'स्थानिवत्' कहनेसे भी सिद्ध होती हैं यह प्रतिपादन भाष्यकार यहाँसे करते हैं।

तद्यथा। उशीनरवन्मद्रेषु यवाः। सन्ति न सन्तीति। मातृवदस्याः कलाः। सन्ति न सन्तीति। एवमिहापि स्थानिवद्भवति स्थानिवन्न भवतीति वाक्यशेष समर्थयिष्यामहे। इह तावत्पट्व्या मृद्व्येति यथा स्थानिनि यणादेशो भवत्येवमादेशेऽपि भवति। इहेदानीं वाय्वोः अध्वर्य्वोरिति यथा स्थानिनि यलोपो न भवत्येवमादेशे ऽपि न भवति॥

किं पुनरनन्तरस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भाव आहोस्वित्पूर्वमात्रस्य। कश्चात्र विशेषः।

अनन्तरस्य चेदेकानुदात्तद्विगुस्वरगतिनिघातेपूपसंख्यानम्॥ ७॥

अनन्तरस्येति चेदेकानुदात्तद्विगुस्वरगतिनिघातेपूपसंख्यानं कर्तव्यम्॥

वह अपनी इच्छानुसार लिया जा सकता है। जैसा उशीनरदेशकी तरहकी मद्रदेशमेंके यव माने जायें, ऐसा कहनेपर उशीनरदेशमें अगर यव हों तो मद्रदेशमेंभी हैं ऐसा ज्ञात होता है, और उशीनरदेशमें अगर यव न हों तो मद्रदेशमेंभी नहीं हैं ऐसा उसी वाक्यसे ज्ञात होता है। वैसेही इस लडकीमें माँजैसाही कलाकौशल्य है ऐसा कहनेपर अगर माँमें कलाकौशल्य हो तो लडकीमेंभी है ऐसा ज्ञात होता है, और अगर माँमें कलाकौशल्य न हो तो लडकीमेंभी नहीं है यह उसी वाक्यसे ज्ञात होता है। उसी प्रकार, प्रकृतसूत्रमेंभी आदेश स्थानीकी तरह होता है ऐसा कहनेपर स्थानी अगर किसी कार्यका कारण हो तो आदेशभी उस कार्यका कारण होता है ऐसा ज्ञात होता है, और स्थानी अगर किसी कार्यका कारण न होता हो तो उस कार्यको आदेशभी कारण नहीं होता ऐसा ज्ञात होता है। अतः पट्व्या, मृद्व्या, इन उदाहरणोंमें ईकार स्थानी होनेपर जैसे उसके निमित्तसे यण् आदेश होता है वैसेही उस ईकारको बना हुआ यकार आदेशभी यण् आदेशको कारणीभूत होता है। और वाय्वोः, अध्वर्य्वोः इन स्थानोंपर स्थानी उकार जैसे यकारके लोपका कारण नहीं होता वैसेही उस उकारको बना हुआ वकार आदेशभी यकारके लोपको कारणीभूत नहीं होता।

परन्तु क्या, 'स्थानीभूत अच्की अपेक्षा पूर्वको विधि कर्तव्य होनेपर' ऐसा जो यहाँ कहा है उस स्थानपर पूर्व यह बिलकुल निकटकाही लिया जाय अथवा दूरका भी चल सकेगा?

इन दोनोंमें अंतर क्या है?

(वा. ७) अत्यन्त निकटवालेको कार्य कर्तव्य होनेपर ऐसा कहा जाय तो एकानुदात्त, द्विगुस्वर और गतिनिघात इसलिये ये होते हैं ऐसा कहना चाहिये।

'बिलकुल निकटवालेकोही कार्य कर्तव्य होनेपर' ऐसा कहा जाय तो एकानुदात्त, द्विगुस्वर और गतिनिघात ये नहीं होंगे, इसलिये वे होते हैं

एकाननुदात्त। लुनीह्यत्र पुनीह्यत्र। अनुदात्तं पदमेकवर्जम् [६·१·१५८] इत्येष स्वरो न प्राप्नोति॥ द्विगुस्वर। पञ्चारत्न्यः दशारत्न्यः। इगन्तकाल [६·२·२९] इत्येष स्वरो न प्राप्नोति॥ गतिनिघात। यत्प्रलुनीह्यत्र यत्प्रपुनीह्यत्र। तिङि चोदात्तवति [८·१·७१] इत्येष स्वरो न प्राप्नोति॥ अस्तु तर्हि पूर्वमात्रस्य।

पूर्वमात्रस्येति चेदुपधाह्रस्वत्वम्॥ ८॥

पूर्वमात्रस्येति चेदुपधाह्रस्वत्वं वक्तव्यम्। वादितवन्तं प्रयोजितवान् अवीवदद्वीणां परिवादकेन। किं पुनः कारणं न सिध्यति। यो ऽसौ णौ णिर्लुप्यते तस्य स्थानिवद्भावाद् ह्रस्वत्वं न प्राप्नोति॥

ऐसा कहना चाहिये। लुनीह्यत्र, पुनीह्यत्र इन स्थानोंपर भी प्रत्ययमेंके उदात्त इकारको यण् आदेश होनेपर स्थानिवद्भावसे उदात्त इकार है ऐसा मानकर पहलेके वर्णोंको शेषनिघात (६।१।१५८) होता है, सो नहीं होगा। वैसेही पञ्चारत्न्यः, दशारत्न्यः इन स्थानोंपर अरत्निशब्दमेंके इकारको यण् आदेश होनेपर स्थानिवद्भावसे अरत्नि ऐसा इगन्त उत्तरपद है ऐसा मानकर पूर्वपदको जो प्रकृतिस्वर (६।२।२९) होता है वह नहीं होगा। वेसेही 'यत् प्रलुनीह्यत्र,' 'यत् प्रपुनीह्यत्र' इन स्थानोंपर भी प्रत्ययमेंके उदात्त इकारको यण् आदेश होनेपर स्थानिवद्भावसे उदात्तयुक्त तिङन्त है ऐसा मानकर 'प्र'को जो अनुदात्त (८।१।७१) होता है, सो नहीं होगा।

तो फिर पूर्व (वर्ण) बिलकुल निकटका न हो तो भी चल सकेगा, ऐसाही रहने दीजिये।

(वा. ८) बिलकुल निकटका न होनेपरभी चलेगा ऐसा कहा जाय तो उपधाको ह्रस्वविधान करना पड़ेगा।

परंतु निकटका न होनेपर भी चल सकेगा ऐसा कहा जाय तो उपधाह्रस्वका विधान करना होगा; उदा० वादितवन्तं प्रयोजितवान्—इस अर्थमें 'अवीवदत् वीणां परिवादिकेन' इस स्थानपर अवीवदत् यहाँ बजाना इस अर्थके णिजन्त 'वद्' धातुसे पुनः दूसरा 'णिच्' प्रत्यय किया है।

परंतु यहाँ उपधाको ह्रस्व (७।४।१) क्यों नहीं होगा?

दूसरा णिच् आगे होते हुए यहाँ जो पहले णिच्का लोप हुआ है उसे स्थानिवद्भाव हुआ तो उससे व्यवधान आनेके कारण ह्रस्व नहीं होगा।

---

१०. 'वाद्-'का आकार स्थानिभूत अच्की अपेक्षा अर्थात् पहले णिच्की अपेक्षा अत्यंत निकटवर्ती नहीं है। कारण यह कि दकारसे व्यवधान है। परन्तु अत्यंत निकटवर्ती चाहे न हो केवल पूर्व होना चाहिये ऐसा कहा गया तो यहाँ स्थानिवद्भाव होगा।

गुरुसंज्ञा च ॥ ९ ॥

गुरुसंज्ञा च न सिध्यति। श्लेष्माऽन्न पित्ताऽन्न दाऽध्यश्च माऽध्वश्च। हलोऽनन्तराः संयोगः [१·१·७] इति संयोगसंज्ञा संयोगे गुरु [१·४·११] इति गुरुसंज्ञा गुरोरिति प्लुतो न प्राप्नोति। ननु च यस्याप्यनन्तरस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भावस्तस्याप्यनन्तरलक्षणो विधिः संयोगसंज्ञा विधेया॥

न वा संयोगस्यापूर्वविधित्वात्॥ १०॥

न वैष दोषः। किं कारणम्। संयोगस्यापूर्वविधित्वात्। न पूर्वविधिः संयोगः। किं तर्हि। पूर्वपरविधिः संयोगः॥

एकादेशस्योपसंख्यानम्॥ ११ ॥

(वा. ९) वैसेही गुरु संज्ञाभी नहीं होगी।

वैसेही 'पूर्व वर्ण यह बिलकुल निकटका न हो तो भी चल सकेगा' ऐसा कहा तो गुरुसंज्ञाभी नहीं होगी; उदा० श्लेष्मऽन्न, पित्तऽन्न, दऽध्यश्च, मऽध्वश्च, इस स्थानपर 'हलोनन्तराः संयोगः' (१।१।७) इस सूत्रसे संयोगसंज्ञा होकर पीछेके अकारको 'संयोगे गुरु' (१।४।११) इस सूत्रसे गुरुसंज्ञा होकर उसे 'गुरोरनृतो०' (८।२।८६) इससे प्लुत होता है। वह पहले दो उदाहरणोंमें हन् धातुमेंके अकारके लोपको (६।४।९८) और आगेके दो उदाहरणोंमें यणको स्थानिवद्भाव हुआ तो संयोग आगे न होनेके कारण गुरुसंज्ञा न होनेसे प्लुत नहीं होगा।

परंतु बिलकुल निकटवालेकोही कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव होता है ऐसा जिसका पक्ष है उसके मतमेंभी संयोगसंज्ञा बिलकुल निकटवालेकोही होनेवाली होनेके कारण स्थानिवद्भावसे वह नहीं होगी। अतः वह संयोगसंज्ञा होती है ऐसा कहनाही पड़ेगा।

(वा. १०) अथवा यह दोष नहीं आता। क्योंकि संयोगसंज्ञा पूर्ववर्णका कार्य नहीं है।

यह दोष नहीं आता।

क्यों?

'संयोगस्यापूर्वविधित्वात्' अर्थात् संयोगसंज्ञा पहले वर्णको होनेवाली विधि नहीं है।

तो फिर संयोगसंज्ञा किसको आनेवाली है?

पूर्व और पर इन दोनोंको मिलाकर होनेवाली है। और यहाँ पूर्वको विधि अर्थात् केवल पूर्वकोही जो विधि है सो लिया जाता है।

(वा. ११) एकादेशको स्थानिवद्भाव होता है ऐसा कहा जाय।

एकादेशस्योपसंख्यानं कर्तव्यम्। श्रायसौ गौमतौ चातुरौ आनडुहौ पादे उद्वाहे। एकादेशे कृते नुमामौ पद्भाव ऊडित्येते विधयः प्राप्नुवन्ति॥ किं पुनः कारणं न सिध्यति।

उभयनिमित्तत्वात्॥ १२॥

अजादेशः परनिमित्तक इत्युच्यत उभयनिमित्तश्चायम्॥

उभयादेशत्वाच्च॥ १३॥

अच आदेश इत्युच्यते ऽचोश्चायमादेशः॥ नैष दोषः। यत्तावदुच्यत उभयनिमित्तत्वादिति। इह यस्य ग्रामे नगरे वानेकं कार्यं भवति शक्नोत्यसौ

दोनोंके स्थानमें होनेवाले एकादेशको स्थानिवद्भाव होता है ऐसा कहा जाय। उदाहरणः—श्रायसौ, गौमतौ, चातुरौ, आनडुहौ, पादे, उद्वाहे। श्रायसौ, गौमतौ, यहाँ वृद्धिरूप एकादेश (६।१।८८) करनेपर नुम् आगम (७।१।१०) प्राप्त होता है। चातुरौ, आनडुहौ, यहाँ वृद्धिरूप एकादेश करनेपर 'आम्' आगम (७।१।९८) प्राप्त होता है। पादे यहाँ गुण एकादेश (६।१।८७) करनेपर 'पद्' आदेश (६।१।१३०) प्राप्त होता है। उद्वाहे यहाँ गुण एकादेश करनेपर 'ऊठ्' आदेश (६।४।१३२) प्राप्त होता है। एकादेशको स्थानिवद्भाव होनेके कारण नुम् आदि विधि नहीं होते है।

परंतु यहाँ 'अचः परस्मिन्०' इस प्रकृतसूत्रसे क्यों स्थानिवद्भाव नहीं होगा ?

(वा. १२) एकादेश पूर्व और पर दोनोंके निमित्तसे हुआ होता है इसलिये।

परके निमित्तसे बना हुआ अच्के स्थानका जो आदेश है उसे स्थानिवद्भाव होता है ऐसा प्रकृतसूत्रसे बताया है। और एकादेश पूर्व और परके दोनोंके निमित्तसे हुआ होता है।

(वा. १३) एकादेश दो स्वरोंके स्थानपर बना हुआ है इसलिये भी।

(एक) अच्के स्थानपर बने हुए आदेशको स्थानिवद्भाव होता है ऐसा प्रकृतसूत्रसे बताया है। और एकादेश तो दो अचोंके स्थानपर बना हुआ आदेश है।

यह दोष नहीं आता। क्योंकि एकादेश पूर्व और पर इन दोनोके निमित्तसे बना हुआ है ऐसा जो बताया गया है सो सही है। फिरभी उसको उसमेंसे एकके निमित्तसे बना हुआ ऐसा कहा जा सकता है। देखिये, एकाध मनुष्य एकाध गाँवमें या शहरमें अनेक कार्य करनेके लिये गया हो तो वह उन अनेक कार्योंके लिये आया है

---

३१. 'श्रेयस्' शब्दके आगे अण् प्रत्यय (४।३।१३) होके और 'ए'कारको 'आ'कार आदेश (७।३।१) होके 'श्रायस' शब्द सिद्ध होता है। 'गोमत्', 'चतुर्' और 'अनडुह्' शब्दोंको अण् प्रत्यय (४।३।१२०) होके और उन शब्दोंके पहले अच्को वृद्धि (७।२।११७) होके गौमत, चातुर और आनडुह शब्द सिद्ध होते हैं।

ततो ऽन्यतरद् व्यपदेष्टुम्। तद्यथा। गुरुनिमित्तं वसामः। अध्ययननिमित्तं वसाम इति॥ यदप्युच्यत उभयादेशत्वाच्चेति। इह यो द्वयोः षष्ठीनिर्दिष्टयोः प्रसङ्गे भवति लभतेऽसावन्यतरतो व्यपदेशम्। तद्यथा। देवदत्तस्य पुत्रः। देवदत्तायाः पुत्र इति॥

अथ हलचोरादेशः स्थानिवद्भवत्युताहो न। कश्चात्र विशेषः।

हलचोरादेशः स्थानिवदिति चेद्विंशतेस्तिलोप एकादेशः॥ १४॥

हलचोरादेशः स्थानिवदिति चेद्विंशतेस्तिलोप एकादेशो वक्तव्यः। विंशकः विंशं शतम् विंशः॥

स्थूलादीनां यणादिलोपेऽवादेशः॥ १५॥

ऐसा सर्वत्र कहता नहीं फिरता है। कहीं कुछ बताता है, कहीं कुछ। कहीं बताता है कि मैं गुरुके लिये यहाँ रहा हूँ। कहीं कहता है मैं अध्ययनके लिये रहा हूँ।

वैसेही दो अचोंका यह आदेश है ऐसा जो कहा है वहभी सही ही है। परंतु उसमेंके एकही स्थानीका निर्देश करनेमें कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि षष्ठी प्रत्यय लगाकर दो स्थानियोंका निर्देश करके उनके स्थानपर जो एक आदेश बताया होता है उसे उन दो स्थानियोंमेंसे किसीभी स्थानमें बना हुआ कहा जा सकता है। जैसे देवदत्ता और देवदत्त इन माँबापके बच्चेको देवदत्तका पुत्रही कहा जाता है और देवदत्ताका पुत्रभी कहा जाता है।

अब हल् (व्यञ्जन) और अच् (स्वर) इन दोनोंके स्थानपर बना हुआ जो आदेश है उसे प्रकृतसूत्रसे स्थानिवद्भाव होता है या नहीं?

इन दोनोंमें भेद क्या है?

(वा १४) हल् और अच् इन दोनोंके स्थानपर बना हुआ आदेशको स्थानिवद्भाव होता है तो 'विंशति' शब्दके 'ति' का लोप होनेके बाद एकादेशका विधान करना पडेगा।

हल् (व्यंजन) और अच् (स्वर) इन दोनोंके स्थानपर बना हुआ जो आदेश है उसे स्थानिवद्भाव होता है ऐसा कहा जाय तो विंशकः, विंशं शतम्, विंश आदि उदाहरणोंमें 'विंशति' शब्दमेंके 'ति' का लोप (६।४।१४२) होनेके बाद उसे स्थानिवद्भाव होकर पररूप एकादेश नहीं होगा सो होता है ऐसा कहना पडेगा।

(वा. १५) स्थूल, दूर आदि शब्दोंके यणको आरंभ करके अगले भागका लोप होनेपर पीछेके ओकारको अव् आदेश कहना पडेगा।

स्थूलादीनां यणादिलोपे कृते ऽवादेशो वक्तव्यः । स्थवीयान् दवीयान् ॥

केकयमित्रय्वोरियादेश एत्वम् ॥ १६ ॥

केकयमित्रय्वोरियादेश एत्वं न सिध्यति । कैकेयः मैत्रेयः । अचीत्येत्वं न सिध्यति ॥

. उत्तरपदलोपे च ॥ १७ ॥

उत्तरपदलोपे च दोषो भवति । दध्युपसिक्ताः सक्तवो दधिसक्तवः । अचीति यणादेशः प्राप्नोति ॥

यङ्लोपे यणियङुवङः ॥ १८ ॥

यङ्लोपे यणियङुवङः न सिध्यन्ति । नेच्यः नेन्यः चेक्षियः चेक्रियः लोलुवः पोपुवः । अचीति यणियङुवङो न सिध्यन्ति ॥ अस्तु तर्हि न स्थानिवत् ॥

स्थवीयान्, दवीयान्, इन उदाहरणोंमें स्थूल, दूर, इन शब्दोंमेंके यण्को आरंभ करके अगले भागका लोप होनेपर उसे स्थानिवद्भाव होनेके कारण पीछेके ओकारको अव् आदेश नहीं होगा सो होता है ऐसा कहना पड़ेगा।

(१६) केकय और मित्रयु शब्दोंके यकारादि भागको 'इय्' आदेश करनेपर एकार एकादेश कहना पड़ेगा।

कैकेयः मैत्रेयः इन उदाहरणोंमें केकय और मित्रयु इन शब्दोंके यकारादि भागको 'इय्' आदेश करनेपर वह अच् आगे होनेके कारण 'आद् गुणः' (६।१।८७) से जो एकादेश एकार होता है वह 'इय्' आदेशको स्थानिवद्भाव होनेके कारण नहीं होगा।

(वा. १७) उत्तरपदका लोप होनेपरभी स्थानिवद्भाव होनेसे दोष आता है। (१७)

उत्तरपदका लोप हुआ हो वहाँभी दोष आता है। उदा: दध्युपसिक्ताः सक्तवः दधिसक्तवः यहाँ उपसिक्त इस उत्तरपदका लोप होनेके बाद उसे स्थानिवद्भाव होनेसे उकार अच् आगे है ऐसा मानकर अच् आगे होनेपर बताया हुआ यण् आदेश होने लगेगा।

(वा. १८) यङ्का लोप होनेपर यण्, इयङ् और उवङ् नहीं होंगे। (१८)

(वा. १८) यङ्का लोप (२।४।७) होनेपर यण् (६।४।७७) इयङ् और उवङ् (६।४।७७) नहीं होंगे। उदा० नेच्यः, नेन्यः, चेक्षियः, चेक्रियः, लोलुवः, पोपुवः इन उदाहरणोंमें यङ्के लोपको स्थानिवद्भाव हुआ तो अच् आगे होनेपर बताये हुए यण्, इयङ् और उवङ् ये आदेश नहीं होंगे।

---

१२. नि, नी, क्षि, क्री, लू और पू इन धातुओंमें 'यङ्' प्रत्यय (३।१।२२) लगाकर आगे 'अच्' प्रत्यय (३।१।१३४) दिया है

अस्थानिवत्त्वे यङ्लोपे गुणवृद्धिप्रतिषेधः ॥ १९ ॥

अस्थानिवत्त्वे यङ्लोपे गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधो वक्तव्यः । लोलुवः पोपुवः सरीसृपः मरीमृज इति ॥ नैष दोषः । न धातुलोप आर्धधातुके [१·१·४] इति प्रतिषेधो भविष्यति ॥

किं पुनराश्रीयमाणायां प्रकृतौ स्थानिवद्भवत्याहोस्विदविशेषेण । कश्चात्र विशेषः ।

अविशेषेण स्थानिवदिति चेल्लोपयणादेशे गुरुविधिः ॥ २० ॥

अविशेषेण स्थानिवदिति चेल्लोपयणादेशयोर्गुरुविधिर्न सिध्यति । श्लेष्मघ्न पित्तघ्न दाध्यश्व माध्वश्व । हलो ऽनन्तराः संयोगः [१·१·७]

तो फिर हल और अच् इन दोनोंके स्थानपर बने हुए आदेशको स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसाही पक्ष रहने दीजिये।

(वा. १९) स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा कहा जाय तो 'यङ' का लोप होनेपर उसे स्थानिवद्भाव न होनेके कारण गुण और वृद्धि होने लगेंगे, उनका प्रतिषेध कहना पड़ेगा। (१९)

हल् और अच् इन दोनोंके स्थानपर बने हुए आदेशको स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा कहा जाय तो लोलुवः पोपुवः सरीसृपः मरीमृजः इन उदाहरणोंमें यङ्का लोप होनेपर उसे स्थानिवद्भाव न होनेके कारण आगेके अच् प्रत्ययको मानकर गुण (७।३।८४) और वृद्धि (७।२।११४) होने लगेंगे, उनका निषेध बताना पड़ेगा।

यह दोष नहीं आता। क्योंकि 'न धातुलोप आर्धधातुके' (१।१।४) इस सूत्रसेही वहाँ गुण और वृद्धि इनका निषेध पड़ेगा।

परंतु क्या, यहाँ जो पूर्वके विधि कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव करना है वह विधि स्थानीके निमित्तसेही प्राप्त होनेवाली होनी चाहिये या वैसा न हो तो चल सकेगा?

इन दोनोंमें क्या भेद है?

(वा. २०) कैसीही विधि हो, स्थानिवद्भाव होता है वैसा माना जाय तो लोप और यण् आदेश करनेपर पीछेके आकारको गुरु मानना नहीं होगा।

कैसाभी विधि क्यों न हो, स्थानिवद्भाव होता है ऐसा कहनेपर श्लेष्मघ्न, पित्तघ्न, इन स्थानोंपर हन् धातुके आकारका लोप (६।४।९८) करनेपर दाध्यश्व मध्वश्व इन स्थानोंपर यण् आदेश (६।१।७७) करनेपर पीछेके आकारको गुरु मानकर जो प्लुत होता है वह नहीं होगा। इन उदाहरणोंमें उस आकारके आगेके दो व्यंजनोंको 'हलोऽनन्तराः संयोगः' (१।१।७) इस सूत्रसे

इति संयोगसंज्ञा संयोगे गुरु [१·४·११] इति गुरुसंज्ञा गुरोरिति प्लुतो न प्राप्नोति ॥

द्विर्वचनादयश्च प्रतिषेधे ॥ २१ ॥

द्विर्वचनादयश्च प्रतिषेधे वक्तव्याः । द्विर्वचनवरेयलोपेति ॥

वसलोपे लुग्वचनम् ॥ २२ ॥

क्सलोपे लुग्वक्तव्यः । अदुग्ध अदुग्धाः । लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये [७·३·७३] इति ॥

हन्तेर्घत्वम् ॥ २३ ॥

संयोगसंज्ञा होती है। उसके पीछेके आकारको 'संयोग गुरु' (१।४।११) इस सूत्रसे गुरुसंज्ञा होती है। और 'गुरोरनृतः' (८।२।८६) इस सूत्रसे प्लुत होता है वह नहीं होगा।

(वा. २१) इसके सिवा आगेके सूत्रमें 'द्विर्वचन,' 'वरे,' 'यलोप' आदि शब्द रखने पड़ेंगे। (२१)

इसके सिवा, इस स्थानिवद्भावका निषेध बतानेवाले आगेके सूत्रमें द्विर्वचन आदि अर्थात्, द्विर्वचन, वरे और यलोप ये शब्द रखने चाहिये[23]।

(वा. २२) क्सका लोप कहनेवाले 'लुग्वा दुह्०' सूत्रमें 'लुक्' शब्द रखना पड़ेगा। (२२)

'लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये' (७।३।७३) इस सूत्रमें पीछेसे लोपपदकी अनुवृत्ति लाकर क्से अकारका लोप किया तो अदुग्ध, अदुग्धाः इन उदाहरणोंमें उस अकारके लोपको स्थानिवद्भाव होनेके कारण सकारका लोप (८।२।२६) नहीं होगा। इसलिये 'लुग्वा दुहदिह०' इस सूत्रमें लुक् शब्द रखना होगा।

(वा. २३) इसके सिवा, 'हन्' धातुके हकारका घ आदेश कहना पड़ेगा। (२३)

---

२३. पूर्वत्रो विधि स्थानीके निमित्त ही प्राप्त होनेवाली चाहिये ऐसा कहा गया तो द्विर्वचन आदि विधियाँ स्थानीके निमित्त प्राप्त न होनेके कारण स्थानिवद्भाव होगा ही नहीं। तब यहाँ अलग निषेध कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

२४. 'स' का लोप कहा तो भी 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२) परिभाषासे अन्त्यका अर्थात् अकारका ही लोप होनेवाला है। परन्तु लुक् कहा तो उसके बारेमें 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा नहीं आती, और संपूर्ण 'स' का लुक् होता है।

हन्तेश्च घत्वं वक्तव्यम्। घ्नन्ति घ्नन्तु अघ्नन्॥ अस्तु तर्ह्याश्रीयमाणायां प्रकृताविति।

ग्रहणेषु स्थानिवदिति चेज्जग्ध्यादिष्वादेशप्रतिषेधः॥ २४॥

ग्रहणेषु स्थानिवदिति चेज्जग्ध्यादिष्वादेशस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। निराद्य समाद्य। अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति [२·४·३६] इति जग्धिभावः प्राप्नोति॥

यणादेशे युलोपेत्वानुनासिकात्त्वप्रतिषेधः॥ २५॥

यणादेशे युलोपेत्वानुनासिकात्त्वानां प्रतिषेधो वक्तव्यः॥ यलोप। वाय्वोः अध्वर्य्वोः। लोपो व्योर्वलि [६·१·६६] इति यलोपः प्राप्नोति॥ उलोप।

(वा. २३) घ्नन्ति, घ्नन्तु, अघ्नन्, इन स्थानोंपर हन् धातुके अकारका लोप (६।४।९८) होनेपर उसे जब स्थानिवद्भाव हो तो पीछेके हकारको घकार आदेश (७।३) नहीं होगा। वह होनेके लिये वचन करना होगा।

तो फिर स्थानीके निमित्तसे प्राप्त होनेवाली विधि कर्तव्य हो तभी स्थानिवद्भाव होता है ऐसा पक्ष रहने दीजिये।

(वा. २४) स्थानीके निमित्तसे प्राप्त होनेवाली विधि कर्तव्य हो तोही स्थानिवद्भाव होता है ऐसा कहा जाय तो 'जग्धि'–आदि आदेशोंका प्रतिषेध करना चाहिये। (२४)

स्थानीके निमित्तसे प्राप्त होनेवाली विधि कर्तव्य होनेपरही स्थानिवद्भाव होता है ऐसा कहा जाय तो जग्धि आदि आदेशोंका निषेध बताना चाहिये। निराद्य, समाद्य, इन उदाहरणोंमें ल्यप्के लोपको (६।४।५२) स्थानिवद्भाव होनेके कारण 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति' (२।४।३६) इस सूत्रसे बताया हुआ जग्धि आदेश नहीं होता। परंतु अब स्थानिवद्भाव न होनेके कारण जग्धि आदेश होने लगेगा।

(वा. २५) यण् आदेश करनेपर 'य'का लोप, 'उ'का लोप, ईकार आदेश, और अनुनासिकका 'आ' आदेश, इन कार्योंका प्रतिषेध करना चाहिये। (२५)

उसी तरह और यण् आदेश करनेपर यकारका लोप, उकारका लोप, ईकार आदेश और अनुनासिकको बताया हुआ आकार आदेश इन कार्योंका निषेध बताना चाहिये। यलोपका उदाहरण—

वाय्वोः, अध्वर्य्वोः यहाँ 'लोपो व्योर्वलि' (६।१।६६) इससे प्राप्त यकारका लोप यण् आदेशको स्थानिवद्भाव होनेके कारण नहीं होता, पर अब स्थानिवद्भाव न

---

१५. कारण यह कि स्थानी जो ल्यप् है उसके निमित्त प्राप्त होनेवाला 'जग्धि' आदेश नहीं है।

अकुर्वि आशाम् अकुर्व्याशाम्। नित्यं करोतेर्ये च [६·४·१०८·१०९] इत्युकारलोपः प्राप्नोति ॥ ईत्व। अलुनि आशाम् अलुन्याशाम्। ई हल्यघोः [६·४·११३] इतीत्वं प्राप्नोति ॥ अनुनासिकात्त्व। अजज्ञि आशाम् अजज्ञ्याशाम्। ये विभाषा [६·४·४३] इत्यनुनासिकात्त्वं प्राप्नोति ॥

रायात्वप्रतिषेधश्च ॥ २६ ॥

राय आत्वस्य च प्रतिषेधो वक्तव्यः। रायि आशाम् राय्याशाम्। रायो हलि [७·२·८५] इत्यात्वं प्राप्नोति ॥

दीर्घे यलोपप्रतिषेधः ॥ २७ ॥

दीर्घे यलोपस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। सौर्ये नाम हिमवतः शृङ्गे तद्वान्सौर्यी

होनेके कारण होने लगेगा। उकारलोपका उदाहरण— अकुर्वि आशाम् अकुर्व्याशाम्। यहाँ 'नित्यं करोतेः' (६।४।१०८) इस सूत्रके आगेके 'ये च' (६।४।१०९) इस सूत्रसे बताया हुआ उकारका लोप यण् आदेशको स्थानिवद्भाव होनेके कारण नहीं होता, वह अब स्थानिवद्भाव न होनेके कारण होने लगेगा। ईकार आदेशका उदाहरण— अलुनि आशाम् अलुन्याशाम्। यहाँ 'ई हल्यघोः (६।४।११३) इस सूत्रसे बताया हुआ ईकार आदेश यण् आदेशको स्थानिवद्भाव होनेके कारण नहीं होता है, वह अब स्थानिवद्भाव न होनेके कारण होने लगेगा। अनुनासिकको बताये हुए आकार आदेशका उदाहरण— अजज्ञि आशाम् अजज्ञ्याशाम्। इस स्थानपर 'ये विभाषा' (६।४।४३) इस सूत्रसे नकारके स्थानपर बताया हुआ आकार आदेश यण् आदेशको स्थानिवद्भाव होनेके कारण नहीं होता है, वह अब स्थानिवद्भाव न होनेसे होने लगेगा।

(वा. २६) वैसे ही 'रै' शब्दको 'आ'कार आदेशकाभी प्रतिषेध करना पड़ेगा। (२६)

वैसेही 'रै' शब्दको बताये हुए आत्वकाभी निषेध बताना चाहिये। रायि आशाम् राय्याशाम्। यहाँ 'रायो हलि' (७।२।८५) इस सूत्रसे बताया हुआ आकार आदेश यण् आदेशको स्थानिवद्भाव होनेके कारण नहीं होता; वह अब स्थानिवद्भाव न होनेके कारण होने लगेगा।

(वा. २७) वैसेही दीर्घ करनेपर 'य'कारके लोपका प्रतिषेध करना चाहिये। (२७)

(वा. २७) वैसेही दीर्घ करनेपर यकारके लोपका प्रतिषेध बताना चाहिये। सौर्य नामके हिमवान् पर्वतके दो शिखर हैं। उन शिखरोंसे युक्त उस पर्वतको 'सौर्यी' कहते हैं। सौर्यिन् यहाँ सुप्रत्यय आगे होनेपर 'इन्हन्०' (६।४।१२) इस

---

३९. 'सूर्य' शब्दके आगे अण् प्रत्यय (४।३।१२) होके, अकारका लोप (६।४।१४८) और ऊकारको वृद्धिसे औकार (७।२।११७) होके 'सौर्य' शब्द बन गया है। इसके आगे 'इन्' प्रत्यय (५।२।११२) लगाया गया तो सौर्यिन् शब्द सिद्ध होता है।

हिमवानिति साविनाश्रये दीर्घत्वे कृत ईति यलोपः प्राप्नोति ॥

अतो दीर्घे यलोपवचनम् ॥ २८ ॥

अतो दीर्घे यलोपो वक्तव्यः। गार्ग्याभ्याम् वात्साभ्याम्। दीर्घे कृत आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति [६-४-१५१] इति प्रतिषेधः प्राप्नोति ॥ नैष दोषः। आश्रीयते तत्र प्रकृतिस्तद्धित इति ॥ सर्वेषामेव परिहारः। उक्तं विधिग्रहणस्य प्रयोजनं विधिमात्रे स्थानिवद्यथा स्यादनाश्रीयमाणायामपि प्रकृताविति ॥ अथवा पुनरस्त्वविशेषेण स्थानिवदिति। ननु चोक्तमविशेषेण स्थानिवदिति चेल्लोपयणादेशे गुरुविधिर्द्विर्वचनादयश्च क्सलोपे लुग्वचनं हन्तेर्घत्व-

---

सूत्रसे इकारको दीर्घ करनेपर 'सूर्यतिष्य०' (६।४।१४९) इस सूत्रसे बताया हुआ यकारका लोप दीर्घको स्थानिवद्भाव होनेके कारण नहीं होता है, वह अब स्थानिवद्भाव न होनेके कारण होने लगेगा।

(वा. २८) अकारको दीर्घ आदेश करनेपर यकारका लोप होता है ऐसा कहा जाय। (२८)

अकारको दीर्घ आदेश करनेपर यकारका लोप होता है ऐसा कहा जाय। गार्ग्याभ्याम् वात्साभ्याम् इन उदाहरणोंमें गार्ग्य और वात्स्य इन यञ्प्रत्ययान्त (४।१।१०५) शब्दोंसे किये हुए अण् प्रत्ययको (४।३।१२७) 'सुपि च' (७।३।१०२) इस सूत्रसे दीर्घभी होता है। यहाँ 'आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति' (६।४।१५१) इस सूत्रसे यकारका लोप होता है। दीर्घका स्थानिवद्भाव होनेके कारण 'अनाति' यह यलोपका निषेध नहीं होता। परंतु अब दीर्घको स्थानिवद्भाव न होनेके कारण अनाति यह निषेध होने लगेगा।

यह दोष नहीं आता। क्योंकि यलोप (६।४।१५१) यह तद्धित आगे होनेपर बताया हुआ होनेके कारण स्थानीके निमित्तसेही प्राप्त होनेवाला है। अतः स्थानिवद्भाव होनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

अबतक दिये हुए सब दोषोंका परिहार है। वह यह है कि 'विधि' यद्यपि स्थानीके निमित्तसे प्राप्त होनेवाली न हो तो भी स्थानिवद्भाव होना चाहिये ऐसा विधि शब्दका उपयोग पहले बतायाही गया है।

अथवा इतना प्रयत्न करनेका भी कारण नहीं है। स्थानीके निमित्तसे प्राप्त होनेवाली विधि हो या न हो, वहाँ स्थानिवद्भाव होता है ऐसा सूत्रार्थही करनेसे काम चल जायगा।

परंतु इस पक्षपर 'अविशेषेण स्थानिवदिति चेल्लोपयणादेशे गुरुविधिः' 'द्विर्वचनादयश्च,' 'क्सलोपे लुग्वचनम्' 'हन्तेर्घत्वम्' (वा. २०-२३), ऐसे दोष दिखाये हैं न?

मिति। नैष दोषः। यत्तावदुच्यते ऽविशेषेण स्थानिवदिति चेल्लोपयणादेशे गुरुविधिरिति। उक्तमेतत्। न वा संयोगस्यापूर्वविधित्वादिति ॥ यदप्युच्यते द्विर्वचनादयश्च प्रतिषेधे वक्तव्या इति। उच्यन्ते न्यास एव ॥ क्सलोपे लुग्वचनमिति। क्रियते न्यास एव ॥ हन्तेर्घत्वमिति। सप्तमे परिहारं वक्ष्यति ॥

न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु ॥ १।१।५८ ॥

पदान्तविधिं प्रति न स्थानिवदित्युच्यते तत्र वेतस्वानिति रुः प्राप्नोति। नैष दोषः। भसंज्ञात्र बाधिका भविष्यति तसौ मत्वर्थे [१-४-१९] इति।

ये दोष नहीं आते। अविशेषेण स्थानिवदिति चेल्लोपयणादेशे गुरुविधिः' यह जो दोष दिया है उसका परिहारभी 'न वा संयोगस्यापूर्वविधित्वात्' (वा. १०) ऐसा बताया है। वैसेही 'द्विर्वचनादयश्च प्रतिषेधे' ऐसा जो दोष दिया है वह भी दोष नहीं आता। क्योंकि स्थानिवद्भावका निषेध बतानेवाले 'न पदान्त०' इसके आगेके सूत्रमें द्विर्वचनआदि शब्द पाणिनिनेही रखे हैं। वैसेही 'सलोपे लुग्वचनम्' ऐसा जो दोष दिया है वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ भी 'लुग्वा दुह०' (६।३।७३) इस सूत्रमें लुक् शब्द पाणिनिने रखाही है। अब 'हन्तेर्घत्वम्' ऐसा जो अंतमें दोष दिया है उसका परिहार सातवें अध्यायमें (७।३।५४) बतानेवाला है।

(सू. ५८) पदका अन्त्यावयव करना हो, द्वित्व करना हो, 'वरे' प्रत्यय आगे हो, और यलोप, स्वर, सवर्ण, अनुस्वार, दीर्घ जश्त्व, और चर्त्व ये विधियाँ करनी हों तो पूर्वसूत्रसे पाया हुआ स्थानिवद्भाव नहीं होता। (सू. ५८)

पदान्तविधि कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा यहाँ कहा है। तब 'वेतस्वान्' यहाँ स्वादिष्वसर्व०' (१।४।१७) इससे बतायी हुई पदसंज्ञा यह पदान्तविधि कर्तव्य होनेपर वेतसके अकारके लोपको स्थानिवद्भावका निषेध होनेके कारण वेतस् इस सकारान्तको पदसंज्ञा होकर रुत्व (८।२।६६) होने लगेगा।

यह दोष नहीं आता। क्योंकि 'तसौ मत्वर्थे' (१।४।१९) इससे बतायी हुई भसंज्ञा पदसंज्ञाका बाध करेगी।

---

१ पदसंज्ञा होनेसे अमुक वर्ण पदका अन्त्यावयव है यह ध्यानमें आता है। वह वर्ण यद्यपि पहलेसे ही अस्तित्वमें आया है तो भी पदसंज्ञा होनेसे ही उसको 'पदका अन्त' ऐसा कहा जाता है। तब पदसंज्ञासे पदान्तका विधान होनेके कारण पदसंज्ञाको 'पदान्तविधि' कहा जाता है। 'वेतस' शब्दके आगे 'ड्मतुप्' प्रत्यय (४।२।८७) होके अकारका लोप (६।४।४३) हुआ है।

अकारान्तमेतद्भसंज्ञां प्रति । पदसंज्ञां प्रति सकारान्तम् । ननु चैवं विज्ञायते यः संप्रतिपदान्त इति । कर्मसाधनस्य विधिशब्दस्योपादान एतदेवं स्यात् । अयं च विधिशब्दो ऽस्त्येव कर्मसाधनो विधीयते विधिरिति । अस्ति भावसाधनो विधानं विधिरिति । तत्र भावसाधनस्य विधिशब्दस्योपादान एष दोषो भवति । इह च

यह बाध नहीं होगा। क्योंकि भसंज्ञा कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भावनिषेध न होनेके कारण भसंज्ञा यह 'वेतस' इस अकारान्त शब्दको होनेवाली है । और पदसंज्ञा 'वेतस्' इस सकारान्तको होनेवाली है ।

परंतु जो विधि अब पदान्तको होनेवाली है वह कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भावका निषेध बतलाया है न ? अतः पदसंज्ञा यह पदान्तविधि न होनेके कारण स्थानिवद्भाव होकर पदसंज्ञाभी भसंज्ञाकी तरह 'वेतस' इस अकारान्तकोही होनेवाली है ।

इस सूत्रमेंका 'विधि' शब्द कर्मणि 'कि' प्रत्यय (३।३।९२) करके सिद्ध किया है ऐसा गृहीत माना गया तो आपका कहना सही होगा । क्योंकि, यह विधिशब्द विधीयते इति विधिः इस तरह कर्मणि किप्रत्यय करकेभी साध्य किया जा सकता है। तात्पर्य, बनाया हुआ जो कार्य है उसे विधि कहा जा सकता है। और उस कार्यके विधानकोभी विधि कहा जा सकता है । अतः भावे कि प्रत्यय करके विधान अर्थका विधिशब्द यहाँ लेनेपर पदसंज्ञा यह पदान्तविधि होनेके कारण वेतस्वान् यहाँ दोष आयेगाही। वैसेही ब्रह्मबन्ध्वा, ब्रह्मबन्ध्वै यहाँ पदसंज्ञा यह पदान्तविधि कर्तव्य है इसलिये यणका स्थानिवद्भावका निषेध होनेके कारण धकारान्त भागको पदसंज्ञा होकर जश्त्व (८।२।३९) होने लगेगा।

---

(२) प्रकृतसूत्रके 'विधि 'शब्दमें 'कि' प्रत्यय 'भाव' अर्थमें करनेके बदले 'कर्म' अर्थमें किया तो 'विधि' शब्दका 'विधान' यही अर्थ न होकर 'जिसका विधान पाणिनिने किया है वह' अर्थात् यण्, गुण, पदसंज्ञा इत्यादि अर्थ होता है। वह पदान्तको होना हो तो प्रकृतसूत्रसे स्थानिवद्भावका निषेध होगा । पदसंज्ञासे पदान्तका विधान यद्यपि होता है तो भी 'पदान्तको पदसंज्ञा होती है' ऐसा कभी नहीं कहा जा सकता। तब पदसंज्ञा करना हो तो स्थानिवद्भावका निषेध नहीं होता।

३. 'ब्रह्मबन्धु' शब्दमें 'ऊङ्' प्रत्यय (४।१।६६) लगाकर और सवर्ण एकादेश (६।१।१०१) होकर ब्रह्मबन्धू शब्द सिद्ध हुआ है। आगे तृतीयाका एकवचन और चतुर्थीका एकवचन करके ये रूप सिद्ध हुए हैं। ऊकारको यण् (६।१।७७) हुआ है। इस यण्को और एकादेशको पदसंज्ञा (१।४।१७) कर्तव्य हो तो स्थानिवद्भाव न होनेसे धकारान्त भागको पदसंज्ञा होगी । भसंज्ञा धकारान्त अंशको प्राप्त नहीं होती इसलिए उससे पदसंज्ञाका बाध नहीं होता। क्योंकि भसंज्ञा कर्तव्य हो तो यण्को और एकादेशको स्थानिवद्भाव होनेके कारण उसकी दृष्टिसे एकादेशके पूर्वकी स्थिति होनेसे 'ब्रह्मबन्धु' को उकारान्त समझके वह प्राप्त होगी।

ब्रह्मबन्ध्वा ब्रह्मबन्ध्वै धकारस्य जश्त्वं प्राप्नोति ॥ अस्ति पुनः किंचिद्भावसाधनस्य विधिशब्दस्योपादाने सतीष्टं संगृहीतमाहोस्विद्दोषान्तमेव । अस्तीत्याह । इह कानि सन्ति यानि सन्ति कौ स्तः यौ स्त इति यो ऽसौ पदान्तो यकारो वकारो वा श्रूयेत स न श्रूयते । षडिकश्चापि सिद्धो भवति । वाचिकस्तु न सिध्यति । अस्तु तर्हि

परंतु ऐसा भावे 'कि' प्रत्यय करके सिद्ध किया हुआ विधिशब्द यहाँ लेनेमें क्या कोई इष्ट साध्य होता है? या दोष देनेमात्रके लिये वैसा विधि शब्द लिया गया है?

हमारा कहना है कि इष्ट साध्य होता है। देखिये कानि सन्ति, यानि सन्ति, कौ स्तः, यौ स्तः ये जो मूलके उदाहरण है उन स्थानोंपर यण् और आव् आदेश होकर पदान्त जो यकार या वकार सुननेमें आनेवाला है वह सुननेमें नहीं आता। क्योंकि, यकार और वकार इस पदान्तका विधान कर्तव्य होनेके कारण अकारके लोपका (६।४।१११) स्थानिवद्भावका निषेध होता है। इस तरह मूलके उदारहण सिद्ध करके षडिकः यह उदाहरणभी सिद्ध होता है।

परतु भावे कि प्रत्यय करके सिद्ध किया हुआ शब्द लिया तो वाचिक उदाहरण सिद्ध नहीं होता।

---

४ कर्मके अर्थमें 'कि' प्रत्यय लेके सिद्ध होनेवाले। यहाँ 'सन्ति' और 'सत' क्रियापदोंके 'अस्' धातुके अकारका जो लोप (६।४।१११) हुआ है वह स्थानिवद्भाव हुआ तो पाछेके इकारको यण् (६।१।७७) और औकारको आव् (६।१।७८) आदेश होगा। परन्तु पदान्त इकार और औकारको यण् और आव् आदेश ये विधियाँ कर्तव्य होनेसे स्थानिवद्भाव नहीं होता।

५ तब 'विधि' शब्दमें 'कि' प्रत्यय 'भाव' अर्थमें लिया तो भी 'कानि सन्ति', 'कौ स्त' ये उदाहरण सिद्ध होते हैं।

६ षड्ङ्गुलेदत्त और वागाशीर्दत्त ये दोनों सामासिक शब्द मनुष्यविशेषके नाम हैं। 'षष्' इस पूर्वपदके अन्त्य षकारको जश्त्ववसे डकार (८।२।३९) हुआ है। तथा 'वाच्' के चकारको कुत्वसे (८।२।३०) ककार होके जश्त्वसे (८।२।३९) गकार हुआ है। षड्ङ्गुलिदत्त और वागाशीर्दत्तको ठच् प्रत्यय (५।३।७८), उसको इक आदेश (७।३।५०), पूर्व शब्दके दूसरे अच्के अगले भागका लोप (५।३।८३), तदनन्तर दूसरे अच्का लोप (६।४।१४८) होके 'षडिक' और 'वाचिक' शब्द बनते हैं। 'षडिक' में भसंज्ञा कर्तव्य हो तो अकारके लोपको स्थानिवद्भाव होनेके कारण भसंज्ञा 'षष' अकारान्तको प्राप्त होती है इसलिए उसमे पदसज्ञाका बाध नहीं होता। कारण यह कि 'विधि' शब्दमें 'कि' प्रयय 'भाव' अर्थमें लिया जानेसे पदसंज्ञा कर्तव्य हो तो स्थानिवद्भावका निषेध होता है। अत पदसज्ञा अकारान्त 'षष' को न होके षकारान्त 'षष्' को प्राप्त होती है। उस पदसज्ञासे जश्त्व होके 'षडिक' उदाहरण सिद्ध होता है।

कर्मसाधनः। यदि कर्मसाधनः पटिकी न सिध्यति। अस्तु तर्हि भावसाधनः। वाचिकी न सिध्यति। वाचिकपडिकी न संवदेते। कर्तव्यो ऽत्र यत्नः॥ कथं ब्रह्मबन्ध्वा ब्रह्मबन्ध्वै। उभयत आश्रयणे नान्तादिवदिति॥ कथं वेतस्वान्। नैवं विज्ञायते पदस्यान्तः पदान्तः पदान्तविधिं प्रतीति। कथं तर्हि। पदे ऽन्तः

तो फिर वाचिकः उदाहरण सिद्ध करनेके लिये कर्मणि क्वि प्रत्यय करके साध्य किया हुआ विचिशब्दही यहाँ रहने दीजिये।

परंतु कर्मणि 'क्वि' प्रत्यय करके सिद्ध किया हुआ विचिशब्द यहाँ लिया गया तो पडिकः यह उदाहरण सिद्ध नहीं होता।

तो फिर पडिकः यह उदाहरण सिद्ध करनेके लिये भावे 'क्वि' प्रत्यय करके साध्य किया हुआ विधिशब्दही यहाँ रहने दीजिये।

परंतु वैसा लिया तो 'वाचिकः' यह उदाहरण सिद्ध नहीं होता।

वाचिक और पडिक इन दो उदाहरणोंमें एक दूसरेके बीच उत्पन्न हो गया विरोध जिस रीतिसे नष्ट हो ऐसा यत्न यहाँ किया जाय। वह यत्न याने भावसाधन विचिशब्द लेकर 'पडिकः' उदाहरण सिद्ध किया जाय, और 'वाचिकः' इस उदाहरणमें आशीर्दत्तः इस उत्तरपदका[७] लोप किया कि स्थानिवद्भावकी प्राप्तिही नहीं आती।

भावसाधन विचिशब्द लिया गया तो ब्रह्मबन्ध्वा, ब्रह्मबन्ध्वै ये उदाहरण कैसे सिद्ध किये जायँ?

'उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्' अर्थात्, एकही विधि कर्तव्य होनेपर पूर्वान्तवद्भाव और परादिवद्भाव (६।१।८५) ये दोनों एकसाथ नहीं होते ऐसी परिभाषा है। इसलिये ब्रह्मबन्धु यहाँ सवर्ण दीर्घ एकादेश होनेपर परादिवद्भावसे स्वादिप्रत्यय और पूर्वान्तवद्भावसे स्वादिप्रत्यय जिससे किया वह प्रकृतिभाग ये दोनों बातें एकसाथ न हो सकनेके कारण पदसंज्ञा (१।४।१७) नहीं होती।

भावसाधन विचिशब्द लिया तो वेतस्वान् उदाहरण कैसे सिद्ध होगा?

पदका जो अन्त है वही पदान्त है। पदान्तका जो विधि है वही पदान्तविधि है। वह पदान्तविधि कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा पदान्तविधिका अर्थ न समझा जाय।

तो फिर उसका अर्थ कैसे समझा जाय?

पद आगे होनेपर जो अंत है वही पदान्त है। पदान्तका जो विधि है वही

---

७. 'एकाक्षरपूर्वपदानामुत्तरपदलोपो वक्तव्यः' (५।१।८४ वा ४) वार्तिकसे उत्तरपदका लोप कहा है।

पदान्तः पदान्तविधिं प्रतीति ॥ अथवा यथैवान्यान्यपि पदकार्याण्युपप्लवन्ते रुत्वं जश्त्वं चैवमिदमपि पदकार्यमुपप्लोष्यते । किम् । भसंज्ञा नाम ॥

वरे यलोपविधिं प्रति न स्थानिवद्भवतीत्युच्यते तत्र ते अप्सु यायावरः प्रवपेत पिण्डान् अवर्णलोपविधिं प्रति स्थानिवत्स्यात् । नैष दोषः । नैवं विज्ञायते वरे यलोपविधिं प्रति न स्थानिवद्भवतीति । कथं तर्हि । वरे ऽयलोपविधिं प्रतीति । किमिदमयलोपविधिं प्रतीति । अवर्णलोपविधिं प्रति यलोपविधिं च प्रतीति ॥

पदान्तविधि है। वह पदान्तविधि कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा उसका अर्थ समझा जाय।

अथवा पदान्तविधि कहनेपर रुत्व, जश्त्व, इत्यादि पदकार्य जैसे मनमे आते है वैसेही यह भी पदकार्य के रूपमेंही मनमें आयेगा।

सो कौनसा ?

भसंज्ञा ही वह पदकार्य है। अतः भसंज्ञा कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भावनिषेध होनेके कारण वेतस्वान् आदि स्थानोंपर दोष नहीं आता।

'वर' प्रत्ययके निमित्तसे यकारका लोप कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा यहाँ कहा है। अतः 'अप्सु यायावरः प्रवपेत पिण्डान्' यहाँ 'यायाय' इस यङन्त 'या' धातुसे 'वर'प्रत्यय (३।२।१७६) करनेपर अकारका लोप (६।४।४८) और यकारका लोप (६।१।६६) होनेपर आकारका लोप (६।४।६४) कर्तव्य होनेपर अकारके लोपको स्थानिवद्भाव होगा और उससे आकारका लोप होने लगेगा।

यह दोष नहीं आता। वरप्रत्ययके निमित्तसे यलोप कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा अर्थ यहाँ न समझा जाय ?

तो फिर कैसा अर्थ समझा जाय।

वरप्रत्यय आगे होनेपर जो 'अयलोपविधि' वह कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा अर्थ समझा जाय।

'अयलोपविधि' का अर्थ क्या है ?

---

८. तब 'वेतस्वान्' में अगला प्रत्ययभाग पद न होनेके कारण पदसंज्ञा कर्तव्य हो तो भी स्थानिवद्भावका निषेध नहीं होता। अतः 'वेतस्' को पदसंज्ञा नहीं होती।

९. भसंज्ञा केवल पदकार्यका निषेध करनेके लिए होती है। अतः भसंज्ञा भी एक विशिष्ट प्रकारका पदकार्य है। तब 'कानि सन्ति' यहाँ जिस प्रकार 'अस्' धातुके अकारके लोपको स्थानिवद्भावका निषेध करके 'यण्-' का अर्थात् पदान्तविधिका प्रतिबंध होता है उसी प्रकार 'वेतस्वान्', और 'ब्रह्मबन्ध्वा' यहाँ स्थानिवद्भावका निषेध करके सकारान्तको भसंज्ञा करके 'रुत्व' आदि पदान्तविधिका प्रतिषेध होता है ऐसा समझा जाय।

अथवा योगविभागः करिष्यते। वरे लुप्तं न स्थानिवत्। ततो यलोपविधिं च प्रति न स्थानिवदिति ॥ यलोपे क्विमुदाहरणम्। कण्डूयतेरप्रत्ययः कण्डूरिति। नैतदस्ति। क्वौ लुप्तं न स्थानिवत् ॥ इदं तर्हि। सौरी बलाका। नैतदस्ति। उपधात्वविधिं प्रति न स्थानिवत् ॥ इदं तर्हि प्रयोजनम्। आदित्यः। नैतदस्ति। पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत् ॥ इदं तर्हि। कण्डूतिः वल्गूतिः। नैतदस्ति प्रयोजनम्।

अकारका लोप कर्तव्य होनेपर और यकारका लोप कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा उसका अर्थ है।

अथवा, यहाँ वरे और यलोप ऐसे दो स्थानिवद्भावके निषेधके अलग अलग निमित्त समझे जायें, जिससे वर प्रत्यय आगे होनेपर बने हुए लोपको कोईभी कार्य कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता और यकारका लोप कर्तव्य होनेपर कहींभी स्थानिवद्भाव नहीं होता।

यकारके लोपका उदाहरण कौनसा है?

'*कण्डूः*' *यही उसका उदाहरण है। यहाँ* '*कण्डूय*' *इस यक्*–(३।१।२७) प्रत्ययान्त धातुसे '*क्विप्*' प्रत्यय किया है। यहाँ अकारके लोपको (६।४।४८) स्थानिवद्भाव न होनेके कारण यकारका लोप (६।१।६६) होता है।

यह उदाहरण ठीक नहीं है। क्योंकि '*क्वौ लुप्तं न स्थानिवत्*' अर्थात् क्वि आगे होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा '*विलुप्तपधात्व*' (वा. २) इस वचनसेही यह सिद्ध है।

तो फिर यकारके लोपका उदाहरण '*सौरी बलाका*' लीजिये। यहाँ सूर्यशब्दसे अण् प्रत्यय (४।३।११२) करके आगे ङीप् (४।१।१५) प्रत्यय किया है। यहाँ सूर्यशब्दके अकार और अण् प्रत्ययका अकार इन दोनों अकारोंके लोपको (६।४।४८) स्थानिवद्भावका निषेध होनेपर आगेके '*आ*' कारका लोप असिद्ध (६।४।१४८) होनेके कारण उपधा–यकारका लोप (६।४।१४९) होता है।

यह उदाहरण भी ठीक नहीं है। क्योंकि 'उपधा सज्ञाके कारण होनेवाली विधि कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता' (वा. २) इस वचनसेही यह सिद्ध होता है।

तो फिर '*आदित्यः*' *यह उदाहरण लीजिये*। अदिति शब्दसे देवताके अर्थमें ण्य प्रत्यय (४।१।८५) करके बादमें पुनः '*तत्र भवः*' अर्थमें ण्य प्रत्यय (४।१।८५) किया है। यहाँ पहले ण्य प्रत्ययमेंके अकारके लोपको (६।४।४८) स्थानिवद्भाव न होनेके कारण पीछेके यकारको '*हलो यमां०*' (८।४।६४) इससे लोप हुआ है।

यह उदाहरण भी ठीक नहीं है। क्योंकि '*त्रिपादीमेंका कार्य कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता*' (वा. ३) इस वचनसेही यह सिद्ध होता है।

कण्डूया वल्गूयेति भवितव्यम् ॥ इदं तर्हि। कण्डूयतेः क्तिच्। ब्राह्मणकण्डूतिः क्षत्रियकण्डूतिः ॥

प्रतिषेधे स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेशो न स्थानिवत् ॥ १ ॥

प्रतिषेधे स्वरदीर्घयलोपविधिषु लोपाजादेशो न स्थानिवद्भवतीति वक्तव्यम् ॥ स्वर। आकर्षिकः चिकीर्षकः जिहीर्षकः। यो ह्यन्य आदेशः स्थानिवदेवासौ भवति। पञ्चारत्न्यः दशारत्न्यः। स्वर॥ दीर्घ। प्रतिदीव्ना प्रतिदीव्ने। यो ह्यन्य

तो फिर 'कण्डूतिः' 'वल्गूतिः' ये उदाहरण लीजिये। यहाँ 'कण्डूय' इस यक्-प्रत्ययान्त धातुसे क्तिन् प्रत्यय (३।३।९४) किया है। यहाँ अकारके लोपको स्थानिवद्भाव न होनेके कारण यकारका लोप होता है।

यह उदाहरण भी ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ क्तिन् प्रत्ययका बाध करके 'अ' प्रत्यय (३।३।१०२) होकर कण्डूया वल्गूया ऐसेही उदाहरण होनेवाले है।

तो फिर कण्डूय इस यक्-प्रत्ययान्त धातुसे क्तिच् प्रत्यय (३।३।१७४) करके सिद्ध किये हुए ब्राह्मणकण्डूतिः क्षत्रियकण्डूतिः ये उदाहरण यलोपके लिये जायें।

(वा. १) यह स्थानिवद्भाव-प्रतिषेधके बारेमें स्वर, दीर्घ और यकारका लोप कर्तव्य होनेपर अजादेशको स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा जो कहा है वह अजादेश लोप होगा तभी स्थानिवद्भावका निषेध होता है ऐसा कहा जाय। (१)

(वा. १) स्थानिवद्भावका निषेध बतानेवाले इस सूत्रमें स्वर, दीर्घ और यलोप कर्तव्य होनेपर अजादेशको स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा जो कहा है वह अजादेश लोप होगा तभी स्थानिवद्भावका निषेध होता है ऐसा कहा जाय। स्वरका उदाहरण आँकर्षिकः चिकीर्षकः जिहीर्षकः। इन उदाहरणोंमें लित् स्वर (६।१।१९३) कर्तव्य होनेपर बीचमें बने हुए 'आ'कारके लोपका स्थानिवद्भाव नहीं होता।

जिस स्थानपर लोपसे भिन्न अर्थात् भावरूप आदेश होगा वहाँ स्वर कर्तव्य होनेपर उसे स्थानिवद्भाव होगाही। उदाहरणः– पञ्चारत्न्यः[11] दशारत्न्यः। इन स्थानोंपर

---

१०. 'आकर्ष' शब्दको 'ष्ठल्' प्रत्ययको (४।४।९), 'इक' आदेश (७।३।५०), और पिछले अकारका लोप (६।४।१४८) हुआ है। चिकीर्ष इस सन्प्रत्ययान्त कृ धातुके आगे और जिहीर्ष इस सन्प्रत्ययान्त हृ धातुके आगे ण्वुल् प्रत्ययको (३।१।१३३) अक आदेश (७।१।१), और पीछेके अकारका लोप (६।४।४८) हुआ है।

११. 'पञ्चारत्नि' द्विगुसमासके आगे प्रथमा-बहुवचनका जस् प्रत्यय किया है। 'जसादिषु०' (७।३।१०९ वा. १) से गुणका विकल्प किया है।

आदेशः स्थानिवदेवासौ भवति । क्रियोंः गियोंः । दीर्घ ॥ यलोप । ब्राह्मणकण्डूतिः क्षत्रियकण्डूतिः । यो ह्यन्य आदेशः स्थानिवदेवासौ भवति । वाय्वोः अध्वर्य्वोरिति ॥ तत्तर्हि वक्तव्यम् । न वक्तव्यम् । इह हि लोपो ऽपि प्रकृत आदेशो ऽपि विधिग्रहणमपि प्रकृतमनुवर्तते दीर्घादयो ऽपि निर्दिश्यन्ते । केवल तत्राभिसंबन्धमात्रं कर्तव्यम् । स्वरदीर्घयलोपविधिषु लोपाजादेशो न स्थानिवदिति । आनुपूर्व्येण संनिविष्टानां यथेष्टमभिसंबन्धः शक्यते कर्तुं न चैतान्यानुपूर्व्येण

यण् आदेशको स्थानिवद्भाव होनेके कारण इगन्त उत्तरपद है इसलिये पूर्वपदको प्रकृतिस्वर (६।२।२९) होता है। दीर्घका उदाहरण :— प्रतिदीव्नो, प्रतिदीव्ने। यहाँ 'अ'कारके लोपको (६।४।१३४) स्थानिवद्भाव न होनेके कारण हल् आगे है इसलिये दिव् धातुकी उपधाको दीर्घ (८।२।७७) होता है। जिस स्थानपर लोपसे भिन्न अर्थात् भावरूप आदेश होगा वहाँ उसे दीर्घ कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव होगाही। उदाहरण :— "क्रियोंः गियोंः। यहाँ यण् आदेशको स्थानिवद्भाव होनेके कारण हल् आगे नहीं है इसलिये दीर्घ (८।२।७७) होता। यलोपका उदाहरण। ब्राह्मणकण्डूतिः क्षत्रियकण्डूतिः। जिस स्थानपर लोपसे भिन्न अर्थात् भावरूप आदेश होगा वहाँ उसे यलोप कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव होगाही। उदाहरण :— वाय्वोः, अध्वर्य्वोः।

तो फिर स्वर, दीर्घ और यलोप इनके विषयमें वैसा वचन करना चाहिये।

वैसा वचन करनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इस प्रकृतसूत्रमें लोपशब्द है ही। और आदेश शब्दकी अनुवृत्ति आती है और विधिशब्दकी भी अनुवृत्ति आती है। स्वर, दीर्घ, यलोप ये तो प्रकृतसूत्रमें उच्चारित किये ही हैं। केवल उनका संबंध करना है वह स्वर, दीर्घ, यलोप ये कर्तव्य होनेपर लोपरूप अजादेशकोही स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा किया जाना पर्याप्त होगा।

परंतु एक प्रकारके विशेष क्रमसे उच्चारित पदोंका अपनी इच्छाके अनुसार संबंध कर सकना संभव है। और ये पदको यहाँ वैसे क्रमसे उच्चारित नहीं दिखाई देते।

---

१२. 'प्रति'-उपसर्गपूर्वक 'दिव्' धातुके आगे कनिन् प्रत्यय (औणादिक १।१५४) करके प्रतिदिवन् शब्द बनाया गया है। उसके आगे तृतीया एकवचनका 'टा' प्रत्यय तथा चतुर्थी एकवचनका 'ङे' प्रत्यय किया है।

१३. 'कृ' और 'गृ' धातुओंके आगे 'इ' प्रत्यय (उणा० १४।१४२) और धातुके ऋकारको 'इत्व' (७।१।१००) होके 'किरि' और 'गिरि' शब्द सिद्ध हुए हैं। उनके आगे षष्ठी-द्विवचनका 'ओस्' प्रत्यय किया है।

१४. 'वायु' और 'अध्वर्यु' शब्दोंके आगे 'ओस्' प्रत्यय और उकारको यण् वकार (६।१।७७) हुआ है। उस यण्को स्थानिवद्भाव होनेके कारण आगे 'वल्' नहीं ऐसा समझके यकारका लोप (६।१।६६) नहीं होता।

संनिविष्टानि। अनानुपूर्व्येणापि संनिविष्टानां यथेष्टमभिसंबन्धो भवति। तद्यथा। अनड्वाहमुदहारि या त्वं हरसि शिरसा कुम्भं भगिनि साचीनमभिधावन्तमद्राक्षीरिति। तस्य यथेष्टमभिसंबन्धो भवति। उदहारि भगिनि या त्वं कुम्भं हरसि शिरसानड्वाहं साचीनमभिधावन्तमद्राक्षीरिति॥

क्विलुगुपधात्वचङ्परनिर्ह्रासकुत्वेषूपसंख्यानम्॥ २॥

क्विलुगुपधात्वचङ्परनिर्ह्रासकुत्वेषूपसंख्यानं कर्तव्यम्॥ क्वौ किमुदाहरणम्। कण्डूयतेरप्रत्ययः कण्डूरिति। नैतदस्ति। यलोपविधिं प्रति न स्थानिवत्॥ इदं तर्हि। पिपठिषतेरप्रत्ययः पिपठीः। नैतदस्ति। दीर्घविधिं प्रति न स्थानिवत्॥

वैसे विशेष प्रकारके क्रमसे पद उच्चारित न हो तो भी उनका अपनी इच्छाकी तरह संबंध किया जा सकता है। जैसे बैलको, पानी लानेवाली, जो, तू, लाती है, मस्तकसे, गागर, भगिनी, टेढा-मेढा दौडनेवाले, देखने लगी? ऐसे पद यद्यपि उच्चारित किये हों तो भी उनका अपनी इच्छाके अनुसार संबंध जोड दिया जा सकता है, सो इस तरह है 'हे पानी लानेवाली भगिनी, जो तू मस्तकसे गागर लाती है, वह तू टेढा मेढा दौडनेवाले बैलको देखने लगी?'

(वा. २) क्विप् प्रत्यय करनेपर, लुक्को, उपधासंज्ञानिमित्तक कार्यको, चङ्पर णि आगे होनेपर होनेवाला ह्रस्वको, और कुत्वविधि कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भावका प्रतिषेध कहा जाय। (२)

क्विप् प्रत्यय करनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता। लुक्को स्थानिवद्भाव नहीं होता और उपधासंज्ञाके निमित्तसे होनेवाला कार्य, चङ्पर णि आगे होनेपर होनेवाला ह्रस्व और कुत्वविधि कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता।

क्विप् प्रत्यय आगे होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता इसका उदाहरण कौनसा है।

कण्डूय इस यगन्त धातुसे क्विप् प्रत्यय करनेपर कण्डूः ऐसा रूप होता है, यहाँ अकारके लोपको (६।४।४८) स्थानिवद्भाव न होनेके कारण यकारका लोप (६।१।६६) होता है।

यह उदाहरण ठीक नहीं है। क्योंकि 'यकारका लोप कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता' ऐसा इस प्रकृतसूत्रमेंही कहा है। उसीसे यह सिद्ध होता है।

तो फिर 'पिपठीः' उदाहरण लीजिये। यहाँ पिपठिष् इस सन्प्रत्ययान्त धातुसे क्विप् प्रत्यय किया है। यहाँ अकारके लोपको (६।४।४८) स्थानिवद्भाव न होनेसे दीर्घ (८।२।७६) होता है।

यह उदाहरण भी ठीक नहीं है। क्योंकि दीर्घ कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा इस प्रकृत सूत्रमेंही कहा है, उसीसे यह सिद्ध होता है।

इदं तर्हि । लावयतेर्लौः पावयतेः पौः । नैतदस्ति । अकृत्वा वृद्ध्यावादेशौ णिलोपः । प्रत्ययलक्षणेन वृद्धिर्भविष्यति ॥ इदं तर्हि । लवमाचष्टे लवयति । लवयतेरप्रत्ययो लौः पौः । स्थानिवद्भावाण्णेरूण्न प्राप्नोति । क्वौ लुप्तं न स्थानिवदिति भवति ॥ एवमपि न सिध्यति । कथम् । क्वौ णिलोपो णावकारलोपस्तस्य स्थानिवद्भावादूण्न प्राप्नोति ।नैष दोषः । नैवं विज्ञायते क्वौ लुप्तं न स्थानिवदिति । कथं तर्हि । क्वौ विधिं प्रति न स्थानिवदिति ॥ लुकि किमुदाहरणम् । बिम्बम्

तो फिर लौः और पौः उदाहरण लीजिये । यहाँ लू और पू इस णिच्-प्रत्ययान्त धातुओंसे क्विप् प्रत्यय किया है । यहाँ णिच्के लोपको (६।४।५१) स्थानिवद्भाव न होनेके कारण ऊठ् (६।४।१९) हुआ है ।

येभी उदाहरण ठीक नहीं है । क्योंकि लू और पू इन धातुओंको वृद्धि, आवादेश करनेके पहलेही णिच् प्रत्ययका लोप होता है । उसके बाद प्रत्ययलक्षणसे वृद्धि (७।२।११५) करनेपर ये उदाहरण सिद्ध होते हैं ।

तो फिर लौः यही उदाहरण दूसरे प्रकारका लीजिये । इस स्थानपर 'लव' शब्दसे णिच् प्रत्यय करके आगे क्विप् प्रत्यय किया है । यहाँ अकारके लोपको (६।४।१५५) और णिच्के (६।४।५१) लोपको स्थानिवद्भाव हुआ तो ऊठ् आदेश नहीं होगा । परंतु 'क्विप् प्रत्यय आगे होनेपर बने हुए लोपको स्थानिवद्भाव नहीं होता' इस निषेधसे स्थानिवद्भाव न होनेके कारण ऊठ् आदेश होता है ।

तो भी यह उदाहरण सिद्ध नहीं होता ।

सो क्यों ?

यहाँ क्विप् प्रत्यय आगे होनेपर णिच् प्रत्ययका लोप हुआ है और णिच् आगे होनेपर 'अ' कारका लोप हुआ है । उस अकारके लोपको स्थानिवद्भाव होगाही और उससे ऊठ् नहीं होगा ।

यह दोष नहीं आता । क्योंकि 'क्विप् प्रत्ययके निमित्तसे बने हुए लोपको स्थानिवद्भाव नहीं होता' ऐसा इस वार्तिकमेंके 'क्वि' शब्दका अर्थ न समझा जाय। तो 'क्विप्' प्रत्ययके निमित्तसे होनेवाला जो विधि है वह कर्तव्य होनेपर किसीभी लोपको स्थानिवद्भाव नहीं होता' ऐसा अर्थ समझा जाय ।

लुक्को स्थानिवद्भाव नहीं होता इसका उदाहरण कौनसा है ?

---

१५. 'लू' और 'पू' धातुओंको 'वृद्धि' (७।२।११५) और आव् (६।१।७८) होनेके बाद उस वकारको क्विप् प्रत्यय आगे आनेके कारण ऊठ् आदेश होके वृद्धि और एकादेश (६।१।८९) हुए हैं और लौ और पौ शब्द सिद्ध होते हैं । 'णिच्' के लोपको स्थानिवद्भाव हो जाता तो बीचमें व्यवधान आनेसे ऊठ् आदेश न होता ।

बदरम्। नैतदस्ति। पुंवद्भावेनाप्येतत्सिद्धम्॥ इदं तर्हि। आमलकम्। एतदपि नास्ति। वक्ष्यत्येतत्। फले लुग्वचनानर्थक्यं प्रकृत्यन्तरत्वादिति॥ इदं तर्हि पञ्चभिः पट्वीभिः क्रीतः पञ्चपटुः दशपटुरिति। ननु चैतदपि पुंवद्भावेनैव सिद्धम्। कथं पुंवद्भावः। भस्याढे तद्धिते पुंवद्भवतीति। भस्येत्युच्यते यजादौ च भं भवति न चात्र यजादिं पश्यामः। प्रत्ययलक्षणेन यजादिः। वर्णाश्रये नास्ति प्रत्यय-

बिम्बी[१६], बदरम्, ये उसके उदाहरण हैं। यहाँ बिम्ब + ई, बदर + ई, इन ङीष्प्रत्ययान्त शब्दोंसे आगे किये हुए अञ् (४।३।१४०) प्रत्ययका लुक् (४।३।१६३) होनेपर ङीष् प्रत्ययकाही लुक् (१।२।४९) हुआ है। उस लुक्को स्थानिवद्भाव न होनेके कारण पीछेके अकारका लोप (६।४।१४८) नहीं होता।

यह उदाहरण ठीक नहीं है। क्योंकि 'भस्याढे तद्धिते' (६।३।३५ वा. ११) इस वार्तिकसे पुंवद्भाव करनेसेभी ये उदाहरण सिद्ध होते हैं।

तो फिर 'आमलकम्' उदाहरण लीजिये। (यहाँ आमलक + ई इस ङीष्-प्रत्ययान्त शब्दसे आगे किये हुए मयट् (४।३।१४४) प्रत्ययका लुक् (४।३।१६३) होनेके बाद ङीष् प्रत्ययकाभी लुक् हुआ है। उस लुक्को स्थानिवद्भाव न होनेके कारण पीछेके अकारका लोप नहीं होता। भसंज्ञा न होनेके कारण पुंवद्भावसे यह उदाहरण सिद्ध नहीं होता।)

यह भी उदाहरण ठीक नहीं है। क्योंकि 'फले लुग्वचनानर्थक्यं प्रकृत्यन्तरत्वात्' ऐसा वहाँ (४।३।१६३ वा. १) वार्तिककार कहनेवाले है हीं।

तो फिर पञ्चभिः पट्वीभिः क्रीतः पञ्चपटुः दशपटुः ये उदाहरण लीजिये। पञ्चपटु + ई इन ङीष्-(४।१।४४) प्रत्ययान्त शब्दसे किये हुए ठक् (५।१।१९) प्रत्ययका लुक् (५।१।२८) होनेपर ङीष् प्रत्ययकाभी लुक् हुआ है। उस लुक्को स्थानिवद्भाव न होनेसे उकारको यण् नहीं होता।

परंतु यह उदाहरण भी पुंवद्भावसे सिद्ध होता है।

यहाँ पुंवद्भाव कैसा होगा? क्योंकि 'ढ प्रत्ययको छोड़ तद्धित प्रत्यय आगे होनेपर भसंज्ञकको पुंवद्भाव होता है' ऐसा वहाँ (६।३।३५ वा. ११) भसंज्ञकको पुंवद्भाव बताया है। भसंज्ञा (१।४।१८) यजादि प्रत्यय आगे होनेपर होती है और यहाँ तो यजादि प्रत्यय कोई भी नहीं दिखाई देता।

परंतु प्रत्ययलक्षणसे यजादिप्रत्यय आगे है ऐसा भी कहा जा सकता है।

१६. बिम्बीके फलको बिम्ब कहते हैं, और बदरीके फलको बदर कहते हैं। बिम्बी अर्थात् कंदूरी, बदरी अर्थात् बेरका पेड़।

१७. 'ठक्' प्रत्ययको 'इक' आदेश होनेके बाद उसका लुक् हुआ है। तब प्रत्यय-लक्षणसे अजादिप्रत्यय आगे है ऐसा समझा जा सकता है।

लक्षणम् । एवं तर्हि ठक्छसोश्चेत्येवं भविष्यति । ठक्छसोश्चेत्युच्यते न चात्र ठक्छसौ पश्यामः । प्रत्ययलक्षणेन । न लुमता तस्मिन्निति प्रत्ययलक्षणस्य । प्रतिषेधः ॥ न खल्वप्यवश्यं ठगेव क्रीतप्रत्ययः क्रीताद्यर्था एव वा तद्धिताः । किं तर्हि । अन्येऽपि तद्धिता ये लुकं प्रयोजयन्ति । पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्येति पञ्चेन्द्रः दशेन्द्रः पञ्चाग्निः दशाग्निः ॥ उपधात्वे किमुदाहरणम् । पिपठिपतेरप्रत्ययः

'वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्' (सू. १।१।६२ महाभाष्य) अर्थात् वर्णके निमित्तसे कार्य कर्तव्य होनेपर प्रत्ययलक्षण नहीं होता।

तो फिर 'ठक्छसोश्च' (६।३।३५ वा. १२) इस वार्तिकसे वहाँ पुंवद्भाव होगा।

परंतु उस स्थानपर ठक् या छस् आगे होनेपर वह पुंवद्भाव बताया गया है। और यहाँ तो ठक् या छस् इन प्रत्ययोंमें कोई नहीं दीखता।

प्रत्ययलक्षणसे ठक् प्रत्यय आगे है ऐसा कहा जा सकता है।

'न लुमता तस्मिन्' (१।१।६३ वा. १५) इस वार्तिकसे प्रत्ययलक्षणका निषेध होता है।

इसके अतिरिक्त सचमुच क्रीत अर्थमें एक ठक् प्रत्ययही है सो बात नहीं वैसेही सभी तद्धित प्रत्यय 'क्रीत' अर्थमेंही है सो भी नहीं। तो दूसरे ऐसे भी तद्धितप्रत्यय हैं कि जो लुक्के कारण होते हैं और उस स्थानपर पुंवद्भावका नामभी नहीं लिया जा सकता। उदाहरणः–पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य पञ्चेन्द्रः, दशेन्द्रः, पञ्चाग्निः, दशाग्निः। पञ्च+इन्द्र आन्+ई इस ङीपन्त शब्दसे किये हुए अण् (४।२।२४) प्रत्ययका लुक् (४।१।८८) होनेपर ङीप् प्रत्ययकाभी लुक् हुआ है। इससे उस ङीप् प्रत्ययके साथ बताया हुआ आनुक् आगमभी वहाँ नहीं रहता। लुक्को स्थानिवद्भाव हुआ तो वह आनुक् आगम रहने लगेगा। वैसेही पञ्चाग्निः, दशाग्निः इन स्थानोंपर ऐकार आदेश (४।१।३७) रहने लगेगा।

'उपधासंज्ञाके निमित्तसे होनेवाला कार्य कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता' इसका उदाहरण कौनसा है ?

पिपठीरिति। नैतदस्ति। दीर्घविधिं प्रति न स्थानिवत्॥ इदं तर्हि। सौरी बलाका नैतदस्ति। यलोपविधिं प्रति न स्थानिवत्॥ इदं तर्हि। पारिखीयः॥ चङ्परनिर्ह्रासे चोपसंख्यानं कर्तव्यम्। वादितवन्तं प्रयोजितवान् अवीवदद्वीणां परिवादकेन। किं पुनः कारणं न सिध्यति। यो ऽसौ णौ णिर्लुप्यते तस्य स्थानिवद्भावाद् ह्रस्वत्वं न प्राप्नोति। ननु चैतदप्युपधात्वविधिं प्रति न स्थानीवदित्येव सिद्धम्। विशेष एतद्वक्तव्यम्। क्व। प्रत्ययविधाविति। इह मा भूत्। पटयति

'पिपठीः' यही उसका उदाहरण है। यहाँ पिपठिष् इस सन्प्रत्ययान्त धातुसे क्विप् प्रत्यय किया है।

यह उदाहरण ठीक नहीं है। क्योंकि दीर्घ कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा प्रकृतसूत्रमेंही बताया गया है। उसीसे यह उदाहरण सिद्ध होता है।

तो फिर 'पारिखीयः' यह उदाहरण लीजिये। परिखा शब्दसे चातुरर्थिक अण् (४।२।६७) प्रत्यय करके उनके आगे 'पारिखे भवः' इस अर्थमें छ प्रत्यय (४।२।१४१) किया है। यहाँ परिखा शब्दमेंके आकारके लोपको (६।४।१४८) स्थानिवद्भाव न होनेके कारण पारिखमेंके खकारको उपधासंज्ञा की जा सकी इसलीये छ प्रत्यय करना संभव हुआ।

चङ्पर णि आगे होनेपर जब ह्रस्व कर्तव्य है तब स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा कहा जाय। उदाहरण—वादितवन्तं प्रयोजितवान्, अवीवदत् वीणा परिवादकेन। इस स्थानपर अवीवदत् यहाँ बजाना इस अर्थके णिजन्त धातुसे पुनः दुसरा णिच्प्रत्यय किया है।

परंतु यह उदाहरण सिद्ध न होनेका क्या कारण है?

कारण यह है कि दूसरा णिच् आगे होनेपर यहाँ जो पहले णिच्का लोप (६।४।५१) हुआ है उसे स्थानिवद्भाव हुआ तो उससे व्यवधान आनेके कारण ह्रस्व (७।४।१) नहीं होगा।

परंतु उपधासंज्ञाके निमित्तसे होनेवाला कार्य कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता इस प्रकार कहनेसेही यह सिद्ध होता है।

वैसा सिद्ध नहीं होगा क्योंकि उपधासंज्ञाके निमित्तसे होनेवाला विशेष प्रकारका कार्य कर्तव्य होनेपरही स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा वहाँ कहना चाहिये।

विशेष कार्य कर्तव्य होनेपर याने कहाँ।

प्रत्ययका विधान कर्तव्य न होनेपर। क्योंकि पटयति लघयति, इन स्थानोंपर

१९. 'पटु', 'लघु' शब्दोंके आगे 'प्रतिपदिकाद् धात्वर्थे॰' इस गणसूत्रसे 'णिच्' प्रत्यय हुआ है और 'टेः' (६।४।५८) से उकारका लोप हुआ है।

लघयतीति ॥ कुत्वे चोपसंख्यानं कर्तव्यम्। अर्चयतेरर्कः मर्चयतेर्मर्कः। नैतद्घञन्तम्। औणादिक एष कशब्दस्तस्मिन्नाष्टमिकं कुत्वम्। एतदपि णिचा व्यवहितत्वान्न प्राप्नोति ॥

पूर्वत्रासिद्धे च ॥ ३ ॥

पूर्वत्रासिद्धे च न स्थानिवदिति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्।

प्रयोजनं क्सलोपः सलोपे ॥ ४ ॥

क्सलोपः सलोपे प्रयोजनम्। अदुग्ध अदुग्धाः। लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये [७.३.७३] इति लुग्ग्रहणं न कर्तव्यं भवति।

उपधासंज्ञाके निमित्तसे वृद्धि (७।२।११६) कर्तव्य होनेपर टिलोपको स्थानिवद्भाव-निषेध नहीं होना चाहिये।

वैसेही कुत्व कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता ऐसा कहना चाहिये। उदाहरण—अर्कः मर्कः। यहाँ आर्चि और मार्चि इस णिच्प्रत्ययान्त धातुओंसे घञ् प्रत्यय (६।३।१८) किया है। यहाँ णिच्के लोपको (६।४।५१) स्थानिवद्भाव न होनेके कारण कुत्व (७।३।५२) होता है।

परंतु इस स्थानपर घञ् प्रत्ययही नहीं किया है। तो औणादिक 'क'प्रत्यय ही यहाँ किया है। और वह प्रत्यय करनेपर आठवे अध्यायका कुत्व (८।२।३०) हुआ है।

परंतु स्थानिवद्भाव हुआ तो णिच् प्रत्ययसे व्यवधान आनेके कारण वह भी कुत्व नहीं होगा।

(वा. ३) 'पूर्वत्रासिद्धम्' अधिकारमें कहा हुआ कार्य कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता। (३)

त्रिपादीमेंका कार्य कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होना ऐसा कहा जाय।

इसका उदाहरण कौनसा है?

(वा. ४) सकारका लोप कर्तव्य होनेपर 'क्स' प्रत्ययके अकारके लोपको स्थानिवद्भाव नहीं होता यह एक प्रयोजन है। (४)

'स'कारका लोप (८।२।२६) कर्तव्य होनेपर 'क्स' प्रत्ययमेंके 'अ'कारके लोपको (७।३।७३) स्थानिवद्भाव नहीं होता यह उसका उपयोग है। उदा०—अदुग्ध, अदुग्धाः। 'लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये' (७।३।७३) इस सूत्रमें लुक् शब्द रखनेकी आवश्यकता नहीं है। पीछेसे आनेवाले लोपकी अनुवृत्तिसे काम चलेगा। अन्यथा अर्थात् अकारका लोप हुआ तो भी सकारका लोप नहीं होगा।

दध आकारलोप आदिचतुर्थत्वे ॥ ५ ॥

दध आकारलोप आदिचतुर्थत्वे प्रयोजनम् । धत्ते धद्ध्वे धद्ध्वमिति । दधस्तथोश्च [८.२.३८] इति चकारो न कर्तव्यो भवति ॥

हलो यमां यमि लोपे ॥ ६ ॥

हलो यमां यमि लोपे प्रयोजनम् । आदित्यः । हलो यमां यमि लोपः सिद्धो भवति ॥

अल्लोपणिलोपौ संयोगान्तलोपप्रभृतिषु ॥ ७ ॥

अल्लोपणिलोपौ संयोगान्तलोपप्रभृतिषु प्रयोजनम् । पापच्यतेः पापक्तिः ।

(वा. ५) 'दधा' इसमेंसे 'आ'कारका लोप होनेपर प्रथम दकारको चौथा अर्थात् 'ध'कार कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता यह दूसरा प्रयोजन है। (५)

दूसरा प्रयोजन यह है की 'दधा' इसमेंके 'आ' कारके लोपके बाद पहले दकारको चौथा अर्थात् धकार (८।२।३७) कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता। उदा० धत्से, धद्ध्वे, धद्ध्वम्। इन स्थानोंपर चौथा वर्ण आदेश होनेके लिये 'दधस्तथोश्च' (८।२।३८) इस सूत्रमें सकार और ध्व शब्द इनकी अनुवृत्तिके लिये किया हुआ शब्दही अत्र करनेकी आवश्यकता नहीं है।[20]

(वा. ६) 'हलो यमां यमि लोपे' सूत्रसे लोप कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता यह तीसरा प्रयोजन है। (६)

और प्रयोजन यह है कि 'हलो यमां०' (८।४।६४) इससे लोप कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता; उदा० आदित्यः। यहाँ अकारके लोपको स्थानिवद्भाव न होनेके कारण 'हलो यमां०' इस सूत्रसे लोप होता है।[21]

(वा. ७) संयोगान्तलोप आदि कार्य कर्तव्य होनेपर 'अ'कारके लोपको और णिलोपको स्थानिवद्भाव नहीं होता यह चौथा प्रयोजन है। (७)

और प्रयोजन यह है कि संयोगान्तलोप आदि कार्य कर्तव्य होनेपर अकारके लोपको और णिचूके लोपको स्थानिवद्भाव नहीं होता। उदा० पापक्तिः, यायष्टिः, पाक्तिः, याष्टिः। पहले दो उदाहरणोंमें 'पापच्य' और 'यायज्य' इन यङ्प्रत्ययान्त धातुओंसे क्तिच् प्रत्यय (३।३।१७४) किया है। अगले दो उदाहरणोंमें पाचि और याजि इन

---

२०. कारण यह कि 'एकाचो०' (८।२।३७) इस पूर्वसूत्रसे चौथा अर्थात् धकार आदेश सिद्ध होता है।

२१. इसी सूत्रपरका भाष्य देखिये (पृष्ठ ५६९)।

यायज्यतेर्यायिटिः । पाचयतेः पाक्तिः । याजयतेर्याष्टिः ॥

द्विर्वचनादीनि च ॥८॥

द्विर्वचनादीनि च न पठितव्यानि भवन्ति । पूर्वत्रासिद्धेनैव सिद्धानि भवन्ति ॥ किमविशेषेण । नेत्याह ।

वरेयलोपस्वरवर्जम् ॥९॥

वरेयलोपं स्वरं च वर्जयित्वा ॥

तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु ॥१०॥

तस्यैतस्य लक्षणस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु ॥ संयोगादिलोपे काक्यर्थम् । वास्यर्थम् । स्कोः संयोगाद्योरन्ते च [८·२.२९] इति लोपः

णिच्प्रत्ययान्त धातुओंसे क्तिच् प्रत्यय किया है। यहाँ यङ्प्रत्ययमेंके अकारके लोपको और णिच्के लोपको स्थानिवद्भाव न होनेके कारण कुत्व (८।२।३०) और (८।२।३६) षत्व होते हैं।

(वा. ८) प्रकृतसूत्रमें 'द्विर्वचन' आदि शब्द रखना आवश्यक नहीं यह पाँचवाँ प्रयोजन है। (८)

और उपयोग यह है कि इस प्रकृतसूत्रमें द्विर्वचन आदि शब्द रखना आवश्यक नहीं है। क्योंकि, वे द्विर्वचन आदिके उदाहरण 'पूर्वत्रासिद्धे च' इस प्रकृत वार्तिकसेही सिद्ध होते हैं।

परंतु क्या, द्विर्वचन आदि सभी शब्द रखना आवश्यक नहीं है?

हमारा कहना है कि वैसी बात नहीं है।

(वा.९) प्रकृतसूत्रमें 'वरे', 'यलोप', और 'स्वर' इन तीन शब्दोंके अलावा अन्य शब्द रखना आवश्यक नहीं। (९)

वरे, यलोप और स्वर इन तीन शब्दोंके अलावा अन्य शब्द रखना आवश्यक नहीं है।

(वा. १०) 'पूर्वत्रासिद्धे च' वार्तिकको संयोगादिलोप, लत्व और णत्व कर्तव्य होनेपर दोष आता है। (१०)

'निपादीमेंका कार्य कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता' (वा. ३) इसको संयोगादिलोप, लत्व और णत्व कर्तव्य होनेपर दोष आता है। (अतः ये तीन कार्य कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव होता है ऐसा कहना चाहिये।) उनमेंसे संयोगादिलोपका उदाहरण— काक्यर्थम्, वास्यर्थम्। यहाँ काकी और वासी इनमेंसे ईकारको यण् करनेके बाद 'स्कोः संयोगाद्योः०' (८।२।२९) इस सूत्रसे ककार और सकारका लोप प्राप्त होता है। परंतु यकारको स्थानिवद्भाव होनेसे कारण वह लोप नहीं होता।

प्राप्नोति ॥ लत्वम्। निगार्यते। निगाल्यते। अचि विभाषा [८.२.२१] इति लत्वं न प्राप्नोति॥ णत्वम्। माषवपनी। व्रीहिवपनी। प्रातिपदिकान्तस्येति णत्वं प्राप्नोति॥

द्विर्वचनेऽचि ॥ १। १। ५९ ॥

आदेशे स्थानिवदनुदेशात्तद्वतो द्विर्वचनम् ॥ १ ॥

आदेशे स्थानिवदनुदेशात्तद्वतः। किंवतः। आदेशवतो द्विर्वचनं प्राप्नोति॥

निगार्यते, निगाल्यते,[२२] यह उदाहरण लत्वका है। यहाँ णिच्‌का लोप होनेके बाद अच् आगे होनेसे 'अचि विभाषा' (८।२।२१) इस सूत्रसे लत्व नहीं होगा। परंतु णिच्‌के लोपको स्थानिवद्भाव होनेके कारण लत्व होता है। माषवपनी, व्रीहिवपनी, ये उदाहरण णत्वके है। यहाँ वपनमेंके अकारका लोप (६।४।१४८) करनेके बाद 'प्रातिपदिकान्त०' (८।४।११) इस सूत्रसे 'नकार प्रातिपदिकके अंतमें है' ऐसा मानकर उसे णत्व प्राप्त होता है। परंतु अकारके लोपको स्थानिवद्भाव होनेके कारण वह णत्व नहीं होता।

(सू. ५९) द्वित्वका निमित्त अच् आगे होनेपर उस अच्‌के निमित्तसे पाया हुआ जो अजादेश है उसको द्वित्व करतेसमय स्थानीका रूप प्राप्त होता है॥ इस सूत्रका दूसरा अर्थ यह है:- द्वित्वका निमित्त अच् आगे होनेपर उस अच्‌के निमित्तसे प्राप्त हुआ जो अजादेश है वह द्वित्व किया जानेतक नहीं होता॥

(वा. १) 'आदेश स्थानीकी तरह समझा जाय' इस अतिदेशसे आदेशसे युक्त भागको द्वित्व होने लगेगा। (१)

'आदेश स्थानीकी तरह समझा जाय' ऐसा इस सूत्रसे अतिदेश किया है। अतः उससे युक्त भागको—

उससे युक्त याने किससे?

आदेशसे युक्त भागको द्वित्व होने लगेगा।

---

२२. 'नि' उपसर्गपूर्वक 'गृ' धातुमें 'णिच्' प्रत्यय लगाकर आगे कर्मणि 'लट्' प्रत्यय किया है। बीचमें 'यक्' प्रत्यय (३।१।६७) हुआ है और 'णिच्'का लोप (६।४।५१) हुआ है।

२३. 'वप्' धातुको 'ल्युट्' प्रत्यय (३।३।११७), उसको 'अन' आदेश (७।१।१), आगे 'ङीप्' प्रत्यय (४।१।१५), और अकारका लोप (६।४।१४८) हुआ है।

१. कारण यह है कि आदेश यद्यपि स्थानीके समान समझा गया तो भी उसको प्रत्यक्ष स्थानीका रूप प्राप्त नहीं हुआ है।

तत्र को दोषः ?।

तत्राभ्यासरूपम् ॥ २॥

तत्राभ्यासरूपं न सिध्यति। चक्रतुः चक्रुरिति॥

अज्ग्रहणं तु ज्ञापकं रूपस्थानिवद्भावस्य ॥ ३ ॥

यदयमज्ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो रूपं स्थानिवद्भवतीति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्। अज्ग्रहणस्यैतत्प्रयोजनमिह मा भूत्। जेघ्रीयते देध्मीयत इति। यदि रूपं स्थानिवद्भवति ततो ऽज्ग्रहणमर्थवद्भवति। अथ हि कार्यं नार्थो-ऽज्ग्रहणेन। भवत्येवात्र द्विर्वचनम् ॥

फिर वैसा होनेपर दोष कौनसा है?

(वा. २) वैसा होनेपर अभ्यासका स्वरूप सिद्ध नहीं होगा। (२) वैसा होनेसे चक्रतुः, चक्रुः, यहाँ अभ्यासका 'च' स्वरूप सिद्ध नहीं होगा[१]।

(वा. ३) प्रकृतसूत्रका 'अचि' शब्द ज्ञापित करता है कि आदेशको स्थानीका स्वरूप प्राप्त होता है। (३)

यह आचार्य पाणिनि प्रकृतसूत्रमें जो 'अचि' ऐसा कहता है उससे वह ऐसा ज्ञापित करता है कि यहाँ आदेश केवल स्थानिकी तरह न समझा जाय, तो उस आदेशको स्थानीकी तरह स्वरूप प्राप्त होता है।

यह ज्ञापक कैसे ठीक बैठता है?

ऐसे ठीक बैठता है कि जेघ्रीयते, देध्मीयते, इस स्थानपर यङ् आगे होनेपर घ्रा, ध्मा धातुओंके 'आ'कारके बना हुआ जो ईकार आदेश (७।४।३१) है उसे प्रकृतसूत्रसे स्थानिवद्भाव न हो इसलिये 'अचि' ऐसा यहाँ कहा गया है। परंतु अगर प्रकृतसूत्रसे आदेशको स्थानीका अर्थात् 'आ'कारका रूप प्राप्त हुआ तभी घ्रा, ध्मा-को द्वित्व होकर रूप बिगड़े जायगा। वह न बिगड़नेके लिये 'अचि' ऐसा कहना चाहिये। ऐसा उसका उपयोग दिखाया जा सकता है। अगर स्थानीका रूप प्राप्त न होकर केवल कार्यका अतिदेश किया तो यहाँ केवल स्थानीकी भावनासे द्वित्व का कार्य होगा परंतु होगा सो आदेशसे अर्थात् ईकारसे युक्त घ्री, ध्मीको ही होनेके कारण 'अचि' पद व्यर्थ होगा।

---

१. 'कृ' धातुके ऋकारको 'यण्' आदेश 'रेफ' करनेके बाद धातुमें केवल 'क्' और 'र्' ये दो व्यञ्जन रह गये। तब एकाच् अंशको कहा हुआ द्वित्व न होगा। अब प्रकृत सूत्रसे आदेश स्थानीके समान समझा गया तो एकाच् अंश है इस भावनासे द्वित्व होगा। परन्तु जो होगा वह 'क्' को ही होगा। तब अभ्यासमें 'अ' कार न आयेगा।

तत्र गाङ्प्रतिषेधः ॥४॥

तत्र गाङः प्रतिषेधो वक्तव्यः। अधिजगे। इवर्णाभ्यासता प्राप्नोति॥ न वक्तव्यः। गाङ् लिटि [२ ४ ४९] इति द्विलकारको निर्देशः। लिटि लकारादाविति ॥

कृत्येजन्तदिवादिनामधातुष्वभ्यासरूपम् ॥५॥

कृत्येजन्तदिवादिनामधातुष्वभ्यासरूप न सिध्यति ॥ कृति। अचिकीर्तत्। कृति॥ एजन्त। जग्ले मम्ले। एजन्त॥ दिवादि। दुद्यूषति सुस्यूषति। दिवादि॥

(वा ४) प्रकृतसूत्रमें रूपस्थानिवद्भावके वारेमें ज्ञापित 'गाङ्' आदेशका प्रतिषेध कहा जाय।

इङ् धातुसे जो गाङ् आदेश (२।४।४९) होता है उसे प्रकृतसूत्रसे स्थानीका रूप प्राप्त नहीं होता ऐसा कहा जाय। नहीं तो अधिजगे यहाँ 'इ'को द्वित्व होकर अभ्यासमें इकार होने लगेगा।

यह निषेध करना आवश्यक नहीं है। क्योंकि 'गाङ् लिटि' इस सूत्रमें दो लकार पाणिनिने उच्चारित किया। (अर्थात् 'लिटि'के पीछे और एक लकार उच्चारित किया है।) अत लकारादि लिट् प्रत्यय आगे होनेपर गाङ् आदेश होता है ऐसा उसका अर्थ होता है। इसीलिये अचि कहनेसेही वहाँ प्रकृतसूत्र प्रवृत्त नहीं होता।

(वा ५) णिजन्त 'कृति' धातु, एजन्त धातु, दिव् आदि धातु, और नामधातुके वारेमें अभ्यासरूप सिद्ध नहीं होता। (५)

कृति अर्थात् णिच्प्रत्ययान्त कृत् धातु, एजन्त धातु, दिव् आदि धातु और नामधातु इन स्थानोंपर द्वित्व कर्तव्य होनेपर प्रकृतसूत्रसे आदेशको स्थानीका रूप प्राप्त होनेके कारण अभ्यासका इष्ट रूप सिद्ध नहीं होता। कृति धातुका उदाहरण– अचिकीर्तत्। एजन्तके उदाहरण-जग्ले, मम्ले। दिव् आदि धातुओंके उदाहरण-दुद्यूषति,

---

३ तब लिट्को तिङ् आदेश करनेके पहले गाङ् आदेश होता है। यह लकारावस्थामें ही होनेके कारण 'यह आदेश अच् आगे होनेपर हुआ है' ऐसा नहीं कहा जा सकता।

४ प्रकृत सूत्रमें 'द्विर्वचने' पद 'द्वित्व कर्तव्य हो तो' इस अर्थका है, 'द्वित्वका निमित्त' इस अर्थमें अच्का विशेषण नहीं। तब 'णिच्' प्रत्यय यद्यपि द्वित्वका निमित्त न हो तो भी वह अच् आगे होनेपर अजादेशको प्रकृतसूत्रसे स्थानीका रूप प्राप्त होगा। अत 'कृत्' धातुके ऋकारका जो इकार आदेश हुआ है (७।१।१०) उसको फिरसे ऋ रूप प्राप्त हुआ तो उसको द्वित्व होके अभ्यासमें इकार न आयेगा।

५ 'ग्लै', 'म्लै' धातुओंके ऐकारको जो 'आ'कार आदेश हुआ (६।१।४५) उसको प्रकृतसूत्रसे स्थानीका रूप प्राप्त हुआ तो 'ग्लै', 'म्लै'को द्वित्व होके अभ्यासमें इकार आयगा।

६ 'दिव्' धातुको 'सन्' प्रत्यय करके धातुके वकारको ऊठ् आदेश (६।४।१९)

नामधातु। भवनमिच्छति भवनीयति भवनीयतेः सन् बिभवनीयिषति॥ एवं तर्हि प्रत्यय इति वक्ष्यामि।

प्रत्यय इति चेत्कृत्येजन्तनामधातुष्वभ्यासरूपम् ॥ ६ ॥

प्रत्यय इति चेत्कृत्येजन्तनामधातुष्वभ्यासरूपं न सिध्यति। दिवादय एके परिहृताः॥ एवं तर्हि द्विर्वचननिमित्ते ऽच्यजादेशः स्थानिवदिति वक्ष्यामि। स तर्हि निमित्तशब्द उपादेयो न ह्यन्तरेण निमित्तशब्दं निमित्तार्थो गम्यते।

सुस्यूषति। नामधातुओंके उदाहरण-बिभवनीयिषती। यहाँ भवनकी इच्छा करता है इस अर्थमें भवन शब्दसे क्यच् प्रत्यय (३।१।८) करके उसके बाद उस 'भवनीय' इस नामधातुसे सन् प्रत्यय (३।१।७) किया है।

तो फिर प्रकृतसूत्रमें 'प्रत्यय आगे होनेपर' ऐसा कहता है।

(वा. ६) प्रत्यय आगे होनेपर ऐसा कहा जाय तो 'कृत्' धातु एजन्त धातु, और नामधातुके बारेमें अभ्यासका इष्ट रूप सिद्ध नहीं होता। (६)

प्रत्यय आगे होनेपर ऐसा कहा जाय तो कृति धातु, एजन्त धातु और नामधातु इन स्थानोंपर अभ्यासका इष्ट रूप सिद्ध नहीं होता यह दोष रहताही है। केवल अकेले दिव् आदि धातुओंके स्थानपर आये हुए दोषका परिहार हुआ।

तो फिर द्वित्वको निमित्तस्वरूप अच् आगे होनेपर अच्के स्थानपर बने आदेशको स्थानीका रूप प्राप्त होता है ऐसा प्रकृतसूत्रका अर्थ करता है।

तो फिर वैसा अर्थ करनेके लिये प्रकृतसूत्रमें निमित्त ऐसा शब्द उच्चारित किया जाना चाहिये। क्योंकि निमित्तशब्दके बिना निमित्त ऐसा अर्थ नहीं होगा।

करनेके बाद वह ऊकार अच् आगे रहनेपर पीछे इकारको जो यकार आदेश हुआ उसको स्थानीका रूप प्राप्त हुआ तो अभ्यासमें इकार आने लगेगा।

७. 'भू' धातुको ल्युट् (३।३।११५) प्रत्यय और उसको 'अन' आदेश (७।१।१) करने पीछे धातुके ऊकारको गुण (७।३।८४) और 'अव्' आदेश (६।१।७८) हुआ है। उसको प्रकृतसूत्रसे स्थानीका रूप प्राप्त हुआ तो अभ्यासमें उकार आने लगेगा।

८. कारण यह कि वहाँ 'क्रु' प्रत्यय नहीं है।

९. सूत्रका 'द्विर्वचने' पद 'द्वित्व कर्तव्य हो तो' इस अर्थमें न लेकर 'द्वित्वका निमित्त' इस अर्थमें अच्का विशेषण किया जाता है। तब 'अचिकीर्तत्'में 'णिच्' प्रत्यय 'दुद्यूषति' में 'क्रु' और 'बिभवनीयिषति' में 'ल्युट्' प्रत्यय द्वित्वके निमित्त न होनेके कारण प्रकृतसूत्रकी प्रवृत्ति नहीं होती। अब 'जग्ले' में जो दोष शेष रहता है उसका समाधान भाष्यमें आगे दिया है।

अन्तरेणापि निमित्तशब्दं निमित्तार्थो गम्यते। तद्यथा। दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः। ज्वरनिमित्तमिति गम्यते। नड्वलोदकं पादरोगः। पादरोगनिमित्तमिति गम्यते। आयुर्घृतम्। आयुषो निमित्तमिति गम्यते॥ अथवाकारो मत्वर्थीयः। द्विर्वचनमस्मिन्नस्ति सो ऽयं द्विर्वचनो द्विर्वचन इति॥ एवमपि न ज्ञायते कियन्तमसौ कालं स्थानिवद्भवतीति। यः पुनराह द्विर्वचने कर्तव्य इति कृते तस्य द्विर्वचने स्थानिवन्न भविष्यति॥ एवं तर्हि प्रतिषेधः प्रकृतः सो ऽनुवर्तिष्यते। क्व प्रकृतः। न पदान्तद्विर्वचन [१.१.५८] इति। द्विर्वचननिमित्ते ऽच्यजादेशो न भवतीति।

निमित्त शब्द न हो तो भी निमित्त ऐसा अर्थ मनमें आता है; जैसे 'दधित्रपुसं प्रत्यक्ष ज्वर है' ऐसा कहनेपर वहाँ 'दधित्रपुस ज्वरका निमित्त है' ऐसा अर्थ मनमें आता है। वैसेही 'नड्वलोदक पादरोग है' ऐसा कहनेपर वहाँ वह नड्वलोदक पदरोगका निमित्त है' ऐसा मनमें आता है। वैसेही 'घृत आयुष्य है' ऐसा कहनेपर 'घृत आयुष्यका निमित्त है' ऐसा मनमें आता है। अथवा प्रकृतसूत्रमें पाणिनिने द्विर्वचन यह जो शब्द उच्चारित किया है वह सादा न उच्चारकर द्विर्वचनशब्दसे मत्वर्थी अकारप्रत्यय (५।२।१२७) करके उच्चारित किया है। अतः 'जो आगे होनेपर द्विर्वचन होता है वह' यहाँके द्विर्वचनशब्दका अर्थ होता है। अतः वैसा द्विर्वचनको निमित्त होनेवाला अच् आगे होनेपर ऐसा स्पष्टही अर्थ होता है।

ऐसा अर्थ करनेपर भी अब प्रकृतसूत्रसे जो आदेशको स्थानीका रूप प्राप्त होता है वह कई समयतक कायम रहता है, अर्थात् पुनः उस स्थानीको आदेश करनेके लिये कब स्वतंत्रता है यह कुछ समझमें नहीं आता। जो मनुष्य 'द्विर्वचनका निमित्त' इस अर्थसे द्विर्वचन शब्द अच्के साथ न जोड़कर सादे अर्थसेही 'द्वित्व कर्तव्य होनेपर आदेशको स्थानीका रूप प्राप्त होता है' ऐसा अर्थ लेकर कालकी मर्यादा दिखानेके लिये 'द्विर्वचने' शब्दका उपयोग करता है उसे द्वित्व करनेके बाद स्थानीका रूप रखनेका नियम नहीं रहता; अतः पीछेसे पुनः आदेश करनेमें स्वतंत्रता रहती है।

तो फिर, यहाँ 'स्थानिवत्'की अनुवृत्ति न करके पहलेके निषेधकीही अनुवृत्ति की जाता पर्याप्त होगा।

पहले निषेध कहाँ है?

'न पदान्तद्विर्वचन०' इस सूत्रमें 'न' पद है। अतः उसकी अनुवृत्ति यहाँ

---

१०. 'दधित्रपुस' अर्थात् 'बिगड़ा हुआ दही'। अथवा 'दधि और त्रपुस (सीताफल)' यह अर्थ लिया जाय।

११. 'नड्वल' अर्थात् एक प्रकारके तृणसे युक्त प्रदेश। उसमें जमा हुआ जो पानी है वह 'नड्वलोदक' है। पादरोग अर्थात् पाँवका रोग (नहरुवा)।

एवमपि न ज्ञायते कियन्तमसौ कालमादेशो न भवतीति। यः पुनराह द्विर्वचने कर्तव्य इति कृते तस्य द्विर्वचने ऽजादेशो भविष्यति ॥ एवं तर्ह्युभयमनेन क्रियते प्रत्ययश्च विशेष्यते द्विर्वचनं च। कथं पुनरेकेन यत्नेनोभयं लभ्यम्। लभ्यमित्याह। कथम्। एकशेषनिर्देशात्। एकशेषनिर्देशोऽयम्। द्विर्वचनं च द्विर्वचनं च द्विर्वचनम्। द्विर्वचने च कर्तव्ये द्विर्वचने ऽचि प्रत्यय इति द्विर्वचननिमित्ते ऽचि स्थानिवद्भवति॥

द्विर्वचननिमित्ते ऽचि स्थानिवदिति चेण्णौ स्थानिवद्वचनम्॥७॥

द्विर्वचननिमित्ते ऽचि स्थानिवदिति चेण्णौ स्थानिवद्भावो वक्तव्यः।

करनेपर 'द्वित्वको निमित्त अच् आगे होनेपर पीछेके अच्को आदेश नहीं होता' ऐसा अर्थ होगा।

तो भी, कितने समयतक वह अच्को आदेश नहीं होता वह कालकी मर्यादा तो दिखाई जाती ही नहीं। जो मनुष्य 'द्वित्व कर्तव्य होनेपर अच्को आदेश नहीं होता' ऐसा अर्थ लेकर कालकी मर्यादा दिखानेके लिये 'द्विर्वचने'का उपयोग करता है उसे द्वित्व करनेपर अच्को आदेश करनेके लिये स्वतंत्रता मिलती है।

तो फिर इस द्विर्वचन शब्दसे दोनों बातें की जाती है। 'द्वित्वका निमित्त' इस अर्थसे अच्का विशेषण भी होता है और 'द्वित्व कर्तव्य होनेपर' कालकी मर्यादा भी दिखाई जाती है।

परतु एक यत्नसे अर्थात् 'द्विर्वचन' शब्दका एक बार उच्चारण किये जानेपर ये दोनों बातें भला कैसे सिद्ध होंगी?

हमारा कहना है कि सिद्ध होंगी।

सो कैसे?

'एकशेषनिर्देशात्'। अर्थात् पाणिनिने यह जो सूत्रमें द्विर्वचनशब्दका उच्चारण किया है वह 'द्विर्वचनं च द्विर्वचनं च द्विर्वचनम्' ऐसा दो द्विर्वचन शब्दोंका एकशेष करके उच्चारण किया है। अतः 'द्वित्व कर्तव्य होनेपर' ऐसा भी अर्थ होगा और 'द्वित्वको निमित्त अजादि प्रत्यय आगे होनेपर' ऐसा भी अर्थ होगा।

(वा. ७) 'द्वित्वनिमित्त अच् आगे होनेपर अजादेशको स्थानीका रूप प्राप्त होता है' ऐसा कहा जाय तो 'णि' प्रत्यय आगे होनेपर अजादेशको स्थानीका रूप प्राप्त होता है ऐसा स्वतंत्र वचन करना चाहिये। (७)

'द्वित्वको निमित्तस्वरूप अच् आगे होनेपर अजादेशको स्थानीका रूप प्राप्त होता है' ऐसा कहा जाय तो 'णि प्रत्यय आगे होनेपर अजादेशको स्थानीका रूप

अवनुनावयिषति अवचुक्षावयिषति ॥ न वक्तव्यः ।

ओः पुयण्जिषु वचनं ज्ञापकं णौ स्थानिवद्भावस्य ॥ ८ ॥

यदयमोः पुयण्ज्यपरे [७ ४ ८०] इत्याह तज्ज्ञापयत्याचार्यो भवति णौ स्थानिवदिति । यद्येतज्ज्ञाप्यते अचिकीर्तत् अत्रापि प्राप्नोति । तुल्यजातीयस्य ज्ञापकम् । कश्च तुल्यजातीयः । यथाजातीयकाः पुयण्जयः । कथंजातीय-

---

प्राप्त होता है' ऐसा स्वतन्त्र वचन करना चाहिये । उदा०- अवनुनावयिषति, अवचुक्षावयिषति ।

वैसा स्वतन्त्र वचन करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

(वा. ८) 'ओः पुयण्ज्यपरे' सूत्रसे सन् प्रत्यय आगे होनेपर कुछ धातुओंके अभ्यासके उकारको इकार आदेश कहनेसे सूत्रकार ज्ञापित करते हैं कि 'द्वित्व कर्तव्य होनेपर 'णि' प्रत्ययके पीछेके अजादेशको स्थानिवद्भाव होता है'। (८)

जिस कारणसे आचार्य पाणिनि 'ओ. पुयण्ज्यपरे' (७।४।८०) सूत्रसे सन् प्रत्यय आगे होनेपर कुछ धातुओंके अभ्यासके उकारको इकार आदेश बताते हैं उससे ऐसा ज्ञापित करते हैं कि 'द्वित्व कर्तव्य होनेपर णि प्रत्ययके पीछेके अजादेशको स्थानीका रूप प्राप्त होता है'।

अगर यह ज्ञापक लिया जाय तो 'अचिकीर्तत्' में भी ऋकारके स्थानपर बने हुए इकार (७।१।१०१) आदेशको द्वित्व कर्तव्य होनेपर स्थानीका रूप प्राप्त होगा ।

'ओः पुयण्ज्यपरे' यह जो ज्ञापक लिया है वह उसके उदाहरण जैसे ही उदाहरणोंमें लागू होता है? (अत. अचिकीर्तत् में आदेशको स्थानीका रूप प्राप्त नहीं होता।)

उसके उदाहरण जैसे उदाहरण कैसे पहचाने जाय?

उसके उदाहरणोंमें उत्तरखंडमें पवर्ग, यण् और जकार जैसे होते हैं वैसे वर्ण जिन उदाहरणोंमें होंगे वे उदाहरण उसके उदाहरण जैसे समझे जायें।

---

१२ 'नु' और 'क्षु' धातुओंमें 'णिच्' प्रत्यय लगाकर आगे 'सन्' प्रत्यय किया है । यहाँ धातुओंके उकारको वृद्धि (७।२।११५) और आव् (६।१।७८) आदेश जो हुआ है उसको प्रकृतसूत्रसे स्थानीका रूप प्राप्त न होगा । क्योंकि 'णिच्' प्रत्यय द्वित्वका निमित्त नहीं है । तब 'नाव्' को द्वित्व होगा और अभ्यासमें उकार न आयेगा ।

१३ अन्यथा 'बिभावयिषति' आदि उदाहरणोंमें उपर्युक्त 'नुनावयिषति' उदाहरणके समान 'भाव्' को द्वित्व होके अभ्यासके अकारका 'सन्यत' (७।४।७९) से इकार होके आप-ही-आप रूपसिद्धि हो जानेसे 'ओ पुयण्ज्यपरे' सूत्र व्यर्थ होगा ।

कार्श्येते। अवर्णपराः॥ कथं जग्ले मम्ले। अनैमित्तिकमात्वं शिति तु प्रतिषेधः॥

कानि पुनरस्य योगस्य प्रयोजनानि। पपतुः पपुः तस्थतुः तस्थुः। जग्मतुः जग्मुः। आटिटत् आशिशत्। चक्रतुः चक्रुरिति। आल्लोपोपधालोपणिलोपयणादेशेषु कृतेष्वनच्कत्वाद् द्विर्वचनं न प्राप्नोति। स्थानिवद्भावाद्भवति॥ नैतानि सन्ति प्रयोजनानि। पूर्वविप्रतिषेधेनाप्येतानि सिद्धानि। कथम्। वक्ष्यति ह्याचार्यः। द्विर्वचनं यणयवायावादेशाल्लोपोपधालोपणिलोपकिकिनोरुत्वेभ्य इति। स पूर्व-

---

उसके उदाहरणोंमें पवर्ग, यण् और जकार कैसे होते हैं?

जिन उदाहरणोंमें पवर्ग आदिके आगे अकार होता है। (अतः अचिकीर्तत् में उत्तरखंडके ककारके सामने अकार न होनेसे वहाँ वह ज्ञापक लागू नहीं होता। तात्पर्य, प्रकृतसूत्रमें 'द्वित्वको निमित्त' ऐसा अच्को विशेषण देनेमें कोई बाधा नहीं ऐसा सिद्ध हुआ।)

तो भी जग्ले, मम्ले, इन उदाहरणोंमें द्वित्व कर्तव्य होनेपर 'आ'कार आदेशको (६।१।४५) प्रकृतसूत्रसे स्थानीका रूप क्यों प्राप्त नहीं होता?

(जग्ले, मम्ले, में 'आ' कार आदेश आगेके अजादि प्रत्ययके निमित्त न होनेके कारण वहाँ प्रकृतसूत्रकी प्रवृत्ति नहीं होती। क्योंकि) 'अशिति' यह 'शित्भिन्न प्रत्यय आगे होनेपर' इस अर्थसे आकार आदेशका निमित्त माना गया है ऐसा न माना जाय। तो 'शित् प्रत्यय आगे होनेपर आकार आदेश नहीं होता' ऐसा उसका अर्थ है।

पर इस प्रकृतसूत्रके उदाहरण भी तो कौनसे हैं?

पपतुः पपुः, तस्थतुः तस्थुः, जग्मतुः जग्मुः, आटिटत, आशिशत, चक्रतुः चक्रुः ये प्रकृतसूत्रके उदाहरण हैं। यहाँ पा, स्था, धातुओंमेंसे आकारका लोप (६।१।४५) गम धातुमेंसे उपधाका लोप (६।४।९८) और कृधातुमेंसे ऋकारका यण (६।१।७७) ये विधियाँ करनेपर धातुओंमें अच् न होनेके कारण द्वित्व (६।१।८) नहीं होगा। वैसे ही आटि आशि, इन णिजन्त धातुओंमेंसे णिच्प्रत्ययका लोप (६।४।५१) होनेके बाद टि और शि इस दूसरे एकाच् भागमें अच् न होनेके कारण उसे द्वित्व (६।१।११) नहीं होगा। परंतु 'आ'कारका लोप आदि उन आदेशोंको प्रकृतसूत्रसे स्थानीका रूप प्राप्त होनेपर द्वित्व होता है।

ये प्रकृतसूत्रके उदाहरण ठीक नहीं दिखाई देते। पूर्वविप्रतिषेधसे भी ये उदाहरण सिद्ध होते हैं। (अतः आकारका लोप आदि विधियोंकी अपेक्षा पहले ही द्वित्व होता है।)

सो कैसे?

आचार्य वार्तिककार 'द्विर्वचनं यणयवायावादेशाल्लोपोपधालोपणिलोपकिकिनो-

विप्रतिषेधो न पठितव्यो भवति ॥ किं पुनरत्र ज्याय । स्थानिवद्भाव एव ज्यायान्। पूर्वविप्रतिषेधे हि सतीदं वक्तव्यं स्यात्। ओदोदादेशस्योद्भवति चुस्तुशारादेर भ्यासस्येति। ननु च त्वयापीदं वक्तव्यम्। परार्थं मम भविष्यति सन्यत इद्भव

रुत्त्वेभ्य.' (६।१।१२ वार्ति०) ऐसा आगे बतलानेवाले ही है। (उसीसे ये उदाहरण सिद्ध होते है।)

परतु यह प्रकृतसूत्र करनेपर वह वार्तिक करना अवश्यक नहीं है।

अब इन दोनोंमें अच्छा कौनसा है? प्रकृतसूत्रसे बताया हुआ स्थानिवद्भाव लिया जाय या उस वार्तिकसे बताया हुआ पूर्वप्रतिषेध लिया जाय ?

स्थानिवद्भाव लेना ही अच्छा है। क्योंकि, पूर्वविप्रतिषेध लिया तो उस पूर्ववि प्रतिषेधकी प्रवृत्ति जिस स्थानपर नहीं होती उस स्थानपर अर्थात् चुंक्षावयिषति आदि उदाहरणोंमें प्राप्त इकार आदेशका (७।४।७९) बाध करके उकार आदेश होनेके लिये एक स्वतत्र वचन करना होगा। वह यों है 'ओकार या औकार के स्थानपर आदेश जिन अगोंमें हुए है ऐसे अगोंमें चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथा शर् वर्ण आदि होनेवाले अभ्यासके अकारको सन् प्रत्यय आगे होनेपर उकार आदेश होता है।

परतु प्रकृतसूत्र लिया तो भी आपको इकार आदेश बतानेवाला सूत्र करना ही होगा न?

यद्यपि मुझे आदेश बतानेवाला सूत्र करना पडा तो भी वह दूसरोंके लिये काममें आयेगा। अर्थात् 'सन्यत' (७।४।७९) ऐसा इकार आदेश बतानेवाला दूसरा सूत्र सभीको हमें करना चाहिये। उसके पास केवल 'ओ पुयण्ज्यपरे' इतना ही सूत्र करनेसे काम चलेगा।

---

१४ द्वित्व और यण्, अय् इत्यादि आदेश जहाँ एक ही निमित्तसे प्रवृत्त होते हैं वहीं अर्थात् 'चक्रतु' आदि उदाहरणोंमें ही पूर्वविप्रतिषेधकी प्रवृत्ति होती है। क्योंकि वहाँ द्वित्वकी अपेक्षा 'यण्' आदि अतरग न होनेसे द्वित्व और 'यण्' आदि तुल्यबल होते हैं। 'बिभव यिषति' में सन् प्रत्यय द्वित्वका निमित्त है और 'अव्' आदेशका निमित्त पूर्वका 'अन' प्रत्यय है। तब वहाँ अतरग अवादेश पहले ही होता है। यदि वहाँ प्रकृतवार्तिकसे अवादेशका बाध करके द्वित्व पहले ही हो जाता तो अभ्यासमें उकार आके रूप बिगड जाता।

१५ 'द्विर्वचनेचि' प्रकृत सूत्र लिया तो भी वहाँ अच्को द्वित्वनिमित्त यह विशेषण दिया जानेके कारण 'नुनावयिषति आदि उदाहरणोंमें 'आव्' आदेशको स्थानीका रूप प्राप्त न होगा और अभ्यासमें इकार आने लगेगा। इसलिए 'णि प्रत्यय आगे हो तो अजादेशको स्थानीका रूप प्राप्त होता है' यह ज्ञापन करनेके लिए इकार आदेश कहनेवाला 'ओ पुयण्०' सूत्र करना पडेगा।

तीति। ममापि तर्ह्युत्त्वं परार्थं भविष्यत्युत्परस्यातस्ति च [७.४ ८८,८९] इति। इत्त्वमपि त्वया वक्तव्यं यत्समानाश्रय तदर्थम्। उत्पिपविषते सषियविषतीत्येतमर्थम्॥ तस्मात्स्थानिवद्धिरेष एव पक्षो ज्यायान्॥

इति श्रीभगवत्पतञ्जलिविरचिते व्याकरणमहाभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमे पादे ऽष्टममाह्निकम्॥

तो फिर मुझे भी उकार आदेश बतानेवाला वचन करना पडा तो भी वह दूसरेके काम आयेगा। अर्थात् 'उत्परस्यात.' 'ति च' (७।४।८८ ८९) ऐसे दूसरे सूत्र सभीको हमें करने चाहिये। उनके पास केवल 'ओदोदादेशस्य चुटुतुशरादे.' इतना ही वचन करनेसे काम चलेगा।

परंतु उतनेसे भी आपका नहीं चल सकेगा। वैसा उकार आदेश बताया तो भी उत्पिपविषते, सषियविषति इन समानाश्रय उदाहरणोंके लिये इकार आदेश भी आपको अलग बताना पडेगा ही। तात्पर्य, स्थानिवद्भाव बतानेवाला प्रकृतसूत्र रखना ही अच्छा। (५९)

इस प्रकार भगवान् पतंजलिरचित व्याकरण महाभाष्यमेंके पहले अध्यायके पहले पादका आठवाँ आह्निक समाप्त हुआ।

---

१६ 'पू' धातुके आगेके 'सन्' प्रत्ययको 'स्मिपूङ्०' (७।२।७४) सूत्रसे 'इट्' आगम हुआ है। तथा 'यु' धातुके आगेके 'सन्' प्रत्ययको 'सनीव०' (७।२।४९) सूत्रसे 'इट्' आगम हुआ है। यहाँ द्वित्व (६।१।९) और 'अव्' आदेश (६।१।७८) दोनोंका आश्रय समान है अर्थात् 'सन्' यही एक दोनोंका निमित्त है। तब 'अव्' आदेश अलग न होनेके कारण आपके 'द्विर्वचन यण०' वार्तिककी प्रवृत्ति होके पूर्वविप्रतिषेधसे 'अव्' आदेशकी अपेक्षा द्वित्व पहले होगा। अतः अभ्यासमें जो उकार आयेगा उसको इकार आदेश कहनेके लिए कमसे कम 'ओ पययो' सूत्र तो करना ही चाहिये।

१७ प्रकृतसूत्र रखा गया तो उसके अतिरिक्त 'ओ पुयण्ज्यपरे' यह दूसरा सूत्र करनेसे इष्ट कार्य सिद्ध होगा। और प्रकृतसूत्र न रखके वार्तिक रखा तो उसके अतिरिक्त उकार आदेश कहनेवाला 'ओदोदादेशस्य चुटुतुशरादे' सूत्र और इकार आदेश कहनेवाला 'ओ पययो' सूत्र ये दो अलग अलग वचन करने पडेंगे। इसलिए प्रकृतसूत्रको रखनेमें ही लाघव है।

परिभाषासूत्रनामकं नवममाह्निकम् ।

परिभाषासूत्रनामक नौवाँ आह्निक [अ १ पा. १ आह्निक ९]

[प्रत्ययलक्षण—इस आह्निकमें प्रत्ययलक्षण, टि तथा उपधा संज्ञा, आगम तथा आदेशकी व्यवस्था, प्रत्याहार, और वृद्ध संज्ञा इनका विचार किया है, इससे इस आह्निकको 'परिभाषासूत्राह्निक' नाम दिया तो भी उचित ही होगा। 'अदर्शनं लोपः' (सू ६०) सूत्रमें 'लोप' शब्दकी 'अदर्शन' व्याख्या दी है आदिका विचार करके केवल कोई वर्ण वा शब्द दिखाई नहीं देता इससे वहाँ उसका लोप हुआ है ऐसा समझना समुचित नहीं, क्योंकि अगले 'प्रत्ययलोपे०' (सू. ६२) सूत्रसे उसको प्रत्ययलक्षण हुआ तो अनेक दोष निर्माण होंगे ऐसा कहकर 'प्रसक्तस्य' अर्थात् अवसर निर्माण होनेपर भी उच्चारण न करना इस प्रकारकी 'लोप' शब्दकी व्याख्या वार्तिककारोंने दी है और दोषोंका परिहार किया है। 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' (सू. ६१) सूत्रके 'प्रत्ययस्य' शब्दके प्रयोजनका वार्तिककारोंने विचार किया है और बताया है कि सूत्रमें 'प्रत्ययस्य' शब्द न रखा गया होता तो कहाँ दोष आये होते। इन दोषोंका निराकरण करते हुए भाष्यकारोंने इस संदर्भमें कहा है कि 'उणादि प्रत्ययोंको प्रत्ययसंज्ञा देना इष्ट नहीं है। वस्तुतः उणादि प्रत्यय लगाकर बनाये हुए शब्द अव्युत्पन्न ही समझे जायँ।' 'प्रत्ययलोपे०' (सू. ६२) और 'न लुमताङ्गस्य' (सू. ६३) सूत्रोंमें पाणिनिसूत्रोंके स्थानिवद्भावसदृश ही प्रत्ययलक्षणसंज्ञक शास्त्रसंकेतका विचार किया गया है। इस प्रत्ययलक्षणके कारण प्रत्ययका लोप अर्थात् अदर्शन जहाँ हुआ वहाँ प्रत्ययका लोप होनेपर भी वह प्रत्यय जिनका निमित्त है वे कार्य हो सकते हैं। प्रत्यय को लुक्, श्लु अथवा लुप् शब्दोंसे कहे हुए अदर्शनको भी यह लोपसंज्ञा दी जाती है और उससे वहाँ भी प्रत्ययके निमित्त कार्य हो सकते हैं, केवल वहाँ अगकार्योंका निषेध किया है। प्रत्ययलक्षण स्थानिवद्भावके समान ही अतिदेश होनेके कारण स्थानिवद्भाव और प्रत्ययलक्षण दोनों एक ही सूत्रसे कहे जानेपर जो दोष प्राप्त होंगे उनका विवेचन वार्तिककारोंने किया है, और भाष्यकारोंने उनका स्पष्टीकरण देके कहा है कि स्वतन्त्र सूत्रोंके द्वारा की हुई सूत्रकारोंकी व्यवस्था ठीक है। 'प्रत्ययके निमित्त अंगको कार्य करना हो तो प्रत्ययलक्षण नहीं होता है' इस निषेधके अत्यन्त स्थूल और महत्त्वपूर्ण उदाहरण वार्तिककारोंने दिये हैं, साथ ही साथ कहा है कि अंगकार्योंके सिवा स्वरकार्य कर्तव्य हों तो कुछ स्थानोंमें यह निषेध इष्ट है, और यह भी बताया है कि अगाधिकारके बादके स्वरके सिवा अन्य भी कुछ कार्य कर्तव्य हों तो प्रकृत निषेध प्राप्त न होके प्रत्ययलक्षण होना इष्ट है। 'न लुमताङ्गस्य' के स्थानमें 'न लुमता तस्मिन्' इस स्वरूपका सूत्र किया जानेसे कुछ उदाहरण सध जायँगे, पर और भी कुछ दोष उपस्थित होंगे इन सभी बातोंका विचार करके भाष्यकारने अन्तमें यों निर्णय दिया है कि, 'लुक्, श्लु और लुप् शब्दोंसे जिस प्रत्ययका अदर्शन हुआ हो वह प्रत्यय आगे होनेपर जो अंग, उसको कार्य कर्तव्य होनेपर प्रत्ययलक्षण

नहीं होता है ' ऐसा ' न लुमताङ्गस्य ' सूत्रका अर्थ किया जाय और जो फुटकर लोप प्राप्त होंगे उनको हटानेका प्रयत्न किया जाय। तदनन्तर प्रत्ययका लोप अनेक स्थलोंमें शब्दके अन्त्य अक्षरको वा उपान्त्य वर्णको कहा जानेसे उस अक्षर और वर्णको होनेवाली टि और उपधा संज्ञाओंके लक्षण ' अचोन्त्यादि टि ' और ' अलोन्त्यात्पूर्व० ' (सू. ६४ और ६५) सूत्रोंमें सूत्रकारोंने कहे हैं और भाष्यकारोंने उनका विवेचन किया है।

शब्दस्वरूपग्रहणसंकेत —

' तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ' (सू. ६६) और ' तस्मादित्युत्तरस्य ' (सू. ६७) सूत्रोंमें सूत्रपाठमें सप्तमी विभक्तिमें उच्चारण किया गया तो वह शब्द अव्यवहितरूपमें आगे होनेपर, और पञ्चमी विभक्तिमें उच्चारण किया गया तो अव्यवहितरूपमें पीछे होनेपर सूत्रोंके द्वारा कहे हुए भिन्न भिन्न कार्य किये जायँ ये परिभाषारूप नियम सूत्रकारोंने दिये हैं। ' तस्मिन्निति० ' सूत्रके ' निर्दिष्टे ' शब्दसे अव्यवहितत्व सूचित किया जाता है ऐसा कहकर जिन सूत्रोंमें सप्तमी और पञ्चमी इन दोनों विभक्तियोंमें रखे हुए शब्द प्राप्त होते हैं वहाँ पञ्चमीको अधिक प्रबल समझकर अव्यवहितपर शब्दस्वरूपके बारेमें कार्य किया जाय ऐसा स्पष्टीकरण वार्तिककारोंने किया है और उदाहरणस्वरूप भिन्न भिन्न सूत्र दिये हैं। ' स्वं रूपं० ' (सू. ६८) सूत्रमें पाणिनिसूत्रोंका अर्थ करनेके लिए लिया जानेवाला एक महत्त्वपूर्ण संकेत कहा है। पाणिनिका व्याकरण शब्दानुशासन अर्थात् शब्दशास्त्र है, अतः ' सूत्रमें अग्नि, दधि, कलि, शुक इस प्रकार विशिष्ट शब्दका उच्चारण करके कार्य कहे जानेपर वे उस शब्दस्वरूपको ही होते हैं, उस शब्दके समानार्थी वह्नि, वैश्वानर इत्यादि अन्य शब्दोंको वे नहीं होते ' इस आशयके प्रस्तुत सूत्रमें कहे हुए ' शब्दस्वरूपग्रहण, संकेत 'का स्वरूप भाष्यकारोंने स्पष्ट किया है। पाणिनिके सूत्रमें साधारणतया सर्वत्र यह संकेत पाला जाता है, पर इसको ' नदीभिश्च ' (२।१।२०), ' चतुष्पाद्भ्यो ढञ् ' (४।१।१३५), ' चतुष्पादो गर्भिण्या ' (२।१।७१), ' क्षुद्राभ्यो वा ' इस प्रकारके बहुतसे अपवादस्थल भी पाये जाते हैं। यहाँ ' नदी ' शब्दसे गंगा, यमुना इत्यादि कोई भी विशिष्ट नदीवाचक शब्द, चतुष्पाद् शब्दसे ' गो '–आदि चतुष्पाद्प्राणिवाचक शब्द और ' क्षुद्र ' शब्दसे दासी आदि क्षुद्रव्यक्तिबोधक शब्द लिये जाते हैं, नदी, चतुष्पाद्, और क्षुद्र शब्द नहीं लिये जाते। इस सूत्रपर सित्तद्विशेषाणा०, पित्पर्यायवचनस्य, जित्पर्यायवचनस्यैव०, झित्तस्य० (वार्तिक ५, ६, ७, ८) ये चार वार्तिक विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन वार्तिकोंमेंसे सित्, पित्, जित् और झित् इन चार शब्दोंके द्वारा ' विभाषा वृक्षमृग० ' (२।४।१२) सूत्रका ' वृक्ष ' शब्द, ' स्वे पुषः ' (३।४।४०) सूत्रका ' स्व ' शब्द, ' सभा राजा० ' (२।४।२३) सूत्रका ' राजन् ' शब्द और ' पक्षिमत्स्य० ' (४।४।३५) सूत्रका ' मत्स्य ' शब्द क्रमसे समझे जाने चाहिये। इतना ही नहीं तो वार्तिककारोंने यह भी बताया है कि ' वृक्ष ' और ' मत्स्य ' शब्दोंसे उनका विशेष कहनेवाले शब्द तथा ' स्व ' और ' राजन् ' शब्दोंसे उनके पर्यायशब्द लिये जाने चाहिये। वार्तिककारोंने स्, प्, ज्

और झ् वर्ण जिनके अन्तमें हे उन ल्गित्, पित्, जित् और झित् शब्दोंका उच्चारण यहाँ किया है, उससे पाणिनिके कालमें महत्त्वपूर्ण शब्दोंके विशेष बतानेवाले शब्द तथा पर्याय दिखानेवाले शब्द जिनमें एकके बाद एक रखे जाते हे ऐसे गण, निघण्टुमें जैसे दिये हैं वैसे, उस काममें विद्वानोंके मुखोद्गत हुए होंगे, और उन गणोंमें कभी कभी न्यग्रोधस्, पिप्पलस्, प्लक्षस्, जैसे सकार, तथा स्वप्, निजप् जैसे पकार ये इत् वर्ण लगाकर भिन्न भिन्न शब्दोंका पाठ किया होगा। पाणिनिने भी 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो०' (३।१।१३४) सूत्रके पचादि गणमें नदट्, जरट्, गरट्, तरट्, चोरट्, देवट् जैसे ट् इत्सज्ञक होनेवाले प्रातिपदिक रखे हैं और उससे उपर्युक्त विधानको पुष्टि प्राप्त होती है।

सावर्ण्यग्रहण—

'अणुदित् सवर्णस्य०' (सू ६९) वर्णोंका सवर्णवर्ण कहनेवाला महत्त्वपूर्ण सूत्र है। अण् अर्थात् अ इ इत्यादि महेश्वरके सूत्रमें उच्चारित नो स्वर और ह् य् व् र् ल् पाँच व्यञ्जन। पाणिनिसूत्रोंमें जहाँ जहाँ इनमेंसे किसी भी स्वरका वा व्यञ्जनका उच्चारण किया है वहाँ वहाँ अ इ इत्यादि वर्णोंसे जातिग्रहण सूत्रकारको अभिप्रेत होनेके कारण उन वर्णोंसे उनके ह्रस्व दीर्घ आदि सभी प्रकार लिये जायँ ऐसा अणुदित्० सूत्रका अर्थ है। प्रत्यय, आगम, आदेश इत्यादिमें कहीं कहीं सवर्णग्रहण इष्ट नहीं है यह देखकर 'प्रत्यय' शब्दमें ही प्रत्यय, आगम इत्यादि अन्तर्भाव हो जाय इस दृष्टिसे 'प्रत्यय' शब्दका 'प्रतिपदोक्त' (कहा हुआ)' यह अर्थ भाष्यकारने किया है और यह भी कहा है कि 'भाव्यमानेन सवर्णाना ग्रहण न' यह परिभाषा सूत्रके 'अप्रत्यय.' शब्दसे सूचित होती है। जहाँ अ, इ इत्यादि वर्णोंसे जातिका ग्रहण इष्ट न हो वहाँ उस वर्णके आगे सूत्रमें 'त' कार लगाया जाता है, और 'जिस वर्णमें तकार लगाया हो उस वर्णके उच्चारणके लिए जितना समय लगता है उतने समयमें ही उच्चारित होनेवाले उसके उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक इत्यादि उपभेद लिये जायँ, उसके ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत इत्यादि उपभेद न लिये जायँ' ऐसा 'तपरस्तत्कालस्य' (सू. ७०) इस अगले सूत्रमें सूत्रकारोंने ही कहा है। उच्चारण करने वाले व्यक्तिकी द्रुत और विलम्बित गतिसे उच्चारणके लिए यद्यपि अल्पाधिक समय लगा तो भी वर्णस्वरूप कायम ही रहता हे, उसमें बदल नहीं होता ऐसा यहाँ भाष्यकारोंने कहा हे, और साथ ही साथ यह दृष्टान्त भी दिया है कि चलनेवालेकी गतिके अनुसार शीघ्र वा विलम्बसे मनुष्य पहुचा तो कोश, योजन इत्यादि अन्तर अल्पाधिक नहीं होता है। यहाँ भाष्यकारोंने स्पष्टतासे प्रतिपादन किया है कि द्रुत और विलम्बित गतिके कारण शब्दका गुण जो ध्वनि है उसके उच्चारणके लिए यद्यपि अल्पाधिक समय लगाकर उसमें बदल हुआ तो भी स्फोटस्वरूप नित्य शुद्ध शब्दके उच्चारणमें उच्चारण करनेवालेकी द्रुत और विलम्बित गतिसे कुछ भी बदल नहीं होता है। 'आदिरन्त्येन सहेता' (सू ७१) सूत्रमें लाघव प्रधान पाणिनिकी व्याकरणशास्त्रीय 'प्रत्याहार' इस महत्त्वपूर्ण सज्ञाका स्पष्टीकरण किया है।

तद्न्तविधि —

'येन विधिस्तदन्तस्य' (सू ७२) सूत्रसे पाणिनिसूत्रोंका अर्थ करनेके लिए उपयुक्त होनेवाले 'तदन्तविधि' नामक महत्त्वपूर्ण संकेतका निरूपण किया है। किसी भी विशेष्यको सूत्रमें वर्ण, प्रत्यय इत्यादि प्रकारका विशेषण दिया हो तो वहाँ विशेषणान्त शब्दसमुदाय लिया जाय ऐसा थोडेमें इस सूत्रका अर्थ है। इस सूत्रका उपयोग यद्यपि अनेक स्थलोंपर होता है तो भी इस तदन्तविधिको लेनेसे कुछ स्थलोंपर दोष प्राप्त होते हैं, इसलिए वार्तिककारोंने जहाँ दोष आते हैं वे सभी स्थल, — जैसे समासविधि, प्रत्ययविधि, उगित्का उच्चारण, तथा वर्णका उच्चारण — दिखाये हैं, और कहा है कि वहाँ तदन्तविधि न ली जाय, और साथ ही साथ इस परिभाषाके उपयोगके प्रमुख स्थल भी दिखा दिये हैं। जहाँ प्रत्यय शब्दके आगे न लगकर वह शब्दमें ही घुस जाता है वहाँ अकच् आदि उन प्रविष्ट प्रत्ययोंके साथ जो शब्द बन जाता है वह मूलभूत शब्दके समान ही समझा जाता है और उससे मूलभूत शब्दके बारेमें अव्यय, सर्वनाम इत्यादि जो संज्ञाए होती हैं, वे उसके बारेमें भी होती हैं, वहा प्रकृत सूत्रसे कुछ भी आपत्ति नहीं प्राप्त होती। इस बातको स्पष्ट करनेके लिए भाष्यकारोंने यह दृष्टान्त दिया है कि छोटी छोटी नदियाँ यद्यपि आकर प्रविष्ट होती हैं तो भी गंगा, सिंधु इत्यादि मूल नदियोंके नाम कायम ही रहते हैं। यहाँ वार्तिककारोंने इस सूत्रके अनेक प्रयोजन दिखाये हैं और कहा है कि इस परिभाषासूत्रके समान और इतना ही महत्त्वपूर्ण 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' यह भी संकेत कहना आवश्यक है। 'वृद्धिर्यस्याचामादि', 'त्यदादीनि च' और 'एङ् प्राचां देशे' (सू ७३,७४,७५) इन तीन सूत्रोंमें सूत्रकारने 'वृद्ध' संज्ञाका लक्षण दिया है, तथा जिस शब्दका पहला स्वर आ, ऐ अथवा औ है ऐसे शब्द, त्यद्, तद्, इत्यादि सर्वनाम, और पूर्वीय देशोंमें प्रचलित ए और ओ इन स्वरोंसे आरंभ होनेवाली व्यक्तिवाचक संज्ञाओंको 'वृद्ध' संज्ञा दी है। 'यह वृद्ध संज्ञा लेनेके विषयमें व्यञ्जनोंका विचार न किया जाय' ऐसा कहकर वार्तिककारोंने यों प्रतिपादन किया है कि व्यञ्जनोंमें आरंभ होनेवाले गार्ग्य आदि शब्दोंमेंसे पहला स्वर वृद्धिसंज्ञक होनेके कारण उन शब्दोंको यह 'वृद्ध' संज्ञा होती है, तथा यह भी बताया है कि 'व्यक्तिवाचकसंज्ञाओं और गोत्रप्रत्ययान्त उत्तरपद होनेवाली संज्ञाओंको भी वृद्ध संज्ञा विकल्पसे दी जाय।' 'एङ् प्राचां देशे' सूत्रमें 'प्राग्देश शब्दसे' कौनसे देश विवक्षित है इसका विवेचन 'प्रागुदञ्चौ विभजते०' इस श्लोकवार्तिकमें किया है, पर वह वार्तिक भाष्यकारोंने नहीं दिया है।]

अदर्शनं लोपः ॥ १ । १ । ६० ॥

अर्थस्य संज्ञा कर्तव्या शब्दस्य मा भूदिति। इतरेतराश्रयं च भवति। केतरेतराश्रयता सतोऽदर्शनस्य संज्ञया भवितव्यं संज्ञया चादर्शनं भाव्यते तदेतादितरेतराश्रयं भवति। इतरेतराश्रयाणि च न प्रकल्पन्ते।

लोपसंज्ञायामर्थसतोरुक्तम् ॥ १ ॥

किमुक्तम्। अर्थस्य तावदुक्तम्। इतिकरणो ऽर्थनिर्देशार्थ इति। सतो

(सू. ६०) वर्ण अथवा वर्णसमुदायके उच्चारणका अवसर आनेपर भी उनका अदर्शन अर्थात् उच्चारण न करनेको लोपसंज्ञा होती है। (सू. ६०)

यह लोपसंज्ञा 'अदर्शन' शब्दके अर्थको[1] होती है ऐसा कहा जाय। क्योंकि 'अदर्शन' शब्दको नहीं होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, यहाँ 'इतरेतराश्रय' दोष भी होता है।

'इतरेतराश्रय' दोष किस प्रकारका?

अनुच्चारण करनेके बाद उसे लोपसंज्ञा की जाय; और उस लोपसंज्ञासे वर्णोंका अनुच्चारण किया जाय। अतः लोपसंज्ञा अनुच्चारणपर निर्भर रहती है और अनुच्चारण लोपसंज्ञापर निर्भर रहता है, ऐसा होना अन्योन्याश्रय[2] दोष है। और जिस स्थानपर एक दूसरेपर निर्भर कार्य उपस्थित होते है वहाँ वह कार्य करना संभव नहीं होता।

(वा १) यह लोपसंज्ञा अर्थको की जाय और अनुच्चारण करनेके बाद उस अनुचारणको की जाय इन दो बातोंके संबंधमें पहले कहा ही गया है।

वह क्या कहा गया है?

"अर्थको संज्ञा की जाय" इस संबंधमें तो "इतिकरणोऽर्थनिर्देशार्थः' ऐसा पहले (१।१।४४ वा. ३) कहा ही गया[3] है। वैसे ही 'अनुच्चारण करनेके बाद

---

१. यहाँ 'अदर्शन' शब्दमें 'दृश्' धातुका उच्चारण करना यह अर्थ है। तब 'अदर्शन' शब्दका अर्थ होता है 'अनुच्चारण'। 'अनुच्चारण' अर्थात् 'उच्चारण न करना' इस अर्थको लोप संज्ञा होनी चाहिये।

२. 'हे राम' में 'राम' शब्दके आगे संबुद्धि सुप्रत्यय करके 'राम स्' होनेपर उसका 'एङ् ह्रस्वात् संबुद्धेः' (६।१।६९) सूत्रसे लोप करना है। वहाँ उस 'सु' प्रत्ययका अनुच्चारण करनेपर उस अनुच्चारणको 'लोप' संज्ञा होगी, और लोप संज्ञा होनेपर लोपका स्वरूप समझमें आनेपर उस किये हुए प्रत्ययका अनुच्चारण किया जायगा। तब कुछ भी नहीं किया जा सकता यह अन्योन्याश्रय दोष है।

३. 'नवेति विभाषा' (१।१।१।४४) सूत्रमेंसे 'इति' शब्दकी अनुवृत्ति यहाँ करके 'अदर्शनम्' के साथ उस 'इति' शब्दका संबंध किया जाय जिससे 'अदर्शनम् इति लोपः' यह वाक्य होके 'अदर्शन' शब्दके अर्थको लोपसंज्ञा होती है।

ऽप्युक्तम्। सिद्धं तु नित्यशब्दत्वादिति। नित्याः शब्दाः। नित्येषु च शब्देषु सतोऽदर्शनस्य संज्ञा क्रियते न सतायादर्शनं भाष्यते॥

सर्वप्रसङ्गस्तु सर्वस्यान्यत्रादृष्टत्वात् ॥ २॥

सर्वप्रसङ्गस्तु भवति। सर्वस्यादर्शनस्य लोपसंज्ञा प्राप्नोति। किं कारणम्। सर्वस्यान्यत्रादृष्टत्वात्। सर्वो हि शब्दो यो यस्य प्रयोगविषयः स ततोऽन्यत्र न दृश्यते। त्रपु जत्वित्यत्राणो ऽदर्शनं तत्रादर्शनं लोप इति लोपसंज्ञा प्राप्नोति। तत्र को दोषः।

तत्र प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधः ॥ ३॥

तत्र प्रत्ययलक्षणं कार्यं प्राप्नोति तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। अचो ञ्णिति [७.२.११५] इति वृद्धिः प्राप्नोति॥ नैष दोषः। ञ्णित्यङ्गस्याचो वृद्धिरुच्यते। यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्यये ऽङ्गं भवति। यस्माच्चात्र प्रत्ययविधिर्न तत्प्रत्यये

उसे की जाय' इस संबंधमें भी 'सिद्धं तु नित्यशब्दत्वात्' (१।१।३ वा. ९) ऐसा पहले कहा गया है। अर्थात् शब्द नित्य है। शब्द नित्य होनेसे पहले ही से सिद्ध अनुच्चारणको लोपसंज्ञा की जाती है। लोपसंज्ञासे कुछ मूलतः उच्चारित शब्दोंका अनुच्चारण नहीं किया जाता।

(वा. २) सर्वप्रसंग आता है अर्थात् सभीके अदर्शनको लोपसंज्ञा होने लगेगी। क्यों भला?

'सर्वस्यान्यत्रादृष्टत्वात्' याने सभी शब्दोंकी ऐसी स्थिति है कि जिन शब्दोंका प्रयोग करनेका जो स्थल होगा उस स्थलके सिवा अन्यत्र कहीं भी वह शब्द दिखाई नहीं देता। उदा०—त्रपु, जतु, में अण प्रत्यय दिखाई नहीं देता। अतः वहाँ उस अण प्रत्ययके अदर्शनको या अनुच्चारणको लोपसंज्ञा होने लगेगी।

तो फिर यहाँ अण् प्रत्ययका लोप है ऐसा माना जाय तो कौनसा दोष होगा?

(वा. ३) वहाँ उस अण् प्रत्ययके निमित्त होनेवाला कार्य प्राप्त होता है उसका निषेध करना चाहिए। नहीं तो प्रत्ययलक्षणसे (१।१।६२) 'अचो ञ्णिति' (७।२।११५) से त्रपु, जतु, में उकारको वृद्धि होने लगेगी।

यह दोष नहीं आता। क्योंकि ञित् या णित् प्रत्यय आगे होनेपर उसके पिछले अंगके अच्को उस सूत्रद्वारा वृद्धि बतायी गयी है। और अंगसंज्ञा तो जिससे प्रत्यय किया गया हो, तदादि शब्दस्वरूपको वह प्रत्यय आगे होनेपर होती है (१।४।१३)। (यद्यपि यहाँ प्रत्ययलक्षणसे अण् प्रत्यय आगे है ऐसा माना तो भी) वह अण् प्रत्यय जिस शब्दस्वरूपसे अर्थात् कर्म उपपद होनेपर धातुसे (३।२।१) किया जाता है वह शब्दस्वरूप यहाँ वह प्रत्यय आगे होनेपर नहीं है। यहाँ वह प्रत्ययलक्षणसे माना हुआ

परतः। यच्च प्रत्यये परतो न तस्मात्प्रत्ययविधिः॥ क्विपस्तर्ह्यदर्शनं तत्रादर्शनं लोप इति लोपसंज्ञा प्राप्नोति। तत्र को दोषः। तत्र प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधः। तत्र प्रत्ययलक्षणं कार्यं प्राप्नोति तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। ह्रस्वस्य पिति कृति तुग्भवतीति तुक्प्राप्नोति॥

सिद्धं तु प्रसक्तादर्शनस्य लोपसंज्ञित्वात्॥ ४॥

सिद्धमेतत्। कथम्। प्रसक्तादर्शनं लोपसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम्। यदि प्रसक्तादर्शनं लोपसंज्ञं भवतीत्युच्यते ग्रामणीः सेनानीः अत्र वृद्धिः प्राप्नोति। प्रसक्तादर्शनं लोपसंज्ञं भवति षष्ठीनिर्दिष्टस्य। यदि षष्ठीनिर्दिष्टस्येत्युच्यते चाहलोप एवेत्यवधारणे [८.१.६२] चादिलोपे विभाषा [६३] इत्यत्र लोपसंज्ञा न प्राप्नोति।

अण् प्रत्यय आगे होनेपर जो त्रपु, जतु, यह शब्दस्वरूप है उससे वह अण् प्रत्यय नहीं किया गया है। (निदान, त्रपु, जतु को अण् या णित् प्रत्ययके कारण अंगसंज्ञा न होनेके कारण वृद्धि नहीं होगी इसलिए कुछ दोष नहीं आता।)

तो फिर त्रपु, जतु में क्विप् प्रत्यय दिखाई नहीं देता। तब उस क्विप् प्रत्ययके अदर्शनको 'अदर्शनं लोपः' इस प्रकृतसूत्रसे लोपसंज्ञा होने लगेगी।

फिर वहाँ क्विप् प्रत्ययका लोप हुआ है ऐसा माना जाय तो क्या दोष होगा?

'तत्र प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधः' याने वहाँ उस क्विप् प्रत्ययके निमित्त होनेवाला कार्य प्राप्त होता है उसका निषेध करना चाहिए। नहीं तो प्रत्ययलक्षणसे (१।१।६२) 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (६।१।७१) से त्रपु, जतु, में तुक आगम होने लगेगा।

(वा. ४) यह सिद्ध होता है।

सो कैसे?

जिन प्रत्यय आदिके उच्चारणका प्रसंग जिस स्थानपर आता होगा उस स्थानपर ही उन प्रत्यय आदिके अदर्शनको लोपसंज्ञा होती है ऐसा माना जाय।

उच्चारणका प्रसंग आये हुए अदर्शनको ही लोपसंज्ञा होती है ऐसा कहा जाय तो भी ग्रामणीः, सेनानीः, में उच्चारणका प्रसंग आये हुए अण् प्रत्ययका (३।२।१) बाध करके क्विप् प्रत्यय किया जानेके कारण अण् प्रत्ययके अदर्शनको लोपसंज्ञा होगी और प्रत्ययलक्षणसे (१।१।६२) वृद्धि (७।२।११५) होगी ऐसा दोष आयेगा ही।

उच्चारणका प्रसंग आये हुए अदर्शनको ही लोपसंज्ञा होती है यह सच है, पर वह उच्चारणका प्रसंग आदेश बतानेवाले सूत्रमें जिसका षष्ठी प्रत्यय लगाकर निर्देश किया होता है उसीका होना चाहिए।

अगर षष्ठीका प्रत्यय लगाकर निर्देश किये हुए उच्चारणका ही प्रसंग लेना हो तो 'चाहलोप एवेत्यवधारणम्' (८।१।६२), 'चादिलोपे विभाषा' (८।१।६३) इन सूत्रोंके उदाहरणोंमें 'च' आदिके अदर्शनको लोपसंज्ञा नहीं होगी।

अथ प्रसक्तादर्शनं लोपसंज्ञं भवतीत्युच्यमाने कथमिवैतत्सिध्यति। को हि शब्दस्य प्रसङ्गः। यत्र गम्यते चार्थो न च प्रयुज्यते। अस्तु तर्हि प्रसक्तादर्शनं लोपसंज्ञं भवतीत्येव। कथं ग्रामणीः सेनानीः। योऽत्राणः प्रसङ्गः क्विपासौ बाध्यते॥

प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः॥ १। १। ६१॥

प्रत्ययग्रहणं किमर्थम्।

लुमति प्रत्ययग्रहणमप्रत्ययसंज्ञाप्रतिषेधार्थम्॥ १॥

लुमति प्रत्ययग्रहणं क्रियतेऽप्रत्ययस्यैताः संज्ञा मा भूवन्निति॥ किं प्रयोजनम्॥

प्रयोजनं तद्धितलुकि कंसीयपरशव्ययोर्लुकि च गोप्रकृतिनिवृत्त्यर्थम्॥ २॥

पर 'उच्चारणका प्रसंग आये हुए अदर्शनको ही लोपसंज्ञा होती है' यह तो आपको भी मान्य है न? फिर आपके मतमें भी तो 'च' आदिके अदर्शनको लोपसंज्ञा भला किस प्रकार सिद्ध होती है? क्योंकि वहाँ 'च' आदि शब्दोंके उच्चारणका कैसे प्रसंग आता है?

'उच्चारणका प्रसंग' ऐसे पहचाना जाय कि जिस वाक्यसे एकाध अर्थ मनमें आ जाता है, पर उस अर्थके शब्दका प्रयोग तो वहाँ दिखाई नहीं देता, वहाँ उस शब्दके उच्चारणका प्रसंग है ऐसा माना जाय।

तो फिर षष्ठीप्रत्ययसे निर्देश किया हुआ प्रसंग ही आवश्यक है ऐसा आग्रह नहीं रखते। केवल 'जिसके उच्चारणका प्रसंग आया हो वहाँ उसीके अदर्शनको लोपसंज्ञा होती है।' इतना ही इस प्रकृत सूत्रका अर्थ रहने दें।

इतना ही अर्थ लिया जाय तो ग्रामणीः, सेनानीः में अण् प्रत्ययके अदर्शनको लोपसंज्ञा होने लगेगी उसका क्या?

उसका स्पष्टीकरण यह है कि ग्रामणीः, सेनानीः में अण् प्रत्ययका प्रसंग है ऐसा आपको लगता है, पर वह प्रसंग वहाँ नहीं टिकता। क्योंकि, क्विप् प्रत्ययसे उस अण् प्रत्ययके प्रसंगका बाध किया जाता है।

(सू. ६१) लुक्, श्लु और लुप् शब्दोंसे जहाँ प्रत्ययोंका अदर्शन कहा हो वहाँ उस अदर्शनको लुक्, श्लु और लुप् संज्ञाएँ होती हैं।

(सू. ६१) इस सूत्रमें 'प्रत्ययस्य' शब्द किस लिए उच्चारित किया गया है?

(वा. १) 'लु' अक्षर जिसमें है ऐसी लुक् आदि संज्ञाएँ बतानेवाले इस प्रकृत-सूत्रमें 'प्रत्ययस्य' शब्दका जो उच्चारण किया है उसका उपयोग यह है कि प्रत्ययके बिना अन्यके अदर्शनको लुक्, श्लु, लुप् संज्ञाएँ न हों।

उसका क्या उपयोग है?

तद्धितलुकि गोनिवृत्त्यर्थं कंसीयपरशव्ययोश्च लुकि प्रकृतिनिवृत्त्यर्थम्। लुक्तद्धितलुकि [१·२·४९] इति गोरपि लुक्प्राप्नोति। प्रत्ययग्रहणान्न भवति। कंसीयपरशव्ययोर्यञञौ लुक्च· [४·३·१६८] इति प्रकृतेरपि लुक्प्राप्नोति। प्रत्ययग्रहणान्न भवति॥ गोनिवृत्त्यर्थेन तावन्नार्थः॥

॰ योगविभागात्सिद्धम्॥ ३॥

योगविभागः करिष्यते। गोरुपसर्जनस्य। गोऽन्तस्य प्रातिपदिकस्योपसर्जनस्य ह्रस्वो भवति। ततः स्त्रियाः। स्त्रीप्रत्ययान्तस्य प्रातिपदिकस्योपसर्जनस्य

(वा. २) 'प्रत्ययस्य' शब्दका उपयोग यह है कि तद्धितका लुक् होनेपर वहाँ गोशब्दका लुक् न हो, वैसे ही कंसीय और परशव्य शब्द के प्रत्ययका लुक् होता है वह सबंध प्रकृतिका न हो। 'लुक् तद्धितलुकि' (१।२।४९) सूत्रमें 'गोस्त्रियोः॰' (१।२।४८) सूत्रसे 'गोस्त्रियोः'की अनुवृत्ति आती है। अतः उससे तद्धित प्रत्ययका लुक् होनेपर जैसे स्त्रीप्रत्ययका लुक् होता है वैसा गोशब्दका भी होने लगेगा। वह 'प्रत्ययस्य' ऐसा यहाँ कहनेके कारण नहीं होता है[1]। वैसे ही 'कंसीयपरशव्ययोः यञञौ लुक् च' (४।३।१६८) सूत्रसे कंसीय और परशव्य इस समग्र लुक् प्रकृतिका लुक् होने लगेगा। परंतु 'प्रत्ययस्य' ऐसा यहाँ कहनेके कारण वह लुक् नहीं होता। (केवल उसका प्रत्ययका जितना भाग है उतनेका ही होता है।)

गोशब्दका लुक् न हो इसलिए 'प्रत्ययस्य' ऐसा यहाँ कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

(वा. ३) क्योंकि 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' सूत्रका विभाग करनेसे ही सिद्ध होता है। वह सूत्रका विभाग यों है:— 'गोरुपसर्जनस्य' यह एक सूत्र है। 'उपसर्जन जो गोशब्द है वह अंतेके प्रातिपदिकको ह्रस्व होता है' ऐसा उसका अर्थ है। फिर 'स्त्रियाः' यह दूसरा सूत्र है। 'उपसर्जन स्त्रीप्रत्ययान्त जो प्रातिपदिक है उसे ह्रस्व होता है' ऐसा उसका अर्थ है। उसके आगे 'लुक् तद्धितलुकि' यह

---

१. कारण यह कि 'गो' शब्द है, प्रत्यय नहीं' तब 'पञ्चभिर्गोभिः क्रीतः पञ्चगुः' में 'लुक्तद्धितलुकि' से 'गो' शब्दका लुक् नहीं होता। तात्पर्य यह है कि, 'लुक्तद्धितलुकि' में 'गोस्त्रियोः॰' इस पिछले सूत्रसे केवल 'स्त्री' शब्दकी अनुवृत्ति होती है,। 'गो' शब्दकी अनुवृत्ति नहीं होती, कारण, 'अनुवृत्ति' लायी गयी तो भी वह निरुपयोगी है।

२. इस सूत्रसे 'कंसीय' शब्दके आगे 'विकार' अर्थमें 'यञ्' प्रत्यय होता है और 'कंसीय' शब्दके 'ईय' का लोप होता है। कंसीयस्य विकारः कांस्यम् तथा परशव्यस्य विकारः पारशवः। यहाँ 'परशव्य' शब्दके आगे 'अञ्' प्रत्यय होता है और 'परशव्य' शब्दके 'य' अंशका लुक् होता है।

ह्रस्वो भवति। ततो लुक्तद्धितलुकीति स्त्रिया इति वर्तते गोरिति निवृत्तम्॥

कंसीयपरशव्ययोर्विशिष्टनिर्देशात्सिद्धम्॥ ४॥

कंसीयपरशव्ययोरपि विशिष्टनिर्देशः कर्तव्यः। कंसीयपरशव्ययोर्यञञौ भवतश्छयतोश्च लुग्भवतीति। स चावश्यं विशिष्टनिर्देशः कर्तव्यः। क्रियमाणेऽपि वै प्रत्ययग्रहण उकारसशब्दयोर्मा भूदिति। कमेः सः कंसः। परान्शृणातीति परशुरिति। नैष दोषः। उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि। स एषोऽनन्यार्थो विशिष्टनिर्देशः कर्तव्यः प्रत्ययग्रहणं वा कर्तव्यम्॥

उक्तं वा॥ ५॥

सूत्र है। अतः पिछले 'स्त्रियाः' सूत्रमें गोशब्द न होनेके कारण उसकी अनुवृत्ति यहाँ नहीं होगी। केवल 'स्त्रियाः'की ही होगी।

(वा ४) कंसीय और परशव्य इनमेंसे जिस भागका लुक् इष्ट है उसका विशेष रूपसे निर्देश किया जाय, जिससे कंसीय और परशव्य इन शब्दोंसे 'उसका विकार' इस अर्थमें क्रमसे यञ और अञ प्रत्यय होते हैं, और कंसीय और परशव्य शब्दोंके छ और यत् प्रत्ययोंका लुक् होता है ऐसा कहा जाय। और ऐसा विशेष रूपसे निर्देश अवश्य किया जाना ही चाहिए। यद्यपि प्रकृतसूत्रसे 'प्रत्ययस्य' शब्द रखा जाय तो भी 'छ और यत् का लुक् होता है' ऐसा कहना ही चाहिए। उकार और सकार प्रत्ययोंका नहीं होना चाहिए।

कम् धातुसे 'स' प्रत्यय (उणा० ३।६२) होकर कंस शब्द सिद्ध हुआ है। वैसे ही 'परान् शृणाति इति परशुः' यहाँ पर उपपद है और 'शृ' धातुसे 'आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च' (उणादि सू० १।३५) से 'उ' प्रत्यय होकर परशु शब्द सिद्ध हुआ है।

यह दोष नहीं आता। क्योंकि 'उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि' याने 'शाकटायनके उण् आदि प्रत्यय लगाकर सिद्ध किये हुए जो प्रातिपदिक हैं वे पाणिनिके मतमें अव्युत्पन्न माने जाते हैं।' अतः कम् धातु, स प्रत्यय इत्यादि प्रकृति प्रत्ययोंकी कल्पना उनमें नहीं की जानी चाहिए। तात्पर्य, 'छ और यत् का लुक् होता है' इस विशेष निर्देशका उपयोग दूसरा कुछ भी संभव नहीं है। केवल 'कंसीय और परशव्य इस समग्र प्रकृतिका लुक् न हो' वही एक उपयोग है। इसलिए उसका वैसा विशेष निर्देश किया जाय। अथवा उसके लिए प्रकृतसूत्रसे 'प्रत्ययस्य' शब्द रखा जाय। कुछ भी किया जाय तो चल सकता है।

किमुक्तम् । ङ्याप्प्रातिपदिकग्रहणमङ्गभपदसंज्ञार्थं यच्छयोश्च लुगर्थमिति ॥

षष्ठीनिर्देशार्थं तु ॥ ६ ॥

षष्ठीनिर्देशार्थं तर्हि प्रत्ययग्रहणं कर्तव्यम् । षष्ठीनिर्देशो यथा प्रकल्पेत ॥

अनिर्देशे हि षष्ठ्यर्थाप्रसिद्धिः ॥ ७ ॥

अक्रियमाणे हि प्रत्ययग्रहणे षष्ठ्यर्थस्याप्रसिद्धिः स्यात् । कस्य । स्थाने-योगत्वस्य ॥ क्व पुनरिहं षष्ठीनिर्देशार्थेनार्थः प्रत्ययग्रहणेन यावता सर्वत्रैवं षष्ठ्यु-च्चार्यते ऽणिञोस्तद्राजस्य यञञोः शप इति । इह न काचित्षष्ठी जनपदे लुप् [४·२·८१] इति । अत्रापि प्रकृतं प्रत्ययग्रहणमनुवर्तते । क्व प्रकृतम् । प्रत्ययः परश्च [३·१·१,२] इति । तद्वै प्रथमानिर्दिष्टं षष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थः । ङ्या-

---

(वा. ५) अथवा यह बताया ही है ।

वह क्या बताया है ?

'ङ्याप्प्रातिपदिकग्रहणमङ्गभपदसंज्ञार्थं यच्छयोश्च लुगर्थम्' (४।१।१ वा. १।२) ऐसा बताया गया है ।

(वा. ६) तो फिर 'षष्ठीनिर्देशार्थ' याने षष्ठीप्रत्यय लगानेके लिए प्रत्ययशब्द यहाँ रखा जाना चाहिए । क्योंकि, कोई भी शब्द उच्चारे बिना केवल षष्ठीप्रत्यय उच्चारा नहीं जा सकता ।

(वा. ७) प्रत्ययशब्द उच्चारा नहीं गया तो लुक् आदि बतानेवाले सूत्रमें षष्ठीप्रत्ययका अर्थ नहीं लिया जा सकेगा ।

कौनसा षष्ठीप्रत्ययका अर्थ नहीं लिया जा सकेगा ?

'स्थानसे संबंध' यह अर्थ नहीं लिया जा सकेगा ।

'परंतु षष्ठीप्रत्यय लगानेके लिए यहाँ प्रत्यय शब्दका उच्चारण किया जाना चाहिए' ऐसा जो आप कहते हैं उसका उपयोग भी भला किस लुक् आदि बतानेवाले शास्त्रमें होगा ? देखें तो लुक् आदि बतानेवाले सभी सूत्रोंमें तत्तद् विशेष शब्दका उच्चारण करके उसमें षष्ठीप्रत्यय लगाया दिखाई देता है । उदा०— 'अणिञोः' (२।४।५८), तद्राजस्य' (२।४।६२), 'यञञोः' (२।४।६४), 'शपः' (२।४।७२)

पर जिस स्थानपर कोई भी शब्द षष्ठीप्रत्यय लगाकर न उच्चारा गया हो वहाँ कैसा अर्थ लिया जा सकेगा ? उदा०—'जनपदे लुप् (४।२।८१)

वहाँ पीछेसे प्रत्यय शब्दकी अनुवृत्ति आती है ।

पीछे प्रत्यय शब्द साधारणतः कहाँ है ?

प्रत्ययः । परश्च (३।१।१, २) ऐसा प्रत्ययशब्द है ।

परंतु वह प्रत्ययशब्द, प्रथमा विभक्तिका प्रत्यय लगाकर उच्चारित किया गया है । और यहाँ तो षष्ठी प्रत्यय लगाए हुए शब्दकी आवश्यकता है ।

प्रातिपदिकात् [४·१·१] इत्येषा पञ्चमी प्रत्यय इति प्रथमायाः षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति तस्मादित्युत्तरस्य [१·१·६७] इति । प्रत्ययविधिरयं न च प्रत्ययविधौ पञ्चम्यः प्रकल्पिका भवन्ति । नायं प्रत्ययविधिः । विहितः प्रत्ययः प्रकृतश्चानुवर्तते ॥

सर्वादेशार्थं वा वचनप्रामाण्यात् ॥ ८ ॥

सर्वादेशार्थं तर्हि प्रत्ययग्रहणं कर्तव्यम् । लुक्श्लुलुपः सर्वादेशा यथा स्युः । अथ क्रियमाणे ऽपि प्रत्ययग्रहणे कथमिव लुक्श्लुलुपः सर्वादेशा लभ्याः । वचनप्रामाण्यात् । प्रत्ययग्रहणसामर्थ्यात् ॥ एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति लुक्श्लुलुपः सर्वादेशा भवन्तीति यदयं लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये [७·३·७३] इति लोपे प्रकृते लुकं शास्ति ॥

ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४।१।१) इस पञ्चम्यन्त पदकी अनुवृत्ति यहाँ आती है। अतः 'तस्मादित्युत्तरस्य' (१।१।६७) इस परिभाषासे उस पंचमीप्रत्ययके बलपर 'प्रत्ययः' इस प्रथमा प्रत्ययके बदले षष्ठी प्रत्ययकी कल्पना की जा सकेगी।

परंतु यहाँ प्रत्ययका विधान किया गया है न ? और प्रत्ययका विधान जिस स्थानपर किया गया हो उस स्थानपर तो पंचमी प्रत्ययके बलपर षष्ठी प्रत्ययकी कल्पना नहीं हुआ करती।

'जनपदे लुप्' सूत्रसे प्रत्ययका विधान नहीं किया गया है। पिछले सूत्रोंद्वारा ही प्रत्ययका विधान किया गया है। उसकी केवल अनुवृत्ति यहाँ आ रही है।

(वा. ८) तो फिर सर्वादेश होने के लिए याने लुक्, श्लु और लुप् ये आदेश समूचे प्रत्ययको होने चाहिए। अतः यहाँ 'प्रत्ययस्य' ऐसा कहना चाहिए।

परंतु 'प्रत्ययस्य' ऐसा यहाँ कहा गया तो भी लुक्, श्लु और लुप् ये समूचे प्रत्ययको कैसे हो सकेंगे? (अलोन्त्यस्य [१।१।५२] इससे प्रत्ययके अंत्य वर्णको या कुछ स्थानोंपर (आदेः परस्य [१।१।५४] से) प्रत्ययके आदिवर्णको क्यों न हों ?)

'वचनप्रामाण्यात्' याने यहाँ प्रत्ययस्य ऐसा जो कहा गया है उसकी सामर्थ्यके कारण लुक् आदि सब प्रत्ययको होंगे।

'प्रत्ययस्य' शब्दका यह उपयोग भी ठीक नहीं है। क्योंकि जब कि आचार्य पाणिनि 'लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये' (७।३।७३) सूत्रमें 'घोर्लोपो लेटि वा' (७।३।७०) सूत्रमेंसे लोप शब्दकी अनुवृत्तिके आनेपर भी पुनः लुक् पद रखते हैं, तब वे ऐसा सूचित करते हैं कि 'लुक्', 'श्लु' और 'लुप्' ये आदेश समूचे प्रत्ययको होते हैं' (लुक् बताकर भी अगर वह प्रत्ययके अन्त्य वर्णका होगा तो लोप शब्दकी अनुवृत्तिसे ही काम चल जायगा और लुक् पद व्यर्थ होगा।)

---

१. 'प्रत्ययस्य' यह कल्पना।

उत्तरार्थं तु ॥ ९ ॥

उत्तरार्थं तर्हि प्रत्ययग्रहणं कर्तव्यम् । न कर्तव्यम् । क्रियते तत्रैव प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् [१·१·६२] इति । द्वितीयं कर्तव्यम् । कृत्स्नप्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणं यथा स्यात् । एकदेशलोपे मा भूदिति । आघ्नीत । सं रायस्पोषेण ग्मीयेति ॥

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् ॥ १ । १ । ६२ ॥

प्रत्ययग्रहणं किमर्थम् । लोपे प्रत्ययलक्षणमितीयत्युच्यमाने सौरथी वैहतीति

(वा. ९) तो फिर अगले सूत्रमें 'प्रत्ययस्य' की अनुवृत्ति होनी चाहिए इसलिए यहाँ 'प्रत्ययस्य' ऐसा कहना चाहिए।

ऐसा कहनेकी आवश्यकता नहीं। क्योंकि 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' इस अगले सूत्रमें 'प्रत्ययलोपे' ऐसा प्रत्ययशब्द रखा ही गया है न?

यद्यपि वह रखा गया है तो भी और दूसरे प्रत्ययशब्दकी वहाँ आवश्यकता है। प्रत्यय जो प्रत्यय है याने सबंध प्रत्यय है उसका लोप हुआ हो तभी उस प्रत्ययके निमित्त बताया हुआ कार्य अगले सूत्रसे होना चाहिए। प्रत्ययके किसी भागका लोप हुआ हो तो उसके निमित्त प्राप्त होनेवाला कार्य नहीं होना। नहीं होना चाहिए उदा० 'आघ्नीत सं रायस्पोषेण ग्मीय।'

(सू. ६२) प्रत्ययके निमित्त कहा हुआ जो कार्य है वह प्रत्ययका लोप होनेपर भी किया जाय। (६२)

(सू. ६२) इस सूत्रमें प्रत्यय शब्द किस लिए रखा गया है?

प्रत्ययशब्दको निकालकर 'लोपे प्रत्ययलक्षणम्' इतना ही सूत्र किया तो

---

४. 'आघ्नीत' क्रियामें आङ् उपसर्ग, हन् धातु, विधिलिङ् और उसको आत्मनेपद (१।३।२८) किया है। यहाँ प्रत्ययके सकारका जो लोप हुआ है (७।२।७९) उसको प्रत्ययलक्षण हुआ तो झलादि प्रत्यय आगे है ऐसा समझकर 'अनुदात्तोपदेश०' (६।४।३७) सूत्रसे नकारका लोप होने लगेगा। 'संग्मीय' यह 'गम्' धातुकी क्रिया है। वहाँ भी उसी प्रकारका लोप होने लगेगा।

---

१. 'किसीका भी लोप होनेपर यदि कोई कार्य न हुआ तो वह कार्य लोप होनेपर भी किया जाय' ऐसा सूत्रका अर्थ लेकर 'सौरथी', 'वैहती' रूपोंमें दोष दिखाया है। 'सु' उपसर्गपूर्वक 'रम्' धातु के आगे 'क्थन्' (उणा० २१२) प्रत्यय करके 'रम्' धातुके मकारका लोप (६।४।३७) होकर 'सुरथ' शब्द की सिद्धि हुई है। तथा 'वि' उपसर्गपूर्वक 'हन्' धातुके आगे 'क्त' प्रत्यय करके 'हन्' धातु के नकारका लोप होके 'विहत' शब्द सिद्ध हुआ है। सुरथकी पोती 'सौरथी,' विहतकी पोती 'वैहती'। 'सुरथ' और 'विहत' शब्दोंके आगे 'इञ्' प्रत्यय (४।१।९५) हुआ है। यहाँ मकार और

गुरूपोत्तमलक्षणः ष्यङ् प्रसज्येत । नैष दोषः । नैवं विज्ञायते लोपे प्रत्ययलक्षणं भवति प्रत्ययस्य प्रादुर्भाव इति । कथं तर्हि । प्रत्ययो लक्षणं यस्य कार्यस्य तल्लुप्तेऽपि भवतीति ॥ इदं तर्हि प्रयोजनम् । सति प्रत्यये यत्प्राप्नोति तत्प्रत्ययलक्षणेन यथा स्यात् । लोपोत्तरकालं यत्प्राप्नोति तत्प्रत्ययलक्षणेन मा भूदिति । किं प्रयोजनम् । ग्रामणिकुलम् सेनानिकुलम् । औत्तरपदिके ह्रस्वत्वे कृते ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् [६·१·७१] इति तुक्प्राप्नोति स मा भूदिति । यदि तर्हि यत्सति प्रत्यये प्राप्नोति तत्प्रत्ययलक्षणेन भवति लोपोत्तरकालं यत्प्राप्नोति तन्न भवति जगत् जनगदित्यत्र तुग्न प्राप्नोति । लोपोत्तरकालो ह्यत्र तुगागमः । तस्मान्नार्थ एवमर्थेन

सौरथी, वैहती में प्रत्ययलक्षण होगा, याने उपोत्तम वर्ण गुरु होनेके कारण ष्यङ् प्रत्यय (४।१।७८) होने लगेगा।

यह दोष नहीं आता । प्रत्ययलक्षण होता है याने प्रत्ययकी उत्पत्ति होती है ऐसा 'प्रत्ययलक्षण' शब्दका अर्थ न समझा जाय, अपितु प्रत्यय जिस कार्यका निमित्त है ऐसा कार्य लोप होनेपर भी किया जाय, यही इस सूत्रका अर्थ है।

तो फिर प्रत्यय शब्दका ऐसा उपयोग समझा जाय कि प्रत्ययके विद्यमान होनेपर प्रत्ययके कारण प्राप्त होनेवाला जो कार्य है वही कार्य प्रत्ययका लोप होनेपर प्रत्ययलक्षणसे होता है । और जो प्रत्ययके निमित्त प्राप्त होनेवाला कार्य है परंतु जो प्रत्ययका लोप होनेपर ही प्राप्त होता है ऐसा कार्य प्रत्ययलक्षणसे न हो।

इसका क्या उपयोग है?

उपयोग यह कि ग्रामणिकुलम्, सेनानिकुलम्, इन सामासिक शब्दोंमें उत्तरपदके निमित्त ग्रामणी और सेनानी इस पूर्वपदको ह्रस्व (६।३।६१) करनेपर प्रकृतसूत्रसे प्रत्ययलक्षण होनेके कारण क्विप् प्रत्यय आगे है ऐसा न समझा जाय । 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (६।१।७१) से बताया हुआ तुक् आगम होने लगेगा वह नहीं होना चाहिए।

पर यदि 'प्रत्ययके विद्यमान होनेपर जो कार्य प्राप्त होता है वही कार्य प्रत्ययका लोप होनेपर प्रत्ययलक्षणसे होता है, प्रत्ययका लोप होनेपर जो कार्य प्राप्त होता है वह कार्य प्रत्ययलक्षणसे नहीं होता,' ऐसा हो तो जगत्, जनगत्, में प्रत्ययलक्षणसे जो तुक् आगम (६।१।७१) हुआ करता है वह नहीं होगा। क्योंकि क्विप् प्रत्ययका लोप होनेपर ही यहाँ तुक् आगम प्राप्त होता है । अतः 'प्रत्ययके विद्यमान होनेपर प्राप्त

नकारका लोप होनेके कारण पिछले अकारको गुरुसंज्ञा (१।४।११) नहीं होती इसलिए 'अणिञोः' (४।१।७८) सूत्रसे 'ष्यङ्' प्रत्यय नहीं होता। परन्तु प्रकृत सूत्रसे यहाँ 'ष्यङ्' प्रत्यय होगा यह दोष आता है।

प्रत्ययग्रहणेन । कस्मान्न भवति ग्रामणिकुलम् सेनानिकुलम् । बहिरङ्गं ह्रस्वत्वम् । अन्तरङ्गस्तुक् । असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ॥ इदं तर्हि प्रयोजनम् । कृत्स्नप्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणं यथा स्यादेकदेशलोपे मा भूदिति । आघ्नीत । सं रायस्पोषेण ग्मीय । पूर्वस्मिन्नपि योगे प्रत्ययग्रहणस्यैतत्प्रयोजनमुक्तम् । अन्यतरच्छक्यमकर्तुम् ॥ अथ द्वितीयं प्रत्ययग्रहणं किमर्थम् । प्रत्ययलक्षणं यथा स्याद्वर्णलक्षणं मा भूदिति । गवे हितं गोहितम् । रायः कुलं रैकुलमिति ॥

किमर्थं पुनरिदमुच्यते ?

होनेवाला ही कार्य प्रत्ययलक्षणसे होता है ' ऐसा आग्रह नहीं किया जा सकेगा और उसके लिए प्रकृतसूत्रमें प्रत्यय शब्द रखना आवश्यक नहीं होगा।

तो फिर ग्रामणिकुलम्, सेनानिकुलम् में तुक् आगम क्यों नहीं होता ?

उत्तरपदके निमित्त हुआ ह्रस्व बहिरंग है और तुक् आगम अंतरंग है। और 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' याने अंतरंग तुक् आगम कर्तव्य होनेपर बहिरंग ह्रस्व असिद्ध है, इसीलिए तुक् आगम नहीं होता।

तो फिर यहाँके प्रत्यय शब्दका उपयोग ऐसा समझा जाय कि समूचे प्रत्ययका लोप हुआ हो तभी उस प्रत्ययके निमित्त बताया हुआ कार्य प्रत्ययलक्षणसे होना चाहिए। प्रत्ययके एकाध भागका लोप हुआ हो तो उसके कारण प्राप्त होनेवाला कार्य नहीं होना चाहिए, उदा०—आघ्नीत । सं रायस्पोषेण ग्मीय ।

परन्तु पहलेके सूत्रमें जो 'प्रत्ययस्य' शब्द रखा गया है उसका भी यही उपयोग वहाँ दिखला गया है न ?

ऐसा है तो फिर दोनोंमेंसे कोई भी एक प्रत्यय शब्द न भी रखा जाय तो चल सकेगा।

अब इसी सूत्रमें 'प्रत्ययलक्षणम्' ऐसा जो दूसरा प्रत्ययशब्द रखा गया है उसका भला क्या उपयोग है ?

उपयोग यह कि प्रत्ययका लोप होनेपर प्रत्ययके कारण कार्य प्राप्त होता हो वही प्रत्ययलक्षणसे होना चाहिए। वहाँ वर्णके कारण जो कार्य प्राप्त होता हो वह प्रत्ययलक्षणसे नहीं होना चाहिए; उदा०— गवे हितं गोहितम्[१], रायः कुलं रैकुलम्।

पर यह सूत्र भला किया ही किस लिए है ?

---

१ 'गोहितम्' समासमें 'गो' शब्दके अगले 'ङे' प्रत्ययका लुक् (२।४।७१) हुआ है। परन्तु प्रत्यय लक्षणसे वह प्रत्यय आगे है ऐसा समझा गया तो 'अव्' आदेश (६।१।७८) होने लगेगा। तथा 'रैकुलम्' में 'आय्' आदेशोंके आगे प्रत्यय ही चाहिये सो बात नहीं। कोई भी 'आय्' आगे हो तो भी इष्ट सिद्धि होती है।

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणवचनं सदन्वाख्यानाच्छास्त्रस्य ॥ १ ॥

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणमित्युच्यते सदन्वाख्यानाच्छास्त्रस्य। सच्छास्त्रेणान्वाख्यायते सतो वा शास्त्रमन्वाख्यायकं भवति सदन्वाख्यानाच्छास्त्रस्य। उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः [७·१·१०] इतीहैव स्यात्। गोमन्तौ यवमन्तौ। गोमान् यवमानित्यत्र न स्यात्। इष्यते च स्यादिति तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यति। अतः प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणवचनम्। एवमर्थमिदमुच्यते॥ अस्ति प्रयोजनमेतत्। किं तर्हीति।

लुक्युपसंख्यानम् ॥ २ ॥

लुक्युपसंख्यानं कर्तव्यम्। पञ्च सप्त॥ किं पुनः कारणं न सिध्यति।

लोपे हि विधानम् ॥ ३ ॥

लोपे हि प्रत्ययलक्षणं विधीयते तेन लुकि न प्राप्नोति॥

(वा. १) 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' ऐसा जो यहाँ कहा गया है सो इसलिए कि 'सदन्वाख्यानाच्छास्त्रस्य' याने 'इस व्याकरणशास्त्रमें आचार्य पाणिनि इको यणचि आदि शास्त्रका आधार देकर उसके द्वारा विद्यमान वस्तुको निमित्त मानकर तत्तत् कार्य करने बताते हैं।' अथवा 'शास्त्र ही विद्यमान वस्तुको निमित्त मानकर तत्तत् कार्य करने बताते है' ऐसा भी 'सदन्वाख्यानाच्छास्त्रस्य' का अर्थ लिया जाय। तात्पर्य, जिस कार्यका जो कारण होगा वह विद्यमान हो तभी वह कार्य हो सकेगा। अतः 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' (७।१।७०) से सर्वनामस्थान-संज्ञक प्रत्ययके कारण बताया हुआ नुम् आगम गोमन्तौ, यवमन्तौ, में सर्वनामस्थान-संज्ञक 'औ' प्रत्यय विद्यमान होनेके कारण किया जा सकेगा। गोमान्, यवमान्, में 'सु' इस सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्ययका लोप (६।१।६८) होनेके कारण नुम् आगम नहीं किया जा सकेगा। और इष्ट तो यह है कि वहाँ भी नुम् आगम होना चाहिए। अतः वह इष्ट बात कुछ न कुछ विशेष यत्न किये बिना सिद्ध नहीं होगी इसलिए 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' सूत्र किया है ऐसा इस सूत्रका उपयोग है।

यह उपयोग है सही—

फिर आपका कहना क्या है?

(वा. २) प्रत्ययका लुक् होनेपर वहाँ भी प्रत्ययके कारण बताया हुआ कार्य किया जाय ऐसा यहाँ कहना चाहिए। उदा०—पञ्च, सप्त।

परंतु ये पञ्च आदि उदाहरण प्रकृतसूत्रसे ही भला क्यों नहीं सिद्ध होते?

(वा. ३) 'प्रत्ययका लोप होनेपर प्रत्ययनिमित्तक कार्य किया जाय' ऐसा प्रकृतसूत्रसे बताया गया है। अतः प्रत्ययका जहाँ लुक् होगा वहाँ प्रकृतसूत्रकी प्रवृत्ति नहीं होगी।

न वादर्शनस्य लोपसंज्ञित्वात् ॥ ४ ॥

न वा कर्तव्यम् । किं कारणम् । अदर्शनस्य लोपसंज्ञित्वात् । अदर्शनं लोपसंज्ञं भवतीत्युच्यते लुमत्संज्ञाश्चाप्यदर्शनस्य क्रियन्ते । तेन लुक्यपि भविष्यति ॥ यद्येवं

प्रत्ययादर्शनं तु लुमत्संज्ञम् ॥ ५ ॥

प्रत्ययादर्शनं तु लुमत्संज्ञमपि प्राप्नोति । तत्र को दोषः ?

तत्र लुकि श्लुविधिप्रतिषेधः ॥ ६ ॥

तत्र लुकि श्लुविधिरपि प्राप्नोति स प्रतिषेध्यः । अत्ति हन्ति । श्लौ [६·१·१०] इति द्विर्वचनं प्राप्नोति ॥

न वा पृथक्संज्ञाकरणात् ॥ ७ ॥

न वैष दोषः ? किं कारणम् ? पृथक्संज्ञाकरणात् । पृथक्संज्ञाकरण-

---

(वा. ४) 'प्रत्ययका लुक् होनेपर वहाँ प्रत्ययनिमित्तक कार्य किया जाय' ऐसा अलग बतानेकी आवश्यकता नहीं है।

क्यों भला ?

'अदर्शनस्य लोपसंज्ञित्वात्' याने लोप संज्ञा अदर्शनको बतायी गई है और लुक्, श्लु, और लुप् संज्ञाएँ भी अदर्शनको ही बतायी गई है। अतः पञ्च आदि स्थानोंपर प्रत्ययका लुक् (७।१।२२) हुआ हो तो भी वहाँ लोप संज्ञा कायम ही होनेके कारण प्रकृतसूत्रसे ही काम चल जायगा।

परंतु अगर ऐसा हो तो—

(वा. ५) प्रत्ययके अदर्शनको सब स्थानोंपर लुक्, श्लु और लुप् ये तीनों संज्ञाएँ होंगी।

अगर होंगी तो उसमें दोष कौनसा है ?

(वा. ६) वैसा हुआ तो श्लुके कारण बताया हुआ कार्य लुक् होनेपर भी वहाँ होने लगेगा उसका निषेध होना चाहिए; उदा०—अत्ति, हन्ति। यहाँ शप् प्रत्ययका लुक् (२।४।७२) हुआ है। यहाँ श्लुसंज्ञा हुई तो 'श्लौ' (६।१।१०) से द्वित्व होने लगेगा।

(७) अथवा यह दोष नहीं आता।

क्यों भला ?

'पृथक्संज्ञाकरणात्' याने लुक्, श्लु और लुप् ये जो अलग अलग तीन संज्ञाएँ की गई हैं उनकी सामर्थ्यके कारण एकके स्थानपर दूसरी प्रवेश नहीं करती। इसीलिए लुक् होनेपर वहाँ श्लुके कारण बताया हुआ कार्य नहीं होगा। तात्पर्य, अदर्शन समानरूपसे लोपसंज्ञाका और लुक्, श्लु और लुप्

सामर्थ्याल्लुकि श्लुविधिर्न भविष्यति ॥ तस्माददर्शनसामान्याल्लोपसंज्ञा लुमत्संज्ञा अवगाहते । यथैव तर्ह्यदर्शनसामान्याल्लोपसंज्ञा लुमत्संज्ञा अवगाहत एवं लुमत्संज्ञा अपि लोपसंज्ञामवगाहेरन् । तत्र को दोषः । अगोमती गोमती संपन्ना गोमतीभूता । लुक्तद्धितलुकि [१·२·४९] इति ङीपो लुक्प्रसज्येत । ननु चात्रापि न वा पृथक्संज्ञाकरणादित्येव सिद्धम् । यथैव तर्हि पृथक्संज्ञाकरणसामर्थ्याल्लुमत्संज्ञा लोपसंज्ञां नावगाहन्त एव लोपसंज्ञापि लुमत्संज्ञा नावगाहेत । तत्र स एव दोषो लुक्युपसंख्यानमिति । अस्त्यन्यल्लोपसंज्ञायाः पृथक्संज्ञाकरणे प्रयोजनम् ।

आदि संज्ञाओंका भी कारण होनेसे लुक्, श्लु और लुप् आदि संज्ञाएँ जहाँ होंगी वहाँ लोप संज्ञा प्रवेश कर ही लेगी । (अतः '*लुक्युपसंख्यानम्*' वचन करना आवश्यक नहीं है ।)

परन्तु अगर अदर्शन समान कारण होनेसे लुक्, श्लु और लुप् आदि संज्ञाएँ जहाँ होंगी वहाँ लोपसंज्ञा प्रविष्ट होगी, वैसे जहाँ प्रत्ययके अदर्शनको लोपसंज्ञा होती हो वहाँ लुक्, श्लु और लुप् संज्ञाएँ प्रवेश करने लगेंगी ।

फिर ऐसा होनेमें दोष कौनसा ?

दोष यह कि '*अगोमती गोमती संपन्ना*' याने वस्तुतः गोमती नहीं प्रत्युत् गोमती जैसी समझी जानेवाली जो स्त्री है उसे '*गोमतीभूता*' कहते हैं। यहाँ गोमती शब्दसे '*च्वि*' प्रत्यय (५।४।५०) हुआ है और उसका लोप (६।१।६७) हुआ है। यहाँ च्वि प्रत्ययके अदर्शनको अगर लुक् आदि संज्ञाएँ हों तो '*लुक् तद्धितलुकि*' (१।२।४९) से '*गोमती*' मेंसे ङीप् प्रत्ययका लुक् होने लगेगा।

परन्तु 'अलग अलग संज्ञाएँ करनेके कारण एकके स्थानमें दूसरी प्रविष्ट नहीं होती' ऐसा अभी बताया गया है। अतः '*गोमतीभूता*' उसीसे सिद्ध होगा ।

तो फिर जैसा अलग अलग संज्ञाएँ करनेके कारण '*गोमतीभूता*' में लोपसंज्ञाके स्थानपर लुक्, श्लु और लुप् आदि संज्ञाएँ प्रविष्ट नहीं होतीं वैसे ही लुक्, श्लु और लुप् संज्ञाओंके स्थानपर लोप संज्ञा भी प्रविष्ट नहीं होगी। और वह प्रविष्ट न हुई तो फिर पहलेका ही दोष पुनः आयेगा। वह यह कि 'प्रत्ययका लुक् होनेपर भी प्रत्ययके कारण बताया हुआ कार्य किया जाय' ऐसा स्वतंत्र वचन पञ्च, सप्त आदि उदाहरणोंके लिए किया जाना चाहिए ।

परन्तु '*अलग अलग संज्ञाएँ करनेके कारण एकके स्थानपर दूसरी प्रविष्ट नहीं होती*' यह बात लुक् श्लु और लुप् इन तीन संज्ञाओंके बारेमें ही है। लोपसंज्ञाके बारेमें नहीं। लोपसंज्ञाको सर्वत्र प्रविष्ट होनेकी स्वतंत्रता है; क्योंकि वह केवल अदर्शनको अलग बतायी गई है और उसका दूसरा स्वतंत्र उपयोग है।

---

१. लुक्, श्लु और लुप् इन तीनों संज्ञाओंका उद्देश्य एक ही है 'प्रत्ययका अदर्शन.'

किम् । लुमत्संज्ञासु यदुच्यते तल्लोपमात्रे मा भूदिति ॥

लुमति प्रतिषेधाद्वा ॥ ८ ॥

अथवा यदयं न लुमताङ्गस्य [१.१.६३] इति प्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो भवति लुकि प्रत्ययलक्षणमिति ॥

सतो निमित्ताभावात्पदसंज्ञाभावः ॥ ९ ॥

सन्प्रत्ययो येषां कार्याणामनिमित्तं राज्ञः पुरुष इति स लुप्तो ऽप्यनिमित्तं स्यात् राजपुरुष इति । अस्तु तस्या अनिमित्तं या स्वादौ पदमिति पदसंज्ञा या

सो कौनसा ?

लुक्, श्लु और लुप् संज्ञाओंके कारण जो कार्य बताये गये हैं वे अकेले जहाँ लोपसंज्ञा हुई हो वहाँ न हों इसलिए वह लोपसंज्ञा केवल अदर्शनको बतायी गई है। वह अदर्शन प्रत्ययका हो या न हो।

(वा. ८) अथवा आचार्य पाणिनि 'लुक्, श्लु और लुप् होनेपर वहाँ प्रत्ययके कारण बताया हुआ कार्य कर्तव्य हो तो प्रत्ययलक्षण नहीं होता।' ऐसा जब कि अगले सूत्रसे निषेध बताते हैं[४] तब वे ऐसा सूचित करते हैं कि लुक् होनेपर वहाँ प्रकृतसूत्रसे प्रत्ययलक्षण होता है।

(वा. ९) प्रत्ययके विद्यमान होनेपर भी जिस कार्यको निमित्त नहीं होता, उदा० 'राज्ञः पुरुषः' में षष्ठी प्रत्यय विद्यमान होकर भी उसके कारण 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१।४।१७) से राजन् शब्दको पदसंज्ञा नहीं हुई[५], वह प्रत्यय लुप्त हुआ हो तो प्रत्ययलक्षणसे भी उस कार्यको निमित्त नहीं होगा। अतः 'राजपुरुषः' समासमें राजन् शब्दको पदसंज्ञा नहीं होगी। उससे नकारका लोप (८।२।७) नहीं होगा।

परंतु सु आदि प्रत्यय आगे होनेपर जो पदसंज्ञा (१।४।१७) है उसे वह लुप्त षष्ठीप्रत्यय निमित्त न हो। सुप्प्रत्ययान्त शब्दस्वरूपको बतायी हुई जो पदसंज्ञा

अतः ये तीन संज्ञाएँ अन्योन्य विषयगत नहीं होती हैं। यदि प्रत्येक स्थानमें तीनों संज्ञाएँ होंगी तो एक ही संज्ञासे तीनोंका कार्य हो सकेगा। तब तीन संज्ञाओंका उपयोग करना ही व्यर्थ होगा। किन्तु लोपसंज्ञाका उद्देश्य इनके उद्देशसे अलग है अर्थात् केवल अदर्शन। अतः अदर्शनके बारेमें वह लोपसंज्ञा सभी स्थानोंपर होगी ही।

४ यदि लुक्, श्लु और लुप् के विषयमें लोपसंज्ञा न होगी तो 'वहाँ प्रत्ययका लोप हुआ' ऐसा नहीं कहा जा सकता और इससे प्रत्यय लक्षणकी प्राप्ति ही नहीं होती। अतः प्रत्ययलक्षणका निषेध कहना निरर्थक होगा।

५. 'राज्ञः' में षष्ठी प्रत्यय विद्यमान होते हुए 'भ' संज्ञासे पदसंज्ञाका बाध होता है; अतः पदसंज्ञा नहीं होती।

तु सुबन्तं पदमिति पदसंज्ञा सा भविष्यति । सत्येतत्प्रत्यय आसीदनया भविष्यत्यनया न भविष्यतीति । लुप्त इदानीं प्रत्यये यावत एवावधेः स्वादौ पदमिति पदसंज्ञा तावत एवावधेः सुबन्तं पदमिति । अस्ति च प्रत्ययलक्षणेन यजादिपरतेति कृत्वा भसंज्ञा प्राप्नोति ॥

तुग्दीर्घत्वयोश्च विप्रतिषेधानुपपत्तिरेकयोगलक्षणत्वात्परिवीरिति ॥ १० ॥

तुग्दीर्घत्वयोश्च विप्रतिषेधो नोपपद्यते । क्व । परिवीरिति । किं कारणम् । एकयोगलक्षणत्वात् । एकयोगलक्षणे तुग्दीर्घत्वे । इह लुप्ते प्रत्यये सर्वाणि प्रत्ययाश्रयाणि कार्याणि पर्यवपन्नानि भवन्ति । तान्येतेन प्रत्युत्थाप्यन्ते । अनेनैव तुगनेनैव च दीर्घत्वमिति । तदेकयोगलक्षणं भवति । एकयोगलक्षणानि च न

(१।४।१४) है वह हो ही जायगी ।

प्रत्यय विद्यमान हो उस स्थानपर अमुक सूत्रसे पदसंज्ञा होगी और अमुक सूत्रसे पदसंज्ञा नहीं होगी ऐसा कहा जा सकता है। (जैसा राज्ञः में प्रत्ययके पीछेके 'राजन्' को भसंज्ञा (१।४।१८) प्राप्त हो रही है, उससे 'राजन्'को आई हुई पदसंज्ञाका (१।४।१७) बाध होनेके कारण वह नहीं होती । और राज्ञः इस सुबन्तको भसज्ञाकी प्राप्ति न होनेके कारण उसे पदसंज्ञा (१।४।१४) होती ही है।) परन्तु यह फर्क 'राजपुरुषः' समासमें षष्ठीप्रत्ययका लोप होनेपर नहीं दिखाया जा सकता। क्योंकि 'स्वादिष्व०' (१।४।१७) से जितने अंशको पदसंज्ञा प्राप्त होती है उतने ही भागको सुबन्त मानकर 'सुप्तिङन्तं०' (१।४।१४) से पदसज्ञा प्राप्त होती है । अतः अर्थात् ही दोनों सज्ञाओंका भसज्ञासे बाध होगा। प्रत्ययलक्षणसे यजादि प्रत्यय आगे है ऐसा मानकर भसज्ञाकी (१।४।१८) प्राप्ति कायम ही है।

(वा. १०) तुक् आगम और दीर्घ इन दोनोंमें विरोध उत्पन्न होनेपर वहाँ परत्वके कारण (१।४।२) दीर्घ होता है वह नहीं होगा। (क्योंकि दीर्घको 'पर' नहीं कहा जा सकता।)

भला किस उदाहरणमें ऐसी स्थिति प्राप्त होती है?

'परिवीः' उदाहरणमें ।

ऐसा होनेका कारण क्या है?

'एकयोगलक्षणत्वात्' याने एक ही शास्त्रसे दोनों कार्य प्राप्त होते हे इसलिए तुक् आगम और दीर्घ ये दोनों कार्य एक ही शास्त्रसे प्राप्त हैं । देखिए, प्रत्ययका लोप होनेपर प्रत्ययपर निर्भर होनेवाले सभी कार्य परावृत्त होते है याने नष्टप्राय होते ह। उन सब कार्योंका पुनरुज्जीवन इस एक प्रत्ययलक्षणसूत्रसे किया जाता है। अत. स्वभावतः ही 'परिवीः' में क्विप् प्रत्ययका लोप होनेपर इस प्रकृतसूत्रसे ही तुक् आगम होगा और दीर्घ भी इसीसे होगा। अतः प्रकृतसूत्र यह एक ही शास्त्र दोनों कार्योंका कारण

प्रकल्पन्ते ॥

सिद्धं तु स्थानिसंज्ञानुदेशादान्यभाव्यस्य ॥ ११ ॥

सिद्धमेतत् । कथम् । स्थानिसंज्ञान्यभूतस्य भवतीति वक्तव्यम् । किं कृतं भवति । सत्तामात्रमनेन क्रियते । यथाप्राप्ते तुग्दीर्घत्वे भविष्यतः ॥ तद्वक्तव्यं भवति । यद्यप्येतदुच्यते ऽथैवतर्हि स्थानिवद्भावो नारभ्यते । स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधाविति वक्ष्यामि । यद्येवमाङो यमहन आत्मनेपदं भवतीति हन्तेरेव स्याद्वधेर्न स्यात् । न हि काचिद्धन्तेः संज्ञास्ति या वधेरतिदिश्येत । हन्तेरपि

हुआ । इस प्रकार एक ही शास्त्रसे दोनों कार्य प्राप्त होनेके कारण तुक् आगमका (६।१।७१) दीर्घसे (६।४।२) जो परत्वके कारण बाध हुआ करता है वह नहीं होगा ।

(वा. ११) यह सिद्ध होता है ।

सो कैसे ?

'स्वरूप बदलनेपर वहाँ स्थानीकी संज्ञाओंका अतिदेश होता है ऐसा प्रकृत सूत्रके बदले कहा जाय ।

ऐसा कहनेसे क्या होता है ?

ऐसा होता है कि तुक्, दीर्घ, इत्यादि कार्य जो प्रकृतसूत्रसे होते थे वे अब न होकर उन कार्योंके जो कारण हैं उनका अस्तित्व, रूपांतर हुआ तो भी गृहीत माना जाय इतना ही केवल इससे बताया जाता है। तुक्, दीर्घ, आदि जैसे पहले प्राप्त होंगे वैसे तत्तत् शास्त्रोंद्वारा ही किये जाते है। (अतः 'परिवी.' में परत्वके कारण तुक् आगमका बाध करके दीर्घ किया जा सकेगा ।)

तो फिर ऐसा यह प्रकृतसूत्र बदलकर अलग किया जाना चाहिए ।

अलग किया भी जाय तो भी कोई गौरव होगा ऐसा न समझा जाय । स्थानिवद्भाव अलग न बताकर वही 'स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानाल्विधौ ।' (१।१।५६) ऐसा कहा जा सकेगा ।

परंतु ऐसा किया तो 'आङो यमहनः' (१।३।२८) सूत्रसे बताया हुआ आत्मनेपद हन् धातुको ही होता । हन् धातुको वध आदेश करनेपर स्थानिवद्भावसे जो आत्मनेपद होता है वह नहीं होगा । क्योंकि आत्मनेपदको कारणीभूत 'हन्' धातुको कोई भी संज्ञा दिखाई नहीं देती कि जिसका इस नवीन किये हुए 'स्थानिसंज्ञा०' सूत्रसे 'वध' पर अतिदेश किया जा सकेगा ।

'हन्' धातुको भी वैसी संज्ञा है ।

वह कौनसी ?

'हन्' ही 'हन्' धातुकी संज्ञा है ।

संज्ञास्ति । का । हन्तिरेव । कथम् । स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा [१·१·६८] इति वचनात्स्वं रूपं शब्दस्य संज्ञा भवतीति हन्तेरपि हन्तिः संज्ञा भविष्यतीति ॥

भसंज्ञाङीप्ष्फगोरात्वेषु च सिद्धम् ॥ १२ ॥

भसंज्ञाङीप्ष्फगोरात्वेषु च सिद्धं भवति ॥ भसंज्ञा । राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः । प्रत्ययलक्षणेन यचि भम् [१·४·१८] इति भसंज्ञा प्राप्नोति । स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधाविति वचनान्न भवति ॥ ङीप् । चित्रायां जाता चित्रा । प्रत्ययलक्षणेनाणन्तादितीकारः प्राप्नोति । स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधाविति वचनान्न भविष्यति ॥ ष्फ । वतण्डी । प्रत्ययलक्षणेन यञन्तादिति ष्फः प्राप्नोति । स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधाविति वचनान्न भवति ॥ गोरात्वम् । गामिच्छति गव्यति । प्रत्ययलक्षणेनाम्यौतोऽम्शसोः [६·१·९३] इत्यात्वं प्राप्नोति । स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधाविति वचनान्न भवति ॥

'हन्' यह 'हन्' धातुका स्वरूप है । उसे उसीकी संज्ञा कैसे कहा जाय ?

'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' (१।१।६८) सूत्रसे शब्दका जो अपना स्वयंका स्वरूप होगा वह उसीकी संज्ञा होती है ऐसा बताया जानेके कारण 'हन्' ही 'हन्' की संज्ञा होगी ।

(वा. १२) (स्थानिवद्भाव और प्रत्ययलक्षण बतानेवाले अलग अलग दो सूत्र थे तब 'अनल्विधौ' यह निषेध केवल स्थानिवद्भावका ही हुआ होता; प्रत्ययलक्षणका नहीं । अब एक सूत्र करनेके कारण 'अनल्विधौ' यह निषेध सर्वत्र याने प्रत्ययलोपके स्थानपर भी लागू होता है इसलिए) भ संज्ञा, ङीप् प्रत्यय, ष्फ प्रत्यय और गो शब्दको आत्व नहीं होते और उदाहरण सिद्ध होते हैं । भ संज्ञाका उदाहरण— 'राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः' । इस समासमें प्रत्ययलक्षणसे यजादि प्रत्यय आगे है ऐसा मानकर भ संज्ञा (१।४।१८) प्राप्त होती है । परन्तु 'स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधौ' ऐसा कहनेपर नहीं होती । ङीप् प्रत्ययका उदाहरण— 'चित्रायां जाता चित्रा' । यहाँ चित्रके अन्तमें प्रत्ययलक्षणसे अकारान्त अण् प्रत्यय है ऐसा मानकर ईकार यह स्त्रीप्रत्यय प्राप्त होता है (४।१।१५) । परन्तु 'स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधौ' ऐसा कहनेसे नहीं होता । ष्फ प्रत्ययका उदाहरण— 'वतण्डस्य गोत्रापत्यं स्त्री वतण्डी' । यहाँ प्रत्ययलक्षणसे 'वतण्ड'के अन्तमें अकारान्त यञ् प्रत्यय है ऐसा मानकर ष्फ यह स्त्रीप्रत्यय (४।१।१७) प्राप्त होता है । परन्तु 'स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधौ' ऐसा कहनेसे नहीं होता । गोशब्दके आत्वका उदाहरण— 'गाम् इच्छति गव्यति' । यहाँ प्रत्ययलक्षणसे अजादि अम्प्रत्यय गोशब्दके आगे है ऐसा मानकर 'औतोऽम्शसोः' (६।१।९६) से आकार एकादेश प्राप्त होता है । परन्तु 'स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यान-ल्विधौ' ऐसा कहनेसे नहीं होता ।

तस्य दोषो ङौनकारलोपेत्वेम्विधयः ॥ १२ ॥

तस्यैतस्य लक्षणस्य दोषो ङौ नकारलोपः । आर्द्रे चर्मन् लोहिते चर्मन्। प्रत्ययलक्षणेन यचि भम् [१·४·१८] इति भसंज्ञा सिद्धा भवति । स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधाविति वचनान्न प्राप्नोति ॥ इत्वम् । आशीः । प्रत्ययलक्षणेन हलीतीत्वं सिद्धं भवति। स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधाविति वचनान्न प्राप्नोति ॥ इम् । अतृणेट् । प्रत्ययलक्षणेन हलीतीम्सिद्धो भवति । स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधाविति वचनान्न प्राप्नोति ॥ सूत्रं च भिद्यते ॥ यथान्यासमेवास्तु । ननु चोक्तं सतो निमित्ताभावात्पदसंज्ञाभावस्तुग्दीर्घत्वयोश्च विप्रतिषेधानुपपत्तिरेकयोगलक्षणत्वात्परिवीरिति । नैष दोषः । वक्ष्यत्यत्र परिहारम् । इहापि परिवीरिति शास्त्रपरविप्रतिषेधेन परत्वाद्दीर्घत्वं भविष्यति ॥

कानि पुनरस्य योगस्य प्रयोजनानि ।

(वा० १२) इस प्रकार यद्यपि ये उदाहरण सिद्ध होते हैं तो भी वैसा एक सूत्र करनेपर ङौनकारलोप, इत्व और इम्विधिके संबंधमें दोष आता है। ङौनकारलोपका उदाहरण— 'आर्द्रे चर्मन्, लोहिते चर्मन्'। यहाँ प्रत्ययलक्षणसे सप्तमी एकवचन ङि यह यजादिप्रत्यय आगे है ऐसा मानकर चर्मन्को भसंज्ञा (१।४।१८) होती है, वह 'स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानल्विधौ' ऐसा कहनेसे नहीं होगी। (क्योंकि 'अनल्विधौ' यह निषेध आता है।) इत्वका उदाहरण—'आशीः'। यहाँ प्रत्ययलक्षणसे 'क्विप्' यह हलादिप्रत्यय आगे है ऐसा मानकर 'शास्' धातुकी उपधाको 'इत्व' (६।४।३४) होता है वह 'स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानाल्विधौ' कहनेसे नहीं होगा। इम्विधिका उदाहरण—'अतृणेट्'। यहाँ प्रत्ययलक्षणसे 'तिप्' यह हलादि पित् सार्वधातुक प्रत्यय आगे है ऐसा समझकर 'तृणह्'को 'इम्' आगम (७।३।९२) होता है वह 'स्थानिसंज्ञान्यभूतस्यानाल्विधौ' कहनेसे नहीं होगा। (ये दोप आते हैं)। इसके अलावा पाणिनिका किया हुआ सूत्र परिवर्तित करना ही होगा।

तो फिर पाणिनिके मूलतः किये हुए जैसे सूत्र हैं वे वैसे ही रहने दें।

पर वैसे सूत्र हों तो उनपर 'सतो निमित्ताभावात्पदसंज्ञाऽभावः, तुग्दीर्घत्वयोश्च विप्रतिषेधानुपपत्तिरेकयोगलक्षणत्वात्परिवीरिति' इस प्रकार पहले (वा. ९, १०) दोष दिखाये गये हैं उनका क्या ?

ये दोष नहीं आते। 'प्रत्ययलक्षणसे भसंज्ञा नहीं होती' ऐसा 'राजपुरुषः' में परिहार आगे (वा. १५) बतानेवाला हूँ। 'परिवीः' में भी एक ही प्रत्ययलक्षणसूत्रसे तुक् आगम और दीर्घ इन दोनों कार्योंका उत्थान किया हो तो भी वे कार्य जिन मूल सूत्रोंद्वारा बताये गये हैं उन सूत्रोंमें पर कौन है सो देखकर परत्वके कारण दीर्घ होगा।

पर इन सूत्रोंके उदाहरण तो कौनसे हैं ?

प्रयोजनमपृक्तशिलोपे नुममामौ गुणवृद्धिदीर्घत्वेमडाड्श्नम्विधयः ॥ १४ ॥

अपृक्तलोपे शिलोपे च कृते नुममामौ गुणवृद्धी दीर्घत्वमिमडाटौ श्नम्विधिरिति प्रयोजनानि ॥ नुम् । अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था । ता ता पिण्डानाम् । नुम् ॥ अमामौ । हे ऽनड्वन् अनड्वान् ॥ गुणः । अधोक् अलेट् ॥ वृद्धिः । न्यमार्ट् ॥ दीर्घत्वम् । अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था । ता ता पिण्डानाम् ॥ इम् । अतृणेट् ॥ अटाटौ ॥ अधोक् अलेट् । ऐयः औनः ॥ श्नम्विधिः । अभिनोऽत्र अच्छिनोऽत्र ॥ अपृक्तशिलोपयोः कृतयोरेते विधयो न प्राप्नुवन्ति ।

(वा. १४) अपृक्त प्रत्ययका लोप और शि प्रत्ययका लोप होनेपर नुम्, अम्, आम्, गुण, वृद्धि, दीर्घ, इम्, अट्, आट् और श्नम् ये कार्य प्रकृतसूत्रसे प्रत्यय आगे है ऐसा मानकर किये जा सकते हैं । वे यों हैं—'अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था,' 'ता ता पिण्डानाम्' इन वाक्योंमें त्री और ता इनमेंसे 'शि' प्रत्ययका लोप (६।१।७०) होनेपर प्रकृतसूत्रसे वह प्रत्यय आगे है ऐसा मानकर नुम् आगम (७।१।७२) होता है । इस अनड्वन् शब्दमें अपृक्त जो संबुद्धि सु प्रत्यय है उसका लोप (६।१।६८) होनेपर प्रकृतसूत्रसे वह प्रत्यय आगे है ऐसा मानकर अम् आगम (७।१।९९) होता है । अनड्वान् में अपृक्त जो प्रथमाका एकवचनी सु प्रत्यय है उसका लोप (६।१।६८) होनेपर प्रकृत सूत्रसे वह प्रत्यय आगे है ऐसा मानकर आम् आगम (७।१।९९) होता है । अधोक्, अलेट्, इन रूपोंमें तिप् अपृक्त प्रत्ययका लोप (६।१।६८) होनेपर प्रकृतसूत्रसे वह प्रत्यय आगे है ऐसा मानकर गुण (७।३।८६) होता है । न्यमार्ट् क्रियामें वैसी ही वृद्धि (७।२।११४) होती है । 'अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था, ता ता पिण्डानाम्' में नुट् आगम होता है वैसा ही दीर्घ (६।४।८) होता है । अतृणेट् क्रियामें तिप् अपृक्त प्रत्ययका लोप (६।१।६८) होनेपर प्रकृत-सूत्रसे वह प्रत्यय आगे है ऐसा मानकर इम् आगम (७।३।९२) होता है । अधोक्, अलेट्, में जैसा गुण होता है वैसा ही अट् आगम (६।४।७१) होता है । ऐयः, औनः, क्रियाओंमें तिप् अपृक्त प्रत्ययका लोप (६।१।६८) होनेपर प्रकृत सूत्रसे वह प्रत्यय आगे है ऐसा मानकर आट् आगम (६।४।७२) होता है । अभिनोऽत्र, अच्छिनोऽत्र, में वैसा ही प्रकृत सूत्रसे प्रत्यय आगे है ऐसा मानकर श्नम् यह विकरणप्रत्यय (३।१।७८) होता है । इस प्रकार ऊपरके उदाहरणोंमें अपृक्त प्रत्ययका और शि प्रत्ययका लोप होनेपर प्रत्यय आगे न होनेके कारण ये नुम् आदि विधियाँ प्राप्त नहीं होतीं । परंतु प्रकृतसूत्रके बलपर प्रत्ययलक्षणसे होती हैं ।

---

६. 'ऐयः' रूप जुहोत्यादिगणके 'ऋ' धातुका है । लङ्का प्रथम पुरुषके एकवचनमें तिप् प्रत्यय किया है । तथा 'औनः' रूप रुधादिगणके 'उन्द्' धातुका है ।

प्रत्ययलक्षणेन भवन्ति ॥ नैतानि सन्ति प्रयोजनानि । स्थानिवद्भावेनाप्येतानि सिद्धानि । न सिध्यन्ति । आदेशः स्थानिवदित्युच्यते न च लोप आदेशः । लोपो ऽप्यादेशः । कथम् । आदिश्यते यः स आदेशः । लोपो ऽप्यादिश्यते । दोषः खल्वपि स्याद्यदि लोपो नादेशः स्यात् । इहाचः परस्मिन्पूर्वविधौ [१·१·५७] इत्येतस्य भूयिष्ठानि लोप उदाहरणानि तानि न स्युः ॥ यत्र तर्हि स्थानिवद्भावो नास्ति तदर्थमयं योगो वक्तव्यः । क्व च स्थानिवद्भावो नास्ति । यो ऽल्विधिः । किं प्रयोजनम् । प्रयोजनं ङीनकारलोपेत्वेम्विधयः ॥

परंतु ये प्रकृतसूत्रके उदाहरण ठीक नहीं हैं। क्योंकि स्थानिवद्भावसे भी ये सब उदाहरण सिद्ध हो सकते हैं।

स्थानिवद्भावसे सिद्ध होनेवाले ये उदाहरण नहीं हैं। क्योंकि आदेशको स्थानिवद्भाव बताया गया है। और लोप याने केवल अदर्शन। उसे आदेश कैसे कहा जा सकता है ?

लोपको भी आदेश कह सकते है।

सो कैसे ?

स्थानीके स्थानपर जो बताया जाता है उसे आदेश कहते हैं। और लोप भी स्थानीके स्थानपर ही बताया जाता है। (क्योंकि वहाँ भी 'षष्ठी स्थानेयोगा' (१।१।४९) परिभाषासे ही षष्ठी प्रत्ययका स्थानसे संबंध जोड़ा जाता है । तब लोपको आदेश कहना योग्य ही होगा।) इसके अतिरिक्त लोपको आदेश न कहा गया तो उल्टे सचमुच ही दोष आनेवाले हैं। क्योंकि लोप आदेश हुआ है ऐसे 'अचः परस्मिन्पूर्वविधौ' (१।१।५७) सूत्रके न जाने कितने उदाहरण पहले दिखाये गये हैं। वे सब उदाहरण उनके नहीं हैं ऐसा कहनेकी नौबत आ जायगी, और वे उदाहरण सिद्ध नहीं होंगे।

यद्यपि ये उदाहरण स्थानिवद्भावसे सिद्ध हुए तो भी जिन उदाहरणोंमें स्थानिवद्भावकी प्राप्ति नहीं आती उनके लिए कमसे कम यह प्रकृतसूत्र किया जाना ही चाहिए।

कौनसी विधि कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भावकी प्राप्ति नहीं आती ?

अल्के बहाने बतायी हुई जो विधि है वह कर्तव्य होनेपर स्थानिवद्भाव नहीं होता।

ऐसा उदाहरण कौनसा है ?

ङीनकारलोप, इत्व और इम् विधियाँ प्रकृतसूत्रसे ही सिद्ध होती हैं। (स्थानिवद्भावसे सिद्ध नहीं होती ऐसा अभी बताया गया है।)

भसंज्ञाङीप्ष्फगोरात्वेपुच दो पः ॥ १५ ॥

भसंज्ञाङीप्ष्फगोरात्वेषु दोषो भवति ॥ भसंज्ञायां तावन्न दोषः । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न प्रत्ययलक्षणेन भसंज्ञा भवतीति यदयं न ङिसंबुद्ध्योः[८·२·८] इति ङौ प्रतिषेधं शास्ति ॥ ङीप्यपि नैवं विज्ञायते ऽणन्तादकारान्तादिति । कथं तर्हि । अण् यो ऽकार इति ॥ ष्फे ऽपि नैवं विज्ञायते यञन्तादकारान्तादिति । कथं तर्हि । यञ्यो ऽकार इति ॥ गोरात्वे ऽपि नैवं विज्ञायते ऽम्यचीति । कथ तर्हि । अच्यमीति ॥ प्रयोजनान्यपि तर्हि तानि न सन्ति । यत्तावदुच्यते ङौ नकारलोप इति क्रियत एतन्न्यास एव न ङिसंबुद्ध्योरिति ॥ इत्त्वमपि । वक्ष्य-

---

(वा. १५) पर ङौनकारलोप आदिके लिए याने अल्विधिके लिए प्रकृतसूत्र जानबूझकर किया तो भसंज्ञा, ङीप् प्रत्यय, ष्फ प्रत्यय और गो शब्दको आत्व कर्तव्य होनेपर दोष आता है उसका क्या ?

भ संज्ञाके विषयमें याने 'राजपुरुषः' में प्रत्ययलक्षणसे भ संज्ञा होगी तो यह दोष आता ही नहीं। क्योंकि जब ये आचार्य पाणिनि 'न ङिसंबुद्ध्योः' (८।२।८) से ङि प्रत्यय आगे होनेपर नलोपका निषेध बताते हैं इससे वे यह सूचित करते हैं कि प्रत्ययलक्षणसे भ संज्ञा नहीं होती। 'चित्रा' में प्रत्ययलक्षणसे ङीप् होगा यह भी दोष नहीं आता। ङीप् बतानेवाले शास्त्रमें (४।१।५) 'अकारान्त जो अण् तदन्त' ऐसा अर्थ न किया जाय, तो अण् यह अकारका विशेषण करके 'अण् जो अकार तदन्त' ऐसा अर्थ लिया जाय। (अतः ङीप् प्रत्ययको मुख्यतः निमित्त वर्ण होता है अण् प्रत्यय नहीं होता, इसीलिए प्रकृतसूत्र वहाँ प्रवृत्त नहीं होता। 'वतण्डी' में भी 'प्रत्ययलक्षणसे ष्फ प्रत्यय होगा' यह दोष नहीं आता। वहाँ भी (१।४।१७) अकारान्त जो यञ तदन्त' ऐसा अर्थ न लिया जाय तो यञः अकारका विशेषण करके 'यञ् प्रत्ययका जो अकार तदन्त' ऐसा अर्थ लिया जाय। 'गव्यतिमें प्रत्ययलक्षणसे गोशब्दको आत्व होगा' यह भी दोष नहीं आता। वहाँ भी (६।१।९३) 'अजादि अम् प्रत्यय' ऐसा अर्थ न लिया जाय तो अम् अच्का विशेषण करके 'अम् प्रत्ययका जो अच्' ऐसा अर्थ लिया जाय। (तात्पर्य, स्थानिवद्भावकी अपेक्षा प्रकृतसूत्र अलग करनेमें जो दोष दिखाये गये हैं वे ठीक नहीं है ऐसा सिद्ध हुआ।)

तो फिर प्रकृतसूत्र अलग करनेके उपयोगके रूपमें जो उदाहरण दिखाये हैं वे भी ठीक नहीं हैं। उनमेंसे ङौनकारलोपका चर्मन् उदाहरण दिया है यहाँ प्रत्ययलक्षणसे भसंज्ञा होनेके कारण नकारका लोप नहीं होता। परन्तु यह स्वतंत्र सूत्र न होनेपर भी 'अनाल्विधौ' इस निषेधके कारण स्थानिवद्भावसे भसंज्ञा न की जा सके तो भी 'नलोप होगा' यह दोष नहीं आता। क्योंकि पाणिनिने उसके लिए 'न

त्येतत्। शास इत्वं आशासः क्वाविति॥ इम्विधिरपि। हलीति निवृत्तम्। यदि हलीति निवृत्तं तृणहानि अत्रापि प्राप्नोति। एवं तर्ह्याचि नेत्यप्यनुवर्तिष्यते॥ न तर्हीदानीमयं योगो वक्तव्यः। वक्तव्यश्च। किं प्रयोजनम्। प्रत्ययं गृहीत्वा यदुच्यते तत्प्रत्ययलक्षणेन यथा स्यात्। शब्दं गृहीत्वा यदुच्यते तत्प्रत्ययलक्षणेन मा भूदिति। किं प्रयोजनम्। शोभना दृषदो ऽस्य सुदृषद् ब्राह्मणः। सोर्मनसी अलोमोषसी [६.२.११७] इत्येष स्वरो मा भूदिति॥

ङिसंबुद्धयोः' (८।२।८) सूत्रमें 'ङि' शब्द नलोपके निषेधके लिए रखा ही है। वैसे ही 'आशीः' में 'शास इदङ्हलोः' (६।४।३४) से इत्व न हुआ तो भी हर्ज नहीं। क्योंकि यहाँ इत्व होनेके लिए वार्तिककारने 'शास इत्वे आशासः क्वौ' (६।४।३४ वार्ति० १) ऐसा वार्तिक किया ही है। अतृणेट् में स्थानिवद्भावसे ही 'पित् सार्वधातुक प्रत्यय आगे है' ऐसा मानकर 'तृणह इम्' में पीछेसे (७।३।८९) हलि पदकी अनुवृत्ति न लायी जाय, जिससे कि स्थानिवद्भावका 'अनल्विधौ' यह निषेध नहीं होगा।

परन्तु यदि हलि की अनुवृत्ति नहीं लायी गयी तो 'तृणहानि'में इम् आगम होने लगेगा।

तो फिर तृणह इम् (७।३।९२) में पीछेसे (७।३।८७) 'आचि न' इन दो पदोंकी अनुवृत्ति लायी गयी कि अजादिप्रत्यय आगे होनेपर इम् आगम नहीं होगा।

तात्पर्य, क्या यह प्रकृतसूत्र नहीं किया जाना चाहिए?

प्रकृतसूत्र तो किया जाना ही चाहिए।

सो किसलिए?

'प्रत्ययको लेकर बताया हुआ जो कार्य है वही प्रत्ययका लोप होनेपर प्रत्ययलक्षणसे होना चाहिए, किसी शब्दको लेकर बताया हुआ जो कार्य है वह प्रत्ययका लोप होनेपर प्रत्ययलक्षणसे नहीं होना चाहिए' यह नियम करनेके लिए प्रकृतसूत्र किया जाना चाहिए।

इस नियमका उपयोग क्या है?

'शोभनाः दृषदः अस्य ब्राह्मणस्य सुदृषद् ब्राह्मणः' में सुदृषद् इस बहुव्रीहि समासमें दृषद् इस उत्तरपदसे किये हुए जस् प्रत्ययका जो लुक् (२।४।७१) हुआ है उसे प्रत्ययलक्षण होकर असन्त उत्तरपद है ऐसा माना जाय तो 'सोर्मनसी अलोमोषसी' (६।२।११७) से उत्तरपदको आदि उदात्त होने लगेगा वह न हो यह इस नियमका उपयोग है।

न लुमताङ्गस्य ॥ १ । १ । ६३ ॥

लुमति प्रतिषेध एकपदस्वरस्योपसंख्यानम् ॥ १ ॥

लुमति प्रतिषेधे एकपदस्वरस्योपसंख्यानं कर्तव्यम्। एकपदस्वरे च लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणं न भवतीति वक्तव्यम्॥ किमविशेषेण। नेत्याह।

सर्वामन्त्रितसिज्लुक्स्वरवर्जम् ॥ २॥

सर्वस्वरमामन्त्रितस्वरं सिज्लुक्स्वरं च वर्जयित्वा ॥ सर्वस्वर। सर्वस्तोमः सर्वपृष्ठः। सर्वस्य सुपि [६·१·१९१] इत्याद्युदात्तत्वं यथा स्यात्॥ आमन्त्रितस्वर। सर्पिरागच्छ। सप्तागच्छत। आमन्त्रितस्य च [६·१·१९८] इत्याद्यु-

(सू. ६३) लुक्, श्लु और लुप् शब्दोंसे जहाँ प्रत्ययका अदर्शन हुआ हो वहाँ उस प्रत्ययके निमित्त जिसको अङ्गसंज्ञा हुई हो उसको यदि एकाध कार्य 'प्रत्ययलक्षणसे वह प्रत्यय आगे है' ऐसा समझकर प्राप्त होगा तो वह न किया जाय।

(वा. १) लुक्, श्लु और लुप् होनेपर यह जो प्रकृतसूत्रसे प्रत्ययलक्षणका निषेध किया है उसीमें एकपदस्वरका उपसंख्यान किया जाय, जिससे लुक्, श्लु और लुप् होनेपर एकपदपर निर्भर रहकर होनेवाला स्वर कर्तव्य हो तो प्रत्ययलक्षण नहीं होता ऐसा कहा जाय।

तो फिर उस प्रकारके किसी भी सूत्रसे स्वर प्राप्त होनेपर क्या वहाँ प्रत्ययलक्षण नहीं होता ?

वैसा सर्वसाधारण निषेध नहीं ऐसा वार्तिककार ही कहते हैं।

(वा. २) सर्वशब्दको बताया गया स्वर, आमन्त्रितको बताया गया स्वर और सिच् प्रत्ययको लुक् होनेपर प्राप्त होनेवाला स्वर ये तीन स्वर एकपदपर निर्भर रहकर होनेवाले स्वरोंमेंसे निकाल लिये जायें। (अर्थात् ये तीन स्वर कर्तव्य होनेपर प्रत्ययलक्षण होता है।) उनमेंसे सर्वशब्दके स्वरके उदाहरण—'सर्वस्तोमः, सर्वपृष्ठः', में समासके सुप् प्रत्ययका लुक् (२।४।७१) होनेपर उसे प्रत्ययलक्षण करके 'सर्वस्य सुपि' (६।१।१९१) सूत्रसे आदि उदात्त होना चाहिए। आमन्त्रितके स्वरके उदाहरण—'सर्पिरागच्छ, सप्तागच्छत' में 'सर्पिस्' और 'सप्तन्' शब्दोंके आगेके संबोधनप्रत्ययका लुक् (७।१।२३, ७।१।२२) होनेपर उसे प्रत्ययलक्षण करके 'आमन्त्रितस्य च' (६।१।१९८) सूत्रसे आदि उदात्त होना चाहिए। सिज्लुक्स्वरके उदाहरण—

१. 'न लुमताङ्गस्य' प्रकृतसूत्रमें 'अङ्गस्य' ऐसा कहा गया है। इससे 'अङ्गस्य' अधिकारका कार्य कर्तव्य हो तभी यह निषेध आता है यह वार्तिककारोंने मान लिया है। स्वर कहनेवाले शास्त्र 'अङ्गस्य' अधिकारमें नहीं, अतः स्वर कर्तव्य होनेपर प्रत्ययलक्षणका यह निषेध नहीं होता। इससे हेतुपूर्वक उनके लिए यह अलग वचन किया है।

दात्तत्व यथा स्यात् ॥ सिज्लुक्स्वर। मा हि दार्ताम्। माहि धाताम्। आदिः सिचो ऽन्यतरस्याम् [६ १ १८७] इत्येष स्वरो यथा स्यात् ॥ किं प्रयोजनम्।

प्रयोजनं ञ्नितिकिल्लुकि स्वराः ॥ ३ ॥

ञ्नितिकित्स्वरा लुकि प्रयोजयन्ति। गर्गाः वत्साः। बिदाः उर्वाः। उष्ट्रग्रीवा वामरज्जुः। ञ्नितीत्याद्युदात्तत्व मा भूदिति। इह च अत्रयः कितः [६·१·१६५] इत्यन्तोदात्तत्वं मा भूदिति ॥

पथिमथोः सर्वनामस्थाने ॥ ४ ॥

पथिमथोः सर्वनामस्थाने लुकि प्रयोजनम्। पथिप्रियः मथिप्रियः। पथिमथोः सर्वनामस्थाने [६ १ १९९] इत्येष स्वरो मा भूदिति ॥

'मा हि दाताम्, मा हि धाताम्' में सिच् प्रत्ययका लुक् (२।४।७७) होनेपर उसे प्रत्ययलक्षण करके 'आदिः सिचोऽन्यतरस्याम्' (६।१।१८७) सूत्रसे आदि उदात्त होना चाहिए।

इसके लिए ये तीन स्वर निकाले जाने चाहिए तो निकाले जायें, पर उसके अतिरिक्त एकपदपर निर्भर रहकर होनेवाले स्वर कर्तव्य होनेपर प्रत्ययलक्षण नहीं होता ऐसा जो कहा है उसका क्या उपयोग है?

(वा. ३) ञित्, नित् और कित् प्रत्ययोंके निमित्त बताये हुए जो स्वर हैं वे उन प्रत्ययोंका लुक् होनेपर भी प्रत्ययलक्षणसे होने लगेंगे, वे वहाँ नहीं होने चाहिए। अतः वे स्वर वहाँ प्रत्ययलक्षणके निषेधके कारण बन जाते है, उदा०–गर्गाः, वत्साः, बिदाः, उर्वाः, उष्ट्रग्रीवा, वामरज्जुः आदि स्थानोंपर प्रत्ययलक्षणसे ञित् और नित् प्रत्यय है ऐसा मानकर 'ञ्निति०' (६।१।१९७) से आदि उदात्त होने लगेगा वह नहीं होना चाहिए। वैसे ही अत्रयः में प्रत्ययलक्षणसे कित् प्रत्यय है ऐसा मानकर 'कित.' (६।१।१६५) से अत्य उदात्त होने लगेगा वह नहीं होना चाहिए। ऐसा प्रत्ययलक्षणके निषेधका उपयोग है।

(वा. ४) वैसे ही पथिन् और मथिन् शब्दोंके आगेके सर्वनामस्थानप्रत्ययका लुक् होनेपर वही प्रत्ययलक्षणके निषेधका उपयोग है। अर्थात् पथिन् और माथिन् शब्दोंके आगेके सर्वनामस्थानप्रत्ययका लुक् (२।४।७१) होनेपर भी प्रत्ययलक्षणसे वह प्रत्यय आगे है ऐसा मानकर 'पथिमथोः सर्वनामस्थाने' (६।१।१९९) से आदि उदात्त स्वर होने लगेगा वह नहीं होना चाहिए।

---

२. गर्गाः', वत्साः' में यञ् (४।१।१०५) इस ञित् प्रत्ययका और 'बिदाः', 'उर्वाः' में अञ् (४।१।१०४) इस ञित् प्रत्ययका लुक् (२।४।६४) हुआ है 'उष्ट्रग्रीवा', 'वामरज्जु' में कन् (५।३।९६) इस नित् प्रत्ययका लुप् (५।३।१००) हुआ है।

३ 'अत्रय' में ढक् (४।१।१२२) इस कित् प्रत्ययका लुक् (२।४।६५) हुआ है।

अह्नो रविधौ ॥ ५ ॥

अह्नो रविधाने लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणं न भवतीति वक्तव्यम्। अहर्ददाति। अहर्भुङ्क्ते। रोऽसुपि [८·२·६९] इति प्रत्ययलक्षणेन प्रतिषेधो मा भूदिति॥

उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ ॥ ६ ॥

उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणं न भवतीति वक्तव्यम्। परमवाचा परमवाचे। परमगोदुहा परमगोदुहे। परमश्वलिहा परमश्वलिहे। पदस्य [८·१·१६] इति प्रत्ययलक्षणेन कुत्वादीनि मा भूवन्निति॥ अपदादिविधाविति किमर्थम्। दधिसेचौ दधिसेचः। सात्पदाद्योः [८·३·१११] इति प्रतिषेधो यथा स्यात्॥ यद्यपदादिविधावित्युच्यत उत्तरपदाधिकारो न प्रकल्पेत। तत्र को

(वा. ५) अहन् शब्दको रेफ आदेश कर्तव्य होनेपर सुप् प्रत्ययका लुक् आदिसे अदर्शन हुआ हो तो यहाँ प्रत्ययलक्षण नहीं होता ऐसा कहा जाय। उदा०—अहर्ददाति, अहर्भुङ्क्ते में अहन् शब्दके आगेके सुप् प्रत्ययका लुक् (७।१।२३) हुआ तो भी प्रत्ययलक्षणसे सुप् प्रत्यय आगे है ऐसा मानकर 'असुपि' (८।२।६९) यह रेफ आदेशका निषेध होने लगेगा वह नहीं होना चाहिए।

(वा. ६) पदके आदिको बताया हुआ जो कार्य है उसके अतिरिक्त कोई भी पदसंज्ञाके निमित्त बताया हुआ कार्य उत्तरपदको कर्तव्य होनेपर जो लुक् आदि प्रत्ययोंका अदर्शन हुआ हो वह प्रत्ययलक्षण नहीं होता ऐसा कहा जाय। उदा०—परमवाचा, परमवाचे, परमगोदुहा, परमगोदुहे, परमलिहा, परमलिहे। इन वाच्, गोदुह् और लिह् इन उत्तरपदोंके आगेके सुप् प्रत्ययका जो लुक् (२।४।७१) हुआ है उसे प्रत्ययलक्षण करके पदसंज्ञा (१।४।१४) हुई तो कुत्व (८।२।३२) ढत्व (८।२।३१) ये कार्य होने लगेंगे वे नहीं होने चाहिए।

प्रत्ययलक्षणके इस निषेधमें पदके आदिको बताया हुआ कार्य किसलिए कम किया गया?

दधिसेचौ, दधिसेचः, में सेच् इस उत्तरपदके प्रत्ययलक्षणसे पदसंज्ञा होकर उसके आदिसकारको 'सात्पदाद्योः' (८।३।१११) से षत्वका निषेध होना चाहिए इसलिए।

परंतु यदि पदादिविधिको निकालकर अन्य किसी भी पदको बतायी हुई विधि उत्तरपदको कर्तव्य होनेपर प्रत्ययलक्षण नहीं होता ऐसा कहा गया तो उत्तरपदाधिकारका उद्देश तक नहीं किया जा सकेगा। (क्योंकि प्रत्ययलक्षणसे पदसंज्ञा ही अगर उत्तरपदको नहीं होगी तो उसे 'उत्तरपद' भी कैसे कहा जा सकेगा?)

४. 'असुपि' निषेध 'असिद्धवत्' अधिकारका न होनेके कारण 'न लुमताऽङ्गस्य' से प्रत्ययलक्षणका निषेध न होगा इसलिए वार्तिककारोंने यह वार्तिक किया है।

दोषः। कर्णो वर्णलक्षणात् [६ २ ११२] इत्येवमादिविधिर्न सिध्यति॥ यदि पुनर्नलोपादिविधौ प्लुत्यन्ते लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षण न भवतीत्युच्येत। नैव शक्यम्। इह हि राजकुमार्यौ राजकुमार्य इति शाकल प्रसज्येत। नैष दोष। यदेतत्सिति शाकल नेत्येतत्प्रत्यये शाकल नेति वक्ष्यामि। यदि प्रत्यये शाकल नेत्युच्यते दधि अधुना मधु अधुना अत्रापि न प्रसज्येत। प्रत्यये शाकल न भवति। कस्मिन्। यस्माद्यः प्रत्ययो विहित इति॥ तर्हि परमदिवा परमदिवे

फिर वैसा हुआ तो उसमें दोष क्या हुआ?

दोषका क्या पूछना? उस अधिकारकी 'कर्णो वर्णलक्षणात्' (६।२।११२) आदि सभी विधियाँ सिद्ध नहीं होंगी।

ठीक, अब उत्तरपदके आगेके सुप् प्रत्ययका लुक् आदि शब्दोंसे अदर्शन होनेपर वहाँ प्रत्ययलक्षण नहीं होते यह निषेध किसी भी पदको बतायी हुई विधि कर्तव्य होनेपर आता है ऐसा न कहकर वे विधियाँ नलोप (८।२।७) से प्लुतके (८।२।८२) अततककी ही ली जायें, तो वह सभव नहीं। क्योंकि राजकुमार्यौ, राजकुमार्य में प्रत्ययलक्षणसे कुमारी यह पद मानकर 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' (६।१।१२७) से प्रकृतिभाव और ह्रस्व होगा यह दोष आता है।

यह दोष नहीं आता। क्योंकि उस प्रकृतिभावका वार्तिककारोंने जो सित् प्रत्यय आगे होनेपर निषेध किया है वह वैसा विशेष प्रत्ययको लेकर न करते हुए सामान्य तया कोई भी प्रत्यय आगे होनेपर किया जा सकेगा।

परतु अगर कोई भी प्रत्यय आगे होनेपर वह प्रकृतिभाव नहीं होता ऐसा कहा जाय तो 'दधि अधुना', 'मधु अधुना' में भी वह प्रकृतिभाव नहीं होगा।

उस प्रकृतिभावके निषेधकेलिए कोई भी प्रत्यय आगे हो, तो चल सकेगा। परतु सो ऐसे (उसीका उसीको चल सकेगा, अन्यका अन्यको नहीं) अर्थात् जिससे वह प्रत्यय बनाया गया हो उसीको वह प्रत्यय आगे होनेपर प्रकृतिभाव नहीं होता।

(इस तरह नलोपसे प्लुततक विधि कर्तव्य होनेपर ही प्रकृतिभाव नहीं होता ऐसा माननेपर राजकुमार्यौ से दोष नहीं रहा) तोभी परमदिवा, परमदिवे आदि स्थानोंमें

---

५ 'दधि' और 'अधुना' दो पृथक् पद है। अधुना प्रत्यय है और वह 'दधि' शब्दके आगे नहीं किया है, 'इदम्' शब्दके आगे किया है (५।३।१७)। तदनन्तर 'इदम्' शब्दको 'इश्' आदेश (५।३।३) होके उसका लोप (६।४।१४८) हुआ है। उस पदमें केवल प्रत्यय ही शेष रहा है।

दिव उद् [६.१.१३१] इत्युत्वं प्राप्नोतीति ॥ अस्तु तर्ह्यविशेषेण। ननु चोक्तमुत्तरपदाधिकारो न प्रकल्पेतेति। वचनादुत्तरपदाधिकारो भविष्यति ॥

तत्तर्हि वक्तव्यम्। न वक्तव्यम्। अनुवृत्तिः करिष्यते। इदमस्ति यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्यये ऽङ्गम् [१.४.१३] सुप्तिङन्तं पदम् [१४] यस्मात्सुप्तिङ्विधिस्तदादि सुबन्तं च। नः क्ये [१५] नान्तं क्ये पदसंज्ञं भवति यस्मात्क्यविधिस्तदादि सुबन्तं च। सिति च [१६]। सिति च पूर्वं पदसंज्ञं भवति यस्मात्सिद्विधिस्तदादि सुबन्तं च। स्वादिष्वसर्वनामस्थाने [१७]।

प्रत्ययलक्षणसे दिव् पद मानकर 'दिव उत्' (६।१।१३१) से उत्त्व होगा यह दोष आता है।

तो फिर अमुक विधि ही कर्तव्य होनेपर ऐसा न कहते हुए सादृश्य रूपसे अर्थात् किसी भी पदको बनायी विधि कर्तव्य होनेपर प्रत्ययलक्षण नहीं होता यही रहने दीजिये।

परन्तु वैसा कहनेपर 'उत्तरपदाधिकारका नामोल्लेख कर ही नहीं सकते' ऐसा अभी बताया गया है उसका क्या ?

जब पाणिनिने उत्तरपदाधिकार किया ही है तब उसकी सामर्थ्यसे कम से कम वहाँ प्रत्ययलक्षणका निषेध नहीं होगा अथवा समासके आगले भागको पदसंज्ञा न हो तो भी उत्तरपद कहा जा सकेगा।

तात्पर्य, परमवाचा आदि उदाहरण साधनेके लिए 'उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ' यह प्रत्ययलक्षणका निषेध बताया जाना चाहिए।

वह बतानेकी आवश्यकता नहीं है। अनुवृत्ति करनेसे काम चल सकेगा। सो इस प्रकार—'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम्' (१।४।१३) ऐसा सूत्र है। उसमेंसे 'यस्मात् प्रत्ययविधि. तदादि' इन पदोंकी अनुवृत्ति आगे 'यचि भम्' (१।४।१८) सूत्रतक की जाय। तब उसका अर्थ यों होता है। *आगला सूत्र—'सुप्तिङन्तं पदम्' सुप् या तिङ् प्रत्यय जिससे बनाये गये तदादि जो सुबन्त या तिङन्त शब्दस्वरूप है उसे पदसंज्ञा होती है।* उसका आगला सूत्र—'नः क्ये' क्यच् या क्यङ् प्रत्यय आगे होनेपर नकारान्तको पदसंज्ञा होती है और वह क्यच् या क्यङ् प्रत्यय जिससे बनाया गया हो तदादि जो सुबन्त है उसको भी पदसंज्ञा होती है। उसका आगला सूत्र—'सिति च' 'सित्' प्रत्यय आगे होनेपर पहलेके शब्दको पदसंज्ञा होती है और वह सित् प्रत्यय जिससे बनाया गया तदादि जो सुबन्त है उसको भी पदसंज्ञा होती है। उसका आगला सूत्र—'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' सर्वनामस्थानके अतिरिक्त सु आदि प्रत्ययोंमेंसे कोई भी प्रत्यय आगे होनेपर पहलेके शब्दको पदसंज्ञा होती है।

स्वादिष्वसर्वनामस्थाने पूर्वं पदसंज्ञं भवति यस्मात्स्वादिविधिस्तदादि सुबन्तं च। यचि भम् [१८] यजादिप्रत्यये पूर्वं भं भवति यस्माद्यजादिविधिस्तदादि सुबन्तं च ॥ इह तर्हि परमवाक् असर्वनामस्थान इति प्रतिषेधः प्राप्नोति। अस्तु तस्याः प्रतिषेधो या स्वादौ पदमिति पदसंज्ञा या तु सुबन्तं पदमिति पदसंज्ञा सा भविष्यति। सत्येतत्प्रत्यय आसीदनया भविष्यत्यनया न भविष्यतीति। लुप्त इदानीं प्रत्यये यावत एवावधेः स्वादौ पदमिति पदसंज्ञा तावत एवावधेः सुबन्तं पदमिति। अस्ति च प्रत्ययलक्षणेन सर्वनामस्थानपरतेति कृत्वा प्रतिषेधाश्च बलीयांसो भवन्तीति प्रतिषेधः प्राप्नोति ॥ नाप्रतिषेधात्। नायं प्रसज्यप्रतिषेध सर्वनामस्थाने नेति। किं तर्हि। पर्युदासो ऽयं यदन्यत्सर्वनामस्थानादिति। सर्व-

और वह प्रत्यय जिसमें जोड़ गया तदादि जो सुबन्त है वह उसके भीतर और एकाध सुबंत होनेपर उसको भी पदसंज्ञा होती है, सर्वनामस्थानप्रत्यय आगे होनेपर केवल पदसंज्ञा नहीं होती। उसका अगला सूत्र—'यचि भम्०' यजादिप्रत्यय आगे होनेपर पहलेके शब्दको भसंज्ञा होती है और वह यजादिप्रत्यय जिससे बनाया गया तदादि जो सुबन्त है उसको और उसके अंदर एकाध सुबंत हो तो उसे भी भसंज्ञा होती है; सर्वनामस्थानप्रत्यय आगे होनेपर नहीं होती।

तो फिर परमवाक् में 'सर्वनामस्थान आगे होनेपर पदसंज्ञा नहीं होती' यह निषेध आयेगा (और कुत्व (८।२।३०) नहीं होगा।)

'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१।४।१७) से बतायी हुई जो पदसंज्ञा है उसका वह निषेध होने दे, पर 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१।४।१४) से बतायी गई जो पदसंज्ञा है वह होगी ही।

प्रत्ययके विद्यमान होनेपर अमुक सूत्रसे पदसंज्ञा होगी और अमुक सूत्रसे पदसंज्ञा नहीं होगी ऐसा कह सकते हैं। परन्तु यह फर्क परमवाक् में अगले सुप्रत्ययका लोप (६।१।६८) होनेपर दिखाया नहीं जा सकता। क्योंकि 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' से जितने भागको पदसंज्ञा प्राप्त होती है उतने ही भागको प्रत्ययलक्षणसे सुबन्त मानकर 'सुप्तिङन्तं पदम्' से पदसंज्ञा प्राप्त होती है। अतः अर्थात् ही उन दोनों संज्ञाओंका 'असर्वनामस्थाने' यह निषेध प्राप्त होता है। क्योंकि प्रत्ययलक्षणसे सर्वनामस्थानप्रत्यय आगे है ऐसा माना जा सकता है। और निषेध तो अन्य सबकी अपेक्षा बलवत्तर होते हैं।

नाप्रतिषेधात्। 'सर्वनामस्थानप्रत्यय आगे होनेपर प्राप्त पदसंज्ञा न की जाये।' ऐसा 'असर्वनामस्थाने' का अर्थ न समझा जाये तो 'असर्वनामस्थाने' पर्युदास है अर्थात् 'सर्वनामस्थानप्रत्ययके अतिरिक्त अन्य स्वादिकप्रत्यय आगे होनेपर पदसंज्ञा होती है' ऐसा 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१।४।१७) सूत्रका अर्थ है। अतः

१. अ १ पा १ सू ६२ वा. ९ 'गमो निघ्निता०' वार्तिकका भाष्य देखें।

नामस्थानेऽव्यापारः। यदि केनाचित्प्राप्नोति तेन भविष्यति। पूर्वेण च प्राप्नोति ॥ अप्राप्तेर्वा। अथवानन्तरा या प्राप्तिः सा प्रतिषिध्यते। कुत एतत्। अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति। पूर्वा प्राप्तिरप्रतिषिद्धा तया भविष्यति। ननु चेयं प्राप्तिः पूर्वां प्राप्तिं बाधते। नोत्सहते प्रतिषिद्धा सती बाधितुम् ॥ यद्येवं परमवाचौ परमवाच इति सुप्तिङन्तं पदमिति पदसंज्ञा प्राप्नोति। एवं तर्हि योगविभागः करिष्यते। स्वादिषु पूर्वं पदसंज्ञं भवति। ततः सर्वनामस्थानेऽयचि। पूर्वं पदसंज्ञं भवति।

अर्थात् ही सर्वनामस्थानप्रत्यय आगे होनेपर वहाँ 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' सूत्र कुछ भी नहीं कर सकता। अर्थात् वहाँ उस सूत्रसे पदसंज्ञा न आती ही है न जाती ही। अब वहाँ अगर दूसरे किसी सूत्रसे पदसंज्ञा प्राप्त होती हो तो वह वहाँ होगी ही। अतः परमवाक् 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१।४।१४) पूर्वसूत्रसे पदसंज्ञा होगी।

अप्राप्तेर्वा अथवा 'असर्वनामस्थाने' का 'सर्वनामस्थानप्रत्यय आगे होनेपर पदसंज्ञा नहीं होती' ऐसा अर्थ लिया जाय तो भी उसके कारण 'स्वादिषु' से जो पदसंज्ञाकी प्राप्ति आती है उसीका निषेध किया जाता है।

सो कैसे?

'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' अर्थात् विधि या प्रतिषेध पासवालेके ही होते हैं ऐसा नियम है इसलिये। अतः 'सुप्तिङन्तं पदम्' इस पूर्वसूत्रसे आयी हुई जो पदसंज्ञाकी प्राप्ति है उसका निषेध न होनेके कारण उसके बलसे परमवाक में पदसंज्ञा होकर कुत्व होगा।

परंतु 'सुप्तिङन्तं पदम्' पूर्वसूत्रसे आयी हुई पदसंज्ञाका यद्यपि 'असर्वनामस्थाने' यह निषेध नहीं हुआ तो भी उस संज्ञाका 'स्वादिषु' से बताई हुई पदसंज्ञासे ही बाध आयेगा।

यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि जो यह पदसंज्ञा स्वतः निषेधके जालमें फँसनेके कारण पराङ्मुख हुई है वह दूसरेका बाध करनेका कभी साहस नहीं करेगी।

परंतु अगर ऐसा ही है तो परमवाचौ, और परमवाचः में वाच् इस प्रत्ययलक्षणसे सुबन्त मानकर 'सुप्तिङन्तं पदम्' से पदसंज्ञा होने लगेगी।

तो फिर ऐसे स्थानपर पदसंज्ञा न होनेके लिए योगविभाग करता हूँ। स्वादिष्वसर्वनामस्थाने', 'यचि भम्' (१।४।१७,१८) ऐसे मूल दो सूत्र हैं वे तीन सूत्र किये जायें। वे यों हैं—'स्वादिषु' यह एक सूत्र है। सु आदि प्रत्यय आगे होनेपर पहलेके शब्दको पदसंज्ञा होती है। 'सर्वनामस्थाने ऽयचि' यह दूसरा सूत्र है। सर्वनामस्थान प्रत्यय आगे होनेपर अगर पहलेके शब्दको पदसंज्ञा करनी हो तो यजादिभिन्न सर्व-

---

७. 'स्वादिषु' अथवा 'सुप्तिङन्तं पदम्' इन दो सूत्रोंमेंसे किसी सूत्रसे करना हो। यदि 'स्वादिषु' इस एक ही सूत्रका नियम होता तो किया हुआ योगविभाग व्यर्थ होगा।

ततो भम्। भसञ्ज्ञं भवति यजादावसर्वनामस्थान इति॥ यदि तर्हि सावपि पद भवत्येचः प्लुतविकारे पदान्तग्रहण चोदयिष्यति इह मा भूत् भद्र करोपि गौरिति तस्मिन्क्रियमाणे ऽपि प्राप्नोति। वाक्यपदयोरन्त्यस्यैरयेव तत्॥ इह तर्हि दधिसेनौ दधिसेचः सात्पदाद्योरिति पदादिलक्षणः षत्वप्रतिषेधो न प्राप्नोति। मा भूदेव पदस्यादिः पदादिः पदादेर्नेति। कथ तर्हि। पदादादिः पदादिः पदादेर्नेत्येव भविष्यति नैव शक्यम्। इहापि प्रसज्येत। ऋक्षु वाक्षु त्वक्षु कुमारीषु किशोरीष्विति। सात्प्रतिषेधो ज्ञापकः स्वादिषु पदत्वेन येषां पदसज्ञा न तेभ्यः प्रतिषेधो भवतीति॥

नामस्थान आगे होनेपर ही की जाय, याने अर्थात् यजादि सर्वनामस्थानप्रत्यय आगे होनेपर पहलेके शब्दको पदसज्ञा नहीं होती। 'भम्' यह तीसरा सूत्र है। सर्वनामस्थानभिन्न यजादि प्रत्यय आगे होनेपर पहलेके शब्दको भ सज्ञा होती है।

तो फिर सु आगे होनेपर भी पहले शब्दको पदसज्ञा होगी, और अगर वह हुई तो 'भद्र करोषि गौः३' दोष आता है। 'एचोऽ प्रगृह्य०' (८।२।१०७) से जो प्लुतको विकार बताया गया है वह गौ. मे सुप्रत्ययके पीछेके ओकारको न हो इसलिए वहाँ 'पदान्तमें एच् चाहिए' ऐसा शब्द निकला है। पर अब सु आगे होनेपर पिछला औकार पदान्तमें होनेके कारण यहाँ पदान्त शब्द रखा तो भी दोष आयेगा ही।

वाक्यके और पदके अतमें जो प्लुत होगा उसे वह विकार होता है। (यह औकार पदके अतमें हो तो भी वाक्यके अतमें है ही नहीं। अत. दोष नहीं आयेगा।)

तो फिर 'दधिसेच·' में 'असर्वनामस्थानेऽयचि' से पदसज्ञाका निषेध होनेसे जैसा कुत्व नहीं होता वैसा उसी कारण 'सात्पदाद्योः' (८।२।१११) से षत्वका निषेध भी नहीं होगा।

'पदका जो आदि है वह पदादि है। उस पदादि सकारको षत्व नहीं होता।' इस अर्थसे वह निषेध नहीं हुआ तो भी न होने दीजिए।

तो फिर यहाँ किस अर्थसे निषेध करेंगे?

'पदसे पर जो आदि वह पदादि है। उस पदादिसकारको षत्व नहीं होता' इस अर्थसे दधि पदसे पर सकार होनेके कारण षत्वका निषेध होगा।

परतु वैसा अर्थ किया गया तो ऋक्षु, वाक्षु, कुमारीषु, किशोरीषु आदि उदाहरणोंमें ऋच आदि पदसे (१।४।१७) आगे सकार होनेके कारण उस सकारका षत्वका निषेध होने लगेगा।

यह दोष नहीं आता। क्योंकि अग्निसात् आदि उदाहरणोंमें सात् प्रत्ययके (५।४।५२) सकारको षत्व न होनेके लिए 'सात्पदाद्योः' (८।३।१११) सूत्रमें सात् शब्दका जो उच्चारण किया गया है उससे ऐसा सूचित होता है कि 'स्वादिषु' (१।४।१७) से जो पदसंज्ञा हुई है उस पदसे आगेके सकारको पदादि मानकर षत्वको निषेध नहीं होता।

इह तर्हि बहुसेची बहुसेचः। बहुजयं प्रत्ययः। अत्र पदादादिः पदादिः पदादेर्नेत्युच्यमाने ऽपि न सिध्यति। एवं तर्ह्युत्तरपदत्वे च पदादिविधौ लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणं भवतीति वक्ष्यामि। तन्नियमार्थं भविष्यति पदादिविधावेव न पदान्तविधाविति॥ कथं बहुसेचौ बहुसेचः। बहुच्पूर्वस्य च पदादिविधावेव न पदान्तविधाविति॥

द्वन्द्वे ऽन्त्यस्य॥ ७॥

द्वन्द्वे ऽन्त्यस्य लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणं न भवतीति वक्तव्यम्। वाक्सक्त्वचम्।

इह अभूवन्निति प्रत्ययलक्षणेन जुस्भावः प्राप्नोति।

सिच उसो ऽप्रसङ्ग आकारप्रकरणात्॥ ८॥

सिच उसो ऽप्रसङ्गः। किं कारणम्। आकारप्रकरणात्। आतः

तो फिर बहुसेचौ, बहुसेचः में सेच्को 'असर्वनामस्थानेऽयचि' से पदसंज्ञाका निषेध होनेके कारण 'सात्पदाद्योः' से षत्वका निषेध नहीं होगा। 'पदसे पर जो आदि सो पदादि, वैसे पदादि सकारको षत्व नहीं होता।' इस अर्थ से सर्वत्र निषेध सिद्ध नहीं होता। क्योंकि बहुच् प्रत्यय (५।३।६८) है, पद नहीं। (तात्पर्य 'स्थानिवु' आदि योगविभाग किया तो भी सर्वत्र सिद्धि नहीं होती।)

तो फिर यहाँ ऐसा वचन किया जाय कि 'उत्तरपदके आगेके सुप्रत्ययका लुक् आदिद्वारा अदर्शन होनेपर वहाँ पदके आदिको विधि कर्तव्य हो तो प्रत्ययलक्षण होता है।' यह वचन नियमके रूपमें होगा। वह नियम यों है—'पदके आदिको विधि कर्तव्य होनेपर ही प्रत्ययलक्षण होता है, पदके अन्तको विधि कर्तव्य होनेपर प्रत्ययलक्षण नहीं होता।' (अतः 'दधिसेचौ, इत्यादि उदाहरणोंमें दोष नहीं आता।)

तो भी बहुसेचौ, बहुसेचः, ये उदाहरण कैसे सिद्ध होंगे? (बहुच् तद्धितप्रत्यय है अतः सेच् उत्तरपद न होनेके कारण 'उत्तरपदत्वे०...' वचन प्रवृत्त नहीं होगा।)

वहाँ भी अलग वचन किया जाय—'यदि किसी शब्दके पहले बहुच् प्रत्यय लगा हो तो उस शब्दको ही पदादिविधिमात्रके लिए प्रत्ययलक्षणसे पद कहा जाय।' अतः पदान्तविधिके लिए उस प्रत्ययलक्षणका उपयोग नहीं होता।

(वा. ७) द्वन्द्वसमासमें अंतिम शब्दके आगेके सुप् प्रत्ययका लुक् आदिसे अदर्शन होनेपर प्रत्ययलक्षण नहीं होता, उदा०—वाक्सक्त्वचम्। (यहाँ त्वच्को पदसंज्ञा न होनेके कारण कुत्व (८।२।३०) नहीं होता है।)

अभूवन्में सिच् प्रत्ययका लुक् (२।४।७७) होनेपर उसे प्रत्ययलक्षण करके अगले झि प्रत्ययको जुस् आदेश (३।४।१०९) होने लगेगा ऐसा दोष आता है।

[३·४·११०] इत्येतन्नियमार्थं भविष्यति। आत एव च सिज्लुगन्तान्नान्यस्मात्सिज्लुगन्तादिति ॥ इह इति युष्मत्पुत्रो ददाति इत्यस्मत्पुत्रो ददातीत्यत्र प्रत्ययलक्षणेन युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ [८·१·२०] इति वाम्नावादयः प्राप्नुवन्ति।

युष्मदस्मदोः स्थग्रहणात् ॥ ९ ॥

स्थग्रहणं तत्र क्रियते तच्छ्रूयमाणविभक्तिविशेषणं विज्ञास्यते। अस्त्यन्यत्स्थग्रहणस्य प्रयोजनम्। किम्। सविभक्तिकस्य वाम्नावादयो यथा स्युरिति। नैतदस्ति प्रयोजनम्। पदस्य [१६] इति वर्तते विभक्त्यन्तं च पदं तत्रान्तरेणापि स्थग्रहणं सविभक्तिकस्यैव भविष्यति। भवेत्सिद्धं यत्र विभक्त्यन्तं पदं यत्र

(वा. ८) सिच् प्रत्ययका लुक् होनेपर उसके निमित्त जुस् आदेश नहीं होता। जुस् न होनेका कारण क्या है?

कारण यह कि आकारप्रकरणात्। 'आतः' (३।४।११०) ऐसा सूत्र है वह नियमके रूपमें माना जाय। नियम यह कि 'सिच् प्रत्ययका लुक् होनेपर अगर पीछे आकारान्त धातु हो तभी अगले झि प्रत्ययको जुस् आदेश होता है। आकारान्तके अलावा अन्य धातु होगा तो वहाँ सिच् प्रत्ययका लुक् होनेपर जुस् आदेश नहीं होता।

'इति युष्मत्पुत्रो ददाति', 'इत्यस्मत्पुत्रो ददाति' आदि वाक्योंमें इति शब्दके आगेके युष्मद् और अस्मद् शब्दोंको 'युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ' (८।१।२०) आदि सूत्रोंसे वाम् नौ आदि आदेश होने लगेंगे। क्योंकि युष्मद्, अस्मद् आदि शब्दोंके आगेके षष्ठी आदि प्रत्ययोंका लुक् (२।४।७१) हुआ हो तोभी प्रत्ययलक्षणसे 'वे प्रत्यय है' ऐसा समझा जा सकता है।

(वा. ९) 'युष्मदस्मदोः०' सूत्रमें 'स्थ' शब्द रखा गया है। वह 'श्रूयमाण' अर्थसे षष्ठी आदि विभक्तियोंका विशेषण है ऐसा माना जाय। (अर्थात् उदाहरणमें षष्ठी आदि प्रत्यय प्रत्यक्ष विद्यमान होने चाहिए; केवल प्रत्ययलक्षणसे माने हुए उपयोगवाले नहीं।)

परंतु उस शब्दका उपयोग दूसरा है।

सो कौनसा?

सो यह है कि वाम् नौ आदि आदेश षष्ठी आदि प्रत्ययोंसहित युष्मद् और अस्मद् शब्दोंको होने चाहिए। (वे प्रत्यय आगे होनेपर केवल उन शब्दोंको न हों।)

यह उपयोग ठीक नहीं है। क्योंकि 'पदस्य' (८।१।१६) ऐसा यहाँ पीछेसे अनुवृत्त होता है। और पद संज्ञा (१।४।१४) तो विभक्तिसहित शब्दको ही होती है। अतः 'स्थ' शब्द न हो तो भी विभक्तिप्रत्ययोंसहित युष्मद्, अस्मद्, शब्दोंको वे आदेश होंगे।

जिस स्थानपर विभक्तिप्रत्ययसहित ही शब्दोंको पदसंज्ञा होती है वहाँ 'पदको'

तु खलु विभक्तौ पदं तत्र न सिध्यति। ग्रामो वां दीयते। ग्रामो नौ दीयते। जनपदो वां दीयते। जनपदो नौ दीयते। सर्वग्रहणमपि प्रकृतमनुवर्तते तेन सविभक्तिकस्यैव भविष्यति ॥ इह चक्षुष्कामं याजयांचकारेति तिङ्ङतिङः [८·१·२८] इति तस्य च निघातस्तस्माच्चानिघातः प्राप्नोति।

आमि लिलोपात्तस्य चानिघातस्तस्माच्च निघातः ॥ १० ॥

आमि लिलोपात्तस्य चानिघातस्तस्माच्च निघातः सिद्धो भविष्यति ॥

अङ्गाधिकार इटो विधिप्रतिषेधौ ॥ ११ ॥

अङ्गाधिकार इटो विधिप्रतिषेधौ न सिध्यतः। जिगमिष संविवृत्स। अङ्ग-

---

ऐसा कहनेसे सिद्ध होगी। पर जहाँ विभक्तिप्रत्यय आगे होनेपर पिछले भागको भी पदसंज्ञा (१।४।१७) होती है वहाँ सिद्ध नहीं होगी; उदा०—'ग्रामो वां दीयते' 'ग्रामो नौ दीयते'। (युष्मद् और अस्मद् शब्दोंको चतुर्थी द्विवचनोंके जो युवाभ्याम् और आवाभ्याम् रूप होते हैं उन्हें वाम् और नौ ये आदेश यहाँ हुए हैं।)

'सर्वस्य' ऐसा भी पीछेसे (८।१।१) यहाँ अनुवृत्त होता है। उसके बलपर अगले प्रत्ययसहित ही युष्मद् और अस्मद् शब्दोंको वे आदेश होंगे।

'चक्षुष्कामं याजयांचकार' वाक्यमें 'याजयाम्' तिङन्तभिन्न पदके आगेके 'चकार' इस तिङन्त पदको 'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) से अनुदात्त होता है। परंतु 'याजयाम्' प्रत्ययलक्षणसे तिङन्त है ऐसा माना जानेके कारण उस सूत्रसे 'याजयाम्' पदको अनुदात्त होगा और 'चकार' को नहीं होगा।

(वा. १०) 'याजयाम्' में 'याजि' इस णिच्प्रत्ययान्त धातुसे आम् प्रत्यय (३।१।३५) करनेपर उसके आगे के लिट् प्रत्ययका, उसे तिङ् आदेश (३।४।७८) करनेके पहले ही 'आमः' (२।४।८१) से लोप होनेसे इस 'याजयाम्' को अनुदात्त नहीं होता। और उसके आगेके 'चकार' को अनुदात्त होता है। (क्योंकि प्रत्ययलक्षण हुआ तो भी 'याजयाम्' लिट्प्रत्ययान्त माना जायगा, तिङन्त नहीं माना जायगा।)

(वा. ११) 'अङ्गस्य' (६।४।१) अधिकारमें जो इट् आगमकी विधि और उसका निषेध बताया है वह सिद्ध नहीं होगा। जिगमिष, संविवृत्स में सन्प्रत्ययान्त धातु के आगेके 'हि' इस परस्मैपद प्रत्ययका 'अतो हेः' (६।४।१०५) से लुक् हुआ है।

---

८. 'याजयाम्' के अगले लिट् प्रत्ययको तिङ् आदेश करके तदनन्तर उसका 'आमः' (२।४।८१) से लोप हुआ है यह मान लेके प्रत्ययलक्षणसे 'याजयाम्' तिङन्त है ऐसा कहा है।

स्येतीटो विधिप्रतिषेधौ न प्राप्नुतः ॥

क्रमेर्दीर्घत्वं च ॥ १२ ॥

किं च। इटश्च विधिप्रतिषेधौ। नेत्याह। अदेशेऽयं चः पठितः। क्रमेश्च दीर्घत्वम्। उत्क्राम संक्रामेति ॥

इह किंचिदङ्गाधिकारे लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणेन भवति किंचिच्चान्यत्र न भवति। यदि पुनर्न लुमता तस्मिन्नित्युच्येत। अथ न लुमता तस्मिन्नित्युच्यमाने किं सिद्धमेतद्भवतीटो विधिप्रतिषेधौ क्रमेर्दीर्घत्वं च। बाढं सिद्धम्। नेटो

यहाँ प्रत्ययलक्षणसे 'परस्मैपद प्रत्यय आगे है' ऐसा मानकर 'जिगमिष' में सन् प्रत्ययको इट् आगम (७।२।५८) होता है और 'संविवृत्स' में इट् आगमका निषेध होता है। परंतु यह इट् आगम और उसका निषेध बतानेवाले शास्त्र 'अङ्गस्य' अधिकारके होनेके कारण प्रकृतसूत्रसे प्रत्ययलक्षणका निषेध होगा ऐसा दोष आता है उसके लिए वैसा वचन करना चाहिए।

(वा० १२) इस वार्तिकके 'च' शब्दसे किस कार्यका संग्रह करें?

पहले बताये हुए इट् आगमका और उसके निषेधका।

पर वैसा संग्रह यहाँ नहीं आता है ऐसा हम कहते हैं। (क्योंकि प्रत्ययलक्षणसे इट् आगम होनेका और उसका निषेध होनेका उदाहरण क्रम् धातुका संभाव्य नहीं है।) अतः इस वार्तिकमें 'च' शब्द अनुचित स्थानपर ही आ गया है वह 'क्रमः' के आगे लिया जाय, अर्थात् पहले वार्तिकके आगे 'क्रमेश्च दीर्घत्वम्' ऐसा वार्तिक समझा जाय। तात्पर्य, पूरा अर्थ यों है—अङ्गस्य अधिकारका कार्य कर्तव्य होनेपर प्रकृतसूत्रसे प्रत्ययलक्षणका निषेध होनेके कारण 'जिगमिष' में इट् आगम नहीं होगा। 'संविवृत्स' में इट् आगमका निषेध नहीं होगा और 'उत्क्राम,' और 'संक्राम' में दीर्घ (७।३।७६) नहीं होगा।

प्रत्ययलक्षणका निषेध बतानेवाले उस प्रकृत सूत्रमें पाणिनिने अङ्गस्य ऐसा कहा है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी दिखाई देती है कि लुक् आदिसे प्रत्ययका अदर्शन होनेपर अङ्गस्य अधिकारका भी कुछ कार्य प्रत्ययलक्षणसे होता है और कुछ कार्य अङ्गस्य अधिकारके बाहरका भी प्रत्ययलक्षणसे नहीं होता।

ठीक। अब 'न लुमता तस्मिन्' याने लुक् आदिसे प्रत्ययका अदर्शन हुआ हो वहाँ वह प्रत्यय आगे होनेपर बताया हुआ कार्य कर्तव्य होनेपर प्रत्ययलक्षण नहीं होता ऐसा कहें तो—

'न लुमता तस्मिन्' ऐसा कहें तो क्या इट् आगम, उसका निषेध, क्रम् धातुको दीर्घ, ये सब सिद्ध होते हैं?

जी हाँ। निश्चित रूपसे सिद्ध होते हैं। क्योंकि 'गमेरिट्' से बताया हुआ इट्

निविप्रतिषेधो परस्मैपदेष्वित्युच्यते। कथं तर्हि। सकारादाविति तद्विशेषणं परस्मैपदग्रहणम्। न खल्वपि क्रमेर्दीर्घत्वं परस्मैपदेष्वित्युच्यते। कथ तर्हि। शितीति तद्विशेषणं परस्मैपदग्रहणम्॥

न लुमता तस्मिन्निति चेद्धनिणिङादेशास्तलोपे॥ १३॥

न लुमता तस्मिन्निति चेद्धनिणिङादेशास्तलोपे न सिध्यन्ति। अवधि भवता दस्युः। अगायि भवता ग्रामः। अध्यगायि भवतानुवाकः। तलोपे कृते लुङीति हनिणिङादेशा न प्राप्नुवन्ति॥ नैष दोषः न लुङीति हनिणिङादेशा उच्यन्ते। किं तर्हि। आर्धधातुक इति। तद्विशेषण लुङ्ग्रहणम्॥ इह च सर्वस्तोमः सर्वपृष्ठः सर्वस्य सुपीत्याद्युदात्तत्वं न प्राप्नोति। तत्रापि वक्तव्यम्। न वक्तव्यम्। न लुमताङ्गस्येत्येव सिद्धम्। कथम्। न लुमता लुप्ते ऽङ्गाधिकारः

आगम, और 'न वृद्भ्यः०' से बताये हुए इट् आगमका निषेध ये कुछ परस्मैपदप्रत्यय आगे होनेपर बताये नहीं गये हैं, तो वे सकारादि प्रत्यय आगे होनेपर बताये गये हैं और परस्मैपदेषु उस सकारादि प्रत्ययका विशेषण है। वैसे ही क्रम् धातुको बताया हुआ दीर्घ भी परस्मैपदप्रत्यय आगे होनेपर बताया नहीं गया, तो वह शित् प्रत्यय आगे होनेपर बताया गया है। और परस्मैपदेषु यह उस शित् प्रत्ययका विशेषण है।

(वा. १३) 'न लुमता तस्मिन्' यह सूत्र किया तो हन्, इण् और इङ् धातुओंके बताये हुए जो आदेश हैं वे 'त' प्रत्ययका लोप होनेपर सिद्ध नहीं होंगे, उदा० अवधि भवता दस्युः, अगायि भवता ग्रामः, अध्यगायि भवतानुवाकः। अवधि, अगायि, अध्यगायि, इन क्रियाओंमें त प्रत्ययका लोप (६।४।१०४) होनेपर वहाँ लुङि च (२।४।४३) इणो गा लुङि (२।४।४५), विभाषा लुङ्लृङोः (२।४।५०) इन सूत्रोंसे लुङ्प्रत्यय आगे होनेपर हन्, इण्, और इङ् इन धातुओंको बताये हुए जो वध, गा और गाङ् आदेश ह वे लुङ्प्रत्ययको प्रत्ययलक्षण न होनेके कारण नहीं होंगे।

यह दोष नहीं आता। क्योंकि ये हन्, इण् और इङ् के आदेश लुङ् प्रत्यय आगे होनेपर बताये ही नहीं गये है, तो आर्धधातुक प्रत्यय आगे होनेपर बताये गये हैं, और 'लुङि' यह उस 'आर्धधातुके' का विशेषण है।

तो भी, 'न लुमता तस्मिन्' ऐसा सूत्र किया तो सर्वस्तोमः, सर्वपृष्ठः में प्रत्ययलक्षणका निषेध होनेसे 'सुप् आगे है' ऐसा नहीं माना जा सकता इसीलिए 'सर्वस्य सुपि' (६।१।१९१) से आदि उदात्त नहीं होगा यह दोष आता ही है। इसके अतिरिक्त 'न लुमता' ऐसा कहना चाहिए। इसी लिए सूत्र बदलना होगा।

वैसा कहने की आवश्यकता नहीं। 'न लुमताङ्गस्य' ही रहने दीजिये। उसीसे सब सिद्ध होगा।

सो कैसे?

प्रतिनिर्दिश्यते । किं तर्हि । यो ऽसौ लुमता लुप्यते तस्मिन्यदङ्गं तस्य यत्कार्यं तत्र भवति । एवमपि सर्वस्वरो न सिध्यति । कर्तव्यो ऽत्र यत्नः ॥

[अचोन्त्यादि टि ॥ १।१।६४ ॥]

अलो ऽन्त्यात्पूर्व उपधा ॥ १ । १ । ६५ ॥

किमिदमल्ग्रहणमन्त्यविशेषणम् । एवं भवितुमर्हति ।

उपधासंज्ञायामल्ग्रहणमन्त्यनिर्देशश्चेत्संघातप्रतिषेधः ॥ १ ॥

उपधासंज्ञायामल्ग्रहणमन्त्यनिर्देशश्चेत्संघातस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः । संघातस्योपधासंज्ञा प्राप्नोति । तत्र को दोषः । शास इदङ्हलोः [६.४.३४] शिष्टः शिष्टः । संघातस्येत्त्वं प्राप्नोति ॥ यदि पुनरलन्त्यादित्युच्येत । एवमप्यन्त्यो

सो ऐसे कि प्रकृतसूत्रमें 'अङ्गस्य' पद 'अङ्गस्य' अधिकारका दर्शक है ऐसा न माना जाय।

तो फिर इस सूत्रका अर्थ क्या?

'लुक् आदिसे जिस प्रत्ययका अदर्शन हुआ हो वह प्रत्यय आगे होनेपर जो अंग बनता है उस अंगको कार्य कर्तव्य होनेपर प्रत्ययलक्षण नहीं होता' ऐसा इस सूत्रका अर्थ है।

तो भी सर्वस्तोमः में 'सर्वस्य सुपि' से आदि उदात्त नहीं होगा यह दोष है ही। उस के लिए यत्न करना ही चाहिए। (अर्थात् वार्तिक करना चाहिए।)

(सू. ६४) [किसी भी शब्दस्वरूपके अचोंमें जो अन्त्य अच् है वह जिस शब्दसमुदायका आदि हो उसको 'टि' संज्ञा होती है। उस अन्त्य अच्के आगे एक भी वर्ण न हो तो उस अकेले अन्त्य अच्को ही 'टि' संज्ञा होती है। यह 'टि' उसी शब्दस्वरूपकी है ऐसा समझा जाय।]

(सू. ६५) किसी भी शब्दस्वरूपके अन्त्य वर्णके पूर्वका जो वर्ण है उसको उपधा संज्ञा होती है। वह उपधा उसी शब्दस्वरूपकी है ऐसा समझा जाय।

(सूत्र ६५) इस सूत्रमें 'अलः' यह क्या अंत्यका विशेषण माना जाय?

जी हाँ, वह अंत्यका विशेषण होने योग्य है।

(वा. १) इस उपधासंज्ञा बतानेवाले सूत्रमें अलः यह अंत्यका विशेषण हो तो उस अंत्य अल्के पहलेके वर्णसमुदायको उपधासंज्ञा नहीं होती है ऐसा कहना चाहिए। (नहीं तो अंत्य अल्के पहलेके एक ही अल्को उपधासंज्ञा होती है ऐसा नियम नहीं रहेगा।) और अलोंके समुदायको भी उपधासंज्ञा होने लगेगी।

वैसे समुदायको उपधासंज्ञा हुई तो दोष कौनसा?

दोष यह कि 'शास इदङ्हलोः' (६।४।३४) सूत्रसे शास् धातुकी उपधाको बताया हुआ इकार आदेश शिष्टात् शिष्टाम् इन उदाहरणोंमें आकारको ही होगा ऐसा नियम

ऽविशेषितो भवति । तत्र को दोषः। संघातादपि पूर्वस्योपधासंज्ञा प्रसज्येत । तत्र को दोषः । शास इदङ्हलोः । शिष्टः शिष्टवान् । शकारस्येत्त्वं प्रसज्येत । सूत्रं च भिद्यते ॥ यथान्यासमेवास्तु । ननु चोक्तमुपधासंज्ञायामल्ग्रहणमन्त्यनिर्देशश्चेत्संघातप्रतिषेध इति । नैष दोषः । अन्त्यविज्ञानात्सिद्धम् । सिद्धमेतत् । कथम् । अलोऽन्त्यस्य विधयो भवन्तीत्यन्त्यस्य भविष्यति ।

अन्त्यविज्ञानात्सिद्धमिति चेन्नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे ॥ २ ॥

अन्त्यविज्ञानात्सिद्धमिति चेत्तन्न । किं कारणम् । नानर्थके ऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे । अनर्थके ऽलोऽन्त्यविधिर्नेत्येषा परिभाषा कर्तव्या ।

नहीं रहेगा । शा समुदायको भी यह होने लगेगा ।

ठीक, अब अगर अल् ऐसा प्रथमाका एकवचन उच्चारण करके ' अलन्त्यात्० ' ऐसा सूत्र किया तो अंत्यके पहलेके अल्को ही उपधासंज्ञा होगी पर अंत्यका 'अलः' यह विशेषण नष्ट होगा ।

फिर वैसा हुआ तो दोष कौनसा है ?

दोष यह कि अल् ही अंत्य लिया जाय ऐसा नियम नहीं रहेगा और अलोंका समुदाय ही अंत्य मानकर उस समुदायके पहलेके अल्को उपधासंज्ञा होगी ।

वैसी समुदायके पहलेके अल्को उपधासंज्ञा हुई तो दोष कौनसा है ?

दोष यह कि ' शास इदङ्हलोः ' सूत्रसे शास् धातुकी उपधाको बताया हुआ इकार आदेश शिष्टः, शिष्टवान् में ' आस् ' समुदायके पहलेके शकारको होने लगेगा। इसके अलावा ' सूत्र बदलना पड़ता है ' यह दोष है ही ।

तो फिर मूल सूत्र ही जैसा है वैसा ही रहने दें ।

परंतु ' इस उपधासंज्ञा बतानेवाले सूत्रमें अलः यह अंत्यका विशेषण हो तो अंत्य अल्के पहलेके वर्णसमुदायको उपधासंज्ञा नहीं होती ऐसा कहना चाहिए ' ऐसा अभी बताया है न ?

वह दोष नहीं आता । क्योंकि, यह सिद्ध होता है । सो कैसे बताता हूँ। ' शा ' समुदायको यद्यपि उपधासंज्ञा हुई तो भी ' अलोन्त्यस्य ' (१।१।५२) याने ' अंत्य अल्को कार्य किये जायँ ' यह परिभाषा होनेके कारण ' शा ' मेंसे 'आ' कारको ही इकार आदेश होगा ।

(वा. २) ' अंत्य अल्को कार्य किये जायँ ' इस परिभाषासे सिद्ध होगा ऐसा कहें तो वैसा नहीं कह सकते ।

क्यों भला ?

' अंत्य अल् को कार्य किये जायँ यह बात अनर्थकको लागू न की जाय ' ऐसी परिभाषा करनी चाहिए इसलिए ।

किमविशेषेण । नेत्याह । अनभ्यासविकारे । अभ्यासविकारान्वर्जयित्वा । भृञामित् [७·४·७६] अर्तिपिपर्त्योश्च [७७] इति ॥ कान्येतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि ।

प्रयोजनमव्यक्तानुकरणस्यात इतौ ॥ ३ ॥

अत्यस्य प्राप्नोति । अनर्थकेऽलोऽन्त्यविधिर्न भवतीति न दोषो भवति ॥ नैतदस्ति प्रयोजनम् । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नान्त्यस्य पररूपं भवतीति यदयं नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा [६·१·९९] इत्याह ॥

ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च ॥ ४ ॥

ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च [६·४·११९] इत्यन्त्यस्य प्राप्नोति । अनर्थके

तो क्या, सर्वसाधारण सभी अर्थरहित बारेमें 'अंत्य अल्को कार्य किये जायँ' यह बात लागू नहीं करनी चाहिए ?

हम ऐसा नहीं कहते । तो 'अनभ्यासविकारे' याने अभ्यासको जो विकार बताये गये हैं उन्हें छोडकर; उदा० भृञामित् (७।४।७६), अर्तिपिपर्त्योश्च (७।४।७७) इन सूत्रोंसे अभ्यासको बताया हुआ इकार आदेश बिभर्ति, पिपर्ति, में भृ, पृ इस समग्र अभ्यासको न होते हुए, उनमेंसे अंत्य अल्को याने ऋकारको ही होता है ।

'नानर्थके०' यह परिभाषा करनी चाहिए ऐसा आप कहते है, उसके उपयोग तो कौनसे हैं ?

(वा. ३) 'अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ' (६।१।९८) सूत्रसे 'अत्' भागको बताया हुआ पररूप 'अलोन्त्यस्य' (१।१।५२) परिभाषासे अंत्यको अर्थात् तकारको प्राप्त[1] होता है । परंतु 'नानर्थके०' अर्थात् 'अनर्थकके बारेमें अलोन्त्यस्य यह परिभाषा नहीं आती' ऐसा कहनेसे दोष नहीं आता ।

यह उपयोग ठीक नहीं है । क्योंकि आचार्य पाणिनि 'नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा' (६।१।९९) सूत्रसे 'आम्रेडित स्थलमें अत् भागको पर रूप न करते हुए केवल उसमेंसे अंतिम तकारको विकल्पसे किया जाय' ऐसा कहते हैं । उससे वे यह सूचित करते हैं कि पूर्वसूत्रसे अंत्यको पररूप नहीं होता । (यदि पूर्वसूत्रसे अंत्यको पररूप होता हो तो आम्रेडित स्थलपर केवल विकल्प कहनेभरके लिए 'आम्रेडितस्य वा' इतना ही सूत्र किया गया होता ।)

---

१. 'पटत् इति' में 'अत्' और 'इ' को पररूप अर्थात् इकार एकादेश होकर 'पटिति' होता है । तकारको पररूप हुआ तो पिछले अकारके साथ, गुण होकर 'पटेति' यह विपरीत रूप होगा । इसलिए 'नानर्थके०' परिभाषाकी आवश्यकता है ।

ऽलो ऽन्त्यविधिर्नेति न दोषो भवति ॥ एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । पुनर्लोपवचनसामर्थ्यात्सर्वस्य भविष्यति ॥ अथवा शिल्लोपः करिष्यते स शित्सर्वस्येति सर्वादेशो भविष्यति । स तर्हि शकारः कर्तव्यः । न कर्तव्यः । क्रियते न्यास एव । द्विशकारको निर्देश । घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्चेति ॥

आपि लोपोऽकोऽनचि ॥ ५ ॥

तिष्ठति सूत्रम् । अन्यथा व्याख्यायते । आपि हलि लोप इत्यन्त्यस्य प्राप्नोति । अनर्थकेऽलोऽन्त्यविधिर्नेति न दोषो भवति ॥ एतदपि नास्ति

(वा० ४) 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' (६।४।११९) सूत्रसे बताया हुआ अभ्यासका लोप 'देहि' में 'दा' का होता है, वह 'अलोन्त्यस्य' परिभाषासे उसमेंसे अंत्यको याने केवल आकारको प्राप्त होता है। परंतु 'अनर्थक' के विषयमें अलोन्त्यस्य यह परिभाषा नहीं आती, ऐसा कहनेसे दोष नहीं आता।[२]

यह उपयोग भी ठीक नहीं है। क्योंकि 'लोपो यि' (६।४।११८) इस पिछले सूत्रमेंसे लोपशब्दकी अनुवृत्ति आनेपर भी पुन जो इस सूत्रमें लोपशब्द उच्चारा गया है वह सब अभ्यासका लोप होनेके लिए उच्चारा गया है। अत वह लोप अंत्यका नहीं होगा। अथवा इस लोपादेशको इत्संज्ञक शकार जोडनेपर तो 'शित्सर्वस्य' (१।१।५५) परिभाषासे सब अभ्यासका होगा।

तो फिर सूत्रमें लोपादेशके आगे शकार उच्चारना चाहिए।

खासकर अलग उच्चारनेकी आवश्यकता नहीं है। पाणिनिने वैसा ही सूत्र किया है। अर्थात् 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्श्च' ये दो शकार उच्चारे गये है ऐसा समझा जाय।

(वा० ५) 'हलि लोप.' (७।२।११३) यह सूत्र जैसा है वैसा ही है। यहाँ वार्तिककारोंने उसका केवल एक विशेष प्रकारका अर्थ बताया है। तृतीयासे आगे हलादि प्रत्यय आगे होनेपर जो इदम् शब्दके इद भागका आभ्याम् आदि उदाहरणोंमें लोप होता है वह 'अलोन्त्यस्य' परिभाषासे उसमेंसे अंत्यको याने केवल दकारको प्राप्त होता है। परतु 'अनर्थकके विषयमें अलोन्त्यस्य यह परिभाषा नहीं आती' ऐसा कहनेसे दोष नहीं आता।

यह उपयोग भी ठीक नहीं है। क्योंकि उस इद को अन् आदेश (७।२।११२)

२ कारण यह कि, केवल अभ्यास निरर्थक है।

३. 'नानर्थके०' परिभाषाके उपयोग दिखाते समय वार्तिककारोंने 'अभ्यस्तानुकरण स्यात इतौ', 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' सूत्रोंका जैसा उल्लेख किया है वैसा यहाँ 'हलि लोप' सूत्रका उल्लेख न करके उसके स्थानमें 'आपि लोपोऽकोऽनचि' ऐसा उल्लेख किया है। उससे 'हलि लोप' का प्रत्याख्यान करके उसके स्थानमें 'आपि' 'लोपोऽकोऽनचि' यह किया जाय ऐसा वार्तिककारोंका अभिप्राय है ऐसा कोइ समझेंगे इसलिए भाष्यकारोंने यह स्पष्टीकरण किया है।

प्रयोजनम् । अन एव लोपं वक्ष्यामि । तदनो ग्रहणं कर्तव्यम् । न कर्तव्यम् । प्रकृतमनुवर्तते । क्व प्रकृतम् । अनाप्यकः [७·२·११२] इति । तद्वै प्रथमानिर्दिष्टं षष्ठीनिर्दिष्टेन चेहार्थः । हलीत्येषा सप्तम्यन्निति प्रथमायाः षष्ठीं प्रकल्पयिष्यति तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य [१·१·६६] इति ॥

अत्र लोपोऽभ्यासस्य ॥ ६ ॥

अत्र लोपोऽभ्यासस्य [७·४·५८] इत्यन्त्यस्य प्राप्नोति । नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरिति न दोषो भवति ॥ एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । अत्रग्रहणसामर्थ्याद् भविष्यति ॥ अस्त्यन्यदत्रग्रहणस्य प्रयोजनम् । किम् । सन्नधिकारो ऽपेक्ष्यते । इह मा भूत् । दधौ ददौ । अन्तरेणाप्यत्रग्रहणं सन्नधिकारमपेक्षिष्यामहे ॥

करनेके बाद उस अन्का ही 'हलि लोपः' से लोप किया जा सकेगा।

तो फिर उस 'हलि लोपः' सूत्रमें 'अनः' ऐसा कहना चाहिए।

वैसा अलग कहनेकी आवश्यकता नहीं। क्योंकि पीछेसे अनुवृत्ति आती है।

पीछेसे याने किस सूत्रसे?

'अनाप्यकः' (७।२।११२) से।

परंतु वहाँ अन् पद प्रथमाविभक्ति लगाकर उच्चारा गया है। और यहाँ तो षष्ठीविभक्ति लगाकर उच्चारे हुए 'अनः' पदकी आवश्यकता है।

'हलि लोपः' सूत्रमें 'हलि' ऐसा सप्तम्यन्त पद उच्चारा गया है। अतः 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (१।१।६६) परिभाषाके कारण 'हलि' इस सप्तमी प्रत्ययके बलपर 'अन्' इस प्रथमाप्रत्ययके बदले 'अनः' ऐसी षष्ठीप्रत्ययकी कल्पना की जा सकेगी।

(वा. ६) 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) सूत्रद्वारा दित्सति आदि उदाहरणोंमें जो दा आदि अभ्यासोंका लोप होता है वह 'अलोन्त्यस्य' परिभाषासे उसके अंत्योंको अर्थात् केवल आकार आदिको प्राप्त होता है। परंतु 'अनर्थकके बारेमें अलोन्त्यस्य यह परिभाषा नहीं आती' ऐसा कहनेसे दोष नहीं आता।

यह उपयोग भी ठीक नहीं है। क्योंकि 'अत्र' यह जो उस सूत्रमें जानबूझकर अधिक शब्द रखा गया है, उसके बलपर वहाँ सब अभ्यासका लोप होगा।

परंतु वहाँ 'अत्र' शब्दका उपयोग अलग ही है।

सो कौनसा?

'अत्र' शब्दसे 'सनि मीमा०' (७।४।५४) मेंसे सन् प्रत्ययका परामर्श होता है। ददौ, दधौ, आदि स्थानोंपर अभ्यासका लोप नहीं होना चाहिए इसलिए उसकी आवश्यकता है।

परंतु उसके लिए अत्र शब्द रखनेकी आवश्यकता नहीं है। उसके बिना ही 'सनि' पदकी अनुवृत्ति यहाँ की जा सकेगी।

संस्तर्हिं सकारादिरपेक्ष्यते सनि सकारादाविति। इह मा भूत्। जिज्ञापयिषति। अन्तरेणाप्यत्रग्रहणं सनं सकारादिमपेक्षिष्यामहे॥ प्रकृतयस्तर्ह्यपेक्ष्यन्ते। एतासां प्रकृतीनां लोपो यथा स्यात्। इह मा भूत्। पिपक्षति यियक्षति। अन्तरेणाप्यत्रग्रहणमेताः प्रकृतीरपेक्षिष्यामहे॥ विषयस्तर्ह्यपेक्ष्यते। मुचोऽकर्मकस्य गुणो वा [७·४·५७] इति। इह मा भूत्। मुमुक्षति गामिति। अन्तरेणाप्यत्रग्रहणमेतं विषयमपेक्षिष्यामहे। कथम्। अकर्मकस्येत्युच्यते। तेन यत्रैवायं मुचिरकर्मकस्तत्रैव भविष्यति॥ तस्मान्नार्थो ऽनया परिभाषया नानर्थके ऽलोऽन्त्यविधिरिति॥

तो फिर वह सन् प्रत्यय सकारादि चाहिए याने सकारादि सन् प्रत्यय आगे होनेपर ही अभ्यासका लोप होता है; उसके कारण जिज्ञापयिषति में अभ्यासका लोप नहीं होता। अतः 'सः स्यार्ध०' (७।४।४९) मेंसे 'सि' पदका परामर्श होनेके लिए 'अत्र' शब्द यहाँ रखा जाना चाहिए।

परंतु उसके लिए अत्र शब्द यहाँ नहीं रखा गया तो भी वहाँसे 'सि' पदकी अनुवृत्ति यहाँ की जा सकेगी।

तो फिर 'सनि मीमा०' आदि सूत्रोंमें जो धातु उच्चारे गये हैं उनका परामर्श यहाँ 'अत्र' शब्दसे किया जाता है। मी, मा आदि धातुओंके ही अभ्यासका लोप होना चाहिए। पिपक्षति यियक्षति आदि स्थानोंपर अभ्यासका लोप नहीं होना चाहिए।

परंतु अत्र शब्द के बिना भी मी, मा, आदि धातुओंकी अनुवृत्ति यहाँ की जा सकेगी।

तो फिर 'सनि मीमा०' आदि सूत्रोंसे जो कार्य बताये गये हैं उनका परामर्श होनेके लिए 'अत्र' शब्द यहाँ रखना चाहिए। क्योंकि 'मुचोऽकर्मकस्य गुणो वा' (७।४।५७) से बताया हुआ गुण 'मुमुक्षति गाम्' में नहीं होता है। वहाँ यह अभ्यासका लोप नहीं होना चाहिए।

परंतु 'अत्र' शब्द नहीं रखा गया तो भी उस कार्यका परामर्श होगा।

सो कैसे?

सो ऐसे कि 'मुचोऽकर्मकस्य०' सूत्रमें 'अकर्मकस्य' ऐसा मुच् धातुको विशेषण लगाया गया है। अतः वैसी ही मुच् धातुकी यहाँ अनुवृत्ति करनेपर जिस प्रयोगमें मुच् धातु अकर्मक होगा वहीं इससे अभ्यासका लोप होगा।

तात्पर्य, 'नानर्थकेऽलोन्त्यविधिः' याने अनर्थकके बारेमें 'अलोन्त्यस्य' सूत्र न लिया जाय इस परिभाषाका कोई उपयोग नहीं है ऐसा दिखाई देता है।

---

४. तत्र 'नानर्थके०' यह परिभाषा न होनेसे 'शा' समुदायको उपधासंज्ञा हुई तो भी 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्त्यको अर्थात् आकारको ही इकार आदेश होके इष्टसिद्धि होगी। अतः 'अल्' को ही उपधासंज्ञा होती है ऐसा कहना ही चाहिये सो बात नहीं।

अलो ऽन्त्यात्पूर्वो ऽलुपधेति वा ॥ ७ ॥

अथवा व्यक्तमेव पठितव्यमलो ऽन्त्यात्पूर्वो ऽलुपधासंज्ञो भवतीति ॥ तत्तर्हि वक्तव्यम् । न वक्तव्यम् ।

अवचनाल्लोकविज्ञानात्सिद्धम् ॥ ८ ॥

अन्तरेणापि वचनं लोकविज्ञानात्सिद्धमेतत् । तद्यथा । लोके ऽमीषां ब्राह्मणानामन्त्यात्पूर्व आनीयतामित्युक्ते यथाजातीयको ऽन्त्यस्तथाजातीयको ऽन्त्यात्पूर्व आनीयते ॥

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ॥ १ । १ । ६६ ॥

तस्मादित्युत्तरस्य ॥ १ । १ । ६७ ॥

किमुदाहरणम् । इह तावत्तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येति । इको यणचि

(वा. ७) अथवा अन्त्य अल्के पहलेका जो अल् है उसे उपधासंज्ञा होती है ऐसा स्पष्ट ही कहा जाय । (अर्थात् 'शा' समुदायको उपधासंज्ञा ही नहीं होगी । केवल आकारको ही होगी ।)

तो फिर साफ़ साफ समझनेके लिए क्या 'अल्' शब्द अधिक रखकर वैसा सूत्र किया जाना चाहिए ?

वैसा करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

(वा. ८) 'अल्' यह प्रथमान्त शब्द रखे बिना भी यह सिद्ध होता है । जिस प्रकार लोकमें 'इन ब्राह्मणोंमेंसे अंतिमसे पहलेको लाओ' ऐसा कहनेपर वहाँ 'अंतिम' शब्दसे जो जैसा लिया जायगा वैसा ही उसके पहलेको लाया जाता है (उसके अनुसार यहाँ अंत्य अल्की अपेक्षा पहलेको उपधासंज्ञा होती है इतना कहें तो भी वह अंत्य अल्के पहलेका अल् ही लिया जायगा ।)

(सू. ६६) अचि (६।१।७७) इत्यादिक सप्तम्यन्त पदोंका उच्चारण करके 'इक्' आदिको कहे हुए जो 'यण्' आदि आदेश हैं ये 'इक्' आदि स्थानोंपर उस 'अच्' आदिके पूर्वके हों तभी और अव्यवहित अर्थात् 'अच्' आदिके अत्यन्त समीप हों तभी किये जायें ।

(सू. ६७) 'अतः' (६।१।११३) इत्यादि पंचम्यन्त पदोंका उच्चारण करके 'रु' आदि को कहे हुए जो 'उकार' आदि आदेश हैं वे 'रु' आदि स्थानोंपर उस ह्रस्व अकार आदि के आगे हों तभी और अव्यवहित अर्थात् उस ह्रस्व आकार आदि के अत्यन्त समीप हो तभी किये जायें ।

इन परिभाषाओंके उदाहरण कौनसे हैं ?

'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' इस परिभाषाका उदाहरण 'इको यणचि' दीजिए । दध्यत्र, मध्वत्र में 'इको यणचि' (६।१।७७) से बताया हुआ यण्

[६·१·७७] दध्यत्र मध्वत्र । इह तस्मादित्युत्तरस्येति । द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् [६·३·९७] द्वीपम् अन्तरीपम् समीपम् ॥ अन्यथाजातीयकेन शब्देन निर्देशः क्रियतेऽन्यथाजातीयक उदाह्रियते । किं तर्ह्युदाहरणम् । इह तावत्तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येति तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ [४·३·२] इति । तस्मादित्युत्तरस्येति तस्माच्छसो नः पुंसि [६·१·१०३] इति ॥ इदं चाप्युदाहरणमिको यणचि द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईदिति । कथम् । सर्वनाम्नायं निर्देशः क्रियते सर्वनाम च सामान्यवाचि । तत्र सामान्ये निर्दिष्टे विशेषा अप्युदाहरणानि भवन्ति ॥ किं पुनः सामान्यं को वा विशेषः । गौः सामान्यं कृष्णो विशेषः । न तर्हीदानीं

आदेश तस्मिन्निति परिभाषासे अच्के पीछेके और अव्यवहित इक्को ही होता है। वैसे ही 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषाका उदाहरण 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' (६।३।९७) लीजिए। द्वीपम्, अन्तरीपम्, समीपम् में 'द्व्यन्तरुप०' से बताया गया ईकार आदेश 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषासे द्वि आदिके आगेके और अव्यवहित ऐसे ही अप्शब्दके अकारको होता है।

लेकिन क्यों जी, इन परिभाषाओंमें तो 'तस्मिन्', 'तस्मात्' ऐसा अलग ही प्रकारका उच्चारण किया दिखाई देता है और उदाहरणके रूपमें जो सूत्र दिखाये गये हैं वे अलग ही प्रकारके दिखाई देते हैं। (अर्थात् उन सूत्रोंमें तस्मिन्, तस्मात् ऐसा कुछ भी दिखाई नहीं देता।)

तो फिर इन परिभाषाओंके उदाहरण कौनसे दिये जायँ भला?

'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' परिभाषाका उदाहरण 'तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ' (४।३।२) लिया जाय और 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषाका उदाहरण 'तस्माच्छसो नः पुंसि' (६।१।१०३) लिया जाय।

ये उदाहरण रहने दीजिए, पर हमने 'इको यणचि,' 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्, ये जो उदाहरण दिखाये हैं वे भी इन परिभाषाओंके हैं ही।

सो कैसे?

इन सूत्रोंमें तस्मिन्, तस्मात्, यह सर्वनाम शब्दसे निर्देश किया गया है। सर्वनामशब्द तो सामान्य अर्थको दिखानेवाला होता है। अतः उस सर्वनामशब्दसे साधारणतया सप्तम्यन्त शब्दका बोध होनेपर अचि, हलि, तस्मिन् आदि सभी सप्तम्यन्त विशेष शब्द इन परिभाषाओंके उदाहरण हैं।

पर पहले सामान्य कौनसा और विशेष कौनसा, सो बताइये भला।

बैल सामान्य है और काला उसमेंसे विशेष है।

तो फिर क्या अब काला सामान्य और बैल विशेष नहीं होगा न?

कृष्णः सामान्यं भवति गौर्विशेषो भवति। भवति च। यदि तर्हि सामान्यमपि विशेषो विशेषो ऽपि सामान्यं सामान्यविशेषौ न प्रकल्पेते। प्रकल्पेते च। कथम्। विवक्षातः। यदास्य गौः सामान्येन विवक्षितो भवति कृष्णो विशेषत्वेन तदा गौः सामान्य कृष्णो विशेषः। यदा कृष्णः सामान्येन विवक्षितो भवति गौर्विशेषत्वेन विवक्षितस्तदा कृष्णः सामान्यं गौर्विशेषः॥ अपर आह। प्रकल्पेते च। कथम्। पितापुत्रवत्। तद्यथा। स एव कंचित्प्रति पिता भवति कंचित्प्रति पुत्रो भवति। एवमिहापि स एव कंचित्प्रति सामान्यं कंचित्प्रति विशेषः॥ एते खल्वपि नैर्देशिकानां वार्त्ततरका भवन्ति ये सर्वनाम्ना निर्देशाः

वैसे भी होगा[1]।

तो फिर अब सामान्य भी विशेष होता है, विशेष भी सामान्य होता है, अगर यही स्थिति है तो अमुक सामान्य और अमुक विशेष कहनेमें भी तो क्या मतलब है ?

मतलब अवश्य है।

सो कैसे ?

विवक्षासे, याने देखनेवालेकी जैसी दृष्टि होगी वैसा ही वह बोला करता है। जब मनुष्यको दूरसे 'बैल' ऐसा आरंभमें सामान्यज्ञान हुआ और बादमें उसमेंसे काला विशेष माना गया, तब 'बैल' सामान्य और 'काला' विशेष समझा जाता है। और जब काला-सा कोई पदार्थ है ऐसा आरंभमें सामान्यज्ञान हुआ, बादमें वह 'बैल' यह विशेष समझा गया, तब काला सामान्य और बैल उसमेंसे विशेष माना जाता है। (तब 'तस्मिन्' इस सप्तम्यन्त शब्दका सामान्य रूपसे निर्देश किया है। यह कहना ठीक ही है।)

यहाँ कोई अलग प्रकारसे उत्तर देता है—

अमुक सामान्य और अमुक विशेष कहनेका अर्थ होता है।

सो कैसे ?

पितापुत्रकी तरह। जैसे लोकमें एक ही मनुष्य किसी न किसीका पिता और वही किसी न किसीका पुत्र भी होता है, उसी प्रकार यहाँ भी वह एक ही पदार्थ किसी न किसीका सामान्य होता है और किसीका विशेष होता है। (अतः 'तस्मिन्' में सभी सप्तम्यन्त शब्दोंका साधारण रूपसे निर्देश किया है ऐसा कहा जा सकता है।) इसके सिवा सचमुच ये जो सर्वनामशब्दोंसे निर्देश किये होते हैं वे अन्य निर्देशकी अपेक्षा बहुत ही उपयुक्त होते हैं। क्योंकि सर्वनामशब्दोंके अर्थकी व्याप्ति बहुत बडी

---

[1] कृष्णवर्णका कोई भी पशु लिया गया तो 'कृष्ण' को सामान्य कहा जा सकता है।

क्रियन्ते । एतर्हि बहुतरकं व्याप्यते ॥ अथ किमर्थमुपसर्गेण निर्देशः क्रियते । शब्दे सप्तम्या निर्दिष्टे पूर्वस्य कार्यं यथा स्यादर्थे मा भूत्। जनपदे अतिशायने इति। किं गतमेतदुपसर्गेणाहोस्विच्छब्दाधिक्यादर्थाधिक्यम् । गतमित्याह । कथम् । निरयं बहिर्भावे वर्तते । तद्यथा । निष्क्रान्तो देशान्निर्देशः । बहिर्देश इति गम्यते । शब्दश्च शब्दाद्बहिर्भूतो ऽर्थो ऽबहिर्भूतः ॥ अथ निर्दिष्टग्रहणं किमर्थम् ।

निर्दिष्टग्रहणमानन्तर्यार्थम् ॥ १ ॥

निर्दिष्टग्रहणं क्रियत आनन्तर्यार्थम् । आनन्तर्यमात्रे कार्यं यथा स्यात् । इको यणचि । दध्यत्र मध्वत्र । इह मा भूत् । समिधौ समिधः दृषदौ दृषदः ॥

होती है ।

अब इस सूत्रमें निर् उपसर्ग लगाकर दिष्ट शब्दका जो निर्देश किया गया है सो किसलिए ?

इसलिए कि जिस स्थानपर सप्तम्यन्त पदसे शब्द दिखाया हो उस स्थानपर ही उस शब्दकी अपेक्षा पहलेको कार्य होना चाहिए । अगर एकाध वस्तु सप्तम्यन्तपदसे दिखाई गई हो, उदा० जनपदे (४।२।८१), अतिशायने (५।३।५५), तो वहाँ उस वस्तुके पहलेको कार्य किया जाय ऐसा बतानेवाली प्रकृत परिभाषा नहीं आनी चाहिए ।

लेकिन क्यों जी, यह इष्ट बात क्या निर् उपसर्गसे ठीक निकलती है ? या निर् शब्द अधिक हुआ इसी कारण कोई न कोई अधिक अर्थ लिया जाय ?

निर् उपसर्गसे यह इष्ट बात ठीक निकलती है ऐसा हम कहते हैं।

सो कैसे ?

सो ऐसे कि निर् उपसर्गका अर्थ 'बाहर जाना' ऐसा है; जैसे देशसे निकले हुएको 'निर्देश' कहते हैं, याने वह उस देशसे बाहर गया है ऐसा माना जाता है। और इस शब्दशास्त्रमें यण्, गुण, आदि कार्योंका उद्देश्य शब्द ही है। सप्तम्यन्त पदसे जो दिखाया गया हो उसे उस शब्दरूप उद्देश्यसे बाहर निकालना शब्दमें ही संभव है । क्योंकि, यह हमेशा शब्दके बाहर नहीं हुआ करता, शब्दको लेकर ही रहता है ।

किमर्थं पुनरिदमुच्यते ।

तस्मिंस्तस्मादिति पूर्वोत्तरयोर्योगयोरविशेषान्नियमार्थं वचनं दध्युदकं पचत्योदनम् ॥ २ ॥

तस्मिंस्तस्मादिति पूर्वोत्तरयोर्योगयोरविशेषान्नियमार्थोऽयमारम्भः । ग्रामे देवदत्तः । पूर्वः पर इति संदेहः । ग्रामाद्देवदत्तः । पूर्वः पर इति संदेहः । एवमिहापीको यणचि । दध्युदकं पचत्योदनम् । उभाविकावुभावचौ । अचि पूर्वस्याचि परस्येति संदेहः तिङतिङः [८·१·२८] इत्यतिङः पूर्वस्यातिङः परस्येति संदेहः । इष्यते चात्राचि पूर्वस्य स्यादतिङः परस्येति तच्चान्तरेण यत्नं

फिर भी 'निर्दिष्टे' किस लिए कहा गया है?

(वा. १) इस सूत्रमें 'निर्दिष्टे' ऐसा जो शब्द रखा है वह आनन्तर्य अर्थका है याने अंतर न हो वहीं कार्य होना चाहिए। 'इको यणचि' (६।१।७७) से बताया गया यण् आदेश, अच् और इक् इन दोनोंमें अंतर न हो वहीं, याने दध्यत्र, मध्वत्र ऐसे स्थानोंपर ही होना चाहिए। समिधौ, समिधः में इकारको दृषदौ, दृषदः में ऋकारको नहीं होना चाहिए।

परंतु यह सूत्र करनेमें आचार्यका मूल उद्देश्य क्या होगा भला?

(वा. २) सप्तम्यन्त पदसे और पंचम्यन्त पदसे दिखाये हुए निमित्तका जो सप्तमी प्रत्ययसे और पंचमी प्रत्ययसे उद्देश्यसे संबंध दिखाया जाता है उस संबंधमें उद्देश्य पहले और निमित्त बादमें वैसे ही उद्देश्य बादमें और निमित्त पहले, इन दोनों स्थानोंमें कोई फर्क नहीं दिखाई देता। अतः उस संबंधके कारण होनेवाले कार्य दोनों स्थानोंपर होने लगेंगे। इसी लिए नियमके लिए दो परिभाषाएं की गई हैं। जैसे 'ग्रामे देवदत्तः' कहनेपर पूर्व या पर ऐसा संदेह पैदा होता है, वैसे ही 'ग्रामाद्देवदत्तः' कहनेपर भी पूर्व या पर ऐसा संदेह पैदा होता है; वैसा शास्त्रमें भी अच्से संबंध पानेवाले इक्को यण् होता है ऐसा (६।१।७७) कहा गया है। अतः दध्युदकम्, पचत्योदनम्, में दोनों इक् हैं। और दोनों अच् हैं। उनमेंसे अच्की अपेक्षा पहलेके इक्को यण् किया जाय, ऐसी शंका होती है। वैसे ही तिङन्तभिन्नपदसे संबंध तिङन्त पदको अनुदात्त होता है (८।१।२८) ऐसा कहा गया है। यहाँ तिङन्तभिन्नपदकी अपेक्षा पहलेके तिङन्तपदको अनुदात्त किया जाय, अथवा तिङन्त भिन्न पदकी अपेक्षा पर तिङन्त पदको अनुदात्त किया जाय ऐसा संदेह होता है। और इष्ट तो यह है कि 'अचि' ऐसा सप्तम्यन्त पदसे निमित्तका निर्देश किया हो तो उसकी अपेक्षा पहलेके इक्को ही यण् होना चाहिए। वैसे ही 'अतिङः' ऐसा पंचम्यन्तपदसे निमित्तका निर्देश किया जानेपर उस अतिङन्त पदको पर होनेवाले तिङन्त पदको अनुदात्त होना चाहिए। और यह इष्ट बात तो उसके लिए कोई न कोई विशेष वचन किये बिना

न सिध्यतीति नियमार्थं वचनम्। एवमर्थमिदमुच्यते ॥ अस्ति प्रयोजनमेतत्। किं तर्हीति। अथ यत्रोभयं निर्दिश्यते किं तत्र पूर्वस्य कार्यं भवत्याहोस्वित्परस्येति ॥

उभयनिर्देशे विप्रतिषेधात्पञ्चमीनिर्देशः ॥ ३ ॥

उभयनिर्देशे विप्रतिषेधात्पञ्चमीनिर्देशो भविष्यति ॥ किं प्रयोजनम्।

प्रयोजनमतो लसार्वधातुकानुदात्तत्वे ॥ ४ ॥

वक्ष्यति तास्यादिभ्यो ऽनुदात्तत्वे सप्तमीनिर्देशो ऽभ्यस्तसिजर्थ इति। तस्मिन् क्रियमाणे तास्यादिभ्यः परस्य लसार्वधातुकस्य लसार्वधातुके परतस्तास्यादीनामिति संदेहः। तास्यादिभ्यः परस्य लसार्वधातुकस्य ॥

बहोरिष्ठादीनामादिलोपे ॥ ५ ॥

बहोरुत्तरेषामिष्ठेमेयसामिष्ठेमेयःसु परतो बहोरिति संदेहः। बहोरुत्तरेषा-

---

सिद्ध न ीं होगी, इसीलिए वैसा नियम होनेके लिए वचन करना चाहिए, एसे उद्देश्यसे ये दोनों परिभाषाएँ की गयी हैं।

यह उपयोग है सही पर—

पर क्या? आपको आगे कहना ही क्या है।

कहना यही है कि जिस एक ही सूत्रमें पचम्यन्त और सप्तम्यन्त ऐसे दो प्रकारके पद दिखाई देते हैं वहाँ सप्तम्यन्तनिमित्त मानकर पचम्यन्तपदसे दिखाये हुए वर्णको या वर्णसमुदायको कार्य किया जाय, या पचम्यत निमित्त मानकर सप्तम्यन्तपदसे दिखाये हुए वर्णको या वर्णसमुदायको कार्य किया जाय।

(वा. ३) पचमी और सप्तमी ऐसे दोनों प्रकारके प्रत्ययोंसे निमित्तरूप निर्देश जिस स्थानपर किया हो वहाँ विप्रतिषेधके कारण (१।४।२) पचमीनिर्देश प्रबल माना जाय।

इसका उपयोग क्या है?

(वा. ४) 'तास्यनुदात्तेत्०' (६।१।१८६) सूत्रपर वार्तिककार 'तास्यादिभ्यो-नुदात्तत्वे सप्तमीनिर्देशोऽभ्यस्तसिजर्थ.' (वा. १) ऐसा बतानेवाले हैं। उसके अनुसार उस सूत्रमें 'लसार्वधातुकम्' ऐसा जो प्रथमान्तपद है उसके बदले 'लसार्वधातुके' ऐसा सप्तम्यन्तपद उच्चारा जानेपर 'तासि आदिके आगे जो लसार्वधातुक है उसे अनुदात्त होता है' ऐसा अर्थ किया जाय, अथवा 'लसार्वधातुक आगे होनेपर तासि आदिको अनुदात्त होता है' ऐसा अर्थ किया जाय, यह संदेह पैदा होता है। परन्तु पचमी-निर्देश प्रबल समझनेके कारण 'तासि आदिके आगे जो लसार्वधातुक है उसे अनुदात्त होता है' यही अर्थ निश्चित होता है।

मिष्टेमेयसाम् ॥

गोतो णित् ॥ ६ ॥

गोतः परस्य सर्वनामस्थानस्य सर्वनामस्थाने परतो गोत इति संदेहः । गोतः परस्य सर्वनामस्थानस्य ॥

रुदादिभ्यः सार्वधातुके ॥ ७ ॥

रुदादिभ्यः परस्य सार्वधातुकस्य सार्वधातुके परतो रुदादीनामिति संदेहः रुदादिभ्यः परस्य सार्वधातुकस्य ॥

आने मुगीदासः ॥ ८ ॥

आस उत्तरस्यानस्याने परत आस इति संदेहः । आस उत्तरस्यानस्य ॥

'बहुशब्दके आगे जो इष्ठन्, इमनिच् और ईयसुन् प्रत्यय हैं उनका लोप होता है।' ऐसा अर्थ किया जाय, या 'इष्ठन्, इमनिच् और ईयसुन् प्रत्यय आगे होनेपर बहुशब्दका लोप होता है' ऐसा अर्थ किया जाय, ऐसा संदेह पैदा होता है। परंतु पंचमीनिर्देश प्रबल समझनेके कारण 'बहुशब्दके आगे जो इष्ठन्, इमनिच् और ईयसुन् प्रत्यय है उनका लोप होता है' यही अर्थ निश्चित होता है।

(वा. ६) 'गोतो णित्' (७।१।९०) सूत्रमें 'गोतः' यह पंचम्यन्तपद है 'सर्वनामस्थाने' यह सतम्यन्तपद पीछेसे (७।१।८६) अनुवृत्त होता है। अतः 'गोशब्दके आगे जो सर्वनामस्थान प्रत्यय है उसे णिद्वद्भाव होता है।' ऐसा अर्थ किया जाय, अथवा 'सर्वनामस्थान प्रत्यय आगे होनेपर गोशब्दको णिद्वद्भाव होता है' ऐसा अर्थ किया जाय, यह संदेह होता है। परंतु पंचमीनिर्देश प्रबल समझनेके कारण 'गोशब्दके आगे जो सर्वनामस्थान प्रत्यय है उसे णिद्वद्भाव होता है' ऐसा ही अर्थ निश्चित होता है।

(वा. ७) रुदादिभ्यः (७।२।७६) में 'रुद्' आदि धातुओंके आगे जो सार्वधातुक प्रत्यय है उसे इट् आगम होता है ऐसा अर्थ किया जाय, अथवा 'सार्वधातुक प्रत्यय आगे होनेपर रुद् आदि धातुओंको इट् आगम होता है।' ऐसा अर्थ किया जाय, यह संदेह होता है। परंतु पंचमीनिर्देश प्रबल समझनेके कारण 'रुद् आदि धातुओंके आगे जो सार्वधातुक प्रत्यय है उसे इट् आगम होता है' यही अर्थ निश्चित होता है।

(वा. ८) 'ईदासः' (७।२।८३) में 'आसः' यह पंचम्यन्तपद है। 'आने मुक्' (७।२।८२) से 'आने' यह सप्तम्यन्तपद अनुवृत्त होता है। अतः 'आस् धातुके आगे जो आन् प्रत्यय है उसे ईकार आदेश होता है' ऐसा अर्थ लिया जाय या 'आन प्रत्यय आगे होनेपर आस् धातुको ईकार आदेश होता है' ऐसा अर्थ किया जाय, यह संदेह होता है। परंतु पंचमीनिर्देश प्रबल समझनेके कारण 'आस् धातुके आगे जो आन प्रत्यय है उसे ईकार आदेश होता है' ऐसा ही अर्थ निश्चित होता है।

आमि सर्वनाम्नः सुट् ॥ ९ ॥

सर्वनाम्न उत्तरस्याम आमि परतः सर्वनाम्न इति संदेहः। सर्वनाम्न उत्तरस्यामः ॥

घेर्ङित्याण्नद्याः ॥ १० ॥

नद्या उत्तरेषां ङितां ङित्सु परतो नद्या इति संदेहः। नद्या उत्तरेषां ङिताम् ॥

याडापः ॥ ११ ॥

आप उत्तरस्य ङितो ङिति परत आप इति संदेहः। आप उत्तरस्य ङितः ॥

ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् ॥ १२ ॥

ङम उत्तरस्याचो ऽचि परतो ङम इति संदेहः। ङम उत्तरस्याचः ॥

(वा. ९) 'आमि सर्वनाम्नः' (७।१।७२) में 'शब्दके आगे जो आम् प्रत्यय है उसे सुट् आगम होता है।' ऐसा अर्थ किया जाय कि 'आम् प्रत्यय आगे होनेपर सर्वनामशब्दको सुट् आगम होता है' ऐसा अर्थ किया जाय, ऐसा संदेह पैदा होता है। परंतु पंचमीनिर्देश प्रबल माननेके कारण 'सर्वनामशब्दके आगे जो आम् प्रत्यय है उसे सुट् आगम होता है।' यही अर्थ निश्चित होता है।

(वा. १०) 'आण्नद्याः' (७।३।११२) में 'नद्याः' पंचम्यन्त पद है। 'घेर्ङिति' (७।३।१११) सूत्रसे 'ङिति' सप्तम्यन्तपद अनुवृत्त हो रहा है। अतः 'नदीसंज्ञक शब्दके आगे जो ङित् प्रत्यय है उसे आट् आगम होता है' ऐसा अर्थ किया जाय, अथवा 'ङित् प्रत्यय आगे होनेपर नदीसंज्ञक शब्दको आट् आगम होता है' ऐसा अर्थ किया जाय, ऐसा संदेह होता है। परंतु पंचमीनिर्देश प्रबल माननेके कारण नदीसंज्ञक शब्दके आगे जो ङित् प्रत्यय है उसे आट् आगम होता है।' यही अर्थ निश्चित होता है।

(वा. ११) 'याडापः' (७।३।११३) में 'आप्-' प्रत्ययान्त शब्दके आगे जो ङित् प्रत्यय है उसे याट् आगम होता है' ऐसा अर्थ किया जाय, या 'ङित् प्रत्यय आगे होनेपर आप्-प्रत्ययान्त शब्दको याट् आगम होता है' ऐसा अर्थ किया जाय, यही संदेह होता है। परंतु पंचमीनिर्देश प्रबल होनेके कारण 'आप्-प्रत्ययान्त शब्दके आगे जो ङित् प्रत्यय है उसे याट् आगम होता है' यही अर्थ निश्चित होता है।

(वा. १२) 'ङमो ह्रस्वादचि०' (८।३।३२) मेंसे 'ङम्के आगे जो अच् है उसे ङमुट् आगम होता है' ऐसा अर्थ किया जाय, 'या अच् आगे होनेपर ङम्को ङमुट् आगम होता है' ऐसा अर्थ किया जाय यह संदेह होता है। परतु पंचमीनिर्देश प्रबल होनेके कारण 'ङम्के आगे जो अच् है उसे ङमुट् आगम होता है' ऐसा ही अर्थ निश्चित होता है।

विभक्तिविशेषनिर्देशानवकाशत्वादविप्रतिषेधः ॥ १३ ॥

विभक्तिविशेषनिर्देशस्यानवकाशत्वादयुक्तो ऽयं विप्रतिषेधः। सर्वत्रैवात्र कृतसामर्थ्या समभ्यकृतसामर्थ्या पञ्चमीति कृत्वा पञ्चमीनिर्देशो भविष्यति ॥

यथार्थं वा षष्ठीनिर्देशः ॥ १४ ॥

यथार्थं वा षष्ठीनिर्देशः कर्तव्यः। यत्र पूर्वस्य कार्यमिष्यते तत्र पूर्वस्य षष्ठी कर्तव्या। यत्र परस्य कार्यमिष्यते तत्र परस्य षष्ठी कर्तव्या ॥ स तर्हि तथा निर्देशः कर्तव्यः। न कर्तव्यः। अनेनैव प्रक्लृप्तिर्भविष्यति। तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य

(वा. १३) विशेष प्रकारका विभक्तिप्रत्यय याने पचमीप्रत्यय उसके उच्चारणका उपयोग न होनेके कारण विप्रतिषेध मानना ठीक नहीं है। इन ऊपर दिखाये हुए सभी सूत्रोंमें सतम्यन्तपद सप्तमी प्रत्ययके अर्थसे उस सूत्रके अतिरिक्त अन्यत्र[4] काम आ रहा है, परंतु वैसा पंचम्यन्तपद केवल पंचमीके अर्थमें काम न आनेके कारण, पंचमीनिर्देश ही प्रबल किया जा सकेगा।

(वा १४) अथवा जिसे कार्य आवश्यक हो उस शब्दके उस अर्थका प्रत्यक्ष षष्ठीप्रत्यय ही उच्चारित किया जाय और जिस स्थानपर परको कार्य आवश्यक हो वहाँ सूत्रमें उस परको दिखानेवाला शब्द षष्ठीप्रत्यय लगाकर उच्चारित किया जाय (जिससे संदेह बिलकुल पैदा नहीं होगा।)

तो फिर सूत्रमें तत्तद् स्थानपर क्या षष्ठीप्रत्यय लगाना चाहिए?

वैसा लगानेकी आवश्यकता नहीं है। (मूल जो पाणिनिने पंचमीका या सप्तमीका प्रत्यय उच्चारित किया हो वही कायम रहने दीजिए।) केवल उन प्रत्ययोंके बदले षष्ठीप्रत्ययकी कल्पना प्रकृतसूत्रकी सहायतासे की जा सकेगी। अर्थात् इन सूत्रोंका मतलब यों है:—सतम्यन्तपदका निर्देश किया हो वहाँ पहलेके शब्दमें षष्ठीप्रत्ययकी कल्पना की जाय, वैसे ही पचम्यन्त पदका निर्देश किया हो वहाँ अगले शब्दमें षष्ठीप्रत्ययकी

---

४. 'ल सार्वधातुके' इस सप्तमीनिर्देशका सप्तमीके अर्थमें आगे 'आदि ञिचो॰' (६।१।१८७) में उपयोग होता है। तथा 'इष्ठेमेय सु' इस सप्तमीनिर्देशका 'तुरिष्ठेमेय सु' (६।४।१५४) में उपयोग होता है। 'सर्वनामस्थाने' इस सप्तमीनिर्देशका 'इतोत्सर्वनामस्थाने' (७।१।८६) में उपयोग होता है। 'सार्वधातुके' इस सप्तमीनिर्देशका आगे 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' (७।२।७९) में उपयोग होता है। 'आने' इस सप्तमीनिर्देशका 'आने मुक्' (७।२।८२) में उपयोग होता है। 'आपि' इस सप्तमीनिर्देशका 'जेश्रय' (७।१।७३) में उपयोग होता है। 'ञिति' इस सप्तमीनिर्देशका पीछे 'घोर्लोपो लेटि' (७।३।७०) में उपयोग है। 'अचि' सप्तमीनिर्देशका आगे 'मय उञो॰' (८।३।३३) में उपयोग होता है। किन्तु इन सभी स्थानोंपर पञ्चमीनिर्देशका उपयोग पञ्चमीके अर्थमें पीछे अथवा आगे कहीं संभवनीय नहीं। तब उपर्युक्त उदाहरणोंमें दोनोंकी तुल्यता न होनेसे परत्वके कारण बाध न होगा, अनवकाशके कारण बाध होगा।

षष्ठी । तस्मादित्युत्तरस्य षष्ठी ॥ तत्तर्हि षष्ठीग्रहणं कर्तव्यम् । न कर्तव्यम् । प्रकृतमनुवर्तते । क्व प्रकृतम् । षष्ठी स्थानेयोगा [१·१·४९] इति ॥

प्रकल्पकमिति चेन्नियमाभावः ॥ १५ ॥

प्रकल्पकमिति चेन्नियमस्याभावः । उक्तं चैतन्नियमार्थोऽयमारम्भ इति ॥ प्रत्ययविधौ खल्वपि पञ्चम्यः प्रकल्पिकाः स्युः। तत्र को दोषः । गुप्तिज्किद्भ्यः सन् [३·१·५] गुप्तिज्किद्भ्य इत्येषा पञ्चमी सन्निति प्रथमायाः षष्ठीं प्रकल्पयेत्तस्मादित्युत्तरस्येति । अस्तु । न कश्चिदन्य आदेशः प्रतिनिर्दिश्यते तत्रान्तर्यतः सनः सन्नेव भविष्यति । नैवं शक्यम् । इत्संज्ञा न प्रकल्पेत । उपदेश

कल्पना की जाय।

तो फिर वैसा अर्थ होनेके लिए सूत्रमें 'षष्ठी' शब्द क्या रखना चाहिए ?

'षष्ठी' शब्द रखनेकी आवश्यकता नहीं है। पीछेसे 'षष्ठी' शब्दकी अनुवृत्ति की जा सकेगी।

पीछे किस सूत्रमें 'षष्ठी' शब्द है ?

'षष्ठी स्थानेयोगा' (१।१।४९) सूत्रमें 'षष्ठी' शब्द है।

(वा. १५) 'षष्ठीप्रत्ययकी कल्पना करनेवाले ये सूत्र हैं' ऐसा माना जाय तो उस काममें ये सूत्र आनेके कारण नियम नहीं मान सकते। और 'ये सूत्र नियमके लिए किये गये हैं, अर्थात् सप्तम्यन्त पद उच्चारा गया हो वहीं पूर्वको ही कार्य किया जाय और पचम्यन्त पद उच्चारा गया हो वहीं परको ही कार्य किया जाय ऐसा नियम करनेके उद्देश्यसे ये सूत्र किये गये हैं' ऐसा अभी बताया गया है। इसके अलावा, षष्ठीप्रत्यय की कल्पना करनेवाले ये सूत्र हैं ऐसा माना जाय तो प्रत्ययका विधान किया हो वहाँ भी पचमीनिर्देशके बलपर उन सूत्रोंमें उस प्रत्ययके आगे षष्ठीप्रत्ययकी कल्पना आ सकेगी।

तो फिर वैसा होनेमें दोष क्या है ?

दोष यह कि 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' (३।१।५) सूत्रमें 'गुप्तिज्किद्भ्यः' इस पचमीनिर्देशके बलपर 'तस्मादित्युत्तरस्य' इस प्रकृत परिभाषासे 'सन्' इस प्रथमान्तपदके बदले 'सनः' ऐसी षष्ठ्यन्तपदकी कल्पना होगी।

वैसी कल्पना हुई तो होने दे। (गुप्, तिज् और कित् धातुओंके आगे जो सन् प्रत्यय है उसे आदेश होता है ऐसा अर्थ होगा। और) वहाँ अमुक आदेश होता है ऐसा दूसरा कोई आदेश बतानेके कारण 'स्थानेन्तरम.' (१।१।५०) परिभाषासे सन्को उससे अत्यंत सदृश सन् ही आदेश होगा।

ऐसा करना संभव नहीं है। क्योंकि इस कल्पित सन् आदेशके नकारकी इत्संज्ञा

इतीत्सञ्ज्ञोच्यते ॥

प्रकृतिविकारव्यवस्था च ॥ १६ ॥

प्रकृतिविकारयोश्च व्यवस्था न प्रकल्पते । इको यणचि । अचीत्येषा सप्तमी यणिति प्रथमायाः षष्ठीं प्रकल्पयेत्तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येति ॥

सप्तमीपञ्चम्योश्च भावादुभयत्र षष्ठीप्रक्लृप्तिस्तत्रोभयकार्यप्रसङ्गः ॥ १७ ॥

सप्तमीपञ्चम्योश्च भावादुभयत्रैव षष्ठी प्राप्नोति । तास्यादिभ्य इत्येषा पञ्चमी लसार्वधातुक इत्यस्याः सप्तम्याः षष्ठीं प्रकल्पयेत्तस्मादित्युत्तरस्येति । तथा लसार्वधातुक इत्येषा सप्तमी तास्यादिभ्य इति पञ्चम्याः षष्ठीं प्रकल्पयेत्तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येति । तत्र को दोषः । तत्रोभयकार्यप्रसङ्गः । उभयोः कार्यं तत्र प्राप्नोति ॥ नैष दोषः । यत्तावदुच्यते प्रकृत्यकमिति चेन्नियमाभाव इति सा भून्नियमः । सप्तमी-

---

नहीं होगी । आयोच्चारणके अंत्य हल्को इत्सञ्ज्ञा (१।३।३) बतायी गयी है ।

(वा १६) इसके सिवा आदेश बतानेवाले सूत्रमें स्थानी कौन और आदेश कौन यह व्यवस्था शक्य नहीं होगी । क्योंकि 'इको यणचि' (६।१।७७) स्थानपर 'अचि' इस सप्तमी निर्देशके बलपर 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' इस प्रकृत परिभाषासे 'यण्' इस प्रथमान्तपदके बदले 'यणः' ऐसे षष्ठ्यन्त पदकी कल्पना होगी । (अतः 'इकः' और 'यणः' ऐसे दोनों पद षष्ठ्यन्त होनेके कारण उसमेंसे कौन स्थानी और कौन आदेश यह मालूम नहीं होगा ।)

(वा. १७) इसके अलावा, जिस स्थानपर, सप्तम्यन्त और पचम्यन्त ऐसे दोनों प्रकारके पद हैं वहाँ परस्परके बलपर उन दोनोंं पदोंके बदले षष्ठ्यन्त पदोंकी कल्पना होगी । उदा०–'तास्यनुदात्तेन्०' (६।१।१८६) सूत्रमें 'तास्यनुदात्तेन्ङिद्दुपदेशात्' इस पचमीनिर्देशके बलपर 'तस्मादित्युत्तरस्य' इस प्रकृतपरिभाषासे 'लसार्वधातुके' इस सप्तम्यन्त पदके बदले 'लसार्वधातुकस्य' ऐसे षष्ठ्यन्त पदकी कल्पना होगी । वैसे ही 'लसार्वधातुके' इस सप्तमीनिर्देशके बलपर 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' इस प्रकृत परिभाषासे 'तास्यनुदात्तेन्ङिद्दुपदेशात्' इस पचम्यन्त पदके बदले 'तास्यनुदात्तेन्ङिद्दुपदेशस्य' इस षष्ठ्यन्त पदकी कल्पना होगी ।

वैसा होनेमें दोष कौनसा है ?

निर्दिष्टे पूर्वस्य षष्ठी प्रक्लृप्यते पञ्चमीनिर्दिष्टे परस्य। यावता सप्तमीनिर्दिष्टे पूर्वस्य षष्ठी प्रक्लृप्यत एवं पञ्चमीनिर्दिष्टे परस्य। नोत्सहते सप्तमीनिर्दिष्टे परस्य कार्यं भवितुं नापि पञ्चमीनिर्दिष्टे पूर्वस्य॥ यदप्युच्यते प्रत्ययविधौ खल्वपि पञ्चम्यः प्रक्लृप्तिकाः स्युरिति सन्तु प्रक्लृप्तिकाः। ननु चोक्तं गुप्तिज्किद्भ्यः सन्नित्येषा पञ्चमी सन्निति प्रथमायाः षष्ठीं प्रक्लृप्तयेत्तस्मादित्युत्तरस्येति। परिहृतमेतत्त्र कश्चिदन्य आदेशः प्रतिनिर्दिश्यते तत्रान्तर्यतः सनः सन्नेव भविष्यतीति। ननु चोक्तं नैवं शक्यमित्संज्ञा न प्रक्लृप्तेतोपदेश इतीत्संज्ञोच्यत इति। स्यादेष दोषो यदीत्संज्ञादेशं प्रतीक्षेत। तत्र खलु कृतायामित्संज्ञायां लोपे च कृत आदेशो भवि-

---

कहनेमें अर्थात् ही नियम सिद्ध होता है। देखिए, सप्तमीनिर्देश होगा वहाँ अगर षष्ठी-प्रत्ययकी कल्पना पूर्वको होगी तो वैसा सप्तमीनिर्देश होनेपर वहाँ परको कार्य होनेकी शंका भी तो कैसे हो सकती है? वैसे ही पंचमीनिर्देश होगा वहाँ अगर षष्ठीप्रत्ययकी कल्पना परको हुई तो वैसा पंचमीनिर्देश होनेपर वहाँ पूर्वको कार्य होनेकी शंका भी तो कैसे होगी?

वैसे ही 'प्रत्ययका विधान किया हो वहाँ भी पंचमीनिर्देशके बलपर उस सूत्रमें उस प्रत्ययके आगे षष्ठीप्रत्ययकी कल्पना होगी।' ऐसा जो कहा है वहाँ भी षष्ठी-प्रत्ययकी कल्पना हुई तो होने दे।

पर वैसी कल्पना हुई तो 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' सूत्रमें 'गुप्तिज्किद्भ्यः' इस पंचमी निर्देशके बलपर 'तस्मादित्युत्तरस्य' इस प्रकृतपरिभाषासे 'सन्' इस प्रथमान्त पदके बदले 'सनः' इस षष्ठ्यन्तपदकी कल्पना होगी ऐसा दोष बताया है न?

दोष बताया है अवश्य, पर उसका परिहार भी किया ही गया है। वह यह है कि वहाँ सनको दूसरा कोई आदेश न बतानेके कारण 'स्थानेन्तरतमः' परिभाषासे सन्को उसमे अत्यंत सदृश ऐसा सन् आदेश ही होगा।

पर उसके बाद भी 'सन्को सन् आदेश ही किया तो उस कल्पित सन् आदेशके नकारको इत्संज्ञा नहीं होगी। क्योंकि आद्य उच्चारणके अत्य हल्को इत्संज्ञा बतायी गयी है' ऐसा दोष बताया गया ही है।

यह दोष बताया गया है अवश्य, पर वह कब होगा? अगर इत्संज्ञा सन्को सन् आदेश होनेकी प्रतीक्षामें रहेगी तो। वस्तुतः तबतक रुकनेकी कोई आवश्यकता नहीं दिखाई देती। क्योंकि आद्य उच्चारणके ही अंत्य हल्को इत्संज्ञा बतायी गयी है। अतः सचमुच ही इत्संज्ञा (१।३।३) पहले होगी, बादमें उसके नकारका लोप (१।३।९) ही होगा और बादमें उस 'स' को 'स' ऐसा आदेश होगा। अतः कोई भी दोष नहीं आता।

ष्यति। उपदेश इति हीत्संज्ञोच्यते। अथवा नानुत्पन्ने सनि प्रक्लृप्त्या भवितव्यं यदा चोत्पन्नः संस्तदा कृतसामर्थ्या पञ्चमीति कृत्वा प्रक्लृप्तिर्न भविष्यति॥ यदप्युच्यते प्रकृतिविकाराव्यवस्था चेति तत्रापि कृता प्रकृतौ षष्ठीक इति विकृतौ प्रथमा यणिति। यत्र च नाम सौत्री षष्ठी नास्ति तत्र प्रक्लृप्त्या भवितव्यम्। अथवास्तु तावदिको यणचीति यत्र नाम सौत्री षष्ठी। यदि चेदानीमचीत्येषा सप्तमी यणिति प्रथमायाः षष्ठी प्रकल्पयेत्तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येत्यस्तु। न कश्चिदन्य आदेशः प्रतिनिर्दिश्यते तत्रान्तर्यतो यणो यणेव भविष्यति॥ यदप्युच्यते सप्तमीपञ्चम्योश्च

अथवा, कुछ कार्य करनेके लिए करनेकी जो षष्ठीकी कल्पना है वह जिसे करनी है वह अस्तित्वमें आया हुआ होना चाहिए। अतः सन् प्रत्यय पैदा होनेसे पहले 'सनः' यह षष्ठीकी कल्पना होना असंभव ही है। अच्छा, अब सन् प्रत्यय पैदा होनेपर षष्ठीकी कल्पना होगी ऐसा कहें तो वह 'सन्' प्रत्यय 'गुप्तिज्किद्भ्यः' सूत्रसे ही पैदा होनेके कारण वह सन् प्रत्यय गुप्, तिज्, कित् आदि धातुओंसे पर ऐसा उत्पन्न होनेके काममें पंचमी आ रही है। अतः उसका बल नष्ट होनेके कारण षष्ठीकी कल्पना वहाँ हो ही नहीं सकती।

वैसे ही, 'आदेश बतानेवाले सूत्रमें स्थानी कौन और आदेश कौन है यह व्यवस्था नहीं लगेगी' ऐसा जो दोष दिया है वह भी ठीक नहीं। क्योंकि वहाँ स्थानी कौन है सो दिखानेवाली 'इकः' ऐसी षष्ठी मूल सूत्रमें पाणिनिने की ही है और आदेश कौन सो बतानेवाली 'यण्' यह प्रथमा भी मूल सूत्रमें की ही है। जिस स्थानपर मूल सूत्रमें ऐसी षष्ठी न की हो वहाँ 'यह कार्य किसे किया जाय' सो मालूम न होनेके कारण षष्ठीकी कल्पना करनेके लिए प्रकृतपरिभाषाकी आवश्यकता होती है।

अथवा पाणिनिके ही 'इको यणचि' सूत्रमें अगर षष्ठीका उच्चारण किया हो तो वहाँ प्रथमतः 'इक्के स्थानमें यण् होता है' यह अर्थ होगा ही। अब अगर उसके बाद 'अचि' इस सप्तमीनिर्देशके बलपर 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' इस प्रकृत-परिभाषासे यण् प्रथमान्त पदके बदले यणः इस षष्ठ्यन्त पदकी कल्पना होगी और

---

५. तब 'इको यणचि' इत्यादि स्थानोंपर षष्ठी मान लेनेकी आवश्यकता न होनेसे प्रकृत परिभाषा उपस्थित हुई तो भी वह यह काम नहीं करती। केवल सूत्रमें उच्चारित षष्ठी ध्यानमें लेकर उसका 'अव्यवहित पूर्वके प्रति संबंध दिखाना' इतना ही कार्य प्रकृत परिभाषा करती है।

६. प्रकृत परिभाषासे 'यणः' इस षष्ठीकी कल्पना करनेके पूर्व सूत्रका वाक्यार्थ होनेके लिए आवश्यक बातें सिद्ध हों तो वहाँ तुरन्त वाक्यार्थ होना ही चाहिये।

भावादुभयत्र षष्ठीप्रकॢप्तिस्तत्रोभयकार्यप्रसङ्ग इत्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नोभे युगपत्प्रकल्पिके भवत इति यदयमेकः पूर्वपरयोः [६.१.८४] इति पूर्वपरग्रहणं करोति ॥

स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा ॥ १ । १ । ६८ ॥

रूपग्रहणं किमर्थं न स्वं शब्दस्याशब्दसंज्ञा भवतीत्येव रूपं शब्दस्य संज्ञा भविष्यति। न ह्यन्यत्स्वं शब्दस्यास्त्यन्यदतो रूपात्। एवं तर्हि सिद्धे सति यद्रूपग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्योऽस्त्यन्यद्रूपात्स्वं शब्दस्येति। किं पुनस्तत्। अर्थः। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्। अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्येत्येषा परिभाषा

उससे यण्के स्थानमें आदेश होता है ऐसा अर्थ होगा तो होने दे। यण्को अमुक आदेश होता है ऐसा दूसरा किसीके न बतानेके कारण 'स्थानेन्तरम.' परिभाषासे यण्को अत्यंत सदृश ऐसा यण् ही आदेश होगा।

वैसे ही 'जिस स्थानपर सप्तम्यन्त और पचम्यन्त ऐसे दो प्रकारके पद हैं वहाँ परस्परके बलपर उन दोनों पदोंके बदले इसी षष्ठ्यन्त पदकी कल्पना होगी और उन दोनोंको कार्य होगा' यह जो दोष दिया है वह दोष भी नहीं आता। जब कि आचार्य पाणिनि 'एकः पूर्वपरयोः' (६।१।८४) सूत्रमें दोनोंको एकसाथ कार्य होनेके लिए 'पूर्वपरयोः' ऐसा शब्द रखते हैं, तब वे ऐसा सूचित करते हैं कि 'जिस स्थानपर पचमीनिर्देश और सप्तमीनिर्देश ये दोनों होंगे वहाँ वे दोनों एकसाथ षष्ठीकी कल्पना नहीं करते, अतः कोई दोष नहीं आता।'

(सू ६८) किसी भी शब्दका अपना जो स्वरूप है वह उसी शब्दका बोध्य समझा जाय इस शब्दशास्त्रमें मान्य हुए जो संज्ञाशब्द हैं उनकेबारेमें मात्र यह नियम लागू नहीं होता।

इस सूत्रमें 'रूप' शब्द किसलिए रखा गया है? वह रखनेकी आवश्यकता नहीं। 'स्वं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' इतना ही सूत्र किया तो भी जिस शब्दका स्वयंका जो रूप होगा वही उस शब्दका बोध्य होगा। क्योंकि इस रूपके सिवा शब्दकी स्वयकी ऐसी कोई चीज नहीं।

तो फिर इस प्रकार सिद्ध होते हुए भी आचार्य पाणिनि इस सूत्रमें 'रूप' शब्द रखते हैं उससे वे यह ज्ञापित करते हैं कि 'शब्दके स्वयके रूपके सिवा दूसरी कोई चीज् स्वशब्दसे यहाँ ली जानी चाहिए।

---

७ यदि एक ही सूत्रमें दो निर्देशोंसे दो षष्ठ्यन्त पदोंकी कल्पना होगी तो 'आद् गुणः' (६।१।८७) में 'आत्' इस पञ्चमी निर्देशके बलपर 'अचि' के स्थानमें 'अतः' इस पञ्चम्यन्त पदकी कल्पना होगी और 'अचि' इस सप्तमीनिर्देशके बलपर 'आत्' के पर 'अच्य' इस षष्ठ्यन्त पदकी कल्पना होगी। तब पूर्वोक्त प्रकार और आदेश ... इन दोनोंके स्थानमें गुण होनेके कारण 'पूर्वपरयो' शब्द व्यर्थ होगा।

न कर्तव्या भवति ॥

किमर्थं पुनरिदमुच्यते ।

शब्देनार्थगतेरर्थस्यासंभवात्तद्वाचिनः संज्ञाप्रतिषेधार्थं स्वंरूपवचनम् ॥ १ ॥

शब्देनोच्चारितेनार्थो गम्यते । गामानय दध्यशानेत्यर्थ आनीयते ऽर्थश्च भुज्यते । अर्थस्यासंभवात् । इह व्याकरणे ऽर्थे कार्यस्यासंभवः । अग्नेर्ढक् [४.२.३३] इति न शक्यते ऽङ्गारेभ्यः परो ढक्कर्तुम् । शब्देनार्थगतेरर्थस्यासंभवाद्यावन्तस्तद्वाचिनः शब्दास्तावद्भ्यः सर्वेभ्य उत्पत्तिः प्राप्नोति । इष्यते च तस्मादेव स्यादिति । तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीति तद्वाचिनः संज्ञाप्रतिषेधार्थं स्वंरूपवचनम् । एवमर्थमिदमुच्यते ॥

लेकिन यह दूसरा क्या है भला ?

शब्दका जो कोई अर्थ अपने मनमें आता है वही ।

इस ज्ञापनका उपयोग क्या है ?

उपयोग यह कि 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्' यह जो परिभाषा है वह अब अलग करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

परंतु यह सूत्र ही अंतमें किस उद्देश्यसे बनाया गया है ?

(वा. १) शब्दका उच्चारण करनेपर उससे अर्थ मनमें आता है । उदा० 'गाम् आनय' याने 'गो लाओ' ऐसा कहनेपर गो शब्दका अर्थ गाय लायी जाती है । वैसे ही 'दधि अशान' याने 'दधि खाओ' कहनेसे दधि शब्दका अर्थ जो दही है वही खाया जाता है । परंतु 'अर्थे कार्यस्यासंभवात्' याने इस व्याकरणशास्त्रमें अर्थ के लिए कार्य संभव नहीं होता । उदा० 'अग्नेर्ढक्' (४।२।३३) 'अग्नि के आगे ढक् प्रत्यय होता है ।' ऐसा कहनेपर अग्नि शब्दका जो अंगार अर्थ है उसके आगे ढक् प्रत्यय नहीं किया जा सकता । अतः इस प्रकार शब्दोंसे अर्थ मनमें आ जाता है, परंतु शास्त्रमें अर्थके लिए कार्य संभव न होनेसे उस 'अंगार' अर्थके जितने शब्द होंगे उतने सब शब्दोंका वह सूत्रका 'अग्नि' शब्द बोधक है ऐसा समझकर उन सब शब्दोंके आगे ढक् प्रत्यय होने लगेगा । और इष्ट तो यह है कि अकेले 'अग्नि' शब्दके ही आगे ढक् प्रत्यय होना चाहिए । अतः यह इष्ट बात उसके लिए कोई विशेष प्रयत्न किये बिना सिद्ध नहीं होगी । इसीलिए सूत्रका 'अग्नि' शब्द अंगार इस अर्थके अन्य सब शब्दोंका बोधक न हो इस उद्देश्यसे 'स्वरूपवचनम्' याने यह प्रकृत सूत्र किया है ।

१. तब स्व शब्दसे अर्थ लिया जानेसे और रूप शब्दसे स्वरूप लिया जानेसे उस अर्थमें युक्त जो उस शब्दका स्वरूप है वह सूत्रके उस शब्दका बोध्य होता है । अतः 'प्रतीदारयति' में 'दा' यह शब्दस्वरूप अनर्थक होनेसे उसको घु संज्ञा (१।१।२०) नहीं होती ।

न वा शब्दपूर्वको ह्यर्थे संप्रत्ययस्तस्मादर्थनिवृत्तिः ॥ २ ॥

न वैतत्प्रयोजनमस्ति। किं कारणम्। शब्दपूर्वको ह्यर्थे सप्रत्यय॰। शब्दपूर्वको ह्यर्थस्य सप्रत्ययः। आतश्च शब्दपूर्वको यो ऽपि ह्यसावाहूयते नाम्ना। नाम यदानेन नोपलब्धं भवति तदा पृच्छति किं भवानाहेति। शब्दपूर्वकश्चार्थस्य सप्रत्यय इह च व्याकरणे शब्दे कार्यस्त्र समवो ऽर्थे ऽसमवस्तस्मादर्थनिवृत्ति॰। तस्मादर्थनिवृत्तिर्भविष्यति ॥ इद तर्हि प्रयोजनमशब्दसज्ञेति वक्ष्यामीति। इह मा भूत्। दाधा घ्वदाप् [१ १ २०] तरप्तमपौ घः [२२] इति।

संज्ञाप्रतिषेधानर्थक्यं वचनप्रामाण्यात् ॥ ३ ॥

सज्ञाप्रतिषेधश्चानर्थक्य। शब्दसज्ञाया स्वरूपविधि. कस्मान्न भवति।

(वा २) यह जो प्रकृत सूत्रका उपयोग दिखाया है वह ठीक नहीं है।

क्यों भला?

'शब्दपूर्वको ह्यर्थे सप्रत्यय.' याने लोकमें शब्दका उच्चारण करते ही उसका अर्थ मनमें आता है यह बात सही है, परतु पहले शब्द मनमें आकर पश्चात् ही उसका अर्थ मनमें आता है।

और 'पहले शब्द ही मनमें आता है' यह बात इससे सिद्ध होती है कि एकाव मनुष्यको उसके नामसे दूसरेने पुकारा और अगर उसने वह नाम न सुना हो तो 'तुम क्या कहते हो' यह प्रश्न फिरसे वह करते हुए दिखाई देता है। तात्पर्य, पहले शब्द मनमें आकर बादमें ही उसका अर्थ मनमें आता है। और इस व्याकरणशास्त्रमें तो पहले मनमें आनेवाले ऐसे शब्दके लिए ही कार्यसभव होता है। उल्टा अर्थके लिए ही सभव नहीं होता। 'तस्मादर्थनिवृत्ति.' याने इसलिए अपने आप अर्थकी निवृत्ति होगी और पहले मनमें आया हुआ अग्नि आदि जो शब्द है उस अकेले शब्दको ही वह कार्य होगा। (अत. उसके लिए प्रकृत सूत्र करना आवश्यक नहीं।)

तो फिर इस प्रकृतसूत्रका ऐसा उपयोग समझा जाय कि—यह जो अपने आप उस उच्चारित एक शब्दको ही कार्य होता है वह इस शास्त्रमें जो सज्ञाएँ बनाई गई हैं, उदा० दा, धा को घु सज्ञा होती है (१।१।२०) तरप्, तमप् को घ सज्ञा होती है (१।१।२२) उस स्थानपर मूल स्वरूपको याने घु, घ आदि शब्दोंको कार्य नहीं चाहिए इसलिए 'अशब्दसज्ञा' यह निषेध बतलाया जाय इसीलिए यह सूत्र किया है।

(वा. ३) इसलिए भी यह सूत्र नहीं चाहिए। क्योंकि 'अशब्दसज्ञा' इस निषेधकी ही कोई आवश्यकता नहीं।

परतु फिर, शास्त्रमें घु, घ, आदि सज्ञाशब्दोंका उच्चारण करके बनाया हुआ कार्य उसके मूल स्वरूपको क्यों नहीं होता?

वचनप्रामाण्यात्। शब्दसंज्ञावचनसामर्थ्यात्॥ ननु च वचनप्रामाण्यात्संज्ञिनां संप्रत्ययः स्यात्स्वरूपग्रहणाच्च संज्ञायाः। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति शब्दसंज्ञायां न स्वरूपविधिर्भवतीति यदयं ष्णान्ता षट् [१·१·२४] इति षकारान्तायाः संख्यायाः षट्संज्ञां शास्ति। इतरथा हि वचनप्रामाण्याच्च नकारान्तायाः संख्यायाः संप्रत्ययः स्यात्स्वरूपग्रहणाच्च षकारान्तायाः। नैतदस्ति ज्ञापकं न हि षकारान्ता संज्ञा। का तर्हि। डकारान्ता। असिद्धं जश्त्वं तस्यासिद्धत्वात्षकारान्ता॥ मन्त्राद्यर्थं तर्हीदं वक्तव्यम्। मन्त्र

अगर 'घु' शब्दका उच्चारण करके बताया हुआ कार्य मूल स्वरूपको याने 'घु' शब्दको होगा तो दा और धा को बताई हुई घु संज्ञा व्यर्थ होगी। इसीलिए उसकी सामर्थ्यके कारण वह कार्य 'घु' शब्दको नहीं होगा।

परंतु उसकी सामर्थ्यके कारण वह कार्य दा, धा, को होने दीजिए। घु शब्दको न होनेका कोई कारण नहीं दिखाई देता। (अतः घु इस मूल शब्दस्वरूपको कार्य न हो इसलिए 'अशब्दसंज्ञा' यह निषेध आवश्यक है।)

यह उपयोग भी ठीक नहीं है। क्योंकि जब कि ये आचार्य पाणिनि 'ष्णान्ता षट्' (१।१।२४) सूत्रमें पंचन्, सप्तन् आदि नकारान्त शब्दोंको 'षष्' संज्ञा बताकर उसके सिवा अलग षकारान्त संख्याको याने 'षष्' शब्दको षष् संज्ञा बताते है तब वे ऐसा ज्ञापित करते है कि 'संज्ञा शब्दसे मूल स्वरूपका याने उसी शब्दका ग्रहण नहीं होता। नहीं तो षष्संज्ञक शब्दको बताया हुआ कार्य (७।१।२२) पंचन्, सप्तन् आदि नकारान्त संख्याशब्दोंको षष् संज्ञा बताई है उसकी सामर्थ्यके कारण उन्हें होगी और उस संज्ञाशब्दके मूलस्वरूपको याने षष् शब्दको होगा। (अतः षष् शब्दको जो विशेषतया अलग षष् संज्ञा बताई गई है वह व्यर्थ भी होगी।)

परंतु यह ज्ञापक ठीक नहीं जँचता। क्योंकि 'ष्णान्ता षट्' (१।१।२४) सूत्रसे 'षष्' संज्ञा बताई ही नहीं गई।

तो फिर कौनसी संज्ञा बताई गई है।

'षड्' यह डकारान्त संज्ञा बताई गई है।

मूल संज्ञा षष् ही है। त्रिपादीका जश्त्व (८।२।३९) होकर षड् उच्चारण हुआ तो भी वह जश्त्व असिद्ध (८।२।१) होनेके कारण मूल संज्ञा षकारान्त ही है। (अतः ज्ञापक ठीक न जँचनेके कारण 'अशब्दसंज्ञा' निषेधकी आवश्यकता नहीं है इसलिए यह प्रकृतसूत्र नहीं चाहिए ऐसा सिद्ध होता है।)

तो फिर मंत्र आदिके लिए 'अशब्दसंज्ञा' निषेधकी ज़रूरत है। अर्थात् मन्त्र (२।४।८०), ऋचि (६।३।१३३), यजुषि (७।४।३८), ऐसे शब्दोंका उच्चारण

ऋचि यजुषीति यदुच्यते तन्मन्त्रशब्दे ऋक्शब्दे च यजुःशब्दे न स्यात्।

मन्त्राद्यर्थमिति चेच्छास्त्रसामर्थ्यादर्थगतेः सिद्धम् ॥ ४ ॥

मन्त्राद्यर्थमिति चेत्तन्न। किं कारणम्। शास्त्रस्य सामर्थ्यादर्थस्य गतिर्भविष्यति। मन्त्र ऋचि यजुषीति यदुच्यते मन्त्रशब्दे ऋक्शब्दे च यजुःशब्दे न तस्य कार्यस्य संभवो नास्तीति कृत्वा मन्त्रादिभिःसहचरितो योऽर्थस्तस्य गतिर्भविष्यति साहचर्यात् ॥

सित्तद्विशेषाणां वृक्षाद्यर्थम् ॥ ५ ॥

सिन्निर्देशः कर्तव्यः। ततो वक्तव्यं तद्विशेषाणां ग्रहणं भवतीति। किं प्रयोजनम्। वृक्षाद्यर्थम्। विभाषा वृक्षमृग [२-४-१२] इति। प्लक्षन्यग्रोधम् प्लक्षन्यग्रोधाः ॥

पित्पर्यायवचनस्य च स्वाद्यर्थम् ॥ ६ ॥

पिन्निर्देशः कर्तव्यः। ततो वक्तव्यं पर्यायवचनस्य तद्विशेषाणां च ग्रहणं

करके जो कार्य बताये गये हैं वे (६।३।१३१) मन्त्र, ऋच् और यजुष् शब्दोंको नहीं होने पायेंगे।

(वा. ४) मन्त्र आदि शब्दोंके लिए 'अशब्दसंज्ञा' निषेध आवश्यक है ऐसा कहें तो वैसा नहीं है।

वैसा न होनेका कारण क्या है ?

क्योंकि शास्त्रकी सामर्थ्यके कारण मन्त्र आदि शब्दोंके अर्थका ग्रहण होगा, याने मन्त्रमें, ऋचामें, यजुमें ऐसा कहकर जो कार्य बताया है उस कार्यका मन्त्र, ऋच् और यजुष् शब्दोंमें संभव नहीं है इसलिए उन शब्दोंके साथ हमेशा मनमें आनेवाला उन शब्दोंका जो अर्थ 'अग्निमीळे' (ऋ. सं. १।१।१) आदिवाक्य है उनका ग्रहण होगा। क्योंकि शब्द और उसका अर्थ इनका साहचर्य नित्य है।

(वा. ५) सित्का निर्देश किया जाय, जिससे इत्संज्ञक सकार जोड़ा जाय। और ऐसे सित्का निर्देश जिस स्थानपर किया हो वहाँ उसके विशेषका ग्रहण होता है ऐसा कहा जाय।

भवति स्वस्य च रूपस्येति। किं प्रयोजनम्। स्वाद्यर्थम्। स्वे पुषः [३·४·४०]। स्वपोषं पुष्यति। रैपोषम् विद्यापोषम् गोपोषम् अश्वपोषम् ॥

जित्पर्यायवचनस्यैव राजाद्यर्थम् ॥ ७ ॥

जिन्निर्देशः कर्तव्यः। ततो वक्तव्यं पर्यायवचनस्यैव ग्रहणं भवति। किं प्रयोजनम्। राजाद्यर्थम्। सभा राजामनुष्यपूर्वा [२·४·२३]। इनसभम् ईश्वरसभम्। तस्यैव न भवति। राजसभा। तद्विशेषाणां च न भवति। पुष्यमित्रसभा चन्द्रगुप्तसभा ॥

झित्तस्य च तद्विशेषाणां च मत्स्याद्यर्थम् ॥ ८ ॥

झिन्निर्देशः कर्तव्यः। ततो वक्तव्यं तस्य च ग्रहणं भवति तद्विशेषाणां चेति। किं प्रयोजनम्। मत्स्याद्यर्थम्। पक्षिमत्स्यमृगान्हन्ति [४·४·६५]।

विशेष शब्दोंका और मूलसे उच्चारित उन शब्दस्वरूपोंका ग्रहण होता है ऐसा कहा जाय।

उसका उपयोग कहाँ है?

स्वाद्यर्थम् अर्थात् 'स्वे पुषः' (३।४।४०) सूत्रमें स्वशब्दसे 'रै', 'धन' इन पर्याय शब्दोंका, 'अश्व', 'गो' इन विशेषद्रव्यवाचक शब्दोंका और 'स्व' शब्दका ग्रहण होता है; जैसे, स्वपोषं पुष्यति, रैपोषम्, धनपोषम्, अश्वपोषम्, गोपोषम्।

(वा. ७) जित्का निर्देश किया जाय जिससे इत्संज्ञक जकार जोड़ा जाय। और ऐसे जित्का निर्देश जिस स्थानपर किया हो वहाँ केवल उसके पर्यायशब्दोंका ही ग्रहण होता है ऐसा कहा जाय।

उसका उपयोग कहाँ है?

राजाद्यर्थम् अर्थात् 'सभा राजामनुष्यपूर्वा' (२।४।२३) सूत्रमें राजशब्दसे 'इन', 'ईश्वर' इन पर्याय शब्दोंका ही ग्रहण होता है; जैसे, इनसभम्, ईश्वरसभम्। 'पर्याय शब्दोंका ही ग्रहण होता है' ऐसा कहा जानेके कारण मूलसे उच्चारित राजशब्दका ग्रहण नहीं होता इसलिए 'राजसभा' रूपमें नपुंसकलिंग नहीं होता। तथा विशेषोंका अर्थात् पुष्यमित्र आदि शब्दोंका ही ग्रहण नहीं होता है इसलिए 'पुष्यमित्रसभा', 'चन्द्रगुप्तसभा' रूपोंमें नपुंकलिंग नहीं होता।

(वा. ८) झित्का निर्देश किया जाय जिससे इत्संज्ञक झकार जोड़ा जाय। और ऐसे झित्का निर्देश जिस स्थानपर किया हो वहाँ उस मूलसे उच्चारित शब्दका और उसके विशेष शब्दका ग्रहण होता है ऐसा कहा जाय।

उसका उपयोग कहाँ है?

मत्स्याद्यर्थम् याने 'पक्षिमत्स्यमृगान्हन्ति' (४।४।३५) में मत्स्यशब्दसे 'मत्स्य' इस शब्दका और शफर, शकुल, इन मत्स्यविशेषवाचक शब्दोंका ग्रहण होता है। उदा०—'मत्स्यान् हन्ति मात्स्यिकः'। विशेष शब्दोंका उदाहरण—शाफरिकः,

मान्स्यिकः । तद्विशेषाणाम् । शाफरिकः शाकुलिकः । पर्यायवचनानां न भवति । अजिह्मान्हन्तीति ॥ अस्यैकस्य पर्यायवचनस्येष्यते । मीनान्हन्ति मैनिकः ॥

अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः ॥ १ । १ । ६९ ॥

अप्रत्यय इति किमर्थम् । सनाशंसभिक्ष उः [३·२·१६८] । अ सांप्रतिके [४·३·९]॥ अल्पमिदमुच्यते ऽप्रत्यय इति । अप्रत्ययादेशटित्किन्मित इति वक्तव्यम् । प्रत्यय उदाहृतम् । आदेशे । इदम इश् [५·३·३]। इतः इह । टिति । लविता लवितुम् । किति । बभूव । मिति । हे ऽनड्वन् ॥

शाकुलिकः । 'मूल शब्द और विशेष शब्द इन्हींका ग्रहण होता है' ऐसा कहनेके कारण पर्याय शब्दोंका ग्रहण नहीं होता; इसीलिए 'अजिह्मान् हन्ति', ऐसे वाक्य ही रह जाते हैं; वहाँ ठक् प्रत्यय नहीं होता । पर्यायशब्दोंमेंसे अकेले 'मीन' शब्दमात्रका 'मत्स्य' शब्दसे ग्रहण होता है यह इष्ट है; उदा०—मीनान् हन्ति मैनिकः (६८)

(सू. ६९) यहाँ 'अण्' प्रत्याहार पर णकारके साथ है। अइउण्, ऋलृक् इत्यादि वर्णपाठमें उच्चारित अण् प्रत्याहारका जो वर्ण है और ह्रस्व उकार इत्संज्ञक जिसको जोड़ा गया है वह वर्ण, अर्थात् कु, चु, टु, तु, पु ऐसा उकार जोड़के उच्चारित ककार, चकार इत्यादि वर्ण, अपने सब सवर्णोंका ग्राहक होता है । तब उसको कहा हुआ कार्य उसके सभी सवर्णोंको किया जा सकता है।

इस सूत्रमें 'अप्रत्ययः' किसलिए कहा गया है ?

'सनाशंसभिक्ष उः' (३।२।१६८), 'अ सांप्रतिके' (४।३।९) इन सूत्रोंसे जो उ और अ प्रत्यय बताये गये हैं उनसे दीर्घ ऊ और आ आदि सवर्णोंका ग्रहण न किया जाय ऐसा कहा गया है।

यह जो यहाँ 'अप्रत्ययः' यह सवर्णग्रहणका निषेध केवल प्रत्ययके विषयमें ही किया गया है वह बहुत ही कम है।

प्रत्यय, आदेश और टित् कित्, मित् आगम ये सवर्णोंका ग्रहण नहीं करते ऐसा कहा जाय। उनमेंसे प्रत्ययका उदाहरण दिखाया ही है। आदेशका उदाहरण— इदम इश् (५।३।३) । यहाँ आदेशसे सवर्णोंका ग्रहण हुआ तो इतः इह में दीर्घ ई आदि आदेश भी होने लगेंगे। टित् आगमका उदाहरण— लविता लवितुम्। यहाँ सवर्ण ग्रहण हुआ तो (७।२।३५) कदाचित् दीर्घ ई आदि आगम होने लगेंगे। कित् आगमका उदाहरण—बभूव। यहाँ सवर्णोंका ग्रहण हुआ तो (६।४।८८) कदाचित् सानुनासिक वकार भी आगम होगा। मित् आगमका उदाहरण—हे अनड्वन्। यहाँ सवर्णका ग्रहण हुआ तो (७।१।९९) शायद दीर्घ आ आदि आगम होने लगेंगे।

टितः परिहारः। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न टिता सवर्णानां ग्रहणं भवतीति यदयं ग्रहो ऽलिटि दीर्घत्वं शास्ति। नैतदस्ति ज्ञापकम्। नियमार्थमेतत्स्यात्। ग्रहो ऽलिटि दीर्घ एवेति। यत्तर्हि वृतो वा [७.२.६८] इति विभाषां शास्ति॥ सर्वेषामेव परिहारः। भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेत्येवं न भविष्यति॥ प्रत्यये भूयान्परिहारः। अनभिधानात्प्रत्ययः सवर्णान्न ग्रहीष्यति। यान्हि प्रत्ययः सवर्णग्रहणेन गृह्णीयान्न तैरर्थस्याभिधानं स्यात्। अनभिधानान्न भविष्यति॥ इदं तर्हि प्रयोजनम्। इह केचित्प्रतीयन्ते केचित्प्रत्याय्यन्ते। ह्रस्वाः प्रतीयन्ते दीर्घाः

टित् आगमके बारेमें जो दोष दिखाया है उसका परिहार यह कि ये आचार्य पाणिनि जब कि 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' (७।२।३७) से इट् आगमको दीर्घ बताते है उससे वे ऐसा ज्ञापित करते है कि टित् आगमसे सवर्णका ग्रहण नहीं होता।

यह ज्ञापक ठीक नहीं है। क्योंकि 'ग्रह धातुके आगेके लिट् प्रत्ययके सिवा अन्य वलादि आर्धधातुक प्रत्ययको अगर ह्रस्व, दीर्घ आदि अनेक प्रकारका इट् आगम होगा तो दीर्घ ही इट् आगम किया जाय, दूसरा कोई न करें' ऐसा नियम होनेके लिए वह सूत्र काम आयेगा।

तो फिर उसके आगेके 'वृतो वा' (७।२।३८) से जो इट् आगमको विकल्पसे दीर्घ बताया है उस ज्ञापकसे ऊपरकी बात सिद्ध होगी।

प्रत्याय्यन्ते । यावद् ब्रूयात्प्रत्याय्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेति तावदप्रत्यय इति। कं पुनर्दीर्घः सवर्णग्रहणेन गृह्णीयात् । ह्रस्वम् । यत्नाधिक्यान्न ग्रहीष्यति । प्लुतं तर्हि गृह्णीयात् । अदण्त्वान्न ग्रहीष्यति । एवं तर्हि सिद्धे सति यदप्रत्यय इति प्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येषा परिभाषा भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेति ॥

किमर्थं पुनरिदमुच्यते ।

अण्सवर्णस्येति स्वरानुनासिक्यकालभेदात् ॥ १ ॥

अण्सवर्णस्येत्युच्यते । स्वरभेदादानुनासिक्यभेदात्कालभेदाच्चाणसवर्णान्न

वलपर समझाये जानेवाले हैं 'वे जो समझाये' जानेवाले दीर्घ वगैरह वर्ण है उनसे पुनः अपने सवर्णका ग्रहण होगा वह न हो इस अर्थसे '*अप्रत्ययः*' ऐसा सूत्रमें कहा गया है।

परंतु 'दीर्घोंसे अपने सवर्णोंका ग्रहण होता है' ऐसा कहा जाय तो वे दीर्घ किन सवर्णोंका ग्रहण करेंगे भला?

ह्रस्वोंका। (उदा० यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१।४।३) में उच्चारित दीर्घ ई, ऊ से ह्रस्व इकार, उकार आदिका ग्रहण होगा।)

परंतु वैसा इष्ट होता तो वहाँ पाणिनिने ह्रस्व ही उच्चारित किया होता। अतः वैसा ह्रस्व न उच्चारकर अधिक प्रयत्न करके जो दीर्घ उच्चारा गया उससे दीर्घोंसे ह्रस्वोंका ग्रहण नहीं होगा।

तो फिर उन दीर्घोंसे प्लुतोंका ग्रहण होगा।

परतु दीर्घ वर्ण अगर मूलतः अण् ही नहीं है तो वहाँ प्रकृतसूत्र न आनेके कारण *क्या उन ह्रस्वोंका, क्या प्लुतोंका, किसीका ग्रहण नहीं होगा।*

तो फिर जब कि आचार्य पाणिनि इस प्रकार याने 'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न' परिभाषासे सिद्ध होनेवाली बातोंमेंसे ही अप्रत्ययः ऐसा प्रत्ययका उल्लेख करके सवर्ण ग्रहणका निषेध बताते है, उससे वे उस परिभाषाके बारेमें अपनी सम्मति है ऐसा ज्ञापित करते है यों समझा जाय।

परंतु यह सूत्रही किसलिए किया गया है?

(वा. १) 'अण् सवर्णोंका ग्रहण करता है' ऐसा जो कहा गया है वह इसलिए कि उदात्त आदि स्वरोंके कारण जो वर्ण अलग दिखाई देते है, वैसे ही अनुनासिकके कारण जो वर्ण अलग दिखाई देते है, और उच्चारणको कमअधिक काल लगनेके कारण जो वर्ण अलग दिखाई देते है, उस अलगपनके कारण सूत्रमें उच्चारित

---

२. अइउण् इत्यादि वर्णपाठमें न उच्चारित और उसमें उच्चारित वर्णसे प्रतीत होनेवाला वर्ण ही यहाँ प्रत्यय शब्दका अर्थ है ऐसा अभिप्राय है।

टितः परिहारः । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न टिता सवर्णानां ग्रहणं भवतीति यदयं ग्रहो ऽलिटि दीर्घत्वं शास्ति । नैतदस्ति ज्ञापकम् । नियमार्थमेतत्स्यात् । ग्रहो ऽलिटि दीर्घ एवेति । यत्तर्हि वृतो वा [७.२.३८] इति विभाषां शास्ति ॥ सर्वेषामेव परिहारः । भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेत्येवं न भविष्यति ॥ प्रत्यये भूयान्परिहारः । अनभिधानात्प्रत्ययः सवर्णान्न ग्रहीष्यति । यान्हि प्रत्ययः सवर्णग्रहणेन गृह्णीयान्न तैरर्थस्याभिधानं स्यात् । अनभिधानान्न भविष्यति ॥ इद तर्हि प्रयोजनम् । इह केचित्प्रतीयन्ते केचित्प्रत्याय्यन्ते । ह्रस्वाः प्रतीयन्ते दीर्घाः

टित् आगमके बारेमें जो दोष दिखाया है उसका परिहार यह कि ये आचार्य पाणिनि जब कि 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' (७।२।३७) से इट् आगमको दीर्घ बताते है उससे वे ऐसा ज्ञापित करते है कि टित् आगमसे सवर्णका ग्रहण नहीं होता।

यह ज्ञापक ठीक नहीं हे । क्योंकि 'ग्रह धातुके आगेके लिट् प्रत्ययके सिवा अन्य वलादि आर्धधातुक प्रत्ययको अगर ह्रस्व, दीर्घ आदि अनेक प्रकारका इट् आगम होगा तो दीर्घ ही इट् आगम किया जाय, दूसरा कोई न करें' ऐसा नियम होनेके लिए वह सूत्र काम आयेगा।

तो फिर उसके आगेके 'वृतो वा' (७।२।३८) से जो इट् आगमको विकल्पसे दीर्घ बताया है उस ज्ञापकसे ऊपरकी बात सिद्ध होगी।

प्रत्यय, आदेश और आगम इन सबके संबंधमें एक ऐसा परिहार है कि 'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न' अर्थात् जिसका जिस स्थानपर विधान किया हो वहाँ उससे सवर्णका ग्रहण नहीं होता' इस परिभाषासे उन सब स्थानोंपर सवर्णका ग्रहण नहीं होगा। उसमें प्रत्ययके संबंधमें तो दूसरा एक अच्छा ही परिहार बताया जा सकता है। वह यह कि अनभिधानके कारण प्रत्ययसे सवर्णोंका ग्रहण नहीं होगा, क्योंकि उ आदि प्रत्यय जिन सवर्णोंका याने दीर्घ ऊ आदिका ग्रहण करेगा तो दीर्घ ऊ आदि प्रत्यय अगर चिकीर्षु आदि उदाहरणोंमें किये तो उससे याने चिकीर्षू ऐसे दीर्घान्त शब्दसे या चिकीर्षू ३ ऐसे प्लुतान्त शब्दसे विवक्षित अर्थ मनमें नहीं आता। अतः ऐसे स्थानपर दीर्घ ऊकार आदि प्रत्ययोंको अर्थ प्रतिपादन करनेकी सामर्थ्य न होनेके कारण वहाँ सवर्णका ग्रहण नहीं होता। (क्योंकि 'प्रत्यय' अन्वर्थ संज्ञा है। अतः जिसमें अर्थ दिखानेकी सामर्थ्य नहीं उसे प्रत्यय ही नहीं कह सकते।)

तो फिर इस सूत्रमें 'अप्रत्ययः' का उपयोग यह समझा जाय कि—इस अ इ उ ण् आदि अक्षर समाम्नायमें प्रत्यक्ष उच्चारनेके कारण कुछ वर्ण याने ह्रस्व वर्ण समझे जाते हैं। और दूसरे कुछ वर्ण याने दीर्घ आदि ये उन ह्रस्व वर्णोंसे प्रकृत सूत्रके

---

१ तब ग्रह् धातुके सिवा अन्य धातुओंके आगे लगाये जानेवाले वलादि आर्धधातुक प्रत्ययको इट् आगम कदाचित् दीर्घ भी होगा यह दोष कायम रहता है।

प्रत्याय्यन्ते। यावद् ब्रूयात्प्रत्याय्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेति तावदप्रत्यय इति। कं पुनर्दीर्घः सवर्णग्रहणेन गृह्णीयात्। ह्रस्वम्। यत्नाधिक्यान्न ग्रहीष्यति। प्लुतं तर्हि गृह्णीयात्। अनण्त्वान्न ग्रहीष्यति। एवं तर्हि सिद्धे सति यदप्रत्यय इति प्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येषा परिभाषा भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेति॥

किमर्थं पुनरिदमुच्यते।

अणसवर्णस्येति स्वरानुनासिक्यकालभेदात्॥ १॥

अणसवर्णस्येत्युच्यते। स्वरभेदादानुनासिक्यभेदात्कालभेदाच्चाणसवर्णान्

बलपर समझाये जानेवाले हैं 'वे जो समझाये' जानेवाले दीर्घ वगैरह वर्ण हैं उनसे पुनः अपने सवर्णका ग्रहण होगा वह न हो इस अर्थसे 'अप्रत्ययः' ऐसा सूत्रमें कहा गया है।

परंतु 'दीर्घोंसे अपने सवर्णोंका ग्रहण होता है' ऐसा कहा जाय तो वे दीर्घ किन सवर्णोंका ग्रहण करेंगे भला?

ह्रस्वोंका। (उदा० यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१।४।३) में उच्चारित दीर्घ ई, ऊ से ह्रस्व इकार, उकार आदिका ग्रहण होगा।)

परंतु वैसा इष्ट होता तो वहाँ पाणिनिने ह्रस्व ही उच्चारित किया होता। अतः वैसा ह्रस्व न उच्चारकर अधिक प्रयत्न करके जो दीर्घ उच्चारा गया उससे दीर्घोंसे ह्रस्वोंका ग्रहण नहीं होगा।

तो फिर उन दीर्घोंसे प्लुतोंका ग्रहण होगा।

परंतु दीर्घ वर्ण अगर मूलतः अण् ही नहीं हैं तो वहाँ प्रकृतसूत्र न आनेके कारण क्या उन ह्रस्वोंका, क्या प्लुतोंका, किसीका ग्रहण नहीं होगा।

तो फिर जब कि आचार्य पाणिनि इस प्रकार याने 'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न' परिभाषासे सिद्ध होनेवाली बातोंमेंसे ही अप्रत्ययः ऐसा प्रत्ययका उल्लेख करके सवर्ण ग्रहणका निषेध बताते हैं, उससे वे उस परिभाषाके बारेमें अपनी सम्मति है ऐसा ज्ञापित करते हैं यों समझा जाय।

परंतु यह सूत्र ही किसलिए किया गया है?

(वा. १) 'अण् सवर्णोंका ग्रहण करता है' ऐसा जो कहा गया है वह इसलिए कि उदात्त आदि स्वरोंके कारण जो वर्ण अलग दिखाई देते हैं, वैसे ही अनुनासिकके कारण जो वर्ण अलग दिखाई देते हैं, और उच्चारणको कमअधिक काल लगनेके कारण जो वर्ण अलग दिखाई देते हैं, उस अलगपनके कारण सूत्रमें उच्चारित

---

२. अइउण् इ आदि वर्णपाठमें न उच्चारित और उसमें उच्चारित वर्णसे प्रतीत होनेवाला वर्ण ही यहाँ प्रथम शब्दका अर्थ है ऐसा अभिप्राय है।

गृह्णीयात्। इष्यते च सवर्णग्रहणं स्यादिति । तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीत्येवमर्थमिदमुच्यते ॥ अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्हीति ।

तत्र प्रत्याहारग्रहणे सवर्णाग्रहणमनुपदेशात् ॥ २ ॥

तत्र प्रत्याहारग्रहणे सवर्णानां ग्रहण न प्राप्नोति । अकः सवर्णे दीर्घः [६ १ १०१] इति । किं कारणम् । अनुपदेशात् । यथाजातीयकानां सञ्ज्ञा कृता तथाजातीयकाना संप्रत्यायिका स्यात् । ह्रस्वानां च क्रियते ह्रस्वानामेव संप्रत्यायिका स्याद्दीर्घाणां न स्यात् ॥ ननु च ह्रस्वाः प्रतीयमाना दीर्घान्संप्रत्याययिष्यन्ति ।

ह्रस्वसंप्रत्ययादिति चेदुच्चार्यमाणसंप्रत्यायकत्वाच्छब्दस्यावचनम् ॥ ३ ॥

ह्रस्वसंप्रत्ययादिति चेदुच्चार्यमाणः शब्दः संप्रत्यायको भवति न संप्रती-

---

अणसे उनका ग्रहण नहीं होगा¹। और इष्ट तो यह है कि उनका ग्रहण होना चाहिए। अतः यह इष्ट बात उसके लिए कोई न कोई विशेष प्रयत्न किये बिना सिद्ध नहीं होगी। इसलिए 'अण् सवर्णोंका ग्रहण करता है' ऐसा यहाँ कहा गया है।

यह इस सूत्रका उपयोग है यह सही है।

तो फिर आपको आगे क्या कहना है?

(वा. २) प्रत्याहारका उच्चारण किया हो वहाँ सवर्णोंका ग्रहण नहीं होगा; उदा० 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।१०१) और अक् शब्दसे दीर्घ में प्लुतका ग्रहण नहीं होगा।

क्यों भला?

अइउण् आदि वर्णपाठमें दीर्घ आदिका उपदेश नहीं किया इसलिए। अक् यह संज्ञा जिस प्रकारके वर्णोंकी की हो उस प्रकारके ही वर्ण अक् शब्दसे मनमें आयेंगे। अइउण् आदि वर्णपाठमें ह्रस्व ही केवल उच्चारे जानेके कारण उन ह्रस्वोंकी ही वह अक्सज्ञा होगी। इसलिए अक् शब्दसे ह्रस्वोंका ही बोध होगा; दीर्घोंका नहीं होगा।

परंतु अक शब्दसे यद्यपि ह्रस्व ही केवल मनमें आ गये तो भी वे ह्रस्व प्रकृत सूत्रके बलपर अपने सवर्णोंका याने दीर्घ आदिका बोध करा देंगे।

(वा ३) ह्रस्वोंसे दीर्घोंका बोध होगा ऐसा कहा जाय तो वैसा नहीं है। क्योंकि

---

१. उच्चारणके कालमें अल्पाधिक्‍ता होनेसे अवर्णके ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत ये तीन प्रकार होते हैं। उनके प्रत्ययके फिर उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन प्रकार होकर कुल नौ प्रकार होते हैं। फिर उनके प्रत्येकके सानुनासिक और निरनुनासिक ये दो प्रकार होकर सब मिलाकर एक अवर्णके अठारह प्रकार होते हैं। इ, उ और ऋके वैसे ही होते हैं। 'ऌ' का दीर्घ न होनेसे उसके बारह प्रकार होते हैं। ए, ओ, ऐ और औ इनमेंसे प्रत्येकके बारह ही प्रकार होते हैं; कारण यह कि उनके ह्रस्व प्रकार नहीं हैं।

यमानः । तद्यथा । ऋगित्युक्ते संपाठमात्रं गम्यते नास्या अर्थो गम्यते ॥ एवं तर्हि वर्णपाठ एवोपदेशः करिष्यते ।

वर्णपाठ उपदेश इति चेदवरकालत्वात्परिभाषाया अनुपदेशः ॥ ४ ॥

वर्णपाठ उपदेश इति चेदवरकालत्वात्परिभाषाया अनुपदेशः । किं परा सूत्रात्क्रियत इत्यतो ऽवरकाला । नेत्याह । सर्वथावरकालैव । वर्णानामुपदेशस्तावत् । उपदेशोत्तरकालेत्संज्ञा । इत्संज्ञोत्तरकाल आदिरन्त्येन सहेता [१.१.७१] इति प्रत्याहारः । प्रत्याहारोत्तरकाला सवर्णसंज्ञा । सवर्णसंज्ञोत्तरकालमणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय इति । सैषोपदेशोत्तरकालावरकाला सती

उच्चारित शब्द ही अपने अर्थका बोधक होता है। अतः ऐसे जो उच्चारित शब्दसे प्रतीत शब्द हैं वे उस स्थानपर स्वतः अनुच्चारित होनेके कारण अन्योंका बोध करा देनेमें समर्थ नहीं होते; जैसा — 'ऋक्' शब्द उच्चारनेपर उस शब्दसे केवल मंत्रपाठका बोध होता है। (उस मंत्रके अर्थका वहाँ बोध नहीं होता।)

तो फिर अइउण् आदि वर्णपाठमें ही उच्चारित ह्रस्व वर्ण प्रकृत परिभाषाके बलपर अपने सवर्णोंका याने दीर्घ आदिका ग्रहण करेंगे। (अतः अक् संज्ञा होते समय ही ह्रस्वके साथ ही दीर्घ आदिकी होगी।)

(वा. ४) वर्णपाठमें प्रकृत परिभाषा के कारण 'ह्रस्वोंसे दीर्घ आदिका ग्रहण होगा ऐसा कहें तो वैसा यहाँ दीर्घ आदिका ग्रहण नहीं किया जा सकेगा। क्योंकि प्रकृत परिभाषा निकट वर्तमानकी है।

अइउण् आदि सूत्र महेश्वरद्वारा किये जानेपर पाणिनिने ये सूत्र किये इसलिए 'अणुदित्॰' इस प्रकृत परिभाषाको आप निकट वर्तमानकी कहते हैं ?

न केवल वैसा ही माना जाय। सभी दृष्टियोंसे ही यह परिभाषा अइउण् आदि वर्णपाठकी अपेक्षा निकट वर्तमानकी है। प्रथमतः वर्णोंका अइउण् आदि उपदेश, उस उपदेशके बाद उस उपदेशके णकार आदिकी इत्संज्ञा (१।३।३), इत्संज्ञा होनेपर इस इत्संज्ञकसे 'आदिरन्त्येन सहेता' (१।१।७१) से अच्, हल आदि प्रत्याहार होते हैं। अच्, हल, ये प्रत्याहार समझनेके बाद सवर्णसंज्ञा (१।१।९, १०) होती है। और सवर्णसंज्ञा होनेपर 'उन सवर्णोंका ग्रहण किया जाय' ऐसा 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' इस प्रकृत परिभाषासे बनाया जानेवाला है। अतः वर्णोंका अइउण् आदि उपदेश होनेपर बहुत समयके बाद अस्तित्वमें आनेवाली इसलिए निकट वर्तमान-

वर्णानामुत्पत्तौ निमित्तत्वाय कल्पयिष्यत इत्येतन्न ॥

तस्मादुपदेशः ॥ ५ ॥

तस्मादुपदेशः कर्तव्यः ॥

तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णाग्रहणमनण्त्वात् ॥ ६ ॥

तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णानां ग्रहणं न प्राप्नोति । अस्य च्वौ [७·४·३२] यस्येति च [६·४·१४८] किं कारणम् । अनण्त्वात् । न ह्येते ऽणो ये ऽनुवृत्तिनिर्देशे । के तर्हि । ये ऽक्षरसमाम्नाय उपदिश्यन्ते ॥ एवं तर्ह्यनण्त्वादनुवृत्तौ नानुपदेशाच्च प्रत्याहारे न । उच्यते चेदमणसवर्णान्गृह्णातीति । तत्र वचनाद्भविष्यति ॥

की यह प्रकृत परिभाषा अपने पहलेके अइउण् आदि वर्णपाठमें दीर्घ आदि सवर्णोंका ग्रहण करनेके काम आयेगी ऐसा नहीं कहा जा सकता।

(वा.. ५) अतः अइउण् आदि वर्णपाठमें दीर्घ आदिका उपदेश किया जाना चाहिए।

(वा. ६) इस शास्त्रमें वर्णपाठकी ही तरह पाणिनिने जिस स्थानपर वर्णका स्वरूपसे निर्देश किया हो वहाँ याने 'अस्य च्वौ' (७।४।३२), 'यस्येति च' (६।४।१४८) में अ, इ, आदि उच्चारित वर्णोंसे प्रकृत परिभाषाके कारण जो अपने अपने सवर्णोंका ग्रहण हुआ करता है वह नहीं होगा।

क्यों भला ?

अनण्त्वात्, याने वे अ, इ आदि वर्ण अण् नहीं हैं इसलिए। 'अस्य च्वौ' आदि स्थानोंपर जो अ, इ आदि वर्ण उच्चारे गये हैं वे अइउण्के वर्णों जैसे उच्चारे हैं। परंतु वे अण् नहीं हैं।

फिर किस स्थानके वर्णोंको अण् कहा जाय ?

अइउण् आदि वर्णपाठमें जो उच्चारे गये हैं वे अण् हैं (क्योंकि उस वर्णपाठमें ही अ से ण तक उच्चारित वर्णोंको अण् संज्ञा (१।१।७१) होती है।)

तो फिर 'अस्य च्वौ' आदि स्थानोंपर अ आदि वर्ण यद्यपि उच्चारे गये हैं तो भी वे अण् होनेके कारण सवर्णोंका ग्रहण नहीं करते। और जो वर्णपाठके अ, इ, उ, आदि वर्ण अण् हैं वे 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।१०१) आदि स्थानोंपर अक् आदि प्रत्याहार शब्दसे प्रतीत हुए तो भी वे वहाँ उच्चारित न होनेके कारण सवर्णोंका ग्रहण नहीं करते। और 'अणसे सवर्णोंका ग्रहण होता है' ऐसा तो यहाँ प्रकृत परिभाषासे बताया गया है। अतः इस परिभाषाकी सामर्थ्य के कारण 'अस्य च्वौ' इत्यादि स्थानोंपर अण् जैसे वर्णसे सवर्णोंका ग्रहण होगा।

वचनाद्यत्र तन्नास्ति ।

नेदं वचनाल्लभ्यम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् । किम् । य एते प्रत्याहाराणामादितो वर्णास्तैः सवर्णानां ग्रहणं यथा स्यात् ॥ एवं तर्हि

सवर्णेऽण्ग्रहणमपरिभाष्यमाकृतिग्रहणात् ॥ ७ ॥

सवर्णेऽण्ग्रहणमपरिभाष्यम् । कुतः । आकृतिग्रहणात् । अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति । तथेवर्णाकृतिः । तथोवर्णाकृतिः । ननु चान्याकृतिरकारस्याकारस्य च ।

अनन्यत्वाच्च ॥ ८ ॥

अनन्याकृतिरकारस्याकारस्य च ।

'इस परिभाषाकी सामर्थ्यके कारण अण् जैसे वर्णसे सवर्णोंका ग्रहण होगा' ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि परिभाषा व्यर्थ नहीं होती। जिस स्थानपर ये दोनों बातें नहीं हैं याने प्रत्यक्ष अण् ही होनेके कारण अण्की तरह नहीं है और उच्चारित होनेके कारण अनुच्चारित भी नहीं है, उस स्थानपर इस प्रकृत परिभाषाका उपयोग होता है।

वह कहाँ ?

ये जो प्रत्याहारके पहले वर्ण हैं वे अण ही हैं और उच्चारित भी हैं। उनमें अपने सवर्णोंका ग्रहण होना चाहिए। (अतः ऐसा अच्छा उपयोग इस परिभाषाका संभव होनेके कारण अण् जैसे स्थानपर यह परिभाषा प्रवृत्त नहीं होगी और 'अस्य च्वौ' स्थानपर सवर्णोंका ग्रहण नहीं होगा ऐसा दोष आता है।)

तो फिर—

(वा. ७) इस सवर्णग्राहक प्रकृत परिभाषामें अण शब्द रखा ही न जाय।

क्यों भला ?

जातिका ग्रहण किया है इसलिए। 'अस्य च्वौ' आदि स्थानोंपर 'अस्य' शब्दसे जो एक प्रकारकी अवर्णोंपरकी अन्वजाति दिखाई है वह उस जातिके सभी अवर्णोंका ग्रहण करेगी। वैसे ही 'एनेकाचो०' (६-४-८१) में इवर्णोंपरकी इन्वजाति सभी इवर्णोंका ग्रहण करेगी और 'ओः सुपि' (६-४-८२) में उवर्णोंकी उन्वजाति सभी उवर्णोंका ग्रहण करेगी।

परंतु ह्रस्व 'अ' का आकार अलग और दीर्घ 'आ' का आकार अलग दीखता है न ?

(वा. ८) अ और आ इनमें जाति अलग नहीं है।

अनेकान्तो ह्यनन्यत्वकरः ॥ ९ ॥

यो ह्यनेकान्तेन भेदो नासावन्यत्वं करोति। तद्यथा। न यो गोश्च गोश्च भेदः सो ऽन्यत्वं करोति। यस्तु खलु गोश्चाश्वस्य च भेदः सो ऽन्यत्वं करोति ॥

अपर आह। सवर्णेऽण्ग्रहणमपरिभाष्यमाकृतिग्रहणादनन्यत्वम्। सवर्णेऽण्ग्रहणमपरिभाष्यम्। आकृतिग्रहणादनन्यत्वं भविष्यति। अनन्याकृतिरकारस्याकारस्य च। अनेकान्तो ह्यनन्यत्वकरः। यो ह्यनेकान्तेन भेदो नासावन्यत्वं करोति। तद्यथा। न यो गोश्च गोश्च भेदः सो ऽन्यत्वं करोति। यस्तु खलु गोश्चाश्वस्य च भेदः सो ऽन्यत्वं करोति ॥

तद्वच्च हल्ग्रहणेषु ॥ १० ॥

एवं च कृत्वा हल्ग्रहणेषु सिद्धं भवति। झलो झलि [८ २ २६] अवात्ताम् अवात्तम् अवात्त। यत्रैतन्नास्त्यणसवर्णान् गृह्णातीति। अनेकान्तो

(वा. ९) जो कुछ अ और आ इस प्रत्येक व्यक्तिके स्वरूपमें कुछ भेद दिखाई देता है उस भेदके कारण कुछ उनकी जातियोंमें अलगपन नहीं दिखाई देता है, जैसे बैलोंमें छोटा, बडा, स्थूल, कृश, इन भेदोंके कारण गोत्वजाति अलग नहीं होती। अब बैल और घोडे में जो भेद है उस भेदके कारण ही केवल उन जातियोंमें निरालापन पैदा होता है।

इन वार्तिकोंकी योजना किसी औरने इस प्रकार की है ?

इस सवर्णग्राहक प्रकृत परिभाषामें अण् शब्द बिलकुल रखा ही न जाय। क्योंकि सभी अवर्णोंमें अत्वजाति एक होनेके कारण उस दृष्टिसे उन सभी अवर्णोंका ऐक्य माना जा सकेगा। अ और आ इनमें कहीं जाति अलग नहीं हुआ करती।

जो कुछ अ और आ इस प्रत्येक व्यक्तिके स्वरूपमें थोडा भेद दिखाई देता है उस भेदके कारण कहीं उनकी जातियोंमें निरालापन नहीं आता। जैसे बैलों-बैलोंमें छोटा, बडा, स्थूल, कृश, इन भेदोंके कारण गोत्वजाति अलग नहीं होती। अब बैल और घोडे में जो भेद है उस भेदके ही कारण केवल उन जातियोंमें निरालापन पैदा होता है।

(वा १०) और इसी प्रकार हलोंका निर्देश किया गया हो वहाँ भी इष्ट सिद्ध होता है, उदा०—'झलो झलि'। (८।२।२६) यहाँ झल् शब्दसे झल्त्व जाति दिखाई जानेके कारण अवात्ताम्, अवात्तम्, अवात्त इन उदाहरणोंमें दो तकार एक साथ ही झल् शब्दसे लिये जा सकते है। और उनमेंसे सकारका लोप होता है। झल् अण् न होनेके कारण 'अणसे सवर्णोंका ग्रहण होता है' यह प्रकृत परिभाषा यहाँ नहीं आती। (और झल् शब्दसे झल्त्व जाति दिखाये बिना व्यक्तिको दिखाया

ह्यनन्यत्वकर इत्युक्तार्थम् ॥

द्रुतविलम्बितयोश्चानुपदेशात् ॥ ११ ॥

द्रुतविलम्बितयोश्चानुपदेशान्मन्यामह आकृतिग्रहणात्सिद्धमिति । यद्यं कस्यांचिद् वृत्तौ वर्णानुपदिश्य सर्वत्र कृती भवति ॥ अस्ति प्रयोजनमेतत् । किं तर्हीति ।

वृत्तिपृथक्त्वं तु नोपपद्यते ॥ १२ ॥

वृत्तेस्तु पृथक्त्वं नोपपद्यते ॥

तस्मात्तत्र तपरनिर्देशात्सिद्धम् ॥ १३ ॥

तस्मात्तत्र तपरनिर्देशः कर्तव्यः । न कर्तव्यः । क्रियत एतन्न्यास एव ।

गया है ऐसा कहा जाय तो अवात्ताम् में दो तकारव्यक्ति एकसाथ झल शब्दसे नहीं दिखाये जा सकेंगे। झल् शब्दसे झलत्व जाति दिखाई है ऐसा मान लिया जानेपर ही ये उदाहरण सिद्ध होते हैं।) क्योंकि यह धातुका तकार, यह प्रत्ययका तकार इस भेदके कारण कहीं उनकी जातियोंमें निरालापन नहीं आता ऐसा अभी बताया गया है।

(वा. ११) इसके सिवा 'धात्वादेः षः सः' (६।१।६४) 'णो नः' (६।१।६५) आदि सूत्रोंमें षः, णः, वर्ण मध्यमवृत्तिमें उच्चारे गये हैं ऐसा गृहीत माना जाय तो द्रुतवृत्तिमें या विलंबित वृत्तिमें वे वर्ण उच्चारित न होनेके कारण सुनोति, नदति, इन उदाहरणोंके वे वर्ण अगर द्रुतवृत्तिमें या विलंबित वृत्तिमें उच्चारे गये तो उनको वे कार्य नहीं होंगे, उससे हम ऐसा मानते हैं कि पाणिनिने षः, णः, जातिकी ओर ध्यान देकर ही उच्चारे हैं क्योंकि किसी एकाध वृत्तिमें भी वर्ण उच्चारा गया तो भी उससे सभी वृत्तियोंका निभेगा ऐसा ही पाणिनि मानते हैं।

जातिपक्ष लेनेका यह उपयोग है सही।

फिर आपका आगे क्या कहना है ?

(वा. १२) जातिपक्ष लिया जाय तो उच्चारणके समयमें कम अधिक मात्रा होनेके कारण प्रतीत होनेवाला वर्णोंका निरालापन कहीं भी आगे नहीं किया जा सकेगा। (अतः ह्रस्व दीर्घ भेद भी निकम्मा सिद्ध होगा और ह्रस्व अकारके आगेके भिस् प्रत्ययको ऐस् आदेश (७।१।९) रामैः में जैसा होता है वैसा सत्त्व भिः में दीर्घ आकारके आगेके भिस प्रत्ययको भी होने लगेगा !

(वा. १३) अतः ऐसे स्थानपर उस ह्रस्व अकारके आगे तकार लगाकर उच्चारण किया जाय[५]।

---

५. यह उच्चारण किया गया तो यहाँ 'तपरस्तत्कालस्य' इस अगले सूत्रमें केवल ह्रस्वोंका ही ग्रहण होगा।

अतो भिस ऐस् [७·१·९] इति ॥

तपरस्तत्कालस्य ॥ १ । १ । ७० ॥

अयुक्तो ऽयं निर्देशः तदित्यनेन कालः प्रतिनिर्दिश्यते तदित्ययं च वर्णः। तत्रायुक्तं वर्णस्य कालेन सह सामानाधिकरण्यम् ॥ कथं तर्हि निर्देशः कर्तव्यः। तत्कालकालस्येति। किमिदं तत्कालकालस्येति। तस्य कालस्तत्कालः। तत्कालः कालो यस्य सो ऽयं तत्कालकालः। तत्कालकालस्येति ॥ स तर्हि तथा निर्देशः कर्तव्यः। न कर्तव्यः। उत्तरपदलोपो ऽत्र द्रष्टव्यः। तद्यथा। उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य सो ऽयमुष्ट्रमुखः। खरमुखः। एवं तत्कालकालस्तत्कालः। तत्कालस्येति ॥

ऐसे स्थानपर जानबूझकर अलग तकार लगाना आवश्यक नहीं। क्योंकि आचार्य पाणिनिने उस स्थानपर याने 'अतो भिस ऐस्' आदि सूत्रोंमें तकार लगाया ही है।

(सू. ७०) जिस वर्णके पास, पीछे या आगे तकारका उच्चारण किया हो वह वर्ण अपने समकाल सवर्णोंका ग्रहण करे। ह्रस्वोंमेंसे उदात्त, अनुदात्त इत्यादि छः प्रकार आपसमें समकाल हैं। तथा दीर्घोंके छः प्रकार भी समकाल समझे जायँ। परन्तु दीर्घ ह्रस्वोंके साथ समकाल नहीं होते। ह्रस्वका उच्चारण करनेके लिए जितना समय लगता है उससे दुगुना समय दीर्घोंके उच्चारणके लिए लगता है और प्लुतके उच्चारणके लिए तिगुना समय लगता है।

इस सूत्रमें पाणिनिने जो 'तत्कालस्य' ऐसा पद रखा है वह ठीक नहीं ऐसा लगता है। क्योंकि उसमेंसे 'तत्' शब्दका 'काल' विशेष्य है। और 'तत्' शब्दसे परामर्श तो वर्णका होता है। अतः उस वर्णका कालके साथ ऐक्य होना असंभव है।

तो फिर सूत्रमें कौनसा पद रखा जाना चाहिए?

'तत्कालकालस्य' ऐसा पद रखना चाहिए।

'तत्कालकालस्य' का अर्थ क्या है?

उसका याने उस वर्णका जो काल याने उच्चारणका काल है वह तत्काल है; वह तत्काल जिस वर्णका काल है वह वर्ण 'तत्कालकाल' है, उस तत्कालकाल वर्णका, ऐसा 'तत्कालकालस्य' का अर्थ है।

तो फिर सूत्रमें वैसा पद रखना चाहिए।

वैसा पद रखना आवश्यक नहीं। 'तत्कालस्य' ऐसा जो मूल पाणिनिने पद रखा है वह 'तत्कालकालस्य' इस अर्थका ही रखा गया है। तत्काल शब्दका जो कालशब्दसे बहुव्रीहि समास किया है उस तत्काल शब्दमें उत्तरपदका याने कालशब्द का लोप यहाँ किया है, जैसा उष्ट्रमुखकी तरह है जिसका मुख उसे 'उष्ट्रमुख कहते हैं। 'खरमुख' शब्द भी वैसा ही है। वैसे ही यहां तत्कालकाल कहना है, अतः 'तत्काल' कहकर उसके आगे 'तत्कालस्य' यह षष्ठी प्रत्यय लगाया गया है। अथवा, जिन दो

अथवा साहचर्यात्ताच्छब्द्यं भविष्यति । कालसहचरितो वर्णोऽपि काल एव ॥

किं पुनरिदं नियमार्थमाहोस्वित्प्रापकम् । कथं च नियमार्थं स्यात्कथं वा प्रापकम् । यद्यत्राण्ग्रहणमनुवर्तते ततो नियमार्थम् । अथ निवृत्तं ततः प्रापकम् ॥ कश्चात्र विशेषः ।

तपरस्तत्कालस्येति नियमार्थमिति चेद्दीर्घग्रहणे स्वरभिन्नाग्रहणम् ॥ १ ॥

तपरस्तत्कालस्येति नियमार्थमिति चेद्दीर्घग्रहणे स्वरभिन्नानां ग्रहणं न प्राप्नोति । केषाम् । उदात्तानुदात्तस्वरितानाम् । अस्तु तर्हि प्रापकम् ॥

प्रापकमिति चेद् ह्रस्वग्रहणे दीर्घप्लुतप्रतिषेधः ॥ २ ॥

प्रापकमिति चेद् ह्रस्वग्रहणे दीर्घप्लुतयोस्तु प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥

पदार्थोका निकट संबंध होता है उन पदार्थोंमेंसे एकका शब्द दूसरेको लगाया जाता है। वर्ण और उसके उच्चारणके कालका निकट संबंध होनेके कारण वर्णोका परामर्श करनेवाला तत् शब्द उस वर्णके उच्चारणकालके अर्थमें रखा गया है ऐसा समझा जाय।

लेकिन क्या इस सूत्रसे नियम बताया है या विधि?

नियम कैसे संभव होता है और विधि कैसे?

अगर पूर्वसूत्रमेंसे अण् शब्दकी यहाँ अनुवृत्ति की तो यह नियम होगा, याने अण्के पास तकार उच्चारा हो तो वहाँ पूर्वसूत्रसे प्राप्त सभी सवर्णोका ग्रहण न करके उसके जो तत्काल सवर्ण होंगे उन्हींका केवल ग्रहण किया जायगा। और अण् शब्दकी अनुवृत्ति नहीं की तो यह विधि होगी और अण्के सिवा अन्यके पास तकार उच्चारा हो वहाँ किन्हीं भी सवर्णोका ग्रहण प्राप्त नहीं हुआ हो वहाँ उस तकारके बलपर तत्काल सवर्णोका ग्रहण किया जायगा।

इन दोनोंमें अंतर क्या है?

(वा. १) 'तपरस्तत्कालस्य' इस प्रकृतसूत्रमे अण्के विषयमें सवर्णग्रहणका नियम किया है ऐसा कहा जाय तो जहाँ 'आतः' (६।४।६४) ऐसा दीर्घको तकार जोडा हो वहाँ सूत्रमें उच्चारित स्वरकी अपेक्षा अलग स्वरसे युक्त दीर्घका ग्रहण नहीं होगा।

अलग स्वरसे युक्त याने कैसे?

उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और अनुनासिक इनमेंसे सूत्रमें जो उच्चारित किया हो उसमे अलग।

तो फिर इस सूत्रमे विधि की है वैसी ही रहने दें।

(वा. २) विधि की है ऐसा कहा जाय तो ह्रस्वको तकार जोडा हो वहाँ (७।१।९) पूर्वसूत्रमे दीर्घ और प्लुत का ग्रहण होने लगेगा उनका निषेध करना चाहिए।

विप्रतिषेधात्सिद्धम् ॥ ३ ॥

अण्सवर्णान्गृह्णातीत्येतदस्तु तपरस्तत्कालस्येति वा तपरस्तत्कालस्येत्येतद्भवति विप्रतिषेधेन। अण्सवर्णान्गृह्णातीत्यस्यावकाशः। ह्रस्वा अतपरा अणः। तपरस्तत्कालस्येत्यस्यावकाश:। दीर्घास्तपरा। ह्रस्वेषु तपरेषूभयं प्राप्नोति। तपरस्तत्कालस्येत्येतद्भवति विप्रतिषेधेन॥ यथैव

द्रुताया तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानं कालभेदात् ॥ ४ ॥

द्रुताया तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानं कर्तव्य तथा मध्यमाया द्रुतविलम्बितयोस्तथा विलम्बिताया द्रुतमध्यमयो। किं पुनः कारण न सिध्यति।

उस स्थानपर निषेध करना आवश्यक नहीं। क्योंकि—

(वा ३) अत, इत् ऐसा ह्रस्वको तकार जोडा हो वहॉं 'अणूसे अपने सवर्णोंका ग्रहण होता है।' ऐसा कहनेवाला पूर्वसूत्र प्राप्त होने दें। परतु वैसा 'तपरस्तत्कालस्य' भी वहॉं प्राप्त होगा ही। अत उन दोनोंमें 'तपरस्तत्कालस्य' यह प्रकृतसूत्र पूर्वसूत्रके परत्वके कारण ((१।४।२) बाधा पहुँचायेगा। 'अण् से सवर्णोंका ग्रहण होता है' ऐसा बतानेवाले पूर्वसूत्रका उपयोग ह्रस्वको तकार न जोडा हो वहॉं होता है (उदा० 'अस्य च्वौ' (७।४।३२) में ह्रस्व अण् होनेके कारण पूर्वसूत्र लागू होता है। तकार न जोडनेके कारण यह प्रकृतसूत्र लागू नहीं होता।) वैसे ही 'तपरस्तत्कालस्य' इस प्रकृतसूत्रका उपयोग दीर्घको तकार जोडा हो वहॉं होता है (उदा० 'आतो लोप इटि च' (६।४।६४) में दीर्घ अण् न होनेके कारण पूर्वसूत्र लागू नहीं होता। तकार न जोडनेके कारण प्रकृतसूत्र लागू होता है।) अत्र ह्रस्वको तकार जोडा हो वहॉं पूर्वसूत्र और प्रकृतसूत्र ये दोनों सूत्र उपस्थित होते हैं उनमें 'तपरस्तत्कालस्य' से पूर्वसूत्रका परत्वके कारण बाध करके तत्काल सवर्णोंका ही ग्रहण होता है।

परतु तत्काल सवर्णोंका ग्रहण हुआ तो—

कालभेदात् । ये हि द्रुतायां वृत्तौ वर्णास्त्रिभागाधिकास्ते मध्यमायां ये मध्यमायां वर्णास्त्रिभागाधिकास्ते विलम्बितायाम् ॥

सिद्धं त्ववस्थिता वर्णा वक्तुश्चिराचिरवचनाद् वृत्तयो विशिष्यन्ते ॥ ५ ॥

सिद्धमेतत् । कथम् । अवस्थिता वर्णा द्रुतमध्यमविलम्बितासु । किंकृतस्तर्हि वृत्तिविशेषः । वक्तुश्चिराचिरवचनाद् वृत्तयो विशिष्यन्ते । वक्ता कश्चिदाश्वभिधायी भवति । आशु वर्णानभिधत्ते । कश्चिच्चिरेण कश्चिच्चिरतरेण । तद्यथा । तमेवाध्वानं कश्चिदाशु गच्छति कश्चिच्चिरेण गच्छति । कश्चिच्चिरतरेण गच्छति । रथिक आशु गच्छत्याश्विकश्चिरेण ॥ पदातिश्चिरतरेण ॥ विषम उपन्यासः ।

कारण यह कि 'कालभेदात्' याने द्रुतके उस वर्णके उच्चारणका और उदाहरणके उसी वर्णके उच्चारणका काल कम अधिक हो रहा है। देखिए, द्रुत वृत्तिमें उच्चारित वर्ण ही अगर मध्यम वृत्तिमें उच्चारित किये तो वहाँ द्रुतवृत्तिकी अपेक्षा एक तिहाई समय अधिक लगता है। वैसे ही मध्यम वृत्तिमें उच्चारित वर्ण ही अगर विलंबित वृत्तिमें उच्चारित किये तो वहाँ मध्यम वृत्तिकी अपेक्षा एक तिहाई समय अधिक लगता है।

(वा. ५) यह सिद्ध होता है। सो कैसे?

द्रुत वृत्ति, मध्यम वृत्ति और विलंबित वृत्ति इन तीनों वृत्तियोंमें वर्ण एक ही स्वरूपके होते हैं[1]। (अर्थात् उनके कालमें कम अधिक मात्रा नहीं होती।)

तो फिर इन तीनों वृत्तियोंमें समयमें फर्क कैसे होता है?

एकाध वक्ता जल्द बोलनेवाला होता है। उसके बोलनेमें वर्ण जल्दी उच्चारे जाते हैं। एकाध वक्ता उससे थोडा धीरे बोलता है। एकाध वक्ता उससे भी धीरे बोलता है और एकाध वक्ताको तो बोलनेके लिए बहुत अधिक समय लगता है, जैसे एक ही मार्गसे अनेक लोग जाते हैं, पर उनमें एकाध बहुत ही जल्द जाता है, एकाधको उससे थोडा अधिक समय लगता है, एकाधको उससे भी अधिक समय लगता है और एकाधको तो बहुत ही समय लगता है। गाडीमेंसे जानेवाला मनुष्य बहुत जल्दी जाता है। उसकी अपेक्षा घोडेपर सवार होकर जानेवालेको थोडा अधिक समय लगता है। पैदल चलनेवालेको उससे भी अधिक समय लगता है और छोटे बच्चेको तो बहुत ही समय लगता है।

---

१ वर्णोंका जो मूलभूत नित्य स्वरूप है वह निर्माण नहीं होता। व्यंजक ध्वनिके उच्चारणमें वह केवल अभिव्यक्त होता है। तब वृत्तिभेदके कारण व्यंजक ध्वनिके उच्चारणके कालमें फर्क हुआ तो भी उससे होनेवाली वर्णके मूल स्वरूपकी जो अभिव्यक्ति है उस अभिव्यक्तिका काल तीनों वृत्तियोंमें समान ही रहता है। बोलनेमें जो समय लगता है उससे वर्णके उच्चारणके लिए कुछ समय जाता है और कुछ समय दो वर्णोंके उच्चारणके बीचमें बीतता है। अत्यन्त शीघ्र भाषण किया तो भी दो वर्णोंके उच्चारणमें कमसे कम अर्धमात्रापरिमाणका समय बीतता ही है। वह ध्यानमें भी नहीं आता है।

अधिकरणमत्राध्वा व्रजतिक्रियायाः । तत्रायुक्तं यदधिकरणस्य वृद्धिह्रासौ स्याताम् ॥ एवं तर्हि स्फोटः शब्दो ध्वनि शब्दगुणः । कथम् । भेर्याघातवत् । तद्यथा भेर्याघातः । भेरीमाहत्य कश्चिद्विंशति पदानि गच्छति कश्चित्त्रिंशत्कश्चिच्चत्वारिंशत् । स्फोटश्च तावानेव भवति ध्वनिकृता वृद्धिः ॥

ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते ।
अल्पो महांश्च केषांचिदुभयं तत्स्वभावतः ॥

आदिरन्त्येन सहेता ॥ १ । १ । ७१ ॥

आदिरन्त्येन सहेतेत्यसंप्रत्ययः संज्ञिनो ऽनिर्देशात् ॥ १ ॥

आदिरन्त्येन सहेतेत्यसंप्रत्ययः । किं कारणम् । संज्ञिनो ऽनिर्देशात् । न

परंतु यह दृष्टान्त ठीक लागू नहीं होता। क्योंकि मार्ग गमनक्रियाका केवल अधिकरण है (वह कहीं उस गमनक्रियाके योगसे उत्पन्न नहीं होता।) अतः गमनक्रियाके भिन्न भिन्न प्रकारोंके कारण उस अधिकरणमें कमी वा अधिकता होना संभव ही नहीं होता। (और यहाँ उच्चारणक्रियासे वर्ण उत्पन्न होनेके कारण उस क्रियाके भिन्न भिन्न प्रकारोंके वर्णके कारण उच्चारण कालमें कमअधिकता होना संभव है।)

तो फिर यहाँ शब्द नित्य ही है (वह कहीं उच्चारणक्रियासे उत्पन्न नहीं होता। उच्चारणक्रियासे उत्पन्न होनेवाली जो ध्वनि है वह उस नित्यशब्दकी व्यंजक है।

सो कैसे ?

जैसे नगाड़ा बजानेवाला आदमी नगाड़ा बजाकर चला जानेके बाद उस नगाड़ेकी जबतक ध्वनि सुनाई देती है तबतक कोई बीस कदम चलता है, कोई तीस कदम चलता है, तो कोई चालीस कदम (इस कारण उस ध्वनिमें कोई फर्क होता ही है सो बात नहीं।) वैसा यहाँ नित्य शब्द एक ही स्वरूपका तीनों वृत्तियोंमें है। केवल ध्वनिके भेदके कारण अधिक समय लगता है। ध्वनि और स्फोट (याने मूल नित्य शब्द) ये शब्दके दो प्रकार हैं। उनमें ध्वनि किसीको छोटी, किसीको बडी प्रतीत होती है। ये दोनों बातें उस ध्वनिके स्वभावपर निर्भर हैं। (मूल ध्वनिसे व्यक्त मूलका नित्य शब्द सर्वत्र एक स्वरूपका ही होता है।)

(सू. ७१) किसी वर्ण, प्रत्यय, धातु आदिका समुदाय इस तरह ध्यानमें रखा जाय कि जिसका अन्त्य वर्ण इत्संज्ञक है। तदनन्तर उस समुदायके पहले वर्णको प्रत्ययको वा धातुको वह अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण आगे जोड़के जो शब्द सिद्ध होगा वह शब्द उस समुदायकी संज्ञा होती है।

(वा. १) 'आदिरन्त्येन सहेता' इस प्रकृत सूत्रसे कहीं अर्थबोध नहीं होता। क्यों भला ?

हि संज्ञिनो निर्दिश्यन्ते ॥

सिद्धं त्वादिरिता सह तन्म यस्येति वचनात् ॥ २ ॥

सिद्धमेतत् । कथम् । आदिरन्त्येन सहेता गृह्यमाण स्वस्य च रूपस्य ग्राहकस्तन्मध्यानां चेति वक्तव्यम् ॥

संबन्धिशब्दैर्वा तुल्यम् ॥ ३ ॥ '

सबन्धिशब्दैर्वा तुल्यमेतत् । तद्यथा सबन्धिशब्दा मातरि वर्तितव्य पितरि शुश्रूषितव्यमिति । न चोच्यते स्वस्या मातरि स्वस्मिन्पितरीति सबन्धाच्च गम्यते या यस्य माता यश्च यस्य पितेति । एवमिहाप्यादिरन्त्य इति सबन्धिशब्दावेतौ । तत्र सबन्धादेतद्गन्तव्य य प्रत्यादिरन्त्य इति न भवति तस्य ग्रहण भवति स्वस्य च रूपस्येति ॥

येन विधिस्तदन्तस्य ॥ १ । १ । ७२ ॥

इह कस्मान्न भवति । इको यणचि [६ १ ७७] दध्यत्र मध्वत्र ।

'संज्ञिनोऽनिर्देशात्' याने इस सूत्रद्वारा बतायी हुई संज्ञा जिन्हें करनी है वे संज्ञी कौन है यह इस सूत्रमें बताया नहीं है इसलिए।

(वा २) यह सिद्ध होता है।

सो कैसे ?

अन्त्य इत्संज्ञकके साथ उच्चरित आदि स्वयके स्वरूपकी और आदि और अन्त्य इन दोनोंके बीचमें जो होंगे उनकी संज्ञा होती है ऐसा कहा जाय।

(वा ३) अथवा सबधी शब्दोंकी तरह यहाँ समझा जाय, जैसे लोकमें 'माँके सामने नम्रतासे व्यवहार किया जाय, पिताकी सेवा की जाय' इस वाक्यमें माँ, पिता ये सबधी शब्द है। वहाँ अपनी माँ, अपना पिता ऐसा न भी कहा हो तो भी उन सबधी शब्दोंके बलपर जो जिसकी माँ और जो जिसका पिता हो उसीको उन मा पिताके विषयमें वैसा व्यवहार रखना चाहिये यह अपने आप मालूम हो जाता है। वैसे ही यहा भी आदि और अन्त्य ये सबधी शब्द है। अत उनके उन सबधोंके कारण ऐसा मालूम होता है कि ये आदि और अन्त्य जिसके है उन्हींकी यह संज्ञा होती है और स्वयके स्वरूपकी भी संज्ञा होती है।

(सू ७२) वर्ण, प्रत्यय आदि विशेषण यदि किसी भी विशेष्यका दिया गया हो तो वहाँ तद्विशेषणान्त समुदायकी वह विशेषण संज्ञा होती है और अपनी भी संज्ञा होती है।

इस प्रकृतसूत्रमे 'इको यणचि' (६।१।७७) में तदन्तविधि क्यों नहीं होती ?

---

१ शब्दस्वरूपको विशेष्य समझकर यह तदन्तविधि आगया ऐसा नहीं है। इस शब्दशास्त्रमें शब्दस्वरूप यह विशेष्य अध्याहृत रूपमें सर्वत्र लिया जा सकता है।

अस्तु । अलो ऽन्त्यस्य विधयो भवन्तीत्यन्त्यस्य भविष्यति । नैव शक्यम् । ये ऽनेकाल आदेशास्तेषु दोष[२] स्यात् । एचो ऽयवायाव [६ १ ७८] इति । नैष दोषः । यथैव प्रकृतितस्तदन्तविधिर्भवत्येवमादेशतो ऽपि भविष्यति । तत्रेजन्तस्यायायन्ता आदेशा भविष्यन्ति ॥ यदि चैवं क्वचिद्वैरूप्य तत्र दोषः स्यात् । अपि चान्तरङ्गबहिरङ्गे न प्रकल्पेयाताम् । तत्र को दोषः । स्योनः स्योना । अन्तरङ्गलक्षणस्य यणादेशस्य बहिरङ्गलक्षणो गुणो बाधक[३] प्रसज्येत । ऊनशब्द

अगर हुई तो इगतको याने इक् अतमें होनेवाले शब्दस्वरूपको यण् होता है ऐसा अर्थ होगा, और दध्यत्र, मध्वत्र में दधि, मधु, इन इगतोंको यण् प्राप्त होगा।

वहाँ तद्तविधि हुई तो होने दीजिए। 'अत्य अल्के स्थानपर आदेश होता है' (१ १ ५२) इस परिभाषासे दधि, मधु, इनमेंसे अतिम इक्को यण् होगा।

परतु ऐसा सब स्थानोंपर अतिम वर्णको ही आदेश करना ठीक नहीं। क्योंकि 'एचोयवायाव' (६ १ ७८) आदि सूत्रोंद्वारा जो अनेकाल् आदेश बताये हैं वे सर्वादेश (१-१ ५५) होंगे ऐसा दोष आता है।

यह दोष नहीं आता। क्योंकि जैसे एच् इस स्थानीके संबधमें तद्तविधि होगी वैसा अय् आदि आदेशोंके सबधमें भी होगी। अतः एजत शब्दोंको अय् आदि अतमें होनेवाले शब्द आदेश होंगे। इसलिए एकारान्त शब्दको अय् आदि अतमें होनेवाला शब्द आदेश होता है वैसे ही ओ, ऐ, औ आदिके बारेमें समझा जाय।

ऐसा होनेपर भी जिस एकाध स्थानपर रूपमें फर्क होगा वहाँ दोष आ ही जायगा। उदा० ब्रह्मेंद्र[३], ब्रह्मोदकम्। इसके सिवा बहिरगभाव पहलेकी तरह कायम नहीं रहेगा।

फिर उसमें दोष कौनसा?

स्योनः स्योना में दोष आता है। यहाँ सिव् धातुसे न प्रत्यय और ऊठ (६-१ १९) करनेके बाद 'सिऊ न' ऐसी स्थिति होनेपर गुण (७।३।८६) बहिरग होनेके कारण उसका बाध करके अतरगके कारण इकारको यण् (६।१।७७) होता है, वह अब उल्टा यण्का गुण बाधक होगा। क्योंकि ऊन शब्दके निमित्त यण् प्राप्त होता है, और उसमेंसे न शब्दके निमित्त गुण प्राप्त होता है (इसलिए यण् की अपेक्षा गुण ही

---

२ 'हरे एहि' में 'हरे' इस एकारान्त शब्दको जो अयन्त आदेश कर्तव्य है वह रामय् आदि अन्य कोई न किया जाय। वहाँ अत्यन्त सदृश 'हरय्' यही आदेश 'स्थानेन्तरतम' (१।१।५०) परिभाषासे होता है।

३ यहाँ 'ब्रह्म' इस अकारान्तके आगे 'इन्द्र' यह अजादि होनेपर पूर्वपर इन दोनोंके स्थानमें 'ब्रह्मेन्द्र' यह एकार गुण बीचमें होनेवाला आदेश होना चाहिये। परन्तु तद तविधि हुई तो गुणान्त आदेश होके रूप बिगड जायगा।

ह्याश्रित्य यणादेशो नशब्दमाश्रित्य गुणः ॥ अल्विधिश्च न प्रकल्पेत। द्यौः पन्थाः स इति ॥ तस्मात्प्रकृते तदन्तविधिरिति वक्तव्यम्। न वक्तव्यम्। येनेति करण एषा तृतीया । अन्येन चान्यस्य विधिर्भवति । तद्यथा। देवदत्तस्य समार्शं शरावैरोदनेन च यज्ञदत्तः प्रतिविधत्ते। तथा संग्रामं हस्त्यश्वरथपदातिभिः। एवमिहाप्यचा धातोर्यतं विधत्ते। अकारेण प्रातिपदिकस्येञं विधत्ते ॥

येन विधिस्तदन्तस्येति चेद्ग्रहणोपाधीनां तदन्तोपाधिप्रसङ्गः ॥१॥

येन विधिस्तदन्तस्येति चेद् ग्रहणोपाधीनां तदन्तोपाधिताप्रसङ्गः। ये ग्रहणोपाधयस्तेऽपि तदन्तोपाधयः स्युः। तत्र को दोषः। उतश्च प्रत्ययादसंयोग-

---

अंतरंग होता है।) इसके अलावा अल्के स्थानमें होनेवाले आदेश अब अल् अंतमें होनेवाले शब्दको होनेके कारण 'द्यौः पन्थाः सः' में सुप्रत्ययका लोप (६-१-६८) यह अल्विधि कैसे सो नहीं बताया जा सकेगा। अतः विशेष्य उपस्थित हो वहाँ प्रकृतसूत्रमें तदंतविधि होती है ऐसा कहना चाहिए।

वैसा कहना आवश्यक नहीं। इस प्रकृतसूत्रमें येन यह तृतीया करण अर्थमें की गई है (२-३-१८) करण याने साधन। एक साधनसे दूसरे किसीको विधि बताई जा सकती है, जैसे यज्ञदत्त थाली, भात, आदि साधनोंसे देवदत्तको भोज देता है। हाथी, घोड़े, रथ और पदाति आदि साधनोंसे युद्ध करता है इ०। वैसे इस शास्त्रमें आचार्य पाणिनि अच् साधनसे धातुको यत् प्रत्यय आगे करनेको बताते हैं। (३-१-९७) वैसे ही अकार साधनसे प्रातिपदिकको इञ् प्रत्यय आगे करनेको बताते हैं (४।१।९५)। (अतः वहाँ अच्, अकार, ये साधन होनेके कारण वहाँ प्रकृत सूत्रसे तदन्तविधि होती है। 'इको यणचि' आदि स्थानोंपर इक्को ही यण् विधि बताई है। इक् साधनसे दूसरे किसीको यण बताया है ऐसा यहाँ नहीं बताया जा सकता। क्योंकि वैसा यहाँ दूसरा कोई शब्द नज़र नहीं आता। निदान विशेष्य के बिना तदन्तविधि नहीं होती ऐसा सिद्ध होता है।)

(वा. १) 'किसी भी विशेष्यको जिस विशेषणके योगसे कुछ कार्य बताया जाता है वह विशेषण तदंतकी संज्ञा होता है।' ऐसा कहा जाय तो 'ग्रहणोपाधीनां तदन्तोपाधिताप्रसङ्गः' याने सूत्रमें उच्चारित उस विशेषणको जो विशेषण लगाये हैं वे तदंतके विशेषण होंगे।'

फिर वैसा हुआ तो दोष कौनसा है?

'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' (६।४।१०६) में 'असंयोगपूर्व यह जो उकारका विशेषण है वह अब उकारान्तका होगा। (क्योंकि प्रकृतसूत्रमें उकार उकारांतकी संज्ञा होती है।)

---

४. इस अल्विधिका उपपादन पहले किया है; सू. ५६ टि. ५ देखिये।

पूर्वात् [६·४·१०६] इत्यसंयोगपूर्वग्रहणमुकारान्तविशेषणं स्यात् । तत्र को दोषः । असंयोगपूर्वग्रहणेनेहैव पर्युदासः स्यात् । अक्ष्णुहि तक्ष्णुहीति । इह न स्यात् । आप्नुहि शक्नुहीति ॥ तथोदोष्ठ्यपूर्वस्य [७·१·१०२] इत्योष्ठ्यपूर्वग्रहणमृकारान्तविशेषणं स्यात् । तत्र को दोषः । ओष्ठ्यपूर्वग्रहणेनेह च प्रसज्येत । संकीर्णमिति । इह च न स्यात् । निपूर्ताः पिण्डा इति ॥

सिद्धं तु विशेषणविशेष्ययोर्यथेष्टत्वात् ॥ २ ॥

सिद्धमेतत् । कथम् । यथेष्टं विशेषणविशेष्ययोर्योगो भवति । यावता यथेष्टमिह तावदुतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वादिति नासंयोगपूर्वग्रहणेनोकारान्तं विशेष्यते । किं तर्हि । उकार एव विशेष्यते । उकारो यो ऽसंयोगपूर्वस्तदन्तात् प्रत्ययादिति ॥ तथोदोष्ठ्यपूर्वस्येति नौष्ठ्यपूर्वग्रहणेन ऋकारान्तं विशेष्यते । किं

फिर वैसा होनेमें दोष कौनसा है ?

' उकारके पूर्व संयोग हो तो अगले ही प्रत्ययका लोप नहीं होता । ' यह जो ' असंयोगपूर्व ' शब्दसे निषेध किया है वह अब अक्ष्णुहि में उकारान्तके, याने नु प्रत्ययके, पहले क्ष संयोग होनेके कारण वहीं होगा । और आप्नुहि, शक्नुहि, में ' हि ' यद्यपि उकारके पूर्व संयोग हो तो भी उकारान्तके, याने नु प्रत्ययके, पूर्व संयोग न होनेके कारण नहीं होगा । अतः वहाँ हि प्रत्ययका लोप होने लगेगा ऐसा दोष आता है । वैसे ही ' उदोष्ठ्यपूर्वस्य ' (७।१।१०२) में ' ओष्ठ्यपूर्व ' विशेषण ऋकारका न होकर ऋकारान्तका होगा ।

फिर वैसा हुआ तो दोष कौनसा है ?

दोष यह कि संकीर्ण में कॄ, गॄ, इन ऋकारान्तोंके पूर्व सम् उपसर्गका मकार ओष्ठस्थानका वर्ण होनेके कारण ऋकारको उकार आदेश होने लगेगा और निपूर्ताः पिण्डाः में पृधातुके ऋकारके पूर्व पकार यद्यपि ओष्ठस्थानका वर्ण है, तो भी ऋकारान्तके मॄ, पॄ धातुओंके पूर्व ओष्ठस्थानका वर्ण न होनेके कारण ऋकारको उकार आदेश नहीं होगा ।

(वा. २) सो कैसे ?

विशेषण और विशेष्यका संबंध अपनी इच्छाके अनुसार चाहे जैसा किया जा सकता है इस लिए । अमुक विशेषण अमुकका ही होगा ऐसा नियम कहीं भी न समझा जाय । अतः यह बात अपनी इच्छापर ही अगर निर्भर है तो ' उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् ' (६।४।१०६) में ' असंयोगपूर्व ' विशेषण उकारान्तका नहीं करते, उकारका ही करते हैं । अर्थात् जिसके पूर्व संयोग नहीं है ऐसा उकार, तदन्त प्रत्ययके आगेके ' हि ' प्रत्ययका लुक् होता है ऐसा अर्थ होगा ।

तर्हि । ऋकार एव विशेष्यते । ऋकारो य ओष्ठ्यपूर्वस्तदन्तस्य धातोरिति ॥

समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः ॥ ३ ॥

समासविधौ प्रत्ययविधौ च प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥ समासविधौ तावत् । द्वितीया श्रितादिभिः समस्यते । कष्टश्रितः नरकश्रितः । कष्टं परमश्रित इत्यत्र मा भूत् ॥ प्रत्ययविधौ । नडस्यापत्यं नाडायनः । इह न भवति । सूत्रनडस्यापत्यं सौत्रनाडिः । किमविशेषेण । नेत्याह ।

उगिद्वर्णग्रहणवर्जम् ॥ ४ ॥

उगिद्ग्रहणं वर्णग्रहणं च वर्जयित्वा । उगिद्ग्रहणम् । भवती अतिभवती महती अतिमहती । वर्णग्रहणम् । अत इञ् [४-१-९५] दाक्षिः प्लाक्षिः ॥

'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (७।१।१०२) में 'ओष्ठस्थानका वर्ण जिसके पूर्व है ऐसा जो ऋकारान्त धातु यह समझकर 'ओष्ठ्यपूर्व' यह विशेषण ऋकारान्तका नहीं करते, ऋकारका ही करते है । अर्थात् 'ओष्ठस्थानका वर्ण जिसके पूर्व है ऐसा ऋवर्ण जिसके अन्तमें है वह धातु' ऐसा अर्थ होगा ।

(वा. ३) समासविधायक शास्त्रमें और प्रत्ययविधायक शास्त्रमें प्रकृतसूत्रसे तदन्तविधि नहीं होती ऐसा निषेध बताना चाहिए। उनमेंसे समासविधायक शास्त्रका उदाहरण—द्वितीयान्त पूर्वपदका जो श्रित आदि उत्तरपदके साथ बनाया हुआ (२।१।२४) तत्पुरुषसमास कष्टं श्रितः कष्टश्रितः, नरकं श्रितः नरकश्रितः, में होता है वैसा कष्ट परमश्रितः में श्रितान्त उत्तरपदके साथ नहीं होना चाहिए। प्रत्ययविधायक शास्त्रका उदाहरण – नड आदि शब्दोंसे अपत्य अर्थमें बताया हुआ (४।१।९९) फक् प्रत्यय नडस्य अपत्यं नाडायनः में होता है वैसा सूत्रनडस्यापत्यं सौत्रनाडिः में नडशब्दान्तसे नहीं होना चाहिए ।

क्या 'यह तदन्तविधिका निषेध अमुक प्रकारके विशेषणके संबंधमें ही लिया जाय' ऐसा विशेष न मानकर सर्वसाधारणतया सभी विशेषणोंके संबंधमें लिया जाय ?

वैसा नहीं है ऐसा वार्तिककार कहते है।

(वा.४) उगित् ऐसा उच्चारा हो या अ, इ आदि वर्ण उच्चारे हों तो उन्हें छोड़ अन्य विशेषणोंके संबंधमें वह निषेध लिया जाय। (अतः उगित् या वर्ण अगर विशेषण हो तो वहाँ वे तदन्तकी संज्ञा हो ही जायेंगे।) उगित्का उदाहरण—उगितश्च (४।१।६) सूत्रसे बनाया हुआ ङीप् प्रत्यय भवती, महती में भवत्, महत्, इन उगित् प्रातिपदिकोंसे होता है वैसा अतिभवती, अतिमहती, में अतिभवत्, अतिमहत् इन उगित् अंतमें होनेवाले प्रातिपदिकसे भी होता है। वर्णग्रहणका उदाहरण अत इञ् (४।१।९५) सूत्रसे ह्रस्व अकारसे अपत्य अर्थमें बताया इञ् प्रत्यय दाक्षिः, प्लाक्षिः में दक्ष, प्लक्ष इस ह्रस्व अकारान्त प्रातिपदिकमें होता है।

अस्ति चेदानीं कश्चित्केवलो ऽकारः प्रातिपदिकं यदर्थो विधिः स्यात्। अस्ती-त्याह। अततेर्डः अः तस्यापत्यम् अत इञ् इः॥

अकच्श्नम्वतः सर्वनामाव्ययधातुविधावुपसंख्यानम् ॥ ५ ॥

अकज्वतः सर्वनामाव्ययविधौ श्नम्वतो धातुविधावुपसंख्यानं कर्तव्यम्। अकज्वतः। सर्वके विश्वके। अव्ययविधौ। उच्चकैः नीचकैः। श्नम्वतः। भिनत्ति छिनत्ति॥ किं पुनः कारणं न सिध्यति। इह तस्य वा ग्रहणं भवति तदन्तस्य वा। न चेदं तन्नापि तदन्तम्॥

लेकिन क्यों जी, 'अत इञ्' में तदन्तविधि नहीं हुई तो उसके लिए उदाहरण मिलने योग्य 'अ' यही केवल प्रातिपदिक है क्या?

है ऐसा कहते है। अत् धातुसे 'ड' प्रत्यय करके अत् इस टी का लोप होनेपर केवल 'अ' इतना प्रातिपदिक तैयार होता है। इससे 'अत इञ्' से अपत्य अर्थमें इञ् प्रत्यय किया जानेपर अस्य अपत्यम् इः ऐसा रूप होता है।

(वा. ५) अकच् प्रत्ययसे युक्त शब्दस्वरूपको सर्वनामसंज्ञा और अव्ययसंज्ञा होती है और श्नम् प्रत्ययसे युक्त शब्दस्वरूपको धातुसंज्ञा होती है ऐसा तत्तत् संज्ञा बतानेवाले शास्त्रमें कहा जाय। सर्वके, विश्वके, में सर्व और विश्व इन शब्दोंके अंतिम अकारके पूर्व अकच् (५।३।७१) याने अक् प्रत्यय होनेकेबाद उस अकच् प्रत्ययसे युक्त सर्वक, विश्वक इन शब्दस्वरूपोंको सर्वनामसंज्ञा होनेके कारण उसके आगे जस् प्रत्ययको शी आदेश (७।१।१७) होता है। वैसे ही उच्चकैः, नीचकैः में उच्चैस्, और नीचैस् इन शब्दोंके ऐस् भागके पहले अकच् प्रत्यय होनेपर उस अकच् प्रत्ययसे युक्त उच्चकैस्, नीचकैस्, इन शब्द स्वरूपोंको अव्ययसंज्ञा (१।१।३७) होनेके कारण आगेके 'सु' प्रत्ययका लुक (२।४।८२) होता है। वैसे ही भिनत्ति, छिनत्ति में भिद और छिद धातुके इकारके आगे श्नम् याने न ऐसा प्रत्यय होनेपर उस श्नम् प्रत्ययसे युक्त भिनद, छिनद शब्दस्वरूपोंको धातुसंज्ञा (१।२।१)होनेके कारण अन्त्य उदात्त होना (६।१।१६२) आदि कार्य होते हैं।

परंतु इन उदाहरणोंमें अकच् और श्नम् प्रत्यय होनेपर वे संज्ञाएँ उन्हें न होनेका क्या कारण होगा भला?

कारण यह कि इस शास्त्रमें उच्चारित शब्दसे उसका याने स्वयंका ग्रहण होता है और प्रकृतसूत्रसे तदन्तका ग्रहण होता है। सर्वनामसंज्ञा बताते समय गणमें सर्व, विश्व ऐसे शब्द उच्चारे हैं। अकच् प्रत्ययसे युक्त सर्वक सर्वशब्द नहीं और सर्वशब्दान्त भी नहीं। (अतः सर्वकको सर्वनामसंज्ञा नहीं होगी।)

सिद्धं तु तदन्तान्तवचनात् ॥ ६ ॥

सिद्धमेतत् । कथम् । तदन्तान्तवचनात् । तदन्तान्तस्येति वक्तव्यम् । किमिदं तदन्तान्तस्येति । तस्यान्तस्तदन्तः । तदन्तोऽन्तो यस्य तदिदं तदन्तान्तम् । तदन्तान्तस्येति ॥ स तर्हि तथा निर्देशः कर्तव्यः । न कर्तव्यः । उत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः । तद्यथा । उष्ट्रमुखमिव मुखमस्योष्ट्रमुखः । खरमुखः । एवमिहापि तदन्तोऽन्तो यस्य तदन्तस्येति ॥

तदेकदेशविज्ञानाद्वा सिद्धम् ॥ ७ ॥

तदेकदेशविज्ञानाद्वा पुनः सिद्धमेतत् । तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते । तद्यथा । गङ्गा यमुना देवदत्तेति । अनेका नदी गङ्गां यमुनां च प्रविष्टा गङ्गा-

---

(वा. ६ यह सिद्ध होता है।

सो कैसे ?

तदन्तान्तवचनात् याने प्रकृतसूत्रमें 'तदन्तस्य' के स्थानपर 'तदन्तान्तस्य' कहा जाय।

तदन्तान्तस्य याने क्या ?

उसका अंत वही तदन्त है। वह तदन्त जिसके अंतमें है वह तदन्तान्त शब्दस्वरूप है। उस तदन्तान्तका विशेषणसे ग्रहण होता है ऐसा प्रकृतसूत्रका अर्थ है।

तो फिर प्रकृतसूत्रमें वैसा याने तदन्तान्तस्य ऐसा कहना चाहिए।

वैसा कहना आवश्यक नहीं। प्रकृतसूत्रमें जो तदन्तस्य शब्द उच्चारित है उसमें उत्तरपदका लोप हुआ है ऐसा समझा जाय। जिस प्रकार उष्ट्रमुखकी तरह जिसका मुख है उसे 'उष्ट्रमुखमुख' ऐसा न कहकर 'उष्ट्रमुख' ही कहते है, वैसे ही खरमुख कहते है, उसी प्रकार प्रकृतसूत्रमें भी तदन्त जिसका अंत है उसे 'तदन्तान्तका' न कहकर 'तदन्त' ऐसा कहा है, उस तदन्तका याने तदन्तान्तका विशेषणसे ग्रहण होता है यह प्रकृतसूत्रका अर्थ है।

(वा. ७) या जो जिस शब्दमें प्रविष्ट होता है वह उस शब्दका एकदेश ही माना जानेके कारण यह सिद्ध होता है। क्योंकि जो जिस शब्दका एकदेश जैसा होता है वह उसी शब्दसे लिया जाता है। जैसे गंगा, यमुना, देवदत्ता आदि। गंगामें, यमुनामें अनेक नदियाँ जिसमें प्रविष्ट हुई है वे गंगा, यमुना ही ली जाती है वैसे ही

---

५. 'सर्व' शब्दसे 'सर्व' जिसके अन्तमें है उस शब्दका ग्रहण होता है ऐसा न समझा जाय, किन्तु 'सर्व' शब्दका जो अन्त अर्थात् अकार है वह जिसके अन्तमें है उस सर्वक शब्दका ग्रहण होता है। 'सर्वक' के अन्तमें 'सर्व शब्द नहीं है, पर 'सर्व' शब्दके अन्तका अकार 'सर्वक' शब्दके अन्तमें है।

यमुनाग्रहणेन गृह्यते । तथा देवदत्तास्थो गर्भो देवदत्ताग्रहणेन गृह्यते ॥ विषम उपन्यास । इह केचिच्छब्दा अक्तपरिमाणानामर्थाना वाचका भवन्ति य एते सख्याशब्दा परिमाणशब्दाश्च । पञ्च सप्तेत्येकेनाप्यपाये न भवन्ति । द्रोण खार्याढकमिति नैवाधिके भवन्ति न न्यूने । केचिद्यावदेव तद्भवति तावदेवाहुर्य एते जातिशब्दा गुणशब्दाश्च । तैल घृतमिति खार्यामपि भवन्ति द्रोणे ऽपि । शुक्लो नील कृष्ण इति हिमवत्यपि भवति वटकणिकामात्रे ऽपि द्रव्ये । इमाश्चापि सज्ञा अक्तपरिमाणानामर्थाना क्रियन्ते ता केनाधिकस्य स्यु ॥ एव तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति तदेकदेशभूत तद्ग्रहणेन गृह्यत इति यदय नेदमदसोरको [७ १ ११] इति सककारयोरिदमदसो प्रतिषेध शास्ति । कथ कृत्वा ज्ञापकम् । इदमदसो कार्यमुच्यमान क प्रसङ्गो यत्सककारयो स्यात् ।

देवदत्तानामक स्त्रीके उदरमें गर्भ प्रविष्ट होनेपर उस गर्भ के साथ स्त्रीको देवदत्ता कहते है।

यह दृष्टान्त ठीक नहीं। देखिए, कुछ शब्द नियतस्वरूपके ही वाचक होते है, उदाहरणार्थ, सख्याशब्द और परिमाणशब्द। पॉच, सात, इ० सख्याशब्दोंका प्रयोग एकाध कम होनेपर उतनेसे नहीं होता। वैसे ही द्राण (आधा मन), खारी (डेढ मन) आढक (चार सेर), आदि परिमाणशब्दोंका प्रयोग कुछ कम अधिक होनपर उतनेसे नहीं किया जाता। कुछ शब्द ऐसे है कि वस्तु कम हो, अधिक हो, वह उस शब्दसे दिखाई जाती है, जैसा तेल, घी, ये जातिशब्द तेल, घी, वस्तुओंको दर्शाते हे। फिर वे वस्तुएँ खारीभर हों या द्रोणभर। वैसे ही शुभ्र, नीला, काला ये गुणशब्द छोटी–बडी सभी वस्तुओंको दिखाते है, फिर वे वस्तुएँ हिमवान् पर्वत जैसी बडी हों या वटबीज जैसी छोटी हों। इस शास्त्रमें सर्वनाम, अव्यय, धातु, सज्ञाएँ नियतस्वरूप एसे तत्तत् शब्दोंको बतायी होनेके कारण उस स्वरूपमें अकच् आदि प्रत्यय होकर कुछ अधिक वर्ण दिखाई देंगे तो वहॉ कारण कैसे होंगी?

तो फिर जिस अर्थमें आचार्य पाणिनि 'नेदमदसोरको' (७ १ ११) इस ऐस् आदेशके निषेध बतानेवाले सूत्रमें 'अको' कहकर ककारस युक्त इदम् और अदस् शब्दोंको उनसे हगते हैं उससे वे एसा सूचित करते है कि 'जो जिस शब्दके एकदेश जैसा होता है वह उस शब्दसे ही लिया जाता है।'

यह ज्ञापक कैसे बन जाता है भला?

वह इस तरह, कि इदम् और अदस् स्वरूपोंके शब्दोंको जो कुछ कार्य बताया है उस कार्यका, वे इदम्, अदस् शब्द ककारसे युक्त होनेके कारण शब्दातपर माना जाय तो, वहा सबध भला कैसे सभव होगा? परतु आचार्य पाणिनि यही मानते है कि जो जिस शब्दके एकदेश जैसा होता है वह उसी शब्दसे लिया जाता है' और इसीलिए

पश्यति त्वाचार्यस्तदेकदेशभूतं तद्ग्रहणेन गृह्यत इति। ततः सककारयोः प्रतिषेधं शास्ति ॥

कानि पुनरस्य योगस्य प्रयोजनानि ।

प्रयोजनं सर्वनामाव्ययसंज्ञायाम् ॥ ८ ॥

सर्वनामाव्ययसंज्ञायां प्रयोजनम् । सर्वे परमसर्वे विश्वे परमविश्वे । उच्चैः परमोच्चैः नीचैः परमनीचैरिति ॥

उपपदविधौ भयाढ्यादिग्रहणम् ॥ ९ ॥

उपपदविधौ भयाढ्यादिग्रहणं प्रयोजनम् । भयंकरः अभयंकरः। आढ्यंकरणम् स्वाढ्यंकरणम् ॥

ङीब्विधावुगिद्ग्रहणम् ॥ १० ॥

ङीब्विधावुगिद्ग्रहणं प्रयोजनम् । भवती अतिभवती । महती अतिमहती ॥

प्रतिषेधे स्वस्रादिग्रहणम् ॥ ११ ॥

प्रतिषेधे स्वस्रादिग्रहणं प्रयोजनम्। स्वसा परमस्वसा । दुहिता परमदुहिता ॥

'अकोः' ऐसा कहकर वहाँ उतने ककारसे युक्त इदम् और अदस् शब्द जानबूझकर टाल्ते हैं।

परंतु अब इस प्रकृतसूत्रके उदाहरण कौनसे हैं भला ?

(वा. ८) सर्वनामसंज्ञा और अव्ययसंज्ञा जिन शब्दोंको बतायी है वे शब्द अंतमें होनेवाले ऐसे शब्दोंको भी वह संज्ञा होती है यह प्रकृतसूत्रका उपयोग है; उदा० सर्वे, परमसर्वे; विश्वे, परमविश्वे; उच्चैः, परमोच्चैः, नीचैः परमनीचैः ।

(वा. ९) उपपदविधिमेंसे भय (३।२।४३), आढ्य (३।२।५६), आदि शब्दोंसे तदंतका ग्रहण होता है यह प्रकृतसूत्रका उपयोग है; उदा०—भयंकरः, अभयंकरः, आढ्यंकरणम, स्वाढ्यंकरणम ।

(वा. १०) ङीप् प्रत्यय बतानेवाले शास्त्रमें (४।१।६) उगित् शब्दसे तदंतका ग्रहण होता है यह प्रकृतसूत्रका उपयोग है । उदा० भवती, अतिभवती, महती, अतिमहती ।

(वा. ११) ङीप् प्रत्ययका निषेध बतानेवाले शास्त्र (४।१।१०) में स्वसृ आदि शब्दोंसे तदंतोंका ग्रहण होता है यह प्रकृतसूत्रका उपयोग है । उदा०—स्वसा, परमस्वसा, दुहिता, परमदुहिता।

---

१. अमुक शब्द उपपद हो तो अमुक धातुके आगे अमुक प्रत्यय होता है ऐसे जो विधि है उनको उपपदविधि कहते हैं। वहाँ ऐसे ये विधि 'कर्मण्यण्' (३।२।१) सूत्रसे लेकर आगे कहे हैं।

अपरिमाणविस्तादिग्रहणं च प्रतिषेधे ॥ १२ ॥

अपरिमाणविस्तादिग्रहणं च प्रतिषेधे प्रयोजनम् । अपरिमाणविस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धितलुकि [४ १ २२] । द्विविस्ता द्विपरमविस्ता । त्रिविस्ता त्रिपरमविस्ता । द्व्याचिता द्विपरमाचिता ॥

दिति ॥ १३ ॥

दितिग्रहण च प्रयोजनम् । दितेरपत्य दैत्यः अदितेरपत्यमादित्यः ॥ दित्यदित्यादित्य [४ १ ८५] इत्यदितिग्रहणं न कर्तव्यं भवति ॥

रोण्या अण् ॥ १४ ॥

रोण्या अण्ग्रहण च प्रयोजनम् । आजकरोणः सैंहकरोणः ॥

तस्य च ॥ १५ ॥

तस्य चेति वक्तव्यम् । रौणः ॥ किं पुनः कारणं न सिध्यति । तदन्ताच्च तदन्तविधिना सिद्ध केवलाच्च व्यपदेशिवद्भावेन । व्यपदेशिवद्भावो ऽप्रातिपदिकेन ।

(वा १२) ' अपरिमाणबिस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धितलुकि ' (४।१।२२) इस ङीप् प्रत्ययके निषेध बतानेवाले शास्त्रमें बिस्त आदि शब्दोंसे तदतका ग्रहण होता है यह प्रकृत सूत्रका उपयोग है, उदा०— द्विबिस्ता, द्विपरमबिस्ता, त्रिबिस्ता, त्रिपर मबिस्ता, द्व्याचिता, द्विपरमाचिता, त्र्याचिता, त्रिपरमाचिता।

(वा. १३) दिति शब्दसे तदतका ग्रहण होता है यह प्रकृतसूत्रका उपयोग है, उदा०—दितेः अपत्य दैत्यः, अदितेरपत्यम् आदित्य. । अतः दिति शब्दसे ही आदिति शब्दका ग्रहण होनेके कारण ' दित्यदित्यादित्य० ' (४।१।८५) सूत्रमें अलग आदिति शब्द रखना आवश्यक नहीं है ।

(वा १४) रोणी शब्दसे अण प्रत्यय बताया (४।२।७८) है वहाँ रोणी शब्दसे तदतका ग्रहण होता है यह प्रकृतसूत्रका उपयोग है, उदा०—आजकरोण', सैहिकरोण ।

(वा. १५) जिस शब्दसे तदतका ग्रहण होता है उस शब्दसे उसका याने स्वत का ग्रहण होता है ऐसा कहा जाय । उदा० रौण. ।

परतु यह उदाहरण सिद्ध न होनेका क्या कारण हे भला ? देखिए प्रकृतसूत्रसे तदतविधि होनेके कारण तदतसे याने आजकरोणी आदि शब्दोंसे अण् प्रत्यय सिद्ध होता है । और केवल ' रोणी ' शब्दसे व्यपदेशिवद्भावसे अण् प्रत्यय सिद्ध होता है ।

' व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन ' याने प्रातिपदिकका उच्चारण किया हो वहाँ व्यपदेशिवद्भाव नहीं होता ऐसी परिभाषा है न ?

---

७ अ १ पा १ सू २१ देखिये।

किं पुनः कारणं व्यपदेशिवद्भावो ऽप्रातिपदिकेन । इह सूत्रान्ताट्ठग्भवति दशान्ताड्डो भवतीति केवलादुत्पत्तिर्मा भूदिति । नैतदस्ति प्रयोजनम् । सिद्धमत्र तदन्ताच्च तदन्तविधिना केवलाच्च व्यपदेशिवद्भावेन । सो ऽयमेव सिद्धे सति यदन्तग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः सूत्रान्तादेव दशान्तादेवेति । नात्र तदन्तादुत्पत्तिः प्राप्नोति । इदानीमेव ह्युक्तं समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेध इति ॥ सा तर्ह्येषा परिभाषा कर्तव्या । न कर्तव्या । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति व्यपदेशिवद्भावो ऽप्रातिपदिकेनेति यदयं पूर्वादिनिः सपूर्वाच्च [५.२.८६,८७] इत्याह । नैतदस्ति

परंतु 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन' यह परिभाषा माननेका भी क्या कारण है ?

कारण यह कि सूत्रशब्दांतसे जो ठक् प्रत्यय बताया गया है (४।२।६०) वैसा ही दशान्तसे ड प्रत्यय बताया गया है (५।२।४५) वह केवल सूत्रशब्दसे और केवल दशन् शब्दसे नहीं होना चाहिए ।

यह उस परिभाषाका उपयोग ठीक नहीं दिखाई देता । अगर यहाँ केवल सूत्र और दशन् शब्दसे वे प्रत्यय होंगे तो उन सूत्रोंमें पाणिनिने अंत शब्द ही न रखा होता। क्योंकि प्रकृतसूत्रसे तदंतविधि होनेके कारण तदंतसे वे प्रत्यय होंगे और केवल उन शब्दोंसे व्यपदेशिवद्भावसे वे प्रत्यय होंगे । अतः इस रीतिसे सिद्ध होते हुए जब कि आचार्य पाणिनि उन सूत्रोंमें अंत शब्द उच्चारित करते है, अतः वे ऐसा सूचित करते है कि यहाँ 'सूत्रशब्दातसे ही ठक् प्रत्यय होता है और दशन्शब्दातसे ही ड प्रत्यय होता है ।' याने केवलसे नहीं होता ।

परंतु इन सूत्रोंमें अंत शब्द नहीं रखा गया तो तदंतसे वे प्रत्यय नहीं होंगे। क्योंकि 'समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः' ऐसा तदंतविधिका निषेध वार्तिककारोंने अभी बताया है । (अतः इस प्रकार अंत शब्दका उपयोग होनेके कारण उसके बऊपर *'तदंतसे ही प्रत्यय होता है, केवलसे नहीं ।' यह बात सिद्ध नहीं होती ।* इसलिए केवलमे प्रत्यय न होनेके लिए 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन' परिभाषाकी आवश्यकता प्रतीत होती है ।)

तो फिर वह परिभाषा स्वतंत्र बताई जानी चाहिए।

वैसी स्वतंत्र बतानेकी आवश्यकता नहीं । ये आचार्य पाणिनि जब कि 'पूर्वादिनिः (५।२।८६)' 'सपूर्वाच्च' (८५।२।८७) ऐसे सूत्र करते हैं, तब वे 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन' परिभाषा सूचित करते हैं । (*नहीं तो 'सपूर्वाच्च' से ही* व्यपदेशिवद्भावकी सहायतासे केवल पूर्वशब्दसे इनिप्रत्यय सिद्ध होनेके कारण 'पूर्वादिनि.' सूत्र व्यर्थ होगा ।)

ज्ञापकम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् । किम् । सपूर्वात्पूर्वादिनिं वक्ष्यामीति । यत्तर्हि योगविभागं करोति । इतरथा हि पूर्वात्सपूर्वादिनिरित्येव ब्रूयात् ॥ किं पुनरयमस्यैव शेषस्तस्य चेति । नेत्याह । यच्चानुक्रान्तं यच्चानुक्रंस्यते सर्वस्यैव शेषस्तस्य चेति ॥

रथसीताहलेभ्यो यद्विधौ ॥ १६ ॥

रथसीताहलेभ्यो यद्विधौ प्रयोजनम् । रथ्यः परमरथ्य । सीत्यम् परमसीत्यम् । हल्या परमहल्या ॥

सुसर्वार्धदिक्शब्देभ्यो जनपदस्य ॥ १७ ॥

सुसर्वार्धदिक्शब्देभ्यो जनपदस्य प्रयोजनम् । सुपाञ्चालकः सुमागधकः । सु ॥ सर्व । सर्वपाञ्चालकः सर्वमागधकः । सर्व ॥ अर्ध । अर्धपाञ्चालकः अर्धमागधकः । अर्ध ॥ दिक्शब्द । पूर्वपाञ्चालकः पूर्वमागधकः ॥

यह ज्ञापक ठीक नहीं। क्योंकि 'पूर्वादिनि.' कहनेका अलग उपयोग है।

सो कौनसा ?

जिसके पूर्व दूसरा एकाध शब्द है ऐसे पूर्वशब्दसे इनि प्रत्यय 'सपूर्वाच्च' इस अगले सूत्रसे बताना है (अत. वहाँ अनुवृत्ति होनेके लिए 'पूर्वात् इनि.' ऐसा अके पहले ही कहना चाहिए ।)

तो फिर ये आचार्य पाणिनि जब कि 'पूर्वादिनिः' और 'सपूर्वाच्च' ये दो अलग अलग सूत्र करते है, तब वे यह परिभाषा सूचित करते है। नहीं तो उन्होंने 'पूर्वात्सपूर्वादिनि' यह एक ही सूत्र किया होता।

लेकिन क्यों जी, यह जो वार्तिककारोंने 'तस्य च' ऐसा यहाँ कहा है वह केवल रोणी शब्दके ही सबधमें समझा जाय ?

वैसा नहीं। जो प्रकृतसूत्रके उदाहरण वार्तिककारोंने पहले दिखाये है वैसे ही वे आगे दिखाए जानेवाले है, उन सब स्थानोंपर 'तस्य च' ऐसा समझा जाय।

(वा १६) 'यत्' प्रत्यय बतानेवाले शास्त्रमें रथ (४।४।७६), सीता (४।४।९१) और हल (४।४।९७) शब्दोंसे तदतका ग्रहण होता है यह प्रकृतसूत्रका उपयोग है, उदा०—रथ्यः, परमरथ्यः, सीत्यम, परमसीत्यम, हल्या, परमहल्या।

(वा. १७) सु, सर्व, अर्ध और दिक् शब्दोंके आगे जो जनपदवाचक शब्द है, उसके अतके जनपदवाचक शब्दसे (४।४।१२५) ग्रहण होता है यह प्रकृतसूत्रका उपयोग है। सुशब्दका उदाहरण:—सुपाञ्चालक, सुमागधक., सर्वशब्दका उदाहरण— सर्वपाञ्चालकः, सर्वमागधक., अर्धशब्दका उदाहरण—अर्धपाञ्चालकः, अर्धमागधकः, दिक् शब्दका उदाहरण—पूर्वपाञ्चलकः, अपरपाञ्चालकः पूर्वमागधक., अपरमागधक ।

ऋतोर्वृद्धिमद्विधाववयवानाम् ॥ १८ ॥

ऋतोर्वृद्धिमद्विधाववयवानां प्रयोजनम् । पूर्वशारदम् अपरशारदम् । पूर्वनैदाघम् अपरनैदाघम् ॥

ठञ्विधौ संख्यायाः ॥ १९ ॥

ठञ्विधौ संख्यायाः प्रयोजनम् । द्विपाष्टिकम् पञ्चपाष्टिकम् ॥

धर्मान्नञः ॥ २० ॥

धर्मान्नञः प्रयोजनम् । धर्मं चरति धार्मिकः अधर्मं चरत्याधर्मिकः । अधर्माच्चेति न वक्तव्यं भवति ॥

पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य च ॥ २१ ॥

पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य चेति वक्तव्यम् ॥ पदाधिकारे किं प्रयोजनम् ।

प्रयोजनमिष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु ॥ २२ ॥

इष्टकचितं चिन्वीत पक्वेष्टकचितं चिन्वीत । इषीकतूलेन मुञ्जेषीकतूलेन ।

(वा. १८) वृद्धिके लिए कारणीभूत प्रत्यय बतानेवाले (४।३।१६) शास्त्रमें ऋतुवाचक शब्दसे तदंतका ग्रहण होता है यह प्रकृतसूत्रका उपयोग है। केवल उस तदंत शब्दमें ऋतुवाचक शब्दके पीछेके पूर्वपद ऋतुके कुछ भागका निदर्शक होना चाहिए, उदा० पूर्वशारदम्, अपरशारदम्; पूर्वनैदाघम्, अपरनैदाघम्।

(वा. १९) ठञ् प्रत्यय कर्तव्य होनेपर संख्यावाचक शब्दसे तदंतका ग्रहण होता है (५।१।५८) यह प्रकृतसूत्रका उपयोग है। उदा०— द्विपाष्टिकम्, पञ्चपाष्टिकम्।

(वा. २०) नञ्के आगे जो धर्मशब्द है, उस धर्मशब्दसे (४।४।४१) तदंतका ग्रहण होता है यह प्रकृतसूत्रका उपयोग है; उदा०—धर्मं चरति धार्मिकः; अधर्मं चरति आधर्मिकः। 'धर्मं चरति' (४।४।४१) सूत्रपर वार्तिककारने जो 'अधर्माच्च' ऐसा कहा है वह अब कहना आवश्यक नहीं।

(वा. २१) पदाधिकारमें और अंगाधिकारमें, सूत्रमें उच्चारित शब्दसे उसका याने स्वतःका और वह शब्द जिसमें उत्तरपद है ऐसे तदंतका ग्रहण होता है ऐसा कहा जाय।

ऐसा कहनेका पदाधिकारमें उपयोग कौनसा है?

(वा. २२) 'इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु' (६।३।६५) शास्त्रमें इष्टका आदि शब्दोंसे उनका याने स्वतःका और वे इष्टका आदि शब्द जिनमें उत्तरपद हैं ऐसे तदंत शब्दोंका ग्रहण होता है यह उसका उपयोग है। उदा०—इष्टकचितं चिन्वीत,

मालभारिणी कन्या उत्पलमालभारिणी कन्या ॥ अङ्गाधिकारे किं प्रयोजनम् ।

महदप्स्वसृनप्तॄणां दीर्घविधौ ॥ २३ ॥

महदप्स्वसृनप्तॄणां दीर्घविधौ प्रयोजनम् ॥ महान् परममहान् । महत् ॥ अप् । आपस्तिष्ठन्ति स्वापस्तिष्ठन्ति । अप् ॥ स्वसृ । स्वसा स्वसारौ स्वसारः परमस्वसा परमस्वसारौ परमस्वसारः । स्वसृ ॥ नप्तृ । नप्ता नप्तारौ नप्तारः । एवं परमनप्ता परमनप्तारौ परमनप्तारः ॥

पद्युष्मदस्मदस्थ्याद्यनडुहो नुम् ॥ २४ ॥

पद्भावः प्रयोजनम् । द्विपदः पश्य । अस्ति चेदानीं कश्चित्केवलः पाच्छब्दो यदर्थो विधिः स्यात् । नास्तीत्याह । एवं तर्ह्यङ्गाधिकारे प्रयोजनं नास्तीति कृत्वा पदाधिकारस्येदं प्रयोजनमुक्तम् । हिमकाषिहतिषु च [६.३.५४] यथा पत्काषिणौ पत्काषिण एवं परमपत्काषिणौ परमपत्काषिणः । यदि तर्हि

पक्वेष्टकचित दिन्वीत, इषीकतूलेन, मुञ्जेषीकतूलेन; मालभारिणी कन्या, उत्पलमालभारिणी कन्या ।

अंगाधिकारमें उसका उपयोग कौनसा है ?

(वा. २३) दीर्घ बतानेवाले शास्त्रमें महत् (६।४।१०) अप्, स्वसृ और नप्तृ (६।४।११) शब्दोंसे उनका याने स्वतःका और वे महत् आदि शब्द जिनमें उत्तरपद है ऐसे तदत शब्दोंका ग्रहण होता है यह उसका उपयोग है, महत् शब्दका– महान्, परममहान् । अप् शब्दका उदाहरण–आपस्तिष्ठन्ति, स्वापस्तिष्ठन्ति । स्वसृ शब्दका उदाहरण–स्वसा स्वसारौ स्वसारः, परमस्वसा, परमस्वसारौ, परमस्वसारः । नप्तृ शब्दका उदाहरण–नप्ता नप्तारौ नप्तारः, वैसे ही परमनप्ता, परमनप्तारौ, परमनप्तारः ।

(वा. २४) पद् आदेश जिसे बताया वह याने पाद् (६।४।१३०) या पाद (६।६।५४) शब्द, वैसे ही युष्मद्, अस्मद्, (७।१।९२) और अस्थि आदि शब्द (७।१।७५), नुम् आगम बतानेवाले शास्त्रके (७।१।८२) अनडुह् शब्द इन शब्दोंसे उनका याने स्वयंका और वे शब्द जिनमें उत्तरपद है ऐसे तदंत शब्दोंका ग्रहण होता है यही उसका उपयोग है । उनमेंसे पद् आदेशका उदाहरण–द्विपदः पश्य ।

परतु केवल पाद यह एक शब्द ही है कि पाद शब्दसे तदंतका ग्रहण न होनेपर भी पद् आदेश बतानेवाला शास्त्र उसके काम आयेगा ?

वैसा केवल पाद यही एक शब्द नहीं, अब पद् आदेश बतानेवाले उस शास्त्रके (६।४।१३०) बलपर ही 'द्विपदः' में पद् आदेश सिद्ध होनेके कारण उस वार्तिकमें पद् कहनेका कोई कारण नहीं दिखाई देता, ऐसा कहे तो अंगाधिकारके पद् आदेशके संबंधमें उसका उपयोग नहीं होता इसलिए पदाधिकारके पद् आदेशके संबंधमें वार्तिककारने पद् ऐसा कहा है ऐसा समझ लें। उदा०–'हिमकाषिहतिषु च' (६।३।५४) से बताया हुआ पद् आदेश जैसा पत्काषिणौ पत्काषिणः में होता है वैसा परमपत्काषिणौ परमपत्काषिणः में भी होता है ।

पदाधिकारे पादस्य तदन्तविधिर्भवति पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु [६-३-५२] यथेह भवति पादेनोपहतं पदोपहतम्। अत्रापि स्यात्। द्विपादेनोपहतं द्विपपादोपहतमिति। एवं तर्ह्यङ्गाधिकार एव प्रयोजनम्। ननु चोक्तं नास्ति केवलः पाच्छब्द इति। अयमस्ति पादयतेरप्रत्ययः पात्। पदा पदे। पद्। युष्मद् अस्मद्। यूयम् वयम् अतियूयम् अतिवयम्॥ अस्थ्यादि। अस्थ्ना दध्ना सक्थ्ना परमास्थ्ना परमदध्ना परमसक्थ्ना॥ अनुडुहो नुम्। अनड्वान् परमानड्वान्॥

द्युपथिमथिपुंगोसखिचतुरनड्डुत्त्रिग्रहणम्॥ २५॥

द्युपथिमथिपुंगोसखिचतुरनडुत्त्रिग्रहणं प्रयोजनम्। द्यौः सुद्यौः। पन्थाः सुपन्थाः। मन्थाः सुमन्थाः परममन्थाः। पुमान् परमपुमान्। गौः सुगौः। सखा सखायौ सखायः सुसखा सुसखायौ सुसखायः परमसखा परमसखायौ परमसखायः। चत्वारः परमचत्वारः। अनड्वाहः परमानड्वाहः। त्रयाणाम् परमत्रयाणाम्॥

अगर वार्तिकके पद्शब्दसे पदाधिकारका पद् आदेश लेकर वहाँ 'पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु' (६।३।५२) इस पिछले सूत्रमेंसे अनुवृत्त पाद शब्दसे तदंतका ग्रहण किया तो पिछले सूत्रमें भी पादशब्दसे तदंतका ग्रहण होगा। और जैसा पादेन उपहतं पदोपहतम् में पाद शब्दको पद् आदेश होता है वैसा द्विपपादेन उपहत द्विपपादोपहतम् में भी होने लगेगा।

तो फिर वार्तिककारोंने पद् शब्दसे अंगाधिकारके पद्को ही आदेश लेकर उपयोग बताया है ऐसा माना जाय।

परंतु 'केवल पाद् यही शब्द नहीं' ऐसा उसपर कहा था न।

कहा था सही, परंतु केवल पाद यही शब्द है। पादि इस णिच्प्रत्ययान्त पद धातुमे क्विप प्रत्यय करनेपर णिच् प्रत्ययका लोप (६।४।५१) होकर पाद् शब्द सिद्ध होता है। उसे पद् आदेश (६।४।५१) होकर पद् पदा पदे ऐसे रूप होते हैं। युष्मद् अस्मद शब्दोंके उदाहरण—यूयम, वयम, परमयूयम, परमवयम। अस्थि आदि शब्दोंके उदाहरण—अस्थ्ना, दध्ना, सक्थ्ना, परमास्थ्ना, परमदध्ना, परमसक्थ्ना। नुम आगम बनानेवाले शास्त्रके अनुडुह् शब्दका उदाहरण—अनड्वान्, परमानड्वान्।

(वा. २५) दिव (७।१।८४), पथिन्, मथिन् (७।१।८५), पुमस् (७।१।८९), गो (७।१।९०), सखि (७।१।९२), चतुर, अनडुह् (७।१।९८) और त्रि (७।१।५३) इन शब्दोंमे उनका यने स्वत.का और दिव आदि शब्द जिनमें उत्तरपद हैं ऐसे तदंत शब्दोंका ग्रहण होता है यही उसका उपयोग है, उदा.—द्यौः सुद्यौः, पन्थाः सुपन्थाः, मन्थाः परममन्थाः, पुमान् परमपुमान्, गौः सुगौः; सखा सखायौ सखायः, सुसखा सुसखायौ सुसखायः, परमसखा परमसखायौ परमसखायः, चत्वारः परमचत्वारः, अनड्वाहः परमानड्वाहः, त्रयाणाम् परमत्रयाणाम्।

त्यदादिविधिभस्त्रादिस्त्रीग्रहणं च ॥ २६ ॥

त्यदादिविधिभस्त्रादिस्त्रीग्रहणं च प्रयोजनम् । सः अतिसः । भस्त्रका भस्त्रिका निर्भस्त्रका निर्भस्त्रिका बहुभस्त्रका बहुभस्त्रिका । स्त्रीग्रहणं च प्रयोजनम् । स्त्रियौ स्त्रियः राजस्त्रियौ राजस्त्रियः ॥

वर्णग्रहणं च सर्वत्र ॥ २७ ॥

वर्णग्रहणं च सर्वत्र प्रयोजनम् । क्व सर्वत्र । अङ्गाधिकारे चान्यत्र च । अन्यत्रोदाहृतम् । अङ्गाधिकारे । अतो दीर्घो यञि सुपि च [७.३.१०१.१०२] इहैव स्यात् आभ्याम् । घटाभ्यामित्यत्र न स्यात् ॥

प्रत्ययग्रहणं चापञ्चम्याः ॥ २८ ॥

प्रत्ययग्रहणं चापञ्चम्याः प्रयोजनम् । यञिञोः फग्भवति । गार्ग्यायणः वात्स्यायनः परमगार्ग्यायणः परमवात्स्यायनः । अपञ्चम्या इति किमर्थम् । इष-

---

(वा. २६) त्यदादीनामः (७।२।१०२) के त्यद् आदि शब्द, भस्त्रा आदि शब्द (७।३।४७) और स्त्रीशब्द (६।४।७९) से उनका याने स्वयंका और वे त्यद् आदि शब्द जिनमें उत्तरपद हैं ऐसे तदंतशब्दोंका ग्रहण होता है यह भी उसका उपयोग है; उदा.–सः अतिसः । भस्त्रका भस्त्रिका, बहुभस्त्रका बहुभस्त्रिका, निर्भस्त्रका निर्भस्त्रिका । वैसे ही स्त्रीशब्दसंबंधमें भी उपयोग होता है स्त्रियौ स्त्रियः, राजस्त्रियौ राजस्त्रियः ।

(वा. २७) वर्णका उच्चारण किया हो वहाँ उस वर्णसे तदंतका ग्रहण होता है यह उपयोग सब स्थानोंपर ही है ।

सब स्थानोंपर कहाँ ?

अंगाधिकारमें ही केवल नहीं तो अन्य स्थानोंपर भी । उनमेंसे अन्य स्थानका उदाहरण 'अत इञ्' पहले ही बताया है । अब अंगाधिकारके वर्णग्रहणका उदाहरण बताना है—'अतो दीर्घो यञि' (७।३।१०१) सूत्रमें से अतः की अनुवृत्ति 'सुपि च' (७।३।१०२) में होती है । उस अतः से याने ह्रस्व अकारसे अगर तदंतका ग्रहण नहीं हुआ तो आभ्याम् यहीं केवल उस सूत्रसे दीर्घ होगा । घटाभ्याम् में नहीं होगा ।

(वा. २८) प्रत्ययका उच्चारण जहाँ किया हो वहाँ उस प्रत्ययसे तदंतका ग्रहण होता है यह प्रकृतसूत्रका उपयोग है । केवल वहाँ उस प्रत्ययपर किसी भी पंचम्यंत पदका अन्वय न हो । 'यञिञोः' (४।१।१०१) से फक् प्रत्यय बताया है । वहाँ यञ्, इञ् इन प्रत्ययोंसे तदंतका ग्रहण किया जानेके कारण गार्ग्यायणः, वात्स्यायनः, परमगार्ग्यायणः परमवात्स्यायनः इन उदाहरणोंमें गार्ग्य, वात्स्य इन यञ्-

---

८. 'गर्ग', 'वत्स' शब्दोंके आगे गोत्रापत्य अर्थमें 'यञ्' प्रत्यय (४।१।१०५) किया है । 'यञ्'–प्रत्ययान्त 'गार्ग्य', 'वात्स्य' शब्दोंके आगे युवापत्य अर्थमें 'फक्' प्रत्यय होके उसको 'आयन्' आदेश (७।१।२) हुआ है । जहाँ प्रत्ययसे तदन्तका ग्रहण

र्त्तीर्णा परिपत्तीर्णा ॥

अलैवानर्थकेन नान्येनानर्थकेनेति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । हन्ग्रहणे प्लीहन्ग्रहणं मा भूत् । उद्ग्रहणे गर्मुद्ग्रहणम् । स्त्रीग्रहणे शास्त्रीग्रहणम् । संग्रहणे

प्रत्ययान्त शब्दोंसे फक् प्रत्यय होता है । वैसे ही दाक्षायणः, परमदाक्षायणः, उदाहरणोंमें दाक्षि इस इञ् प्रत्ययान्त शब्दसे फक् प्रत्यय होता है ।

'उस प्रत्ययपर किसी भी पंचम्यंतपदका अन्वय न हो' ऐसा क्यों कहा है ?

द्वंपत्तीर्णा, परिपत्तीर्णा में दोष न आये इसलिए वैसा कहा गया है ।

विशेषणसे तदंतका ग्रहण होता है, पर वह इस तदंत शब्दका अंतिम भाग अनर्थक न हो । केवल एक वर्णसे जहाँ तदंतका ग्रहण होता है वहाँ केवल 'वह उस तदंत शब्दोंका अंतिम वर्ण अनर्थक हुआ तो भी चल सकता है ।' ऐसा कहना चाहिए ।

इसका क्या उपयोग है ?

उपयोग यह कि हन् (६।४।१२) शब्दसे तदंतका ग्रहण हुआ तो भी 'प्लीहन्' इस तदंतशब्दका ग्रहण न हो; वैसे ही 'उद्' (८।४।६१) शब्दसे 'गर्मुद्' इस तदंत शब्दका ग्रहण न हो; 'स्त्री' (६।४।६९) शब्दसे 'शास्त्री' इस तदंतशब्दका ग्रहण न हो; 'सम्' (६।११।३७) शब्दसे 'पायसम्' इस तदंतशब्दका ग्रहण न हो ।

होता है वहाँ उस प्रत्ययान्त शब्दसे चाहे जितने शब्दस्वरूपका ग्रहण नहीं । केवल वह प्रत्यय जिसके आगे दिया है वह आदि उस शब्दस्वरूपका होना चाहिए । इसी अर्थकी 'प्रत्यय-ग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्' परिभाषा है । तब 'परमगार्ग्यायण.' में भी परमगार्ग्य यञ्प्रत्ययान्त नहीं लिया जा सकता है । 'गार्ग्य' ही यञ्-प्रत्ययान्त है । अतः यहाँ भी गार्ग्यके आगे ही 'फक्' प्रत्यय हुआ है । यदि 'परम-गार्ग्य' के आगे फक् प्रत्यय हुआ होता तो उसके आदि 'अच' की वृद्धि (७।२।११७) होकर पारमगार्ग्यायण यह विचित्र रूप हो जाता ।

पायसं करोतीति मा भूत् ॥ किमर्थमिदमुच्यते न पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य चेत्येव सिद्धं न चेदं तत्रापि तदुत्तरपदम् । तत्र वक्तव्यं भवति ॥ किं पुनरत्र ज्यायः । तदन्तविधिरेव ज्यायान् । इदमपि सिद्धं भवति । परमातिमहान् । एतद्धि नैव तत्रापि तदुत्तरपदम् ॥ अनिनस्मन्ग्रहणानि चार्थवता चानर्थकेन च तन्दतविधिं प्रयोजयन्ति । अन् । राज्ञेत्यर्थवता साम्नेत्यनर्थकेन । अन् ॥ इन् । दण्डीत्यर्थवता वाग्मीत्यनर्थकेन । इन् ॥ अस् । सुपया इत्यर्थवता

परंतु 'अलैवानर्थकेन०' यह अलग वचन किसलिए करना चाहिए भला?

वैसा अलग वचन करना आवश्यक नहीं। 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य च' इस पहलेके वार्तिकसे ही ये उदाहरण सिद्ध होते हैं। क्योंकि 'प्लीहन्' ये हन् भी नहीं और प्लीहन्का हन् उत्तरपद भी नहीं। इसी तरह अन्य स्थानोंपर भी समझा जाय।

परंतु 'अलैवानर्थकेन०' वचन करनेपर 'पदाङ्गाधिकारे०' वार्तिक करना आवश्यक नहीं। (तात्पर्य दोनोंमेंसे कोई एक तो करना चाहिए।)

अब इन दोनोंमें कौनसा एक किया जाय भला?

'अलैवानर्थकेन०' से परोक्षरूपसे तदंतविधि कहना अच्छा। क्योंकि महत् (६।४।१०) शब्दसे परोक्ष रूपसे तदंत शब्दस्वरूपका ग्रहण होनेके कारण परमातिमहान् यह उदाहरण सिद्ध होता है। ('पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदुत्तरपदस्य च' यह वार्तिक लेनेसे यहाँ दीर्घ नहीं होगा।) क्योंकि 'परमातिमहत्' यह महत् शब्द नहीं है और उसमें महत् शब्द उत्तरपद भी नहीं।

, अन् (६।४।१३४), इन् (६।४।१२), अस् (६।४।१४) और मन् (४।१।११) इन शब्दोंसे तदंतका ग्रहण होता है वहाँ उस तदंत शब्दसे जो अन्, इन्, अस् और मन् यह अंतिम भाग है वह चाहे अर्थवान् हो या अनर्थक, किसी भी प्रकारका चल सकता है। अन् का उदाहरण—राज्ञा। यहाँ राजन् शब्दका अन् (उणा. १।१५४) अर्थवान् है। साम्ना में सामन् शब्दका अन् (उणा. ४।१५२) अनर्थक है। (दोनों स्थानोंपर उसके अकारका लोप (६।४।१३४) होता है।) इन् का उदाहरण—दण्डी में दण्डिन् शब्दका इन् अर्थवान् (५।२।११५) है। वाग्मी में वाग्मिन् शब्दका इन् अनर्थक है। (५।२।१२४) दोनों स्थानोंपर दीर्घ

११ उत्तरपद कहीं भी निरर्थक नहीं होता। कारण यह कि समासके अगले पदको उत्तरपद कहते हैं। और अर्थवान्का अर्थवान्के साथ ही समास होता है।

१२. 'अति' शब्दका 'महत्' शब्दके साथ समास होनेके बाद 'अतिमहत्' शब्दके साथ 'परम' शब्दका समास हुआ है। तब 'अतिमहत्' शब्दमें 'महत्' उत्तरपद होनेसे 'अतिमहान्' में दीर्घ होगा। परन्तु 'परमातिमहत्' शब्दमें 'अतिमहत्' उत्तरपद है, 'महत्' वहाँ उत्तरपद नहीं, इसलिए वहाँ दीर्घ न होगा।

सुस्रोता इत्यनर्थकेन । अस् ॥ मन् । सुशर्मेत्यर्थवता सुप्रथिमेत्यनर्थकेन । मन् ॥

यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे ॥ २९ ॥

अल्ग्रहणेषु यस्मिन्विधिस्तदादाविति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ [६.४.७७] इतीहैव स्यात् श्रियौ भ्रुवौ । श्रियः भ्रुव इत्यत्र न स्यात् ॥

वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् ॥ १ । १ । ७३ ॥

वृद्धिग्रहणं किमर्थम् । यस्याचामादिस्तद् वृद्धमितीयत्युच्यमाने दात्ताः राक्षिताः अत्रापि प्रसज्येत । वृद्धिग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति ॥ अथ

(६।४।१२) होता है। असुका उदाहरण—सुपयाः। यहाँ पयस् शब्दका अस् (उणा. ४।१८८) अर्थवान् है। सुस्रोताः में स्रोतस् शब्दका अस् (उणा ४।२०१) अनर्थक है। (दोनों स्थानोंपर दीर्घ (६।४।१४) होता है।) मन्का उदाहरण—सुशर्मा में शर्मन् शब्दका मन् (३।२।७५) अर्थवान् है। सुप्रथिमा में प्रथिमन् शब्दका मन् अनर्थक (५।१।१२२) है। (दोनों स्थानोंपर ङीप् प्रत्ययका निषेध (४।१।११) होता है।)

(वा. २९) जो अल् आगे होनेपर एकाध विधि बनाई जाती है उस अल्मे तदादिका याने अल् जिसके आरंभमें है ऐसे समुदायका ग्रहण होता है ऐसा कहा जाय।

इसका क्या उपयोग है?

उपयोग यह कि ऐसा न कहनेपर 'आचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' (६।४।७७) सूत्रसे बताये हुए इयङ्, उवङ् ये आदेश श्रियौ, भ्रुवौ, में अच् आगे होनेके कारण होंगे। श्रियः, भ्रुवः, में नहीं होंगे।

(सू. ७३) जिस शब्दके अचोंमेंसे पहला अच् वृद्धिसंज्ञक है उस शब्दको वृद्धसंज्ञा होती है।

इस सूत्रमें वृद्धि शब्द किसलिए रखा है?

'यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्' इतना ही सूत्र किया तो दात्ताः, राक्षिताः, में दत्त, रक्षित, इन शब्दोंको वृद्धसंज्ञा होने लगेगी। इस सूत्रमें वृद्धि शब्द रखनेसे यह दोष नहीं आता।

अब इस सूत्रमें यस्य शब्द किसलिए रखा गया है?

यस्यग्रहण किमर्थम् । यस्येति व्यपदेशाय ॥ अथाज्ग्रहण किमर्थम् । वृद्धिर्यस्यादिस्तद् वृद्धमितीयत्युच्यमान इहैव स्यात् । ऐतिकायनीया औपगवीया । इह न स्यात् गार्गीया वात्सीया इति । अज्ग्रहणे पुन क्रियमाणे न दोषो भवति ॥ अथादिग्रहण किमर्थम् । वृद्धिर्यस्याचा तद् वृद्धमितीयत्युच्यमाने सभासनयने भव साभासनयन इत्यत्र प्रसज्येत। आदिग्रहणे पुन क्रियमाणे न दोषो भवति ॥

वृद्धसज्ञायामजसंनिवेशादनादित्वम् ॥ १ ॥

वृद्धसज्ञायामजसनिवेशादादिरित्येतन्नोपपद्यते । न ह्यचा सनिवेशो ऽस्ति ॥ ननु चैव विज्ञायते ऽजेवादिरजादेरिति । नैव शक्यम् । इहैव प्रसज्येत । औप-

---

इस प्रकृतसूत्रसे बताई हुई वृद्धसज्ञा किसे की जाय यह ज्ञात होनेके लिए वह शब्द रखा गया है ।

अब इस सूत्रमें 'अचाम्' शब्द किसलिए रखा है ?

'वृद्धिर्यस्यादिस्तद् वृद्धम्' इतना ही सूत्र करनेपर ऐतिकायनीया, औपगवीया, आदि स्थानोंपर ही केवल ऐतिकायन, औपगव, आदि शब्दोंको वृद्धसज्ञा होगी। और गार्गीया वात्सीया, में गार्ग्य, वात्स्य को वृद्धसज्ञा नहीं होगी। सूत्रमें अचाम् कहनेपर यह दोष नहीं आता ।

अब इस सूत्रमें 'आदि' शब्द किसलिए रखा गया है ?

'वृद्धिर्यस्याचा तद् वृद्धम्' इतना ही सूत्र करनेपर सभासनयने भव साभासनयन में 'सभासनयन' शब्दको भी वृद्धसज्ञा होने लगेगी। आदि शब्द सूत्रमें रखनेपर यह दोष नहीं आता।

(वा १) इस वृद्ध सज्ञा बतानेवाले शास्त्रमें 'अचोंमेंसे आदि' ऐसा जो कहा है वह ठीक मेल नहीं खाता[३]। क्योंकि 'अजसन्निवेशात्' याने केवल अनेक अच् ही एक स्थानपर जुडे हुए किसी भी शब्दमें दिखाई नहीं देते।

जिस शब्दका आदि वृद्ध है और वह अचोंमेंसे[४] ही है याने अच ही है, उस शब्दको वृद्धसज्ञा होती है।' ऐसा अर्थ किया जा सकेगा।

ऐसा करना सभव नहीं। क्योंकि वैसा करनेपर औपगवीया में ही औपगवको

---

२ कारण यह कि गार्ग्य वात्स्य शब्दोंके आदिवर्ण गकार, वकार है। वे वृद्धिसज्ञक नहीं।

३ अचोंमेंसे आदि ऐसा कहा गया तो जो अच् हैं उनमेंसे आदि यह अर्थ सहज ही में ध्यान में आता है।

४ अचोंमेंसे ही है अर्थात् 'मूल अचोंमेंसे'। अइउण् इत्यादि अक्षरसमाम्नायमें जिनका उच्चारण किया है वे मूल अच हैं। यह अर्थ न लिया गया तो अचोंमेंसे ही है ये शब्द व्यर्थ होंगे।

गवीयाः । इह न स्यात् । गार्गीया इति ॥ एकान्तादित्वं तर्हि विज्ञायते ।

एकान्तादित्वे च सर्वप्रसङ्गः ॥ २ ॥

इहापि प्रसज्येत । सभासनयने भवः साभासंनयन इति ॥

सिद्धमजाकृतिनिर्देशात् ॥ ३ ॥

सिद्धमेतत् । कथम् । अजाकृतिर्निर्दिश्यते ॥ एवमपि व्यञ्जनैर्व्यवहितत्वान्न प्राप्नोति ।

व्यञ्जनस्याविद्यमानत्वं यथान्यत्र ॥ ४ ॥

व्यञ्जनस्याविद्यमानवद्भावो वक्तव्यो यथान्यत्रापि व्यञ्जनस्याविद्यमानवद्भावो भवति । क्वान्यत्र । स्वरे ॥

वा नामधेयस्य ॥ ५ ॥

वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या । देवदत्तीयाः दैवदत्ताः । यज्ञदत्तीयाः

वृद्धसंज्ञा होगी । गार्गीयाः में गार्ग्य को नहीं होगी ।

तो फिर, शब्दका आदि न लेकर शब्दके अवयवरूप भागका आदि लें ।

(वा. २) अवयवका आदि लेनेपर प्रायः सभी स्थानोंपर वृद्धसंज्ञा होने लगेगी। सभासंनयने भवः साभासंनयनः में भी सभासनयन शब्दको वृद्धसंज्ञा होने लगेगी ।

यह सिद्ध होता है ।

सो कैसे ?

शब्दका स्वर, व्यंजन मिलकर जो एक प्रकारका शब्दका आकार बना होता है उसमेंसे स्वररूपी आकारका यहाँ 'अच म्' से निर्देश किया है ।

परंतु ऐसा लेनपर भी वृद्धसंज्ञा नहीं होगी । क्योंकि शब्दमें जो व्यंजन हैं वे बाधक होंगे उसका क्या उपाय है ?

(वा. ४) व्यंजन नहीं के बराबर माने जायँ ऐसा यहाँ कहना चाहिए। जैसे अन्य स्थानोंपर भी व्यंजन नहीं के बराबर माने जाते हैं वैसे ही यहाँ समझे जायँ।

अन्य स्थानोंपर कहाँ भला ?

उदात्त आदि स्वर कर्तव्य होनेपर ।

(वा. ५) जो शब्द एकाध मनुष्यका नामरूप रखा जाता है उस शब्दको

यस्यग्रहणं किमर्थम् । यस्येति व्यपदेशाय ॥ अथाज्ग्रहणं किमर्थम् । वृद्धिर्यस्यादिस्तद् वृद्धमितीयत्युच्यमान इहैव स्यात् । ऐतिकायनीयाः औपगवीयाः । इह न स्यात् गार्गीयाः वात्सीया इति । अज्ग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति ॥ अथादिग्रहणं किमर्थम् । वृद्धिर्यस्याचां तद् वृद्धमितीयत्युच्यमाने सभासंनयने भवः साभासंनयन इत्यत्र प्रसज्येत। आदिग्रहणे पुनः क्रियमाणे न दोषो भवति ॥

वृद्धसंज्ञायामजसंनिवेशादनादित्वम् ॥ १ ॥

वृद्धसंज्ञायामजसंनिवेशादादिरित्येतन्नोपपद्यते । न ह्याचां संनिवेशो ऽस्ति ॥ ननु चैवं विज्ञायते ऽजेवादिरजादेरिति । नैवं शक्यम् । इहैव प्रसज्येत । औप-

---

इस प्रकृतसूत्रसे बताई हुई वृद्धसंज्ञा किसे की जाय यह ज्ञात होनेके लिए वह शब्द रखा गया है ।

अब इस सूत्रमें 'अचाम्' शब्द किसलिए रखा है ?

'वृद्धिर्यस्यादिस्तद् वृद्धम्' इतना ही सूत्र करनेपर ऐतिकायनीयाः, औपगवीयाः, आदि स्थानोंपर ही केवल ऐतिकायन, औपगव, आदि शब्दोंको वृद्धसंज्ञा होगी। और गार्गीयाः वात्सीयाः, में गार्ग्य, वात्स्य को वृद्धसंज्ञा नहीं होगी। सूत्रमें अचाम् कहनेपर यह दोष नहीं आता।

अब इस सूत्रमें 'आदि' शब्द किसलिए रखा गया है ?

'वृद्धिर्यस्याचां तद् वृद्धम्' इतना ही सूत्र करनेपर सभासंनयने भवः साभासंनयनः में 'सभासंनयन' शब्दको भी वृद्धसंज्ञा होने लगेगी। आदि शब्द सूत्रमें रखनेपर यह दोष नहीं आता।

(वा. १) इस वृद्ध संज्ञा बतानेवाले शास्त्रमें 'अचोंमेंसे आदि' ऐसा जो कहा है वह ठीक मेल नहीं खाता। क्योंकि 'अजसंनिवेशात्' याने केवल अनेक अच् ही एक स्थानपर जुड़े हुए किसी भी शब्दमें दिखाई नहीं देते।

जिस शब्दका आदि वृद्ध है और वह अचोंमेंसे[४] ही है याने अच् ही है, उस शब्दको वृद्धसंज्ञा होती है।' ऐसा अर्थ किया जा सकेगा।

ऐसा करना संभव नहीं। क्योंकि वैसा करनेपर औपगवीयाः में ही औपगवको

---

२. कारण यह कि गार्ग्य, वात्स्य शब्दोंके आदिवर्ण गकार, वकार है । वे वृद्धिसंज्ञक नहीं।

३. 'अचोंमेंसे आदि' ऐसा कहा गया तो 'जो अच् हैं उनमेंसे आदि' यह अर्थ सहज ही में ध्यान में आता है।

४. 'अचोंमेंसे ही है' अर्थात् 'मूल अचोंमेंसे'। अइउण् इत्यादि अक्षरसमाम्नायमें जिनका उच्चारण किया है वे मूल अच् हैं। यह अर्थ न लिया गया तो 'अचोंमेंसे ही है' ये शब्द व्यर्थ होंगे।

गवीयाः । इह न स्यात् । गार्गीया इति ॥ एकान्तादित्वं तर्हि विज्ञायते ।

एकान्तादित्वे च सर्वप्रसङ्गः ॥ २ ॥

इहापि प्रसज्येत । सभासंनयने भवः साभासंनयन इति ॥

सिद्धमजाकृतिनिर्देशात् ॥ ३ ॥

सिद्धमेतत् । कथम् । अजाकृतिर्निर्दिश्यते ॥ एवमपि व्यञ्जनैर्व्यवहितत्वान्न प्राप्नोति ।

व्यञ्जनस्याविद्यमानत्वं यथान्यत्र ॥ ४ ॥

व्यञ्जनस्याविद्यमानवद्भावो वक्तव्यो यथान्यत्रापि व्यञ्जनस्याविद्यमानवद्भावो भवति । कान्यत्र । स्वरे ॥

वा नामधेयस्य ॥ ५ ॥

वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या । देवदत्तीयाः देवदत्ताः । यज्ञदत्तीयाः

वृद्धसंज्ञा होगी । गार्गीयाः में गार्ग्य को नहीं होगी ।

तो फिर, शब्दका आदि न लेकर शब्दके अवयवस्वरूप भागका आदि लें ।

(वा. २) अवयवका आदि लेनेपर प्रायः सभी स्थानोंपर वृद्धसंज्ञा होने लगेगी । सभासंनयने भवः साभासंनयनः में भी सभासनयन शब्दको वृद्धसंज्ञा होने लगेगी ।

यह सिद्ध होता है ।

सो कैसे ?

शब्दका स्वर, व्यंजन मिलकर जो एक प्रकारका शब्दका आकार बना होता है उसमेंसे *स्वररूपी आकारका यहाँ 'अच म' से निर्देश किया है ।*

परंतु ऐसा लेनपर भी वृद्धसंज्ञा नहीं होगी । क्योंकि शब्दमें जो व्यंजन हैं वे बाधक होंगे उसका क्या उपाय है ?

(वा. ४) व्यंजन नहीं के बराबर माने जायँ ऐसा यहाँ कहना चाहिए । जैसे अन्य स्थानोंपर भी व्यंजन नहीं के बराबर माने जाते हैं वैसे ही यहाँ समझे जायँ ।

अन्य स्थानोंपर कहाँ भला ?

उदात्त आदि स्वर कर्तव्य होनेपर ।

(वा. ५) जो शब्द एकाध मनुष्यका नामरूप रखा जाता है उस शब्दको

याज्ञदत्ताः ॥

गोत्रोत्तरपदस्य च ॥ ६ ॥

गोत्रोत्तरपदस्य च वृद्धसंज्ञा वक्तव्या । कम्बलचारायणीयाः ओदनपाणिनीयाः घृतरौढीयाः ॥

गोत्रान्ताद्वासमस्तवत् ॥ ७ ॥

गोत्रान्ताद्वासमस्तवत्प्रत्ययो भवतीति वक्तव्यम् । एतान्येवोदाहरणानि ॥ किमविशेषेण । नेत्याह ।

जिह्वाकात्यहरितकात्यवर्जम् ॥ ८ ॥

जिह्वाकात्य हरितकात्य च वर्जयित्वा । जैह्वाकाताः । हारितकाता. ॥ किं पुनरत्र ज्यायः । गोत्रान्ताद्वासमस्तवदित्येव ज्यायः । इदमपि सिद्ध भवति ।

वृद्धसज्ञा विकल्पसे होती है, उदा० देवदत्तीया. दैवदत्ताः, यज्ञदत्तीयाः याज्ञदत्ता. ।

(वा ६) जिस शब्दका उत्तरपद गोत्रप्रत्ययमें है उस शब्दको वृद्धसज्ञा होती है ऐसा कहा जाय । उदाहरण कम्बलचारायणीयाः, ओदनपाणिनीया., घृतरौढीया. ।

(वा ७) अथवा जिस शब्दका उत्तरपद गोत्रप्रत्ययमें है उस शब्दको वृद्धसज्ञा बताकर केवल इतना ही कहा जाय कि समास गोत्र न होगा वहाँ उन गोत्र प्रत्ययान्त शब्दोंसे ये प्रत्यय होते है, वे ही प्रत्यय उस गोत्रप्रत्ययांतके पीछेके पूर्व पदके साथ समास करनेपर भी उन सामासिक शब्दोंसे हाते है । उदाहरण पहले दिये ही है ।

कुछ भी कहा जाय तो भी सर्वसाधारणतया क्या चाहे जिस गोत्रप्रत्ययान्त शब्दके सबधमें समझा जाय ?

वैसा नहीं, इसलिए वार्तिककार कहते है—

(वा. ८) जिह्वाकात्य और हरितकात्य ये दो शब्द छोडकर अन्य गोत्रप्रत्ययान्त शब्दके सबधमें वह समझा जाय । उनके रूप जैह्वाकाता, हारितकाताः, ऐसे ही होते है। (वहाँ जिह्वाकात्य और हरितकात्य इन शब्दोंको वृद्धसज्ञा न होनेके कारण उससे छप्रत्यय (४।२।११४) न होकर अण् प्रत्यय ही हुआ है ।)

परंतु यहाँ 'गोत्तोत्तरपदस्य च' और 'गोत्रान्ताद्वाऽसमस्तवत्' इन दो वार्तिकोंमेंसे कौनसा वार्तिक लेना अच्छा है ?

'गोत्रान्तातद्वाऽसमस्तवत्' यही वार्तिक लेना अच्छा है ।

---

७. वृद्धसज्ञा हुई तब छ प्रत्यय (४।२।११४) हुआ । वृद्धसज्ञा नहीं है तब अण् प्रत्यय (४।३।१२०) हुआ ।

८ वहाँ 'गोत्र' शब्दसे सामान्य अपत्य लिया जाय । 'अपत्य अधिकारके सिवा अन्यत्र गोत्रशब्दसे सामान्य अपत्य लिया जाय' ऐसा प्रस्ताव है ।

पिङ्गलकाण्वस्य च्छात्राः पैङ्गलकाण्वाः ॥

त्यदादीनि च ॥ १ । १ । ७४ ॥

यस्याचामादिग्रहणमनुवर्तत उताहो न । किं चातः । यद्यनुवर्तत इह च प्रसज्येत त्वत्पुत्रस्य च्छात्रास्त्वात्पुत्राः मात्पुत्राः । इह च न स्यात् त्वदीयः मदीय इति । अथ निवृत्तमेङ् प्राचां देशे [१·१·७५] यस्याचामादिग्रहणं कर्तव्यम् ॥ एवं तर्ह्यनुवर्तते । कथं त्वात्पुत्रा इति । संबन्धमनुवर्तिष्यते । वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् । त्यदादीनि च वृद्धसंज्ञानि भवन्ति । वृद्धिर्यस्याचामादि-

---

क्योंकि वह लेनेपर पिङ्गलकाण्वस्य छात्राः पैङ्गलकाण्वाः यह उदाहरण भी सिद्ध होता है। (७३)

(सू. ७४) त्यद्, तद् इत्यादि शब्दोंको वृद्धसंज्ञा होती है।

पूर्वसूत्रमेंसे 'यस्य अचाम् आदिः' ये पद आगे अनुवृत्त होते हैं या नहीं ?

अनुवृत्त हों या न हों उनमें फ़र्क क्या है ?

फ़र्क यह कि अगर उन पदोंकी अनुवृत्ति यहाँ की तो 'जिस शब्दके अचोंमेंसे आदि अच्, त्यद् आदि शब्दोंमेंसे हैं उसे वृद्धसंज्ञा होती है' ऐसा अर्थ होकर 'त्वत्पुत्रस्य छात्राः त्वात्पुत्राः', 'मात्पुत्राः' में त्वत्पुत्रः, मत्पुत्रः, इन शब्दोंको वृद्धसंज्ञा होगी और छ प्रत्यय होगा। और त्वदीयः, मदीयः में केवल युष्मद्, अस्मद् इन शब्दोंको वृद्धसंज्ञा नहीं होगी और छ प्रत्यय नहीं होगा। ठीक, अब उन पदोंकी अनुवृत्ति यहाँ न की जाय तो 'एङ् प्राचां देशे' इस अगले सूत्रमें उन पदोंकी आवश्यकता होनेके कारण वहाँ वे 'यस्य अचाम् आदिः' ये पद स्वतंत्र रूपसे उच्चारने पड़ेंगे।

तो फिर उन पदोंकी अनुवृत्ति यहाँ की जाय यही ठीक है।

परंतु अनुवृत्ति की तो भी त्वात्पुत्राः, मात्पुत्राः, ये उदाहरण कैसे सिद्ध किये जायँ ?

ऐसे सिद्ध किये जायँ कि यद्यपि अनुवृत्ति की तो भी उसका आदि शब्द पूर्व सूत्रमें वृद्धिपदसे हुए संबंधका ही अनुसरण करता है (याने उस आदि शब्दका यहाँ त्यद् आदिके साथ संबंध नहीं होता तब ऐसा अर्थ होता है।) 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्' सूत्रके अगले 'त्यदादीनि च' सूत्रमें 'वृद्धिः यस्य अचाम् आदिः तत् वृद्धम्' ये सब पद अनुवृत्त होते हैं। उसका अर्थ–त्यद् आदि शब्दोंको वृद्धसंज्ञा

---

१ समास न होते हुए केवल कण्व शब्दके आगे 'अण्' प्रत्यय कहा है।(४।२।१११) वही 'पिङ्गलकाण्व' शब्दके आगे होता है। यदि 'पिङ्गलकाण्व' को वृद्धसंज्ञा की तो उसके आगे छ प्रत्यय (४।२।११४) होने लगेगा।

एतद् वृद्धम् एङ् प्राचा देशे । यस्याचामादिग्रहणमनुवर्तते वृद्धिग्रहणं निवृत्तम् । तद्यथा । कश्चित्कान्तारे समुपस्थिते सार्थमुपादत्ते । स यदा निष्कान्तारीभूतो भवति तदा सार्थं जहाति ॥

एङ् प्राचां देशे ॥ १ । १ । ७५ ॥

एङ् प्राचां देशे शैषिकेष्विति वक्तव्यम् । सैपुरिकी सैपुरिका । स्कौनगरिकी स्कौनगरिकेति ॥

इति श्रीभगवत्पतञ्जलिविरचिते व्याकरणमहाभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमे पादे नवममाह्निकम् ॥ पादश्च समाप्त. ॥

इति नवाह्निकी समाप्ता ॥

होती है और जिस शब्दके अचोंमेंसे आदि अच् वृद्धि है उसे वृद्धसंज्ञा होती है। उसके आगेके सूत्र— 'एङ् प्राचां देशे' में 'यस्य अचाम् आदिः तत् वृद्धम्' ये पद अनुवृत्त होते है, वृद्धिशब्दकी अनुवृत्ति नहीं होती। (अत. अर्थात् ही आदि शब्द पहले वृद्धिपदके साथ किये हुए सबन्धको यहाँ छोडता है।) जैसे एकाध बडोही दूरीमेंसे बीहड मार्गसे जानेकी नौबत आनेपर चार लोगोंका साथ लेकर उनके साथ जाता है पर आगे उस बीहड रास्तेसे बढनेपर वह वह साथ छोडकर आगे चला जाता है, उसी प्रकार यह है।

(सू ७५) जिस देशवाचक शब्दका आदि अच् एङ् है उस शब्दको वृद्धसंज्ञा विकल्पसे होती है।

'एङ् प्राचां देशे' सूत्रसे बतायी हुई वृद्धसंज्ञा 'शेषे' (४।२।९२) इस अधिकारका प्रत्यय कर्तव्य होनेपर ही होती है ऐसा कहा जाय, उदा० स्कौनगरिकी, स्कौनगरिका।

इस प्रकार भगवान् पतंजलिविरचित व्याकरणमहाभाष्यके पहले अध्यायके पहले पादका नौवाँ आह्निक समाप्त हुआ, और पहला पाद समाप्त हुआ।